

DUE DATE SLIP**GOVT. COLLEGE, LIBRARY**

KOTA (Raj.)

Students can retain library books only for two weeks at the most.

BORROWER'S No.	DUE DATE	SIGNATURE

जगद्गुरु श्री रामानुजाचार्य कृत



द्वितीय खंड

प्रस्तोता

आचार्य श्री ललितकृष्ण गोस्वामी



श्री निम्बार्काचार्य पीठ

१२, महाजनी टोला

प्रयाग

मुनिलाल, प्रकाशन अधिकारी
श्री निम्बार्क पीठ
१२, महाजनी टोला, प्रयाग

मूल्य : इक्यावन रुपये मात्र

मुद्रक
ईश्वर शरण आश्रम मुद्रणालय, इलाहाबाद

द्वितीय अध्याय

प्रथम पाद

१ स्मृत्यधिकरणः—

स्मृत्यनवकाश दोषप्रसंग इति चेन्नान्य स्मृत्यनवकाश दोष प्रसंगात् । २।१।१।

प्रथमे अध्याये प्रत्यक्षादिप्रमाण गोचरादचेतनत्तत्संसृष्टाद् वियुक्ताच्च चेतनादर्थान्तरभूतं निरस्तनिखिलाविद्याद्यपुरुषार्थं गंधमनंतज्ञानानंदैकतानमपरिमितोदारगुणसागरं निखिलजगदेक कारणं सर्वान्तरात्मभूतं परंब्रह्म वेदांतवेद्यमिष्युक्तम् । अनन्तरस्या र्थस्य संभावनीयसमस्तप्रकारदुर्धर्षणत्वप्रतिपादनाय द्वितीयोऽध्यायः आरभ्यते । प्रथमं तावत् कपिलस्मृति विरोधात् वेदांतानाम- तत्परत्वमाशंक्य तन्निराक्रियते ।

प्रथम अध्याय में कहा गया कि-प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सुस्पष्ट, अचेतन से संयुक्त और वियुक्त, चेतन जीव से भिन्न, अविद्या आदि सभी अपुरुषार्थों से रहित, असीम ज्ञान और आनंद से पूर्ण, अपरमित उदार गुणों के सागर, समस्त जगत के एक मात्र कारण, सर्वान्तर्यामी परंब्रह्म ही वेदांत वाक्यों के वेद्य तत्त्व हैं । इसके बाद अब, उक्त संबंध में संभावनीय सभी प्रकार की शंकाओं के निवारण के लिए और तत्त्व के प्रतिपादन के लिए, द्वितीय अध्याय का प्रारंभ करते हैं । सर्व प्रथम, सांख्य स्मृति के साथ विरोध होने से, वेदांत वाक्यों का, अन्यपरत्व है, ऐसी आशंका करते हुए, उसका निवारण करेंगे

कथं स्मृति विरोधाच्छ्रुतेरन्यपरत्वम् ? उक्तं हि “विरोधे- त्वनपेक्ष्यस्यात् “इति श्रुतिविरुद्धायाः स्मृतेरनादरणीयत्वम् । सत्यम्

“श्रीदुम्भरीं स्पृष्ट्वोदगायेत्” इत्यादिषु स्वतएवायं निश्चयसंभवात्-
द विरुद्धा स्मृतिरनादरणीयैव, इहनु वेदांतवेद्यतस्वस्य दुःखबोधत्वेन
परमर्षिप्रणीत स्मृति विरोधे सत्ययमर्थं इतिनिश्चयायोगात् स्मृत्या
श्रुतेरतत्परत्वोपपादनमविरुद्धम् ।

सांख्य स्मृति, विरुद्ध होने से श्रुति वाक्यों का अन्य परत्व कैसे
संभव है? कहते हैं कि “श्रुति के साथ, विरोध अर्थ वाली स्मृति अनपेक्षणीय
है” इत्यादि में, श्रुति विरुद्ध स्मृति की अनादरणीयता बतनाई गई
है वह ठीक ही है । “उदुम्भरी का स्पर्श करके गान करो।”
इत्यादि स्थलों में तो बिना विचारे ही, श्रुति का अर्थ निश्चय किया
जा सकता है । इसलिए यह स्मृति, श्रुति विरुद्ध और अनादरणीय मानी
जावेगी किन्तु वेदांत तत्त्व दुर्बोध हैं, इसलिए कापिल स्मृति के विरुद्ध होते
हुए भी उनका यही अर्थ होगा ऐसा निश्चित करना कठिन है, अतः
स्मृति से श्रुति का अन्यपरत्व मानना ठीक ही है ।

एतदुक्तं भवति-प्राचीनभागोदितनिखिलाभ्युदयसाधनभूत
अग्निहोत्रदशपूर्णमासज्योतिष्टोमादिकर्माणि यथावदभ्युपगच्छता
श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेषु “ऋषि प्रसूतं कपिलम्” इत्यादिवाक्यैराप्तत्वेन
संकीर्तितेन परमर्षिणा कपिलेन परमनिः श्रेयसतत्साधनावबो
धित्वेनोपनिबद्धस्मृत्युपबृंहणेन विना अलश्रुतं मंदमतिभिर्वेदांतार्थं
निश्चयार्था- गादयथा श्रुताथंग्रहणे चाप्त प्रणीतायाः सांख्यस्मृतेः
सकलाया एवानवप्रकाशप्रसंगाच्च स्मृतिप्रसिद्ध एवार्थो वेदांतवेद्य
इति वलादभ्युपगमनीयमिति ।

बहने का तात्पर्य यह है कि-महर्षि कपिल कर्मकाण्ड में उपदिष्ट
अभ्युदय के साधन-अग्निहोत्र, दशपूर्णमास ज्योतिष्टोम आदि कर्मों की
महिमा यथारूप में स्वीकारते हैं, तथा श्रुति-स्मृति-इतिहास-पुराणादि
में “ऋषि प्रसूतं कपिलम्” इत्यादि में उन्हें आप्त ऋषि भी कहा गया है।
इसलिए कपिल प्रणीत, परमनिःश्रेयस (मोक्ष) और उसके साधनों के

प्रतिपादक, स्मृति शास्त्र की सहायता के बिना, अल्पज्ञ और मंदबुद्धि व्यक्तियों को, वेदांत के वास्तविक अर्थ का ज्ञान अशुभव है, ऐसा मानना चाहिए । यथाश्रुत (अविचारित) अर्थ का मान लेने से तो आप्त प्रणीत सांख्य स्मृति की निर्विषयता हो जायेगी जो कि दोष है, इसलिए सांख्य स्मृति प्रसिद्ध (प्रतिपादित) विषय ही, वेदांत शास्त्र का प्रतिपाद्य है, ऐसा तुम्हें, अनिच्छा होते भी स्वीकारना पड़ेगा ।

न च वाच्यं मन्वादिस्मृतीनां ब्रह्मककारणत्ववादिनामेवं-
सति अनवकाशदोष प्रसंग इति, धर्मप्रतिपादनद्वारा प्राचीन भागोप-
वृहणएव सावकाशत्वात् । अस्यास्तु कृत्स्नायास्तत्त्वप्रतिपादनपरत्वा-
त्तथाऽनभ्युपगमे निरवकाशत्वमेव स्यात् । तदिमाशंकतेस्मृत्यनवकाशोप
प्रसंग इति चेत् ।

ऐसा मानने से तो, एकमात्र ब्रह्म को ही कारण मानने वाली मनु
आदि स्मृतियाँ भी निर्विषय हो जावेगी, ऐसा नहीं कह सकते, क्यों-
कि-मनु आदि स्मृतियों की तो, पूर्वकाण्डोक्त धर्म के प्रतिपादन से ही,
चरितार्थता है । यह सांख्य स्मृति तो सारी की सारी, तत्त्व प्रतिपादन
में ही तत्पर है, यदि उसके एक अंश को भी अस्वीकार करेगे तो वह,
पूरी ही निर्विषय हो जावेगी यही बात सूत्र में "स्मृत्यनवकाश दोष प्रसंग
इतिचेत्" में निहित है, जो कि शका रूप से प्रस्तुत की गई है ।

सिद्धान्तः—तत्रोत्तरं-नान्यैस्मृत्यनवकाशदोष प्रसंगात् इति ।
अन्या हि मन्वादिस्मृतयो ब्रह्मककारणतां वदन्ति, यथाह मनुः
"आसीदिदं तमोभूतम्" इत्यारभ्य "ततः स्वयंभूर्भगवानव्यक्तो
व्यंजयन्निदम, महाभूतादिवृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः "सोऽभिध्याय
शरीरास्त्वात् सिसृक्षुर्विंविधाः प्रजाः, अपएव ससर्जादौ तासुवीर्यम-
पासृजत्" इति । भगवद्गीतासु च "अहंकृत्स्नस्य जगत, प्रभवः
प्रलयस्तथां अहं सर्वस्यप्रभवो मत्तः सर्वं प्रवृत्तंते" इति च । महा-
भारते- "कुतः सृष्टिमिदं सर्वं जगत् स्थावरजंगमम्, प्रलये च

कमभ्येति तन्मे ब्रूहि पितामह !” इति पृष्टग्राह-“नारायणो जगन्मूर्ति-
रनंतात्मा सनातन.” इति । तथा-“यस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणद्विज-
सत्तम” इति । “अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मनिष्क्रिये सम्प्रलीयते” इति च ।
ग्राह च भगवान् पराशरः “विष्णोः सकाशाद्बुद्धभूतं जगत्त्रैव च
स्थितम्, स्थितिर्नयमकर्त्ताऽसौ जगतोऽस्य जगच्चक्षुः” इति । ग्राह-
चापस्तम्बः “पूः प्राणिनः सर्वे एवगुहाशयस्य ग्रह्ण्यमानस्य विकल्म-
पस्य इत्यारभ्य-“तस्मात्कायाः प्रभवन्तिसर्वे समूलं शाश्वतिकः
सनित्यः” इति । यदि कपिलस्मृत्या वेदांतवाक्यार्थव्यवस्था स्यात्
तदंतासां सर्वासां स्मृतीनामनवकाशत्वरूपो महान् दोष प्रसज्येत् ।

मूत्रकार सिद्धान्त रूप से उक्त शंका के उत्तर में- “नान्यस्मृत्यनव-
काश दोषप्रसंगात्” ऐसा वाक्य सूत्रार्थ में प्रस्तुत करते हैं । अन्य मनु
वादि स्मृतियाँ, ब्रह्मकवारणता का ही प्रतिपादन करती हैं-जैसे-कि-
मनु में- “यह सब तमोभूत या से प्रारंभ करके- “इसके बाद अव्यक्त
(प्राकृत बुद्धि से अगोचर) भगवान् स्वयम्भू, महाभूत आदि चौबीस तत्वों
में स्वशक्ति संचार करके जगत को क्रमशः अभिव्यक्त करके
तमोनुद (प्रलय कालीन अंधकार शक्ति) को विध्वस्त कर प्रकट
हो गए उन्होने विविध प्रजा को सृष्टि की ओर उसमें वीर्य का संचार
किया” इत्यादि । भगवद् गीता में भी इसी प्रकार-“मैं ही समस्त
जगत की उत्पत्ति और प्रलय का कारण हूँ “मैं ही समस्त जगत का
कारण हूँ, मुझसे ही सारा जगत प्रादुर्भूत होता है इत्यादि । महाभारत
में भी “हे पितामह! स्थावर जंगमगय यह सारा जगत कहाँ से उत्पन्न हुआ
है? एवं प्रलय काल में कहाँ रहता है? “ऐसा पूछने पर उत्तर “अनंतमूर्ति
सनातन नारायण ही जगत रूपी मूर्ति है “तथा- “हे द्विजसत्तम, उससे
त्रिगुणात्मक अव्यक्त (प्रकृति का उद्भव हुआ, वह अव्यक्त, निष्क्रिय और
निरवयव नारायण में विलीन हो जाता है । ऐसा ही भगवान् पराशर
विष्णु पुराण में कहते हैं-“यह जगत विष्णु से उत्पन्न है एवं उन्हीं
में अवस्थित है, वे ही इस जगत के संयामक है, यह जगत उन्हीं का
रूप है” इत्यादि, चापस्तम्ब स्मृति में भी जैसे-“ये सारे प्राणी, सर्वगन्तर-

यामी, अविनश्वर निष्पाप (विष्णु) के शरीर हैं “सारे शरीर, उन्हीं से प्रकट हुए हैं, वह परमात्मा ही मूल और निर्विकार हैं एवं वही नित्य हैं” इत्यादि । यदि कपिल स्मृति के अनुसार वेदांत वाक्यों का निर्णय किया जावेगा तो, उक्त सभी स्मृतियाँ निर्विषय ही जावेंगी, तब तो महान् दोष होगा ।

अयमर्थ :-यद्यपि वेदांतवाक्यानामतिक्रान्तप्रत्यक्षादि सकनेतर प्रमाण संभावनाभूमिभूतार्थप्रतिपादनपरत्वात्तदर्थं वैशद्यायाल्पश्रुतानां प्रतिपत्तृणां तदुपबृंहणमपेक्षितम् ‘तथापि तदर्थानुसारिणीनामासतम प्रणीतानां बहुवीनां स्मृतीनां तदुपबृंहणाय प्रवृत्तानामनवकाशत्वं मा प्रसांक्षीदिति श्रुतिविरुद्धार्थं कपिलस्मृतिरुपेक्षणीया ।

कहने का तात्पर्य यह है कि-यद्यपि ममस्त वेदांत, प्रत्यादि प्रमाणों से अतीत परमात्मा के प्रतिपादन में तत्पर है, तथापि अल्पज्ञों के लिए इसका विशादीकरण आवश्यक है । वेदांत अर्थ का अनुमरण करने वाली आप्ततम (कपिल से भी अधिक मान्य) वेदांत तत्त्व के उपबृंहण में संलग्न स्मृतियाँ निर्विषय न हो जायें, इसलिए भी, वेदांतविरुद्ध कपिल स्मृति उपेक्षणीय है ।

उपबृंहणं च श्रुतिप्रतिपन्नार्थं विशादीकरणम् । तच्च विरुद्धार्थ-या स्मृत्या न शक्यते कर्तुम् । न चैतासां स्मृतीनां प्राचीनभागोदितधर्मांश विशादीकरणेन सावकाशत्वम्, परब्रह्मभूतपरमपुरुषाराधनत्वेनधर्मान् विदधतीनामेतासामाराध्यभूतपरमपुरुष प्रतिपादनाभावे सति तदाराधनभूतधर्मं प्रतिपादनासंभवात् ।

श्रुति प्रतिपादित अर्थ के विशादीकरण को ही उपबृंहण कहते हैं । वह उपबृंहण, विरुद्धार्थ प्रतिपादिका स्मृति से होना संभव नहीं है । एक मात्र कर्म काण्ड के धर्मांश के प्रतिपादन से ही, मनुआदि स्मृतियों की सार्थकता हो, ऐसा कहना असंगत है, परब्रह्म परमात्मा की उपासना के उद्देश्य से ही धर्म का प्रतिपादन करने वाली ये स्मृतियाँ हैं, यदि इन स्मृतियों में आराध्य परमपुरुष का प्रतिपादन किया न गया होता तो

आराधनारूपी धर्म के प्रतिपादन का क्या अर्थ होता? अर्थात् बिना परब्रह्म के प्रतिपादन के आराधनारूपी धर्म का प्रतिपादन हो नहीं सकता।

तथाहि परमपुरुषाराधनरूपता सर्वेषां कर्मणां स्मृत्यन्ते—“यतः प्रवृत्तिभूतानां येनसर्वमिदंततम्, स्वकर्मणातमभ्यर्च्यं सिद्धि विदन्ति-मानवः” “ध्यायेन्नारायणंदेवं स्नानादिषु च कर्मसु, ब्रह्मलोकमवाप्नोति न चेहावर्त्ततेपुनः “यैः स्वकर्मपरैर्नाथनरैराणधितोभवान् ते तरन्त्यखिलामेतां मायामात्मविमुक्तये। “इति, न च ऐहिकामुष्मिक-सांसारिकफलसाधनकर्मप्रतिपादनेनैतासां सावकाशत्वम्, यतस्तेषामपि कर्मणां परमपुरुषाराधनत्वमेवस्वरूपम्, यथोक्तं ‘येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः, तेऽपिमामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् “अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च, नतु मामभिजानन्ति मयाच्युत, हव्यकव्यभुगेकस्त्वम् पितृदेवस्वरूपधृक् “इति।

सभी कर्मों को, परमपुरुष की आराधना के साधन रूप से स्मृतियों में स्पष्ट वर्णन किया गया है—“जिनसे समस्तभूतों की उत्पत्ति है, एवं जो समस्त जगत में व्याप्त है, मनुष्य अपने अधिकारानुसार कर्मों से उनकी आराधना करके, सिद्धि (भोक्ष) प्राप्त करते हैं “स्नानादि कर्मों में नारायण का ध्यान करना चाहिए, ऐसा करने वाले ब्रह्मलोक की प्राप्ति करते हैं, फिर कभी इसलोक में नहीं लौटते ‘हे प्रभु’ जो अपने अधिकारानुसार कर्मों में आरूढ़ रहकर आपकी आराधना करते हैं, वे माया से मुक्त होने के लिए ही ऐसा करते हैं। “इत्यादि, ऐहिक व पारलौकिक, सांसारिक फलों के साधन रूप कर्मों का प्रतिपादन करने के कारण ही, इन स्मृतियों की सार्थकता हो ऐसा नहीं कहा जा सकता, वस्तुतः परमपुरुष आराधना ही, इन समस्त कर्मों का स्वरूप है जैसा कि—“जो भक्ति और श्रद्धा से अन्य देवताओं की आराधना करते हैं, वे भी मेरी ही, विधिगर्हित पूजा करते हैं “मैं ही समस्त यज्ञों का भोक्ता और स्वामी हूँ किन्तु साधक मुझे भली भाँति नहीं जानते इसलिए पतित होते हैं, “हे सर्वदेवमय अच्युत! आप सदा समस्त यज्ञों द्वारा अर्चित होते हैं, एकमात्र आपहीदेव-

रूप धारण करके यज्ञीय और श्राद्धीय द्रव्य को ग्रहण करते हैं "इत्यादि से ज्ञात होता है ।

यदुक्तं "ऋषिं प्रसूतं कपिलम् "इति कपिलस्याप्तया संकीर्तनात्तस्मृत्यनुसारेण वेदान्तार्थव्यवस्थापनं न्याय्यम्-इति, तदसत् बृहस्पतेः श्रुतिस्मृतिषु सर्वेषामतशयितज्ञानानां निदर्शनत्वेन संकीर्तनात्तत्प्रणीतेन लोकायतेन श्रुत्यर्थव्यवस्थापनप्रसक्तेः, इति

जो यह कहा कि-शास्त्रों में "ऋषिं प्रसूतं कपिलम्," इत्यादि कह कर कपिल की आप्त रूप से प्रशंसा की गई है, इसलिए उनकी स्मृति के अनुसार वेदांतार्थ का व्यवस्थापन करना उचित है, यह कथन भी असंगत है, ऐसा मानोगे तो, सर्वश्रेष्ठ ज्ञानियों के अग्रगण्य परं बुद्धिमान बृहस्पति का श्रुतिस्मृतियों में बड़ी प्रतिष्ठा के साथ उल्लेख किया गया है, उनके लोकायत (नास्तिक) सिद्धान्त के अनुसार भी वेदांतों का सामंजस्य करना पड़ेगा।

अथ स्यात् कपिलस्य स्वयोगमहिम्ना वस्तुयाथात्म्योपलब्धेः तत्स्मृत्यनुसारेण वेदांतार्थो व्यवस्थापयितव्यः इति अत उत्तरं पठति । यदि कहें कि.....इसका उत्तर देते हैं

इतरेषां चानुपलब्धेः ।२।१।२॥

च शब्दः तु शब्दार्थः चोदिताशंकानिवृत्त्यर्थः । इतरेषां मन्वादीनां बहूनां स्वयोगमहिम साक्षात्कृतपरावरतत्त्वयाथात्म्यानां निखिल जगद् भेषजभूतस्ववाक्यतया "यदवैकिं च मनुरवदत्तदभेषजम् "इति श्रुतिप्रसिद्धानां कपिल दृष्टप्रकारेण तत्त्वानुपलब्धेः श्रुतिविरुद्धा कपिलोपलब्धिभ्रान्तिमूलेति न तथा यथोक्तो वेदांतार्थरचालयितुं शक्य इतिसिद्धम् ।

सूत्रस्थ "च" शब्द "तु" शब्द का समानार्थक है, जो कि की गई शंका की निवृत्ति के उद्देश्य से प्रयोग किया गया है । अन्यान्य मनु आदि अनेक महात्माओं ने अपने अर्जित योगिक बल से परतत्त्व (ईश्वर) और

अपरतत्त्व (जगत) का यथार्थ रूप से साक्षात् करके, अपने अर्जित ज्ञान को जगत के लिए औपधिरूप से प्रस्तुत किया "जो कुछ भी मनु कहता है वह औपधिरूप है" इत्यादि। उन्हीं मनु आदि के ग्रन्थों में कहा गया है कि-कपिल के उपदेश से अनुरूप तत्त्व की उपलब्धि नहीं होती इसलिए कपिल की उपलब्धि (तत्त्व चिन्तन प्रणाली) श्रुति विरुद्ध और भ्रांति मूलक है। इसलिए वेदांतार्थ के यथार्थ स्वरूप को, उसके आधार पर, अन्यथा नहीं किया जा सकता।

२ योगप्रत्युक्त्यधिकरणः

एतेन योगप्रत्युक्तः ।२।१।३॥

एतेन-कापिलस्मृति निराकरणेन योगस्मृतिरपि प्रत्युक्ता कापुनरत्राधिका, यन्निराकरणायन्यायातिदेशः योगस्मृतावपि ईश्वराभ्युपगमान्मोक्षसाधनतया वेदांतविहितयोगस्य चाभिधानात् वक्तुर्हिरण्यगर्भस्य सर्ववेदांतप्रवर्त्तनाधिकृतत्वाच्च तत्स्मृत्या वेदांतोपबृंहणं न्याय्यम्-इति ।

इस कपिल स्मृति के निराकरण से, योग स्मृति का भी निराकरण हो जाता है,। प्रश्न होता है कि-योग स्मृति में कौन सी ऐसी वेदांत भिन्न विशेषता है, कि जिसके निराकरण की आवश्यकता पड़ गई? योग स्मृति में भी, वेदांत विहित, मोक्ष साधना रूप, ईश्वर प्रणिधान को मान्यया दी गई है, योगवक्ता हिरण्यगर्भ ने, लोक प्रवृत्ति के उद्देश्य से ही, संपूर्ण वेदांत तत्त्वों का उपदेश दिया है, इसलिए योग स्मृति के अनुसार, वेदांत वाक्यों की व्याख्या न्याय संगत ही है।

परिहारस्तु — अब्रह्मात्मकप्रधानकारणवादानिमित्ताकारण-मात्रेश्वराभ्युपगमात् ध्यानात्मकस्य योगस्यध्येयैकनिरूपणीयस्य ध्येयभूतयारात्मेश्वरयोर्ब्रह्मात्मकत्वजगदुपादानतादिसर्वकल्याणगु-णात्मकत्वविरहेण अवैदिकत्वाद् वक्तुर्हिरण्यगर्भस्यापि क्षेत्रज्ञ-भूतस्य कदाचिद्वरजस्तमोभिभवसंभवाच्च योगस्मृतिरपितत्प्रणीत रजस्तमोमूलपुराणवद् भ्रांतिमूलेति न तथा वेदांतोपबृंहणंन्याय्यम्-इति

उक्त संशय का परिहार करते हैं—योग स्मृति, अब्रह्मात्मक प्रधानं कारणवाद का ही अनुमोदन करती है तथा ईश्वर को केवल निमित्त कारण ही मानती हैं। उनके मत में, व्येय आत्मा और ईश्वर को अब्रह्मात्मक तथा जगत को उपादान कारण संपूर्णगुणात्मक तत्त्वों का निराकरण एवं वेदविरुद्ध तत्त्वों का प्रतिपादन किया गया है। जीव रूप हिरण्यगर्भ भी कभी, रज, तम गुणों से अभिभूत हो जाता है, इसलिए योग स्मृति भी उन्ही के प्रणीत, रजस्तमोमूलक पुराण की तरह भ्रान्तिमूलक ही है इसलिए योगस्मृति के आधार पर वेदांत वाक्यों की व्याख्या न्यायोचित नहीं है।

३ विलक्षणत्वाधिकरणः—

न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात् ।२।१।४॥

पुनरपि स्मृतिविरोधवादी तर्कमवलम्बमानः प्रत्यवतिष्ठते, यत्सांख्यस्मृतिनिराकरणेन जगतो ब्रह्मकार्यत्वमुक्तम्, तन्नोपपद्यते, अस्यप्रत्यक्षादिभिरचेतनत्वेनाशुद्धत्वेनानोश्वरत्वेन दुःखात्मकत्वेन चोपलभ्यमानस्य चिदचिदात्मकस्य जगतः भवदभ्युपेतात् सर्वज्ञात् सर्वेश्वराद् हेयप्रत्यनोकादानंदैकतानात् ब्रह्मणो विलक्षणत्वात् ।

विरोधी, स्मृति वादी पुनः तर्क का आश्रय लेकर सम्मुख आते हैं कि-जो तुमने सांख्य स्मृति का निराकरण करके, जगत को ब्रह्म का कार्य बतलाया 'वो असंगत् है; प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से ज्ञात होता है कि यह जगत, अचेतन, अशुद्ध, अनीश्वर, दुःखात्मक और जड़चेतानात्मक है तथा वह तुम्हारे अभिमत सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वोत्तम एकमात्र आनंदमय से विलक्षण है।

न केवलं प्रत्यक्षादिभिरेव जगतो विलक्षण्यमुपलभ्यते, शब्द-त्वाच्च तथात्वं विलक्षणत्वम् उपलभ्यते—“विज्ञानं चाविज्ञानं च” एवमेवैताभूममात्राः प्रज्ञामात्रास्वपिताः प्रज्ञामात्राप्राणेष्वर्पिता “समानेवृक्षेषुरुषो निमग्नोऽनीशयाशोचतिमुह्यमानः” अनोशरचात्मा-बध्यतेभोक्तृभावात् इत्यादिभिः । कार्यस्य हि जगतोऽचेतनत्वदुःखि-

स्वादयोनिर्दिश्यन्ते । यद्धि यत्कार्यं, तत्तस्मादविलक्षणम् यथा मृत्सुवर्णादि-
कार्यघटरुचकादि । अतो ब्रह्मविलक्षणस्यास्यजगतः तत्कार्यत्वं न
संभवतीति सांख्यस्मृत्यनुरोधेन कार्यसलक्षणं प्रधानमेव
कारणं भवितुमर्हति ।

केवल प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ही जगत की विलक्षणता ज्ञात होती
हो ऐसा नहीं है अपितु शब्द शास्त्र भी उसे विलक्षण बतलाता है—“यह
जगत विज्ञान प्रीर अविज्ञान (जड़ चेतन) है “ये भूतमात्रायें (शब्द आदि
विषय) बुद्धि वृत्ति के अधीन हैं, वह बुद्धि प्राण के अधीन है “जीव एक ही
वृक्ष पर अवस्थित होकर, अनीश्वर होने से, मुग्ध और शोकाकुल होता है
जीव भोक्ता होने के कारण, पराधीन होकर विषयानुभूति करता है”
इत्यादि शास्त्र वाक्यों में कार्यभूत जगत की जड़ता, दुःखात्मकता आदि
विलक्षणतायें बतलाई गई हैं । जिस कारण का जो कार्य होता है,
वह कारण से कभी विलक्षण नहीं होता, जैसे कि मिट्टी और सुवर्ण के,
घट, आभूषण आदि कार्य । इसलिए ब्रह्म से विलक्षण, यह जगत ब्रह्म
का कार्य नहीं हो सकता । कार्य के अनुरूप, सांख्य प्रतिपादित प्रधान
ही, जगत की कारण हो सकती है ।

अवश्यं च शास्त्रस्यानन्यापेक्षस्यातीन्द्रियार्थगोचरस्यापि तर्कोऽनु-
सरणीयः, यः, यतः सर्वेषां प्रमाणानां क्वचिद् क्वचिद् विषये
तर्कानुगृहीतानामेवार्थनिश्चय हेतुत्वम् । तर्को हि नाम अर्थस्वभाव-
विषयेण वा सामग्री विषयेण वा निरूपणेनार्थविशेषे प्रमाणव्यवस्था-
पयत्तदितिकर्तव्यतारूपमूहापरपर्यायं ज्ञानं तदपेक्षा च सर्वेषां
प्रमाणानां समाना, शास्त्रस्य तु विशेषणाकांक्षासन्निधियोग्यताज्ञाना-
धीनप्रमाणभावस्य सर्वत्रैव तर्कानुग्रहापेक्षा, उक्तं च मनुना—
“यस्तर्केणानुसंधत्ते सधर्मं वेदनेतरः” इति तदे वहि तर्कानुगृहीत
शास्त्रार्थं प्रतिष्ठापनं श्रुत्या च मन्त्रव्यः इत्युच्यते ।

निश्चित ही इन्द्रियातीत, अर्थ प्रतिपादक शास्त्र, अपने अतिरिक्त
अर्थ प्रमाणों की अपेक्षा नहीं करता, फिर भी उसके लिये तर्क का आश्रय

लेना आवश्यक हो जाता है। क्यों कि-सभी प्रमाण, किसी न किसी विषय में तर्क का सहारा लेकर ही, वास्तविक अर्थ का निर्णय कर पाते हैं। वस्तु विशेष के स्वाभावविशेष के निरूपण से हो अथवा सामग्री (कारण) विशेष के निरूपण से हो, ऐसे विषय विशेष के प्रामाण्य व्यवस्थापक, इतिकर्तव्यता रूपी ज्ञान का नाम ही तर्क है, इसी का दूसरा पर्यायवाची नाम "ऊह" है [अर्थात्- किसी एक विषय में, दो या उससे अधिक प्रमाणों के परस्पर विरोधी होने पर, जिसके द्वारा उक्त विरोध का परिहार करके सामंजस्य स्थापना की जाय उसे ही तर्क या ऊह कहते हैं-विरोध परिहार के दो उपाय हैं-(१) विवादास्पद विषय के स्वाभाविक, विषय का निर्धारण (२) विवाद के कारण की पर्यालोचना] विषय के समाधान में, सभी प्रमाणों की तरह तर्क भी अपेक्षा होती है। ऐसा मनु ने भी कहा है "जो तर्क को द्वारा अनुसंधान करता है, वही धर्म तत्त्व को जान पाता है, दूसरा नहीं" "ऐसे तर्क की सहायता से, शास्त्रार्थ निरूपण को ही श्रुति में "मतव्य" कहा गया है।

अथोच्येत्-श्रुत्या जगतो ब्रह्मैककारणत्वे निश्चिते सति, तत्कार्यस्यापि जगत्श्चैतन्यानुवृत्तिरभ्युपगम्यते। यथा चेतनस्य सुषुप्तिमूर्च्छादिषु चैतन्यानुपलम्भः, तथा घटादिष्वपि सदेव चैतन्यमनुद्भूतं अतएव चेतनाचेतन विभाग इति। नैतदुपपद्यते यतो नित्यानुपलब्धिरसद् भावमेव साधयति। अतएव चैतन्यशक्तियोगोऽपि तेषु निरस्तः। यस्यहि क्वचित्कदाचिदपि यत् कार्यानुपलब्धिः, तस्य तत्कार्यशक्ति ब्रूवाणो, बन्ध्योऽसुतसमितिषु तज्जननीनां प्रजननशक्ति ब्रूताम्।

यदि कहो कि-श्रुति से जगत के एकमात्र कारण ब्रह्म को निश्चय कर देने से, तदनुसार उसके कार्य रूप जगत को भी चैतन्य वृत्ति वाला मानलेंगे, जैसे कि-चैतन्य की सुषुप्ति मूर्च्छा इत्यादि अवस्थाओं में, चैतन्योचित चेष्टायें नहीं पाई जातीं, उसी प्रकार घट आदि जागतिक पदार्थों में भी, जो कि चैतन्य ही हैं, चैतन्यता अव्यक्त रहती है ऐसा मानने से, चेतनाचेतन का भेद भी संगत हो जाता है इत्यादि, तुम्हारा मह कवन सर्वथा हास्यास्पद है, जागतिक घट आदि पदार्थ सदा ही

अचेतन रहते हैं, कभी भी उनमें चेतनता नहीं पाई जाती, इसलिए, जगत् में अव्यक्त चैतन्य शक्ति भी है, यह कथन भी निरस्त हो जाता है। किसी अवस्था या किसी काल में भी, जिसका निर्धारित कार्य, प्रतीत गोचर नहीं होता उसे शक्ति संपन्न कहना तो वैसा ही हास्यास्पद है जैसे, कि-वह बंध्यापुत्रों की माताओं की प्रजनन शक्ति की चर्चाकर रहा हो।

कि च वेदांतैर्जगतो ब्रह्मोपादानताप्रतिपादन निश्चये सति-
घटादीनां चैतन्यशक्तेः चैतन्यस्य वाऽनुद्भूतस्य सदभावनिश्चय-
इतीतरेतराश्रयत्वम् । विलक्षणयोर्हि कार्यकारणभावः प्रतिपादयि-
तुमेव न शक्यते ।

एक बात और भी है-जब समस्त वेदांतों में ब्रह्म ही जगत का एक मात्र उपादान कारण निश्चित है तो घटादि जागतिक पदार्थों की चैतन्य शक्ति और उनकी चैतन्यस्वरूप अव्यक्त सत्ता भी निश्चय हो जाती है, तथा उस अव्यक्त सत्ता के निश्चित हो जाने पर, ब्रह्मोपादानकारणता भी निश्चित हो जाती है इस प्रकार दोनों में परस्पर आश्रयता सिद्ध होती है। विसदृश पदार्थों का कार्य कारणरूप प्रतिपादन भी नहीं हो सकता।

कि पुनः प्रकृतिविकारयोः सालक्षण्यमभिप्रेतम्, यदभावाज्जगतो
ब्रह्मोपादानताप्रतिपादनसंभवं श्रूये, न तावत् सर्वधर्मसारूप्यम्, कार्य
कारणभावानुपपत्तेः । न हि मृत्पिण्डकार्येषु घटशरावादिषु पिण्डत्वा-
द्यनुवृत्तिर्दृश्यते । अथ येन केनचिदधर्मेण सारूप्यम्, तुज्जगद्ब्रह्मणोरपि
सत्तादिलक्षणं संभवतितदुच्यते, येन स्वभावेन कारणभूतं वस्तु
वस्त्वंतराद्व्यावृत्तम् तस्य स्वभास्य तत्कार्येऽप्यनुवृत्तिः कार्यस्य
कारण सालक्षण्यम् येन हि आकारेण मृदादिभ्यो हिरण्यं व्यावर्तते
तदाकारानुवृत्तिः तत्कार्येषु कुंडलादिषु दृश्यते । ब्रह्म च हेय
प्रत्यनीकज्ञानानंदैश्वर्यस्वभावम्, जगच्च तत्प्रत्यनीकस्वभावमिति
न तदुपादानम् । ननु च वैलक्षण्येऽपि कार्यकारणभावो दृश्यते, यथा

चेतनापुरुषादचेतनानि केशखदंतलोमानिजायते, यथाचाचेतनाद्-
गोमयाच्चेतनो वृश्चिकोजायते, चेतनाच्चोर्णनाभेरचेतनस्तन्तुः,
नैतदेवम्, यतस्तत्रप्यचेतनांश एव कार्यकारणभावः ।

(विवाद) आप, प्रकृति और विकार रूप जगत में किस प्रकार की समता मानते हैं कि जिसके अभाव में, ब्रह्मोपादानकता असंभव बतलाते हैं, कारण और कार्य में सभी प्रकार की समानता तो प्रायः होती नहीं, यदि ऐसा हो तो कार्य और कारण भाव की प्रतीति होगी कैसे? मिट्टी रूपी कारण में, घट आदि क्रायों की आकृति तो दृष्टिगोचर होती नहीं । इसलिए किसी न किसी प्रकार की समानरूपता कारण और कार्य में भी माननी होगी, जगत और ब्रह्म में भी सत्ता आदि रूपी समानता हो सकती है । कारण वस्तु में जो अपनी एक विशेषता होती है, जिससे कि वह अन्य वस्तुओं से पृथक् प्रतीत होती है, कारण की वही विशेषता यदि कार्य में भी तदनुरूप ही दिखलाई दे तो कारण और कार्य को समान कहना पड़ेगा । जैसे कि आकृति गुण आदि में मिट्टी, सोना स भिन्न है, वैसे है, सुवर्ण निर्मित पदार्थों से, मिट्टी के निर्मित प्रदायों में भी तन्निमित्तक भिन्नता दीखती है। पर ब्रह्म तो अत्युत्तम ज्ञान-आनंद और ऐश्वर्य स्वभाव से संपन्न है, जगत उससे सर्वथा विपरीत स्वभाव का है, इसलिए ब्रह्म, जगत का उपादान कारण कैसे माना जा सकता है? यदि कहे कि-विपरीत रूपों में भी कारण कार्य भाव देखा जाता है, जैसे कि चेतन पुरुष से अचेतन नख-दंत-केश आदि की उत्पत्ति तथा अचेतन गावर स चतन गुवरेंले कीड़ों की उत्पत्ति एव चेतन मकड़ी स अचेतन सूत्र की उत्पत्ति इत्यादि, वंसी ही विलक्षणता ब्रह्म और जगत में भी हा सकती है । यह कथन असंगत है, क्यों कि- वहाँ ता अचेतनांश में ही कारण कार्य भाव है [चेतनांश में नहीं]

अथ स्यात्- अचेतनत्वेनाभिमतानामपि चैतन्ययोगः श्रुतिषु
श्राव्यते "तं पृथिव्यब्रवीत् "आपोवाग्रकामयन्त "त हेमप्राणाग्रहंश्रेयसे
विवदमाना ब्रह्माणं जग्मुः" इति । नदोसमुद्रपर्वतादीनामपि चेतनत्वं
पौराणिक आतिष्ठन्ते, अतो नवैलणस्यमिति । अत उदारं पठति-

आप जिन्हें अचेतन कहते हैं, उन्हें ही श्रुतियों में चैतन्ययुक्त कहा गया है जैसे कि—“पृथ्वी ने उससे कहा “जलों ने कामना की “वे इंद्रिया आपस में अपनी श्रेष्ठता के लिए झगड़ती हुई ब्रह्मा के पास गई” इत्यादि ऐसे ही, नदी समुद्र पर्वत आदि की भी, पौराणिक चैतन्यता मानते हैं, इसलिए कारण कार्य में कोई विलक्षणता नहीं है। इसका उत्तर देते हैं—

अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ।२।१।५॥

तु शब्दश्चोदिताशंकानिवृत्यर्थः, पृथिव्याद्यभिमानिन्यो देवताः “तं पृथिव्यब्रवीत्” इत्यादिषु पृथिव्यादिशब्दैर्व्यपदिश्यन्ते । कुतः? विशेषानुगतिभ्यां-विशेषः, विशेषणं, देवताशब्देन विशेष्य पृथिव्यादयोऽभिधीयन्ते “हंताऽहमिमास्त्रिस्रो देवताः “इति तेजोऽब्रवीत् देवता-शब्देन विशेष्यन्ते “सर्वहिवै देवताग्रहं श्रेयसे विवदमानाः” ते देवाः प्राणे-निः श्रेयसं विदित्वा” इति च । अनुगतिः, अनुप्रवेशः, “अग्निर्वाग्भूत्वा-मुखं प्राविशत्, आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षणीप्राविशत् वायुः प्राणोभूत्वा-नासिके प्राविशत् “इत्यादिना वागाद्यभिमानित्वेनाग्न्यादीनां अनुप्रवेशः श्रूयते । अतोजगतोऽचेतनत्वेन विलक्षणत्वाद्ब्रह्मकार्यत्वानुपपत्तेः तर्कानुग्रहीतस्मृत्यनुरोधेन जगतः प्रधानोपादानत्वं वेदांतैः प्रतिपाद्यते इति

सूत्रस्य तु शब्द को गई शंका के निवारण के लिए प्रयुक्त है। पृथ्वी आदि के अभिमानी देवता ही “पृथ्वी ने उससे कहा” इत्यादि वाक्यों में पृथ्वी आदि शब्दों से बतलाए गए हैं। पृथ्वी आदि देवताओं की विशेष नाम तथा अनुप्रवेश धाला कहा गया है। सूत्रस्य विशेष्य शब्द विशेषण अर्थ में प्रयुक्त है, देवता शब्द से विशेष्य, पृथिवी आदि का ही निर्देश है। “मैं इन तीनों देवताओं को नाम रूप वाला कहूंगा” इत्यादि में तेज जल पृथिवी आदि, देवता शब्द से विशेषित किये गए हैं।” सारे देवता अपनी अपनी प्रधानता बतलाते हुए पहुँचे “वे देवता प्राण में निःश्रेयस जानकर” इत्यादि में भी इंद्रियादि को देवता कहा गया है। सूत्रस्य अनुगत शब्द का अर्थ है, मध्य में प्रवेश करना। “अग्नि वाक्य

रूप से मुख में प्रविष्ट है" सूर्य चक्षु रूप से नेत्रों में प्रविष्ट है," वायु प्राण रूप से नासिका में प्रविष्ट है" इत्यादि में वागादि इन्द्रियों के अभिमानी अग्नि आदि देवताओं का अनुप्रवेश बतलाया गया है। इसलिए युक्ति संगत सांख्य स्मृति के मतानुसार, वेदांतशास्त्र में, प्रकृति को ही जगत का उपादान कारण प्रतिपादन किया गया है, ऐसा ही मानना चाहिए।

उक्त तर्क के निराकरण में सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं—एवं प्राप्तेऽभिधीयते,

दृश्यते तु ।२।१।६॥

तु शब्दात् पक्षो विपरिवर्तते, यदुक्तं जगतो ब्रह्मविलक्षणत्वेन ब्रह्मोपादानत्वं न संभवति, इति, तदयुक्तम्, विलक्षणयोरपि कार्य-कारणभाव दर्शनात् । दृश्यते तु माक्षिकादेर्विलक्षणस्य कृम्यादेस्तस्मादुत्पत्तिः । ननु उक्तमचेतनांश एव कार्यकारणभावात्तत्र सालक्षण्यम् । सत्यमुक्तम्, न तावता कार्यकारणयोर्भवदभिमत सालक्षण्यसिद्धिः । यथा कथंचित्सालक्षणे सर्वस्य सर्वसालक्षणेन सर्वस्मात्सर्वोत्पत्ति प्रसंग भयादवस्तुनो, वस्त्वंतरादव्यावृत्तिहेतु भूतस्याकारस्यानुवृत्तिः सालक्षण्यं भवताऽभ्युपेतं, स तु नियमो माक्षिकादिभ्यः कृम्यादि उत्पत्तौ न दृश्यत इति ब्रह्मविलक्षणस्यापि जगतो ब्रह्मकार्यत्वं नानुपपन्नम् । न हि मृत्हिरण्यघटमुकुटादिष्विव वस्त्वंतरयावृत्तिहेतुभूतासाधारणाकारानुवृत्तिर्माक्षिक गोमयकृमिवृश्चिकादिषु दृश्यते ।

सूत्रस्य तु शब्द, परपक्ष का द्योतक है। विलक्षणता के कारण जगत का उपादान कारण ब्रह्म नहीं हो सकता, यह कथन असंगत है, क्योंकि कार्य और कारण में विभिन्नता भी देखी जाती है। शब्द की मविलख्या इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। यदि कहें कि उक्त उदाहरण में केवल अचेतनांश में ही कार्य कारण की समानता है, सो तो आपने ठीक ही कहा, आपके कथन मात्र से ही, कार्य कारण की समानता सिद्ध न

होगी [अर्थात् अचेतन मक्खियों के शरीर में चेतनांश भी तो है, उसे किम कारण का कार्य सिद्ध करेंगे ?] जिस किसी भी प्रकार की समानता तो हर पदार्थ में अवश्य होती है, अतः यह मान्य होगा कि समस्त पदार्थों में किसी न किसी प्रकार की समानता विद्यमान है, तथा इस समानता के सिद्धान्त के अनुसार यह भी मानना पड़ेगा कि—हर वस्तु से हर वस्तु की उत्पत्ति हो सकती है ? सो तुम मानने में हिचकोगे और तुम्हें यह स्वीकारना पड़ेगा कि—वस्तु से वस्तु का भेद बतलाने वाला जो लक्षण है वही समानता का भी लक्षण है। किन्तु यह नियम मधुमक्खी के प्रसंग में घटित नहीं होता, इसलिए विलक्षण ब्रह्म से, जगत की उत्पत्ति मानने में कोई बाधा, उपस्थित नहीं होती। मिट्टी से निर्मित घट एवं सुवर्ण रचित मुकुट आदि में, मिट्टी और सुवर्ण जैसी, अनुरूप आकृति समानता दिखाई देती है, वंसी मधुमक्खी, गुबरैले आदि में तो दीखती नहीं।

असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ।२।१।७॥

यदि कार्यभूताज्जगतः, कारणभूतं ब्रह्मविलक्षणम् तर्हि कार्य-कारणयोर्द्रव्यान्तरत्वेन कारणे परस्मिन् ब्रह्मणि कार्यं जगत्त्वं विद्यत इत्सत एव जगदुत्पत्तिः प्रसज्यत् इति चेत्—नैतदेवम्, कार्य-कारणयोः सालक्ष्यं नियम प्रतिषेधमात्रमेव हि पूर्वसूत्रेऽभिप्रेतम्, न तु कारणात्कार्यस्य द्रव्यान्तरत्वम्, कारणभूतं ब्रह्मैव स्वस्माद्-विलक्षणजगदाकारेण परिणमत इत्येतत् न परित्यक्तम्, कृमिमा-क्षिकयोरपि हि सति च वैलक्ष्ये, कुण्डलहिरण्योरिव द्रव्यैक्यमस्त्येव।

इस पर, यदि कहो कि—कार्य रूप जगत से, कारण रूप ब्रह्म भिन्न लक्षण वाला है, तो कार्य और कारण दो भिन्न पदार्थ हो जाते हैं, जिससे सिद्ध होता है कि—परब्रह्म में, इस कार्य रूप जगत का अस्तित्व नहीं है, तथा इस जगत् की उत्पत्ति जड से ही है। सो ऐसी बात नहीं है ऊपर के सूत्र में केवल, कार्य और कारण की समानता के नियम का ही प्रतिषेध किया गया है, कारण से कार्य भिन्न है, ऐसा नहीं कहा गया है, तथा कारण ब्रह्म, जो कि—असमान स्वभाव जगत् के रूप में परिणत

हो जाते हैं, इस बात को भी छोड़ा नहीं गया है। कृमि और मक्खी आदि में स्वभावगत असमानता तो है, किन्तु सुवर्ण कुंडल की तरह द्रव्यैव्य भी है।

उक्त कथन का पुनः प्रधान कारणवादी खंडन करते हैं—
अत्र चोदयति

अपीतौ तद्वत्प्रसंगात् समंजसम् २।१।८॥

अपीताविति अपीतिपूर्वकसृष्ट्यादेः प्रदर्शनायंम् “सदेव सोम्यइदमग्रआसीत् “आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्” इत्यादिषु अप्ययावस्थोपदेशपूर्वकत्वदर्शनात् सृष्ट्यादेः। यदि कार्यकारणयोर्द्रव्यैक्यमभ्युपेतम् तदा कार्यस्य जगतो ब्रह्मणि अप्ययसृष्ट्यादिषु सत्सु, ब्रह्मण एव तत्तदवस्थान्वय इति कार्यगताः सर्वे एवापुरुषार्था ब्रह्मणि प्रसज्येरन्, सुवर्णं इव कुंडलगताविशेषाः। ततश्च वेदांत-वाक्यं सर्वमसमंजसं स्यात् यः सर्वज्ञः सर्ववित् “अपहतपाप्मा विजरोविमृत्युः” न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्य-धिकश्च दृश्यते “तयोरन्नं पिप्पलं स्वाद्वत्ति” अनीशश्चात्मा वध्यते भोक्तृभावात् “अनीशया शोचति मुह्यमानः” इत्येकस्मिन्नेव-वस्तुनि येषां परस्परे विरुद्धानां प्रसक्तेः।

सूत्र में अपीति शब्द प्रलय पूर्विका सृष्टि का वाचक है। “हे सोम्य ! सृष्टि से पूर्व यह सारा जगत् सत् ही था” सृष्टि के पूर्व यह जगत् एकमात्र आत्मस्वरूप ही था “इत्यादि वाक्यों में सृष्टि के पूर्व की प्रलयावस्था का वर्णन किया गया है। यदि कार्य और कारण को एक ही द्रव्य माना जायेगा तो, ब्रह्म सृष्टि इस जगत् का, जो कि उन्हीं से उत्पन्न, स्थित और लय हो जाता है, उसका ब्रह्म के साथ संबंध होना स्वाभाविक ही होगा ऐसा होने से कुंडल की द्रव्यगत विशेषतायें जैसे सुवर्ण में मिल जाती हैं, वैसे ही जगत् की अपुरुषार्थ रूप त्याज्य वस्तुएँ भी प्रलय काल में ब्रह्म से संसक्त हो जावेंगी। इस प्रकार—“जो सर्वज्ञ और सर्वविद है” वह निष्पाप जरामृत्यु रहित है” उसमें कार्य और

कारण नहीं है, और न उसमें वृद्धि और ह्रास ही है "उन दोनों में दूसरा जीव ही स्वादुफल का भोग करता है" परतंत्र जीव ही भोक्ता होने के कारण बंधन में पड़ता है "परतंत्र होने से ही मोहवश शोक करता है" इत्यादि वाक्यों में जो परस्पर भिन्नता दिखलाई गई है, वह कार्यकारण की एकता मानने से, असंगत हो जावेगी, अर्थात् उक्त वेदांत वाक्यों में असामंजस्य हो जावेगा ।

अयोच्येत—चिदचिद्वस्तुशरीरकस्य परस्यैव ब्रह्मणः कार्य-
कारणभावाच्छरीरभूतचिदचिद्वस्तुगतत्वाच्च दोषाणाम् न
शरीरिणि ब्रह्मणि कार्यावस्थे कारणावस्थेच प्रसंगः, इति । तद-
युक्तमृजगद्ब्रह्मणोः शरीरशरीरिभावस्यैवासंभवात्, संभवे च,
ब्रह्मणि शरीर संबन्धनिबन्धनदोषाणामनिवार्यत्वात्; न हि चिदचिद्-
वस्तुनोर्ब्रह्मणः शरीरत्वं संभवति, शरीरं हि नाम कर्मफलरूपसुखदुःख-
भोगसाधनभूतेन्द्रियाश्रयः, पंचवृत्तिप्राणाधीनधारणः पृथिव्यादिभूत
संघातविशेषः, तथाविधस्यैव लोकवेदयोः शरीरत्व प्रसिद्धेः । पर-
मात्मनश्च "अपहतपाप्मा विजरः अनश्न्नन्यो अभिचाकशीति-
अपाणिपादोजवनोग्रहीतापश्यत्यक्षुः स शृणोत्यकर्णः अप्राणो
ह्यमनाः" इत्यादिभिः कर्मतत्फलभोगयोरभावादिन्द्रियाधीनभोग- ।
त्वाभावात्प्राणवत्त्वाभावाच्च न तं प्रति चेतनाचेतनयोः शरीरत्वम्
न चाचेतनव्यष्टिरूपतृणकाष्ठादीनां समष्टिरूपस्यभूतसूक्ष्मस्य च
न विद्यते । चेतनस्य तु जानेकाकारस्य सर्वमेतन्नसंभवतीति नितरां
शरीरत्वसंभवः ।

जो यह कहते हो कि—चेतन्यजडमय समस्त वस्तुएँ पद्म का ही शरीर हैं, इस लिए उनका ब्रह्म के साथ कारण कार्य भाव संबंध है, जड़चेतनमय वस्तुओं के समस्त दोष शरीरी ब्रह्म में संसक्त नहीं होते, वह तो उसकी कार्य कारण अवस्था में ही रह जाते हैं । इत्यादि

कथन भी असंगत है, ऐसा मानने से तो जगत और ब्रह्म का शरीर शरीरी भाव ही असंभव हो जायेगा, यदि उनमें शरीर शरीरी भाव है, तो ब्रह्म में शरीर संबंध के कारण दोषों की अनिवार्यता भी निश्चित है। जञ्चेतनमय वस्तु, ब्रह्म का शरीर नहीं हो सकती, क्योंकि—कर्मफल सुखदुःख आदि के उपभोग सासाधन रूप, इन्द्रियों का आश्रय पंचवृत्ति (प्राण अपान उदान व्यान समान) के अधीन रहने वाला, पृथिव्यादि भूतों का संघात रूप विशेषाकार ही, लोक और वेद में शरीर रूप से प्रसिद्ध है। परमात्मा को तो “निष्पाप अजर अमर” “भोग नहीं करता केवल देखता ही है” बिना हाथ पैर का होते हुए भी दौड़ कर पकड़ने वाला, बिना नेत्र के देखने वाला, बिना कर्ण के सुनने वाला प्राण एवं मन हीन” कहा गया है। न वाक्यों से ज्ञात होता है कि—परमात्मा के लिए कर्म और कर्म का भोग नहीं है, और न इन्द्रिय साध्य भोग ही संभव है, तथा प्राणों संयोग भी संभव नहीं है। इसलिए उसे जडचेतन शरीर वाला नहीं कह सकते। और न, अचेतन व्यष्टि रूप तृण काष्ठ आदि के सूक्ष्म भूत सृष्टि रूप का, इन्द्रियों के आश्रित रहना ही संभव है तथा पृथ्वी आदि और सूक्ष्म भूत समष्टि का संघात (अर्थात् शरीराकार में परिणत होना) संभव ही है। एकमात्र ज्ञानस्वरूप चेतन में तो इन सब का होना, एक दम ही असंभव है। इसलिए उसका शरीरी होना भी संभव नहीं है।

न च भोगायतनत्वं शरीरत्वसंभवः भोगायतनेषु वेशमादिषु शरीरत्वाप्रसिद्धः, यत्र वर्तमानस्यैव सुखदुःखोपभोग, तदेव भोगायतनमितिचेन्नत परकायप्रवेशजन्म सुखदुःखोपभोगायतनस्य परकायस्य प्रविष्टशरीरत्वाप्रसिद्धेः, ईश्वरस्य तु स्वतः सिद्धनित्यनिरतिशयानन्दस्य भोगं प्रति चिदचित्तयोरायतनत्व नियमो न संभवति। एतेन भोगसाधनमात्रस्य शरीरत्वं प्रत्युक्तम्।

भोगायतन ही शरीर है, इस नियम से भी परमात्मा का शरीर होना असंभव है क्योंकि भोगायतन घर आदि को कहीं भी शरीर नहीं कहा गया है। यदि कहें कि जिसमें रहकर आत्मा को भोग प्राप्त होता है,

वही शरीर है, तो परकाय प्रवेश जनित सुख दुःख आदि भोग के आयतन प्रविष्ट रूप में, परकाय में प्रविष्ट व्यक्ति का नहीं सुना जाता, अर्थात् परकाय में प्रवेश करने वाले व्यक्ति को शरीर संबन्ध होने पर भी सुख-दुःख आदि भोग का अनुभव नहीं होता। विज्ञेय रूप से स्वतः सिद्ध नित्य निस्सीम आनन्दमय ईश्वर के भोग साधन के लिये जड़चेतन वस्तु को, आयतन या देह कहना संगत नहीं है। इस विवेचन से, भोग मात्र ही शरीर है, इस कथन का भी निराकरण हो जाता है।

अथ मतं—यदिच्छाधीनस्वरूपस्थितिप्रवृत्ति यत् तत्तस्य शरीरमिति, सर्वस्येश्वरेच्छाधीनस्वरूपस्थितिप्रवृत्तित्वेन ईश्वर शरीरत्वं संभवति इति, तदपि न साधीयः, शरीरतया, प्रसिद्धेषु तत्तच्चेतनेच्छायत्तस्वरूपत्वाभावात् रुग्णशरीरस्य तदिच्छाधीनप्रवृत्तित्वाभावात् मृतशरीरस्य तदात्मायत्तास्थित्वाभाव-च्च, सालभंजिकादिषु चेतनेच्छाधीन स्वरूपस्थिति प्रवृत्तिषु तच्छरीर-त्वाप्रसिद्धेश्च, चेतनस्यनित्यस्येश्वरेच्छायत्त स्वरूपत्वाभावाच्च न तच्छरीरत्वसंभवः।

यदि कहो कि—जिसकी स्वरूप, स्थिति और प्रवृत्ति उसकी इच्छा के ही अधीन है, वह इच्छा ही उसका शरीर है, जड़चेतनमय समस्त जगत का स्वरूप, स्थिति और चेष्टा, ईश्वर के इच्छा के ही अधीन है। इसलिए वही उसका शरीर है यह बात भी असंभव है। क्योंकि संसार में कहीं भी चेतन की इच्छानुसार शरीर के चेष्टा नहीं देखी जाती, चेतन की इच्छा होते हुये भी रुग्ण शरीर में, तदनुरूप कोई चेष्टा नहीं होती, मृत शरीर भी तो शरीर है, उसमें भी चेतन की इच्छा के अनुसार कोई प्रवृत्ति नहीं होती। कठपुतली में चेतन की इच्छानुसार चेष्टा में अवश्य होती हैं, परन्तु वह चेतन का शरीर नहीं है। चेतन (जीव) स्वयं नित्य है, इसलिए उसका स्वरूप कभी ईश्वरेच्छा के अधीन तो हो नहीं सकता। इन सब कारणों से ईश्वर के इच्छामय शरीर का होना असंभव है।

न च यद्येकनियाम्यम्, यदेकघायंम्, यस्यैकशेषभूतम्, तत्त-
स्यशरीरमिति वाच्यम्, क्रियादिषु व्यभिचारात् । “अशरीरंशरीरेषु”
“अपाणिपादोजवनी प्रहीता” इत्यादिभिश्चेश्वरस्य शरीराभावः
प्रतिपाद्यते । अतो जगद्ब्रह्मणोःशरीरशरीरि भावस्य असंभवा-
त्तत्संभवे च ब्रह्मणि दोषप्रसंगात्ब्रह्मकारणवादे वेदांतवाक्यानाम
सामंजस्यम्—इति ।

जो जिससे एकमात्र नियम्य, एकमात्र घायं तथा कर्मभोग का सहा-
यक हो, वही उसका शरीर हो, ऐसा भी कहना कठिन है, ऐसा मानने से
क्रिया आदि में अड़चन पड़ेगी । अर्थात् सारी क्रियायें कर्ता को अधीनस्थ
होकर परिचालित होती हैं तथा भोगादि साधन करती हैं, यदि उक्त
प्रकार का शरीर का लक्षण स्वीकारेंगे तो समस्त क्रियायें उस कर्ता का
शरीर हो जायेंगीं । “वह अशरीरी होकर शरीरों में स्थित है वह हाथ पंर
वाले न होकर भी दीड़कर पकड़ते हैं” इत्यादि वाक्यों में कर्ता को शरीर
रहित बतलाया गया है, इसलिए जगत और ब्रह्म में शरीर शरीरी भाव
न होने से अथवा होने से किसी भी प्रकार, ब्रह्म में दोष प्रसंग उपस्थित
करने वाले, ब्रह्मकारणवादी वाक्यों का असामंजस्य बना ही रहता है ।

अत्रोत्तरम्—इसका उत्तर सिद्धांत श्प से प्रस्तुत करते हैं ।

न तु दृष्टांत भावात् । २।१।६॥

नैवमसामंजस्यम्-एकस्यैवावस्थादुमान्वयेऽपि गुणदोष व्यव-
स्थितेहंष्टान्तस्य विद्यमानत्वात् । तु शब्दोऽत्र हेयसंबंधगंधस्या
संभावनीयतां द्योतयति । एतदुक्तं भवति—चिदाचिद् वस्तु शरीर-
तया तदात्मभूतस्य परस्य ब्रह्मणः संकोचविकासाल्मककार्यकारण
भावावस्थादुमान्वयेऽपि न कश्चिद् विरोधः यतः संकोच विकासौ
परब्रह्म शरीरभूतचिदचिद्वस्तुगतौ शरीरयतास्तुदोषा नात्मनि
प्रसक्तवन्ते, आत्मगताश्चगुणाः न शरीरे अथ च “देवोजातो मनुष्यो-
जातः, तथा स एव बालो युवा स्यविरश्च” इति व्यपदेशश्च मुख्यः

“भूतसूक्ष्मशरीरस्यैव क्षेत्रज्ञस्य देवमनुष्यादिभाव इति” “तदन्तर प्रतिपत्तौ” इति वक्ष्यते ।

उक्त प्रकार के असमंजस की संभावना नहीं है, क्योंकि एक ही वस्तु के अवस्थाभेद से गुण और दोष की व्यवस्था होती है, ऐसे दृष्टांत विद्यमान हैं । तु शब्द हेय संबंध की असंभावना का द्योतक है । कथन यह है कि—जड़चेतनमयशरीर होने से तदात्मक परब्रह्म की संकोचविकासात्मक कार्यकारणभावरूप, दो अवस्थाओं के होते हुए भी कोई दोष नहीं है । क्योंकि संकोचविकास, परब्रह्म के शरीरभूत जड़चेतनगत ही है । शरीरगत दोष आत्मा में तथा आत्मगत गुण शरीर में संसक्त नहीं होते । फिर भी “देवता हुआ, मनुष्य हुआ, वह बालक युवक वृद्ध हैं” इत्यादि व्यवहार जीव के लिए ही होता है, वस्तुतः सूक्ष्मभूत शरीर का ही, देव मनुष्य आदिभाव होता है, ऐसा “तदन्तर प्रतिपत्तौ” सूत्र में सूत्रकार बतलाते हैं ।

यत्पुनरुक्तं—चिदचिदात्मकस्य जगतः स्थूलस्य सूक्ष्मस्य च परमात्मानं प्रति शरीरभावो नोपपद्यते—इति । तदनाकलित सम्यङ् न्यायानुगृहीत वेदांत वाक्य गणस्य स्वमतिपरिकल्पित कुतर्कं कविजृम्भितम् सर्वं एवहि वेदांताः स्थूलस्य चेतनस्याचेतनस्य समस्तस्य च परमात्मानं प्रति शरीरत्वं श्रावयन्ति, वाजसनेयके तावत् काण्वशाखायां चांतर्यामिब्राह्मणे “यः पृथिव्यां तिष्ठन् यस्यपृथ्वी शरीरम्” इत्यारभ्य पृथिव्यादि समस्तमचिद्वस्तु “यो विज्ञाने तिष्ठन्—यस्य विज्ञानं शरीरं” “य आत्मनि तिष्ठन्—यस्यात्मा शरीरं” इति चेतनमचेतनं च पृथङ् निर्दिश्य तस्य तस्य परमात्मशरीरत्वमभिधीयते । सुबालोपनिषदि च “यः पृथिवीमंतरेसंचरन् यस्य पृथ्वीशरीरम्” इत्यारभ्य तद् च देव चिदचित्तोः सर्वावस्थयोः परमात्म शरीरत्वमभिधाय “एष सर्वं भूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्योदेव एको नारायणः” इति तस्य सर्वंभूतानि प्रत्यात्मत्वमभिधीयते ।

जो यह कहा कि—स्थूल सूक्ष्मामक जडचेतनमय जगत परमात्मा का शरीर हो ही नहीं सकता, यह कथन, वेदान्तशास्त्र के सम्यक् ज्ञान न होने से मनः कल्पित कुतर्क का फल है। सारे ही वेदान्तशास्त्र स्थूल सूक्ष्म चेतन अचेतन समस्त को परमात्मा का शरीर बतलाते हैं। वाजसेनयी काण्व और माध्यंदिन शाखा के अन्तर्यामी ब्राह्मण में जैसे—“जो पृथ्वी में स्थित है पृथ्वी जिनका शरीर है” इत्यादि से पृथिव्यादि समस्त अचिद् वस्तु तथा “जो विज्ञान में स्थित है विज्ञान जिनका शरीर है” “जो आत्मा में स्थित है आत्मा जिनका शरीर है” इत्यादि से चेतन वस्तुओं का पृथक्—पृथक् निर्देश करके, उनको परमात्मा का शरीर बतलाया गया है। सुबालोपनिषद् में भी इसी प्रकार “जो पृथ्वी में संचरण करते हैं, पृथ्वी जिनका शरीर है” तथा “जो आत्मा में संचरण करते हैं, आत्मा जिनका शरीर है” इत्यादि में उसी प्रकार चिदचिद् की समस्त भवस्थाओं को परमात्मा का शरीर बतलाकर “वह सर्वान्तर्यामी निष्पाप दिव्य देव एक नारायण हैं” इत्यादि से उन परमात्मा को भूतों का अन्तर्यामी बतलाया गया है।

स्मरन्ति च “जगत्सर्वं शरीरं ते यदम्बुवैष्णवकायः” “तत्सर्वं वै हरेस्तनुः” तानिसर्वाणि तदवपुः “सोऽभिध्याय शरीरा-स्त्वात्” इत्यादि। भूतसूक्ष्मत्वात्स्वाच्छरीरादित्यर्थः। लोके च शरीर शब्दो घटादिशब्दवदेकाकारद्रव्यनियत वृत्तिमनासादितः कृमिकोटपतंगसर्पनरपशुप्रभृतिष्वत्यंत विलक्षणाकारेषु द्रव्येष्वगौणः प्रयुज्यमानो दृश्यते। तेन तस्य प्रवृत्तिनिमित्त व्यवस्थापनं सर्वं प्रयोगानुगुण्येनैव कार्यम् त्वदुक्तं च “कर्मफलभोगहेतुः” इत्यादिकं प्रवृत्तिनिमित्त लक्षणं न सर्वं प्रयोगानुगुणम्, यथोक्तेष्वीश्वर शरीरतयाऽभिहितेषु पृथिव्यादिष्वव्याप्तेः।

“सारा जगत मुंहारा ही शरीर है, जल विष्णु का शरीर है” यह सब हरि का शरीर है। “उन्होंने संकल्प करके अपने शरीर से” इत्यादि स्मृति वाक्य भी उक्त तथ्य की पुष्टि करते हैं। लोक में शरीर शब्द, घर आदि शब्दों की तरह, अनेक प्रकार के द्रव्य संघातमय, कृमि-कीट-

पतंग-सर्प-नर-पशु आदि विभिन्न आकारों के लिए प्रयोग किया जाता है । प्रचलित प्रयोगों की सिद्धि के लिए तदनुसार ही शरीर शब्द का प्रयोग करना चाहिए । तुमने जो “कर्म फल के भोग का हेतु शरीर” इत्यादि लक्षण बतलाया वह सर्व प्रयोगानुसारी नहीं है, क्योंकि ईश्वर के शरीर रूप से वर्णित पृथ्वी आदि में, उक्त लक्षण की अव्याप्ति होती है [अर्थात् तुम्हारे लक्षणानुसार शास्त्रनिहित जगत्शरीरत्व की सिद्धि नहीं होती]

किं च ईश्वरस्येच्छाविग्रहेषु मुक्तानां च “त एकधा भवति” इत्यादि वाक्यावगतेषु विग्रहेषु तत्लक्षणमव्याप्तम्, कर्मफलभोग निमित्तत्वाभावान्तेषाम्, परमपुरुषेच्छा विग्रहाश्च न पृथिव्यादि भूतसंघत विशेषाः “न भूतसंघ संस्थानो देहोऽस्य परमात्मनः” इति स्मृतेः । अतोभूतसंघात रूपत्वं च शरीरस्याव्याप्तम् । पंचवृत्ति प्राणाधोन धारणत्वं च स्थावरशरीरेष्वव्याप्तम् । स्थावरेषु हि प्राणसदभावेऽपि तस्य पंचधा अवस्थाय शरीरस्य धारकत्वेनावस्थानं नास्ति । ग्रहत्यादीनां कर्मनिमित्त शिलाकाष्ठादिशरीरेष्वद्रिया-श्रयत्वं सुखदुःख हेतुत्वं चाव्याप्तम् ।

तथा ईश्वर के इच्छामय शरीर और “वह मुक्त पुरुष एक दो तीन आदि होता है” ऐसे मुक्त शरीर में भी तुम्हारा लक्षण अव्याप्त होता है । क्योंकि ये शरीर कर्मफल के भोग के लिए नहीं होते । परम पुरुष भगवान का स्वेच्छामय विग्रह पृथिव्यादि भूतों का संघात नहीं होता । “परमात्मा का यह देह भूत समुदायों का संस्थान नहीं है” ऐसा स्मृति का ही वचन है । इसलिए भूतसंघातत्व या भीतिकत्व लक्षण वाले शरीर की तुम्हारे लक्षणानुसार अव्याप्ति होती है । पांचवृत्ति वाले प्राणों के आधार पर जिनकी धारणा और रक्षा होती है, ऐसे स्थावर वृक्ष आदि शरीरों में भी (उक्त लक्षण) अव्याप्त होगा । यद्यपि स्थावर आदि शरीरों में प्राण का अस्तित्व है, किन्तु पांच प्रकार के प्राणों के आधार पर ही उसकी स्थिति हो, ऐसा नहीं है । कर्म निमित्तक अहत्या आदि के पत्यर लकड़ी आदि के शरीरों में, इंद्रियाश्रयता और सुख दुःख हेतुता का अभाव होने से भी अव्याप्ति होगी ।

अतो यस्य चेतनस्य यद्द्रव्यं सर्वात्मना स्वार्थे नियंतुं धारयितुं च शक्यम्, तच्छेषतैक स्वरूपं च तत्तस्य शरीरमिति शरीरलक्षण-मास्थेयम् । ह्यणशरीरादिषु नियमनाद्यदर्शनं विद्यमानाया एव नियमन शक्तेः प्रतिबंधकृतम्, अग्न्यादेः शक्ति प्रतिबंधा दौण्याद्य दर्शनवत् । मृतशरीरं च चेतनवियोग समय एव विशरित्तुमारब्धम् क्षणान्तरे च विशीर्यते पूर्वशरीरतयापरिकूलस संघातैक देशत्वेन च तत्र शरीरत्व व्यवहारः । अतः सर्वपरं पुरुषेण सर्वात्मना स्वार्थे निया-वयं धार्यं तच्छेषतैक स्वरूपमिति सर्वं चेतनाचेतनं तस्य शरीरम् ।

जो चेतन को आत्मीय रूप से नियमन और धारण करने में समर्थ हो और वह उसके अधीन रहे, उसी द्रव्य को शरीर कहा जा सकता है । रोगी आदि शरीरों में जो स्वेच्छानुसार परिचालन क्षमता नहीं होती, वह दाहिका शक्ति रहित अग्नि की अनुष्णता के समान ही शक्त्यावरोध है । मृत शरीर आत्मा से अलग होते समय ही विशीर्ण होने लगता है और तत्काल बाद ही पूर्णतः विषण्ण हो जाता है, पहले वह जीवात्मा, का शरीर था, इसलिए बाद में भी उसमें शरीर रूप से व्यवहार किया जाता है । यह सारा जगत, परं पुरुष परमात्मा से नियंतृत, धारित और हर प्रकार से अधीनस्थ है, इसलिए इसे उनका शरीर कहा गया है ।

“अशरीरं शरीरेषु” इत्यादि च कर्म निमित्त शरीर प्रतिषेध-परम् यथोक्त सर्वशरीरत्वश्रवणात् । उपरितनादिकरपु चैतदुपपाद-यिष्यते । “अपीतो तद्वत्प्रसंगादसमंजसं” नतु दृष्टान्तभावात्” “इतरव्यपदेशात्” इत्यधिकरण सिद्धोऽर्थः स्मारितः ।

“अशरीरं शरीरेषु” इत्यादि वाक्य में, परमात्मा के कर्मनिमित्तक भोग्य शरीर का ही निषेध किया गया है, उनके सामान्य शरीर की कहीं भी चर्चा नहीं मिलती । बाद के अधिकरण में इस वियय का उपपादन करेंगे, “अपीतो तद्वत् प्रसंगाद समंजसम्” न तु दृष्टान्तभावात्” इन दो सूत्रों से “इतरव्यपदेशात्” अधिकरण की सिद्धि का स्मरण किया गया है ।

स्वपक्षदोषाच्च । २।१।१०॥

न केवल ब्रह्मकारणवादस्य निर्दोषतयैतत्समाश्रयणम्, प्रधान कारणवादस्य, दृष्टत्वाच्च तत्परित्यज्यैतदेव समाश्रयणीयम् । प्रधान कारणवादे हि जगत् प्रवृत्तिर्नोपपद्यते । तत्रहि निर्विकारस्य चिन्मात्रैकस्य पुरुषस्य प्रकृति सन्निधानेन प्रकृतिधर्माध्यास निबन्धना जगत् प्रवृत्तिः । निर्विकारस्य चिन्मात्ररूपस्य प्रकृतिधर्माध्यासहेतुभूतं प्रकृतिसन्निधानं किं रूपम् इति विवेचनीयम्, किं प्रकृतेःसद्भाव एव उततद्गतः कश्चिद् विकारः अथ पुरुषगत एव कश्चिद् विकारः । न तावद् पुरुषगतः, अनभ्युपगमात् । नापि प्रकृतेर्विकारः तस्याध्यास कार्यतयाऽभ्युपेतस्यासहेतुत्वासंभवात्, सद्भाव मात्रस्य सन्निधानत्वे मुक्तस्याप्यध्यास प्रसंग इति त्वत्पक्षे जगत् प्रवृत्तिर्नोपपद्यते । अयमर्थः सांख्य प्रतिक्षेपसमये “अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात्” इत्यादिना प्रपंचामिश्यते ।

न केवल ब्रह्म कारणवाद के निर्दोष होने के कारण उक्त मत अप्राह्य है, अपितु, प्रधान कारणवाद दोषपूर्ण होने से स्वयं अप्राह्य है, इसलिए ब्रह्मकारणवाद, उक्त मत का त्याग कर प्राह्य है । प्रधान कारणवाद के आधार पर जगत् की रचना सिद्ध ही नहीं होती, क्योंकि उस मत में, निर्विकार एक मात्र चित्स्वरूप पुरुष में, प्रकृति के साहचर्य से, प्राकृतिक धर्मों के अध्यास से जगत् की रचना होती है ।

निर्विकार चिन्मात्र स्वरूप पुरुष का प्रकृति के धर्मों के अध्यास का कारण, प्रकृति का साहचर्य, किस प्रकार का होता है; यह विवेचनीय है। क्या प्रकृति का सद्भाव मात्र रहता है, अथवा उसका किसी प्रकार का विकार रहता है? अथवा पुरुष का ही किसी प्रकार का विकार रहता है? सो पुरुष का विकार तो हो नहीं सकता, क्योंकि—पुरुष में विकार स्वीकार नहीं किया गया है । प्रकृति का भी विकार नहीं हो सकता, क्योंकि—उसे ही अध्यास रूप कार्य स्वीकार किया गया है, अध्यास ही

अध्यास का पूर्ण कारण नहीं हो सकता । प्रकृति का सद्भाव (विद्यमानता) सानिध्य मानने से तो मुक्त पुरुष का भी अध्यास हो जाएगा । इसलिए प्रधान कारणवाद से जगत की रचना नहीं बनती । “अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात्” सूत्र की व्याख्या के समय सांख्य मत का नियम विस्तृत रूप से करेंगे ।

तर्कप्रतिष्ठानादपि ।२।१।११॥

तर्कस्या प्रतिष्ठितत्वादपि श्रुतिमूलो ब्रह्मकारणवाद एव समाश्रयणीयः न प्रधानकारणवादः । शाक्योलूक्याक्षयादक्षपण-कपिलपतंजलि तर्कानामन्योन्यव्याधातात्तर्कस्याप्रतिष्ठित्वं गम्यते ।

जो श्रुति सम्मत नहीं होता उस तर्क की कोई प्रतिष्ठा नहीं होती, श्रुति मूलक ब्रह्म कारणवाद ही समाश्रयणीय है, प्रधान कारणवाद नहीं । शाक्य, उलूक्य, अक्षपाद, क्षपणक, कपिल, पतंजलि आदि के तर्क परस्पर भिन्न और खंडित हो जाते हैं, इसलिए वे सारे तर्क अप्रतिष्ठित माने जावेंगे ।

अन्ययानुमेयमिति चेदेवमप्य निर्मोक्ष प्रसंगः ।२।१।१२॥—

इदानीं विद्यमानानां शाक्यादीनां तर्कानुद्घूष्यान्वदथा प्रधान कारणवादमतिक्रान्ततदुपदर्शितदूषणत्वेनानुमास्यामह इति चेत्, एवमपि पुरुषबुद्धिमूल तर्कैकावलम्बनस्य तथैव देशान्तर कालान्तरेषु त्वदधिक कुतर्कं कुशल पुरपोत्प्रेक्षिततर्कं दूष्यत्व संभावनया तर्का प्रतिष्ठान दोषादनिर्मोक्षोदुवरिः । अतोऽतीन्द्रियेऽर्थे शास्त्रमेव प्रमाणम्, तदुपबृंहणायैव तर्कं उपादेयः तथा चाह—“आपंधर्मोपदेशं च वेदशास्त्र विरोधिना, यस्तर्कणानुसंधत्ते स धर्मं वेदनेतरः इति’ । वेदाख्यशास्त्र विरोधिनेत्यर्थः । अतो वेद विरोधित्वेन वेदार्थविशोदीकरणरूपवेदोपबृंहणतर्कोपादानाय सांख्य स्मृतिर्नादरणीया ।

हम विद्यमान शाक्य आदि के तर्कों का उद्घोष करते हुए प्रकारान्तर से, प्रधान कारण वाद की ऐसी सत्ता का अनुमान करेंगे जिससे कि दोष

उसमें घटित न हो सकेंगे, ऐसा तुम्हारा कथन भी व्यर्थ ही है क्योंकि-तुम मानव बुद्धि के आधार पर ही ऐसी चेष्टा करोगे, देशांतर या कालांतर में तुम्हारे बुद्धिजन्य तर्कों को काटने वाली कोई ऐसी तीक्ष्ण मानव बुद्धि, तुम्हारे समक्ष उपस्थित हो जाएगी, जिससे तुम्हारे सारे तर्क व्यर्थ हो जावेंगे, तुम्हारे तर्कों की प्रतिष्ठा बच न सकेगी । वस्तुतः अतीन्द्रिय अर्थ में शास्त्र ही प्रमाण है, उनके विवेचन में ही तर्क की उपादेयता है, ऐसा ही कहा भी गया है "जो वेदशास्त्र से अविरोध तर्क द्वारा ऋषिप्रोक्त धर्मोपदेश को जानने की चेष्टा करते हैं वे ही वास्तविक धर्मतत्व को जानते हैं, दूसरे नहीं"। वेद विरोधी होने से, वेदार्थ विशदीकरण रूप उप-वृंहण तर्क का उपपादन करने की चेष्टा करने पर भी, सांख्य स्मृति, आदरणीय नहीं है ।

४ शिष्टा परिग्रहाधिकरणः—

एतेन शिष्टापरिग्रहा, अपि व्याख्याताः । २।१।१३॥

शिष्टाः परिशिष्टाः, न विद्यते वेद परिग्रहो येषामित्यपरिग्रहाः शिष्टाश्चापरिग्रहाश्च शिष्टापरिग्रहाः, एतेन वेदापरिगृहीत सांख्य पक्ष क्षपणेन परिशिष्टाश्च वेदापरिगृहीताः कणभक्षाक्षपाद क्षपणक भिक्षु पक्षाः क्षपिता वेदितव्याः । परमाणु कारणवादेऽमीषां सर्वेषां संवादात् कारणवस्तुविषयस्य तर्कस्याप्रतिष्ठित्वं न शक्यते वक्तुं इत्याधिकाशंका ।

शिष्टा का तात्पर्य है परिशिष्ट तथा अपरिग्रह का अर्थ है, जिसे वेदार्थ ग्रहण नहीं करता । वेदानुमत न होने से सांख्य मत की तरह परिशिष्ट, कणाद, अक्षपाद, क्षपणक (बौद्ध) भिक्षु (जैन) इत्यादि भी अप्राह्य हैं । परमाणु कारणवाद में कणाद आदि सभी जब एकमत हैं, तो कारणवस्तु परमाणु के विषय में, जो कि तर्क से अप्रतिष्ठ हो ही चुका, और अधिक कहने को क्या शेष रह जाता है ? (अर्थात् जब परमाणु कारणवाद को जब परास्त कर चुके तब परमाणु को माननेवाले सभी को परास्त ही समझना चाहिए सबका अलग-अलग खंडन करने की क्या आवश्यकता है ?)

तावन्मात्र संवादेऽपि तर्कमूलत्वाविशेषात् परमाणु स्वरूपेऽपि शून्यात्मकत्वाशून्यात्मकत्वज्ञानात्मकत्वक्षणिकत्व नित्यत्वैकान्तत्वानेकान्तत्वसत्यासत्यात्मकत्वादि विसंवाद दर्शनाच्चा प्रतिष्ठितत्वमेवेति परिहारः ।

केवल एक मात्र परमाणु में ही सबका एकमत है, उसमें भी ये लोग परस्पर शून्यात्मक अशून्यात्मक, ज्ञानात्मक अर्थात्मक सत्यत्व, असत्यत्व, एकान्तत्व, अनेकान्तत्व आदि विभिन्न भेद मानते हैं, इसलिए इन सबका अलग अलग अप्रतिष्ठित रूप में परिहार करना आवश्यक है ।

५ भोक्त्रापत्यधिकरणः—

भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत् । २।१।१४॥

पुनरपि सांख्यः प्रत्यवतिष्ठते—यदुक्तं, स्थूलसूक्ष्मचिदचिद् वस्तु-शरीरस्य परस्य ब्रह्मणः कार्यकारणरूपत्वाच्चीव ब्रह्मणोः स्वभाव विभाग उपपद्यते—इति, स तु विभागो न संभवति—ब्रह्मणः शरीर-रत्वे तस्य भोक्तृत्वापत्तेः, स शरीरत्वे जीवस्येश्वरस्यापि सशरीरत्व प्रयुक्तं सुख दुःखयोर्भोक्तृत्वस्यावजंतीयत्वात् ।

सांख्यवादी पुनः समक्ष उपस्थित होता है—कि वेदांत में स्थूल सूक्ष्म चिदचिद् जब सभी परब्रह्म के शरीर हैं और सभी का कारण ब्रह्म है, तथा जीव उसका कार्य है, तो जीव और ब्रह्म का भेद कहना असंभव नहीं है (अर्थात् वे तो स्वभाव से ही भिन्न हैं) पर वस्तुतः ऐसा कोई भेद होना नहीं चाहिए जबकि परमात्मा का शरीर संबंध है तो उसमें भी जीव की तरह शरीर के भोग्य सुख दुःख आदि अनिवार्य हो जावेगे ।

ननु च—“संभोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशध्यात्” इत्यत्रेश्वरस्य भोग प्रसंग परिहार उक्तः, नैवम् तत्रहि उपास्यतया हृदयायतने सन्निहितस्य शरीरान्तर्वर्तित्वमात्रेण भोग प्रसंगो न विद्यत इत्युक्तम्, इह तु जीववद् ब्रह्मणोऽपि शरीरत्वे तदवदेव सुख दुःखयोर्भोक्तृत्व

प्रसंगो दुर्वरि इत्युच्यते, दृश्यते हि स शरीराणां जीवानां शरीरगत बालत्वस्थविरत्वादिविकारासंभवेऽपि शरीर धातु साम्यवैषम्य निमित्ता सुखदुःखयोगः । श्रुतिश्च “न ह वै सशरीरस्य सतः प्रिया-प्रिययोरपह तिरस्ति अशरीरं वा वसन्तं न प्रियाप्रिये स्मृतः” इति श्रुतः सशरीर ब्रह्मकारणवादे जीवेश्वर स्वभावविभागा संभवात् केवल ब्रह्मकारणवादे मृतसुवर्णा दिवज्जगद्गता पुरुषार्थादि सर्वविशेषाश्रयत्व प्रसंगाच्च प्रधानकारणवाद एव ज्यायान् इति चेत्—

— ‘संभोग प्राप्ति’ इत्यादि सूत्र में भोग संभावना का परिहार कर दिया गया है इसलिए ब्रह्म में भोग संभव नहीं है, ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि—उस सूत्र में तो उपास्य रूप से हृदयायतन में शरीरान्तर्बती होने मात्र से उनमें भोग प्रसंग नहीं होता, ऐसा कहा गया । पर यहां तो जीव की तरह ब्रह्म को भी शरीरी कहा गया है अतः वह जीव के समान सुख-दुःख आदि भोगों में अनिवार्य रूप से आसक्त होगा, शरीरी जीवों में शरीरगत बालत्व, स्थविरत्व आदि विकारों के न होते हुए भी धातु वैषम्य (वात पित्त कफ आदि की विषमता) से सुख दुःख होते देखा जाता है । श्रुति का भी ऐसा वचन है कि—“पुरुष जब तक शरीराभिमानी रहता है तब तक प्रिय अप्रिय संबंध निवारित नहीं होते पर अशरीरी होते ही उसे प्रिय अप्रिय स्पर्श भी नहीं कर पाते” इत्यादि से जीव ब्रह्म का भेद परिहृत हो जाता है तो घट कुंडल आदि के उपादान मिट्टी और सुवर्ण की तरह ब्रह्म में भी जागतिक हेय तत्त्वों का संक्रामित होना आवश्यक है इसलिए प्रधानकारणवादी सांख्यमत ही उत्कृष्ट है ।

सिद्धान्तः—“स्यात्लोकवत्” इति । स्यादेव विभागो जीवेश्वर स्वभावयोः नहि जीवस्य शरीर धातुसाम्यवैषम्यनिमित्तं सुखदुःखयो-र्भोक्तृत्वम् सशरीरत्व कृतं, अपितु पुण्यपापरूपकर्मकृतम् । “न ह वै सशरीरस्य” इत्यादि कर्मरिग्ध देहविषयम्—“स एकधा भवति त्रिधा-भवति”—स यदि पितृलोक कामो भवति—“स तत्र पर्येतिजक्षद् क्रीडन् रममाणः” इति कर्मबंधविनिर्मुक्तस्याविभूतस्वरूपस्य सशरीर-

स्यैवापुरुषार्थं गंधाभावात् । अपहतपाप्मनस्तु परमात्मनः स्थूलसूक्ष्म रूपकृत्स्नजगच्छरीरत्वेऽपि कर्मसंबन्धगंधो नास्ति इति नतरामपुरुषार्थं गंधप्रसंगः । लोकवत्—यथा लोके राजशासनानुवर्तिनां च राजानुग्रहनिग्रहकृत सुखदुःखयोगेऽपि न शरीरत्वमात्रेण शासके राज्यपि शासनानुवृत्त्यतिवृत्तिनिमित्तसुखदुःखयोर्भोक्तृत्व प्रसंगः ।

उक्त वक्तव्य का खंडन करते हुए कहते हैं कि—लोक व्यवहार की तरह दोनों का विभाग हो सकता है, जीव और ब्रह्म का स्वाभाविक भेद है, शारीरिक धातु वैषम्य के कारण जो जीव को सुखदुःखादि का अनुभव होता है, उसका कारण शरीरी होना नहीं है, अपितु पुण्य पाप रूपकर्म ही उसका कारण है । “शरीराभिमानी जीव के प्रिय अप्रिय अनिवार्य हैं” इत्यादि श्रुति भी, प्रारब्ध कर्मलब्ध देह संबंध का ही द्योतन करती है । “वह एक और बहुत हो जाता है, जब वह पितृलोक में जाने की इच्छा करता है तो वहाँ पहुँच जाता है, वह भोग—आमोद और क्रीडा करता है “इत्यादि वाक्यों में कर्मबंधन से मुक्त जीव के ब्रह्मभाव प्राप्त सूक्ष्म स्वरूप को, जागतिक हेय तत्त्वों से अस्पृष्ट बतलाया गया है । निष्पाप परमात्मा स्थूल सूक्ष्म समस्त जगत रूप शरीर वाले होकर भी, कर्मबद्ध न होने से जागतिक हेय तत्त्वों से सदा अस्पृष्ट ही रहते हैं । जैसे कि लोक में राजाशा की मानने वाले और न मानने वाले राजा के अनुग्रह और कोप के भाजन होकर सुख और दुःख का अनुभव करते हैं, पर शरीरी होते हुए भी राजा का शासन निमित्तक सुख दुःख का रंचमात्र भी अनुभव नहीं होता ।

यथाह—द्रविडभाष्यकारः—“यथा लोके राजा प्रचुरदंशकेघोरेऽनर्थसंकटेऽपि प्रदेशे वर्त्तमानो व्यजनाद्यवधूतदेहो दोषैर्न स्पृश्यते, अभिप्रेतांश्च लोकान् परिपालयति, भोगांश्च गंधादीनविश्वजनोप भोग्यान्धारयति, तथाऽसौ लोकेश्वरो भ्रमत्स्वसामर्थ्यं चामरोदोषैर्न-स्पृश्यते, रक्षति च लोकान् ब्रह्मलोकादीन्, भोगांश्चाविश्वजनोपभोग्यान्धारयति “इति मृतसुवर्णाविद् ब्रह्मस्वरूप परिणामस्तु नैवाभ्युपगम्यते, अविकारत्वनिर्दोषत्वादि श्रुतेः ।

जैसा कि-भाष्यकार दविडाचार्य जी ने कहा भी है-“जैसा कि-राजा मक्खी मच्छर आदि कष्ट प्रद स्थान में भी पंखा और चमर आदि के दुलने के कारण, उन कष्टों का अनुभव नहीं करता तथा अपने अभीष्ट सुखों को प्राप्त करता है और गंध आदि जागतिक भोग्य पदार्थों को धारण करता है; वैसे ही लोकेश्वर, अव्याहृत शक्ति रूप चामर के निरन्तर दुलने से जागतिक दोषों से अनस्पृष्ट रहते हैं तथा समस्त जगत का परिपालन करते हुए, जागतिक और ब्रह्मलोकादि भोगों का आनंद लेते रहते हैं। “श्रुति जब ब्रह्म को निर्विकार और निर्दोष बतला रही है, तब मिट्टी और सुवर्ण की तरह, उसका परिणाम नहीं स्वीकारा जा सकता।

यत्तु परैब्रह्मकारणवादे भोक्तृभोग्यविभागाभावमाशक्य समुद्र-फेनतरंगदृष्टान्तेन विभागप्रतिपादनपरं सूत्रं व्याख्यातम्, तद्युक्तम् अन्तर्भावितशक्यविद्योपाधिकाद् ब्रह्मणः सृष्टिमभ्युपगच्छतामेवमा-क्षेपपरिहारयोरसंगतत्वात् कारणान्तर्गतशक्यविद्योपाधि उपहितस्य भोक्तृत्वाद् उपाधेश्च भोग्यत्वात् । विलक्षणयोस्तयोः परस्परभावा-पत्तिर्हि न संभवति, स्वरूप परिणामस्तु तैरपिनाभ्युपेयते “न कर्मा-विभादितिचेन्नानादित्वात्” इति क्षेत्रज्ञानां तद्गत कर्मणां चानादि-स्व प्रतिपादनात् । स्वरूपपरिणामभ्युपगमेऽपि भोक्तृभोग्यविभागा-शंका कस्यचिदपि न जायते मृतसुवर्णादिपरिणामरूपघटशरावकट-कमुकुटादिविभागवद् भोक्तृभोग्यविभागोपपत्तेः स्वरूप परिणामे च ब्रह्मण एव भोक्तृभोग्यत्वापत्तिरिति पुनरप्यसामंजस्य स्यमेव ।

जो लोग, ब्रह्मकारणवाद में भोक्ता और भोग्य विभाग न होने की आशंका करते हैं तथा समुद्र और उनके फेन तरंग आदि का दृष्टान्त देकर इस सूत्र की व्याख्या करते हैं वे भी असंगत हैं, क्योंकि—वे लोग जब आवरण और विक्षेप शक्ति समन्वित, अविद्या उपहित ब्रह्म से सृष्टि मानते हैं तो उनके द्वारा, इस प्रकार का शंका समाधान कभी हो नहीं सकता (यदि वे करते हैं तो गलत करते हैं) क्योंकि आवरण विक्षेप अविद्या शक्तियुक्त ब्रह्म, स्वयं भोक्ता तथा उपाधिअविद्या (और अविद्या का परिणाम जगत) उसका योग्य है सिद्ध होता है, इस प्रकार उन दोनों में

वैलक्षण्य के रहते, परस्पर एकभावापत्ति (अविभाग संभव नहीं है। अन्य लोग तो स्वरूपतः ब्रह्म का परिणाम ही नहीं स्वीकारते। परवर्ती "न कर्मविभागात्" इत्यादि सूत्र में, जीव और जीवगत कर्मों की अनादिता का प्रतिपादन किया गया है, तब साक्षात् संबंध से, स्वरूपतः ब्रह्म का परिणाम स्वीकारने पर भी, भोक्ता और भोग्य के भेद के विषय में कोई आशंका कर ही नहीं सकता, क्योंकि मिट्टी सुवर्ण आदि के परिणाम घट मुकुट आदि की तरह, यहाँ भी भोक्ता और भोग्य का विभाग सिद्ध हो जाता है। फेन तरंगादि के दृष्टान्त को स्वीकारने पर, स्वरूपतः ब्रह्म का परिणाम स्वीकार करते हुये भी, एक ही ब्रह्म में, भोक्ता और भोग्य भाव सिद्ध हो जाता है इसलिए इस मत में पुनः असामंजस्य ही उपस्थित होता है।

६ आरम्भणाधिकरणः—

तदन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः । २।१।१५॥

"असदिति चेन्न प्रतिषेध मात्रत्वात्" इत्यादिषु कारणभूताद् ब्रह्मणः कार्यभूतस्य जगतोऽनन्यत्वमभ्युपगम्य ब्रह्मणो जगदकारणत्वमुपपादितम्, इदानीं तदेवानन्यत्वमाक्षिप्य समाधीयते।

"असदिति चेन्न" इत्यादि सूत्र में कारण भूत ब्रह्म और कार्यभूत जगत् की अनन्यता बतलाकर, ब्रह्म की जगत्कारणता का प्रतिपादन किया गया है। अब उस अनन्यता पर आक्षेप करते हुए, समाधान करेंगे।

तत्र काणादाः प्राहुः, न कारण कार्यस्यानन्यत्वं संभवति विलक्षण वृद्धि बोध्यत्वात्, न खलु तंतुपटमुत् पिडघटादिषु कार्यकारण विषया वृद्धिरेकरुपा। शब्दभेदाच्च, नहि तन्तवः पट इत्युच्यंते घटो वा तंतव इति। कार्यभेदाच्च, नहि मूर्तपिडेनोदकमाह्वियते, घटे न वा कुड्निर्मियते। कालभेदाच्च, पूर्वकालं च कारणं, अपरकालं च कार्यम्। आकारभेदाच्च, पिडाकारं कारणम्, कार्यं च पृथुबुध्नोदराकारम्, तथा सत्यामेव मृदि घटोत्पत्ति इति व्यवहियते।

संख्याभेदश्च दृश्यते, बहवस्तंतवः, एकश्च पटः । कारकव्यापारवैयर्थ्यं च कारणमेवचेत्कार्यं किं कारणकव्यापारसाध्यं स्यात् । सत्यपि कार्ये कामोपयोगितया कारकव्यापारेण भवतिव्यं चेत्—सर्वदा कारकव्यापारेणोपरन्तव्यम् । सर्वस्य सर्वदा सत्त्वेन नित्यानित्यविभागश्च न स्यात् । अथ कार्यं सदेव पूर्वमनभिव्यक्तं कारकव्यापारेणभिन्यज्यते अतः कारकव्यापारार्थवत्त्वं, नित्यानित्यविभागश्चोच्यते, तदसत् अभिव्यक्तेरभिव्यक्त्यन्तरापेक्षत्वे अनस्यवानादपेक्षत्वेकार्यस्य नित्योपलब्धिप्रसंगात्तदुत्पत्त्यभ्युपगमे चासत्कार्यवादप्रसंगात् ।

कराद कहते हैं कि—कारण से कार्य की अनन्यता कभी हो नहीं सकती कार्य कारण में देखने से भिन्न बुद्धि ही होती है । सूत और कपड़ा, मिट्टी और घट को देखकर स्पष्ट भिन्नता की प्रतीति होती है । दोनों का नाम भी भिन्न है, सूत को कपड़ा या कपड़े को कभी सूत नहीं कहा जा सकता । दोनों का कार्य भी भिन्न है मिट्टी के ढेले में जल नहीं भरा जा सकता, और न घड़े से कूड़ा ही बनाया जा सकता है दोनों में काल का भी भेद है, पहिले वह कारण था बाद में कार्य हो गया । दोनों में आकार भेद भी है, कारण पिंड आकार था जो कि कार्य रूप में, सुराही के आकार का हो गया । घड़ा का चूरा मिट्टी होते हुए भी प्रयोग यही होता है कि घड़ा फूट गया । दोनों में संख्या भेद भी है सूत अनेक होते हैं, कपड़ा एक होता है । कार्य यदि कारण सा ही रहे तो विचारे कर्ता द्वारा किए गए श्रम का प्रयोजन ही क्या होगा ? इन दोनों को एक मानने से कर्ता की क्रिया ही व्यर्थ हो जावेगी । यदि कहो कि—कार्य के रहते भी कारण उपस्थित रहता है, तब तो विचारे कर्ता की सारी क्रिया ही गुड़गोबर हो जावेगी, वह विचारा जीवन पर्यन्त बनाता ही रह जावेगा । सब की सदा सत्ता मानने से नित्य और अनित्य का भेद भी तो न रह जाएगा ।

यदि कहो कि—कार्य की सत्ता सदा रहती है, पूर्व में अव्यक्त कार्य, कर्ता के क्रिया कौशल से, बाद में व्यक्त हो जाता है, इसलिए करार के श्रम की विफलता तथा वस्तु की नित्यता अनित्यता का प्रश्न ही नहीं

उठता । तुम्हारा यह कथन असंगत है । क्योंकि—यदि अव्यक्ति से भिन्न कोई दूसरी अनभिव्यक्ति मानी जावेगी तो अनवस्था दोष होगा, यदि ऐसा नहीं मानते तो कार्य की नित्योपलब्धि का प्रसंग उपस्थित होगा, तथा उत्पत्ति मानने पर असत् कार्यवाद का सिद्धांत उपस्थित होता है (जो कि तुम्हारे मत से भिन्न हमारा अभिमत है)

कि च कारकव्यापारस्याभिव्यंजकत्वे घटाद्येन कारकव्यापारेण कारकादेष्वभिव्यक्तिः प्रसज्यते, संप्रतिपन्नाभिव्यंजकभावेषु दीपादि-
ष्वभिव्यंग्य विशेष नियमादसंज्ञात् नहि घटाकंमारोपितः प्रदीपः
करकादीन्नाभिव्यनक्ति । अतोऽसत्ः कार्यस्योत्पत्ति हेतुत्वेनैव कारक-
व्यापारार्थवत्वम् अतश्च सत्कार्यवादासिद्धिः । न च नियत कारणो-
पादानं सत् एव कार्यत्वं साधयति कारणशक्ति नियमादेव तदुपपत्तेः
नन्वसत्कार्यवादिनोऽपि कारकव्यापारो नोपपद्यते, प्रागुत्पत्तोः कार्य-
स्यासत्त्वात् । कार्यादन्य कारकव्यापारेण भवितव्यम्, तत्रान्यत्वा
विशेषात्तंतुगतकारकव्यापारेण घटोत्पत्तिरऽपि प्रसज्यते, नैव यत्कार्यो-
त्पादनं शक्तं यत्कारणम्, तदगत कारकव्यापारेण तत्कार्योत्पत्ति
सिद्धेः ।

जैसे कि—अभिव्यंजक प्रदीप आदि के आलोक में, पहले से स्थित सारी वस्तुएं, आपसे आप दीखने लगती हैं, दीप वाहक को उगमें कोई प्रयाग नहीं करना पड़ता, वैसे ही पाषाण में यदि पहिले से ही मूर्ति आदि का अस्तित्व है तो शिल्पी को प्रयास करने की क्या आवश्यकता है ? मूर्ति को तो केवल चेट्टा मात्र से स्वयं ही व्यक्त हो जाना चाहिए । क्या घड़े के खोजने के लिए जलाए गए दीपक से अन्यान्य वस्तुएं प्रकाशित नहीं होती ? असत् कार्यवाद मानने पर ही शिल्पी की कार्य सायंकता सिद्ध होती है, इसलिए सत्कार्यवाद गलत है । भिन्न-भिन्न उपादानों को मानने से भी सत्कार्यवाद की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि—भिन्न कारणों में विभिन्न प्रकार की शक्ति निहित है, सभी वस्तुओं में सब कुछ प्रकट

करने की उर्वरा शक्ति नहीं होती इसलिए भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए भिन्न-भिन्न उपादान मानना आवश्यक है यदि कहें कि—उत्पत्ति के पूर्व कार्य की सत्ता न मानने से असत्कार्यवादी के पक्ष में भी कर्त्ता का प्रयास सफल नहीं हो सकता; क्योंकि—उनके मत से, कार्य से भिन्न पदार्थों के आधार पर ही, कर्त्ता का व्यापार है, तो तंतुओं के साथ प्रयास करने से घड़ा उत्पन्न हो जाना चाहिए। सो बात भी नहीं है क्योंकि—जिस कार्य की क्षमता, जिस कर्त्ता में होती है, वह उसके कारण से उसी कार्य की उत्पत्ति कर सकता है (जैसे कि—कुम्हार मिट्टी से घड़ा आदि जुलाहा सूत से वस्त्र आदि। कुम्हार कपड़ा या जुलाहा घड़ा नहीं बना सकता)

अत्राहुः, कारणादनन्यत्कार्यम् नहि परमार्थतः कारणव्यतिरिक्तं कार्यं नामवस्तु इति, अविद्या निवंधनत्वात् सकलकार्यतदव्यवहारयोः। अतो यथा कारणभूतान्मृद्रव्याद् घटादिषु विकारेषूपलभ्यमानादव्यतिरिक्तं घट शरावादिकार्यं व्यवहारमात्रालंबनं मिथ्या, कारणभूतं मृद्व्यमैव सत्यं, तथा निर्विशेष सन्मात्रात् कारणभूताद् ब्रह्मणोऽन्यो अहंकारादि व्यवहारावलंबनः कृत्स्नः प्रपंचोमिथ्या, कारणभूत सन्मात्रं बह्वैव सत्यम्। तस्माद् कारणव्यतिरिक्तकार्यं नास्तीति कारणादन्यत्कार्यम्। न च वाच्यं, शुक्तिकारजतादीनामिव घटादिकार्याणामसत्यत्व प्रसिद्धेद्दृष्टान्तानुपपत्तिरिति, यतस्तत्रापि युक्त्या मृद्भ्यमात्रमेव सत्यतया व्यवस्थाप्यते, तदतिरिक्तं तु युक्त्या बाध्यते का पुनरत्र युक्तिः? मृद्भ्यमात्रस्यातुवत्तमानत्वं तदतिरिक्तस्य च व्यावर्त्तमानत्वम् रज्जुसर्पादिषु हि अनुवर्त्तमानस्याधिष्ठानभूतस्य रज्ज्वादेः सत्यता, व्यावर्त्तमानस्य च सर्पभूदलनांबुधारादेरसत्यता दृष्टा, तथाऽनुवर्त्तमानमधिष्ठानभूतं मृद्भ्यमेव सत्यम्, व्यावर्त्तमानास्तु घटशरावादयोऽसत्यभूताः।

इस पर सत्कार्यवादी कहते हैं कि—कारण से कार्य अभिन्न है, वस्तुतः कारणके अतिरिक्त, कार्यनाम की कोई वस्तु नहीं है, जो कुछ भी कार्य

कारण व्यवहार है वह सब अविद्या (भ्रांति) मूलक है। मिट्टी के विकार घड़े आदि व्यवहारास्पद कार्य, जिस प्रकार काल्पनिक हैं, मिट्टी ही एकमात्र सत्य है उसी प्रकार "मैं और मेरा" कहलाने वाला व्यवहारास्पद जगत प्रपञ्च, अपने कारण निर्विशेष शुद्ध सत्य स्वरूप ब्रह्म के बजाय, मिथ्या है। सत् पदार्थ ही यथार्थ सत्य है, इसलिए कारण से भिन्न, कार्य-नामक कोई वस्तु नहीं है, और न कार्य ही कारण से भिन्न हैं।

ऐसा नहीं कह सकते, शुक्ति में रजत की मिथ्या भ्रांति का उदाहरण जैसे प्रसिद्ध है, वैसे घट आदि कार्यों में तो मिथ्या भ्रांति का उदाहरण प्रसिद्ध है नहीं इसलिए उक्त कथन असंगत है। उल्लेख मिट्टीघट आदि के प्रसंग में, युक्ति द्वारा केवल मिट्टी की ही सत्यता बतलाई गई तथा उनकी पृथक्ता की बात भी केवल युक्तिमात्र ही है। यदि कहें कि इसमें क्या युक्ति है? तो सुनिये-मिट्टी के सारे कार्यों में मिट्टी की अनुवृत्ति सदा रहती है तथा घट आदि आकृतियों में परस्पर व्यावृत्ति होने से सदा भिन्नता रहती है। रज्जुसर्प, शुक्ति रजत आदि में भ्रम कल्पित सर्प आदि की आश्रयभूत रज्जु सदा ही अनुवृत्त (जैसी की तैसी) रहती है, कभी भी उसकी रज्जुता का त्याग नहीं होता; इसलिए वह सर्प ही सत्य है, रज्जु, पृथ्वी की रेखा, जल की धारा, जिनमें कि सर्प भ्रांति होती है नितांत असत्य हैं। वैसे ही घट आदि कार्यों की आश्रय मिट्टी, मिट्टी से निर्मित पदार्थों से अनुवृत्त होने से सत्य, तथा परस्पर व्यावृत्त स्वभाव वाले घट प्याला आदि कार्य असत्य या मिथ्या हैं।

किं च सतमात्मनो विनाशाभावादसतरच शशविषाणा
 देरुपवलब्धभावादपलब्धविनाशयोपिकार्यं सदसदभ्यामनिर्वचनीय-
 मिति गम्यते । अनिर्वचनीयं च शुक्तिकारजतादिवन्मूषैव । तस्य चानि
 र्वचनीयत्वं प्रतीतिबाधाभ्यां सिद्धम् ।

एक बात और भी है कि—सत्स्वरूप आत्मा का विनाश नहीं होता तथा शशशृंग ऐसे असत् पदार्थों का कभी प्रत्यक्ष नहीं होता, इससे ज्ञात होता है कि—उपलब्धि (प्रतीति) और विनाश का विषयीभूत कार्य समूह अनिर्वचनीय है, अनिर्वचनीय वस्तु शुक्ति में रजत की भ्रांति के

समान मिथ्या ही होती है। शुक्तिभौर रजत की जो अनिर्वचनीयता है वह प्रतीति और वाधा द्वारा ही सिद्ध होती है।

किं च कार्यमुत्पादयन् मृदादि कारणद्रव्यं किमविकृतमेव कार्यमुत्पादयति, उत कंचन विशेषमापन्नम् । न तावदविकृतमुत्पादयति सर्वदोत्पाकत्वप्रसंगात् । नापिविशेषान्तरमापन्नम्, विशेषान्तरापत्तेरपि विशेषान्तरापत्तिपूर्वकत्वेन भवितव्यम् तस्याअपि तथेत्यनवस्थानात् । अविकृतमेव देशकालनिमित्त विशेषसंबंधं कार्यमुत्पादयतीति चेन्न । देशादिविशेषसंबंधोऽपि हि अविकृतस्य विशेषान्तरमापन्नस्य च पुववन्नसंभङ्गति ।

तथा-मिट्टी आदि कारण, जो घट आदि कार्य उत्पन्न करते हैं वे अविकृत उत्पादन करते हैं या विकृत कार्योत्पादन करते हैं? अविकृत उत्पादन तो हो नहीं सकता, क्यों कि-वैसा होने से, एकही कारण से सभी कार्यों की उत्पत्ति हो जावेगी। विशेष अवस्थावाला विकृतोत्पादन भी नहीं हो सकता, वैसा होने से पुन पुनः विशेष अवस्था ही होती रहेगी जिससे अणुवस्था हो जावेगी। देश-काल और कारण संबंध से अविकृत उत्पादन ही होता है, ऐसा भी नहीं कह सकते, अविकृत अथवा विशेष अवस्थापन्न विकृत, दोनों का ही, पूर्वोक्त युक्ति से, देश काल आदि से संबंध संभव नहीं है।

न च वाच्यं मृत्सुवणंदुग्धादिभ्यो घटरुचकदध्यादीनां उत्पत्तिदृश्यते, शुक्तिकारजतादिवद् देशकालादिप्रतिपन्नोपाधौवाधश्च न दृश्यते, अतः प्रतीतिशरणां कारणात् कार्योत्पत्तिरवश्याश्रयणीया इति, विकल्पासहस्यात्-किं हेमादिमात्रमेव स्वस्तिकादेरारम्भकम् उतरुचकादि, अपरुचकद्याश्रयो हेमादिः, न तावद् हेमादिमात्रमारम्भकम्, हेमव्यतिरिक्तस्य कार्यस्याभावात्, स्वात्मानं प्रत्यात्मनः आरम्भकत्वासंभवाच्च । हेमव्यतिरिक्तं स्वस्तिकं दृश्यते इतिचेत्-

न हेमव्यतिरिक्तं तत् हेम प्रत्यभिज्ञानात् तदतिरिक्तवस्त्वन्तरानुप-
लब्धेश्च ।

यह भी नहीं कह सकते कि-मिट्टी-सुवर्ण दूध आदि कारणों से क्रमशः घट-कुंडल और दही आदि कार्यों की उत्पत्ति प्रत्यक्ष देखी जाती है, किन्तु शुक्ति में रजत की सी मिथ्या प्रतीति, किसी भी काल देश और कारण से, इन पदार्थों में नहीं होती । इसलिए-प्रतीति प्रामाण्य स्वीकृति के अतिरिक्त जिसके लिए कोई दूसरा उपाय नहीं है, उसके लिए कारण से नवीन कार्योत्पत्ति स्वीकारनी ही होगी । आपकी यह युक्ति विचार शून्य है, मैं पूछता हूँ कि-केवल सुवर्ण ही अलंकारों का उपादान कारण है, या हार आदि भी हैं? या जिसके आश्रय से हार आदि अलंकार उत्पन्न होते हैं वे सुवर्ण आदि समस्त कारण हैं? केवल सुवर्ण तो कारण हो नहीं सकता, सुवर्ण के बिना, उसके कार्यरूप अलंकारों का कोई अस्तित्व ही नहीं है, न वे अलंकार ही स्वयं अपने कारण हो सकते हैं । सुवर्ण के बिना भी अलंकार होते हैं ऐसा भी नहीं कह सकते, वे सब सुवर्ण से भिन्न हैं भी कहां? उनको सोना ही कहा जाता है, उन अलंकारों में सुवर्ण के अतिरिक्त कुछ मिलता भी नहीं ।

बुद्धिशब्दान्तरादिभिवंस्त्वन्तरादीनां शुक्तिकारजतबुद्धिशब्दादि-
वत् भ्रांतिमूलत्वेन वस्त्वन्तरसदभावस्यासाधकत्वात्, नापि
रुचकादि स्वस्तिकादेरारम्भकम्, स्वस्तिके हिरुचकं पश्यन्तवो
भवतापि नोपलभ्यते । नापिरुचकाश्रयभूतं हेम रुचकाश्रयाकारेण
हेमः स्वस्तिकेऽनुपलब्धेः, अतोमृदादिकाणातिरिक्तस्य कार्यस्यासत्यत्व-
दर्शनात् ब्रह्मव्यतिक्रं कृत्स्नं जगत् कार्यत्वेन मिथ्याभूतम्, तदिदं
ब्रह्मव्यतिरिक्तमिथ्यात्वमुखप्रतिपत्तये काल्पनिकमृदादिसत्यत्वमाश्रित्य
कार्यस्यासत्यत्वं प्रतिपादितम् । परमार्थतस्तु मृत्सुवर्णादिकारणमपि
घटरुचकादिकयं वन्मिथ्याभूतम्, ब्रह्मकार्यत्वाविशेषात् ।

यदि कहो कि-बुद्धि और शब्द से ही, कार्य कारण का भेद स्पष्ट
परिनिश्चित होता है (अर्थात् सुवर्ण को देखकर सुवर्ण निमित्तक धारणा

होती है तथा अलंकार को देखकर अलंकार निमित्तक धारणा होती है। इसी प्रकार सुवर्ण को सुवर्ण तथा अलंकार को अलंकार कहा जाता है) सो ऐसा नहीं है क्यों कि-जैसे शुक्ति में रजत की भ्रांति होने पर "रजत" शब्द और तद् विषयक ज्ञान द्वारा, रजत का अस्तित्व, जैसे प्रमाणित नहीं हो पाता, वैसे ही अन्यत्र भी ठोस प्रमाण के बिना, एकमात्र शब्द भेद और ज्ञान भेद से वस्तु की कल्पना करना कठिन होता है। वस्तुतः स्वर्ण विकार हार आदि, अन्य अलंकारों के उपादान कारण नहीं हो सकते सुवर्ण ही उनका यथार्थ उपादान है। जैसे वस्त्र में सूत्र दीखते हैं, वैसे अलंकारों में हार तो आपको भी न दीखता होगा। और न हार के आश्रयभूत सुवर्ण में, अलंकारों के आश्रयभूत सुवर्ण की ही प्रतीति होती होगी (अर्थात् हार रूप में परिणत सुवर्ण में, पूर्व निर्मित स्वस्तिकादि परिणत सुवर्ण की प्रतीति तो होती नहीं) इसलिए जैसे कि-मिट्टी आदि कारण के अतिरिक्त, उनके कार्यों की सत्यता नहीं देखी जाती, वैसे ही ब्रह्म के अतिरिक्त संपूर्ण जगत कार्यरूप होने से मिथ्या है। मिट्टी आदि के दृष्टान्तों से, ब्रह्म से भिन्न जगत की मिथ्यता, सहजरूप से ही ज्ञात हो जाती है। मिट्टी आदि में वास्तविक सत्यता न होते हुए भी काल्पनिक (व्यावहारिक) सत्यता मानकर, समस्त ब्रह्मकार्यों की असत्यता का प्रतिपादन किया गया है। वस्तुतः मिट्टी, सुवर्ण इत्यादि कारण भी मिथ्या है, क्यों कि वे भी, ब्रह्म के ही कार्य हैं।

“ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यम्—“नेहनानास्ति किञ्च न् मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति”—यत्र हि द्वैतामिव भवति तदितर इतरं पश्यति यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केनकं पश्येत्”—इंद्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते” इत्येवमादिभिः श्रुतिभिश्च ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य मिथ्यात्वमवगम्यते न चागमावगतार्थस्य प्रत्यक्ष विरोधः शंकोयः, यथोक्तप्राकरेण कार्यस्य सर्वस्य मिथ्यात्वावगमात्, प्रत्यक्षस्य सन्मात्रविषयत्वाच्च विरोधे सत्यप्यसंभावितदोषस्य चरमभाविनः स्वरूपसदभावाद्वा प्रत्यक्षादि अपेक्षत्वेऽपि प्रमितौ निराकांक्षस्य निरवकाशस्य शास्त्रस्य बलीयस्त्वात्। अतः कारणभूतात्ब्रह्मणोऽन्यत् सर्वं मिथ्या।

“यह सारा जगत् ब्रह्मात्मक है, वह ब्रह्म ही सत्य है—“इस ब्रह्म और जगत में कोई भेद नहीं है, जो लोग इसमें भेद देखते हैं, वे बार बार मृत्यु को प्राप्त होते हैं—“जिस समय लोगों की द्रुत बुद्धि हो जाती है, तभी वे दूसरा देखते हैं जब वह इस जगत को आत्मा ही देखते हैं तो किसके द्वारा किसको देखेंगे? “ईश्वर अपनी माया से अनेक रूपों में प्रकाशित होते हैं “इत्यादि श्रुतियों से ब्रह्म के अतिरिक्त समस्त का मिथ्यात्व ज्ञात होता है। शास्त्र द्वारा निर्धारित विषय में, कभी भी, प्रत्यक्ष से विस्मृता नहीं पाई जाती, शास्त्र से सभी पदार्थों की मिथ्यता निर्धारित होती है तथा प्रत्यक्ष से, वस्तु की सत्तामात्र सिद्ध होती है। वस्तुनः निर्दोष शास्त्र, प्रत्यक्ष से, अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, क्यों कि-प्रत्यक्ष के बाद लिपिवद्ध हुए हैं। शास्त्र के अर्थ जानने में चाहे, प्रत्यक्ष की थोड़ी बहुत अपेक्षा हो भी जाय, पर शास्त्रलभ्य ज्ञान में प्रत्यक्ष की, रचमात्र की अपेक्षा नहीं होती। इसलिए शास्त्र सम्मत कारण ब्रह्म से भिन्न, सब कुछ मिथ्या है।

न च प्रपञ्चमिथ्यात्वेन जीवमिष्टात्त्वमाशंकनीयम्, ब्रह्मण एव जीवभावात्। ब्रह्मैह सर्वशरीरेषु जीवभावमनुभवति’- अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य’-एको देवः सर्वभूतेषु गूढः’-एको देवो बहुधा निविष्टः’ एष सर्वेषु भूतेषु गुडात्मा न प्रकाशते’-नान्यो तोऽस्ति द्रष्टा’ इत्येवमादिभ्यः।

सारा प्रपञ्चमय जगत मिथ्या है, इसलिए जीव भी मिथ्या होगा ऐसी शंका नहीं की जा सकती, क्यों कि-स्वयं ब्रह्म ही जीव भाव से समस्त शरीरों में जीवत्व की अनुभूति करते हैं, इसलिए वह तो मिथ्या हो ही नहीं सकता। “मैं इस जीवात्मा के रूप से अनुप्रविष्ट होकर—“एक ही देव समस्त भूतों में छिपे हैं—“एक ही देव अनेक रूपों में प्रविष्ट है—“यही परमात्मा सभी भूतों में गुप्त होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं होते—“इनके अतिरिक्त कोई दूसरा दृष्टा नहीं है “इत्यादि वाक्य आलोच्य विषय के प्रमाण हैं।

नन्वेकमेव ब्रह्म सर्वशरीरेषु जीवभावमनुभवति चेत्—“पादे मे वेदना” शिरसि मे सुखम्” इति चत् सर्वशरीरेषु सुखदुःख प्रतिसंधानं

स्यात्, जीवेश्वरबद्धमुक्तशिष्याचार्यज्ञत्वादि व्यवस्था च न स्यात् ।
अत्र केचिद् द्वितीयत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपयंत एवैनं समादधते, एकस्यैव
ब्रह्मणः प्रतिबिम्बभूतानां जीवानां सुखित्वदुःखित्वादय एकस्यैव
मुखस्य प्रतिविवानां मणिकृपाणदर्पणादिपूपलभ्यमानामल्पत्वमहत्व-
मलिनत्व-विमलत्वादिवसतदुपाधिवारात् व्यवस्थाप्यते ।

प्रश्न होता है कि-जब एक ही ब्रह्म, समस्त शरीरों में जीवभाव
अनुभूति करते हैं तो, "मेरे पैर में दर्द है "शिर में आनंद है "इत्यादि जो
शरीर संबंधी अनुभूति होती है, उस सुख दुःखारमक अनुभूति का ब्रह्म
से भी संबंध होगा तथा, जीव-ईश्वर-बद्ध-मुक्त-शिष्य-गुरु-ज्ञानी अज्ञानी
आदि का भेद भी न हो सकेगा । क्योंकि, ब्रह्म, नित्यमुक्त और निर्विशेष
है तो बद्ध और मुक्त होगा कौन? इसके समाधान में कोई ब्रह्म के अद्वैत-
रूप को मानते हुए कहते हैं कि-मणि-कृपाण-दर्पण में पड़ती हुई एक ही
मुख की छायाओं में जैसे-छोटी-बड़ी-धुंधली,-स्वच्छ आदि देखती है,
उसी प्रकार विभिन्न उपधियों से, एक ही ब्रह्म के प्रतिबिम्बस्वरूप जीवों
में, तारतयानुसार सुख दुःख आदि की व्यवस्था होती है ।

ननु "अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य" इत्यादि श्रुतेन जीवा
ब्रह्मणोभिद्यंत इत्युक्तम्, सत्यम्, परमार्थतः, काल्पनिकं तु भेदमाश्रित्येयं
व्यवस्थोच्यते । कस्य पुनः कल्पना? नतावद् ब्रह्मणः, तस्य परिद्ध
ज्ञानात्मनः कल्पनाशून्यत्वात् । नापिजीवानाम्, इतरेराश्रयत्वं
प्रसंगात्- कल्पनाधीनो हि जीवभावः, जीवाश्रया च कल्पना-इति ।
नैतदेवम्-अविद्या जीवभावयोर्वीजांकुरन्यायेनानादित्वात् ।

"अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य" इत्यादि श्रुतियों के आधार पर जी
ब्रह्म जीव की एकता बतलाई वह ठीक ही है क्यों कि-भेद तो काल्पनिक है
वास्तविक नहीं । पर वह कल्पना है किसमें? ब्रह्म में तो हो नहीं सकती,
क्यों कि-वह तो विशुद्ध ज्ञानमय है इसलिए कल्पनानीत अनिर्बचनीय है ।
कल्पना जीव में भी नहीं हो सकती, ऐसा करने से अन्योन्याश्रय संबंध
होगा, अर्थात् कल्पनाधीन जीवभाव होगा तथा जीवाश्रित कल्पना होगी ।

सो ऐसा न होगा-बीजांकुर न्याय से अविद्या एवं जीवभाव अनादि हैं [प्रश्न होता है कि-वृक्ष पहिले हुए या बीज, इस संशय की निवृत्ति के लिए, बीज और वृक्ष का कारण कार्य भाव अनादिमान लिया गया है। ऐसा ही नियम अविद्या और जीव के संबंध में भी है। अविद्या अनादि काल से जीवाश्रिता है तथा अविद्या सापेक्ष जीवभाव भी अनादि है, यह तर्कातीत विषय है]

कि च, प्रासाद निगरणादिवदनुपपन्नतैकवेषायामवस्तुभूतायाम-विद्यायां नेतरेतराश्रयत्वादयो वस्तुदोषा अनवक्लृप्तिभावहन्ति । वस्तुतो ब्रह्मव्यतिरिक्तानां जीवानां स्वतो विशुद्धत्वेऽपि कृपाणादिवा-तमुखप्रतिबिंबश्यामतादिवदौषाघिकाशुद्धिः सभवादविद्याश्रयत्वोपपत्तेः काल्पनिकस्वोपपत्तिः । प्रतिबिंबगतश्यामतादिवज्जीवगता शुद्धिरपि भ्रांतिरेव अन्यथाऽनिर्मोक्षप्रसंगात् । जीवानां भ्रमस्य प्रवाहानादि-त्वान्ततद् हेतुरन्वेषणीयः, इति ।

प्रासाद निगरण (महल का निगलना) आदि नितांत असंभव बातें हैं, किन्तु योगमाया का तो यह स्वरूप ही है, वह तो अघटन घटना परी-यसी है, इसीलिये वह अवास्तविक है, ऐसी अवास्तविक अविद्या में, अन्योन्याश्रय आदि वस्तु दोष न होते हों, ऐसी बात नहीं है वस्तुतः जीव, ब्रह्म से भिन्न तो है नहीं इसलिए वह स्वभाव से विशुद्ध है, फिर भी कृपाणादि में प्रतिबिंबित मुख में जैसे, मलिनता आदि दोष दीखते हैं, वैसे ही विशुद्ध जीव में, दोष आरोपित होते हैं, इसलिए उसकी काल्पनिक अविद्याश्रयता भी होती है। प्रतिबिंबगत मलिनता आदि की तरह, जीव-गत दोष भी भ्रांति मात्र ही हैं यदि ऐसा न हो तो, जीव की कभी मुक्ति हो ही नहीं सकती [यद्यात्मा मलिनो अस्वच्छो विकारी स्यात् स्वभावतः, न हि तस्य भवेन्मुक्तिर्जन्मान्तरशतैरपि "कूर्म पुराण]

तदेतदविदिताद्वैतयाथात्म्यानां भेदवादश्चद्वालुजनसबहुमाना-बलोकनलिप्साविजृम्भितमा तथाहि-जोवस्याकल्पितस्त्राभविकरूपेणा-विद्याश्रयत्वे ब्रह्मण एवाविद्याश्रयत्वमुक्तं स्मात् तदतिरिक्तेनतस्मिन्

कल्पित ? जब तक जीव को अविद्याश्रय, स्वाभाविक नहीं मानते, तबतक स्वाभाविक नहीं मानते, तब तक स्वाभाविक भेद तो माना नहीं जा सकता । यदि जीव का भेद अविद्या कल्पित मानते हैं तो प्रश्न होता है कि—वह भेद कल्पिका अविद्या, जीवाश्रित है या ब्रह्माश्रिता ? यदि ब्रह्माश्रिता मानते हैं तो वह हमारे मार्ग का ही अनुसरण है । यदि कहें कि—जीवाश्रिता है, तो जीव भेद की सिद्धि के लिये ही तो अविद्या की कल्पना की गई थी, इसे भूल गए क्या ? यदि कहें कि—प्रत्येक जीव का बद्ध मुक्त व्यवस्था की रक्षा के लिए जो अविद्या की कल्पना की गई, उसी से जीव का भेद भी संपादित हो जावेगा । ऐसा होने से तो, जीव भेद की सिद्धि से अविद्या की सिद्धि और अविद्या की सिद्धि से जीव भेद की सिद्धि होगी फिर वही अन्योन्याश्रय दोष उपस्थित होगा यहाँ वीजांकुर न्याय से भी कार्य नहीं बनेगा, क्योंकि—भिन्न २ बीज से भिन्न २ अंकुरोत्पत्ति होती है, यहाँ तो अविद्या जिस जीव से कल्पित होती है, उसी के आश्रित भी रहती है । यदि वीजांकुर न्याय से, पूर्व पूर्वजीवों की आश्रिता अविद्याओं से उत्तरोत्तर जीवों की कल्पना मानते हैं तो जीवों में अनित्यता, कृतनाश अकृताभ्यगम आदि दोष उपस्थित होते हैं । तथा पूर्व पूर्व जीवाश्रित अविद्या द्वारा, ब्रह्म की जो उत्तरोत्तर जीवभाव की कल्पना है, वह भी समाप्त हो जावेगी । यदि अविद्या का अनादि प्रवाह मानते हैं तो, उससे उसकी ध्रुव रूपता सिद्ध नहीं होती, तथा मुक्ति न होने तक, जीव की ध्रुव रूपता को स्वीकारते हो वह भी समाप्त हो जाती है ।

यच्चोक्तमविद्याया श्रवस्त्वरूपत्वेनानुपपन्नतैकवेषाया नतेरेतराश्रयत्वाद्या वस्तुदोषा, अनवकल्पितभावहन्ति इति, तथा सति मुक्तान् परं च ब्रह्माश्रयेदविद्याः, शुद्ध विद्यास्वरूपत्वादशुद्धरूपा न तत्र प्रसजतीति चेत्—किमुपपत्त्यनुवर्तिन्यविद्या । एवं तर्हि उक्ताभिरुपपत्तिभिर्जीवानामपि नाश्रयेत् ।

यदि कहें कि—अविद्या कोई वास्तविक वस्तु नहीं है, अनुपपत्ति ही उसका वास्तविक रूप है, इसलिए अन्योन्याश्रय आदि वास्तविक दोष, अविद्या की कल्पना में बाधक नहीं होंगे । यदि ऐसा है तब तो वह बद्ध जीवों की तरह, मुक्त जीवों और परब्रह्म को भी आश्रित कर लेगी । यदि

कहें कि—भुवत पुरुष और परब्रह्म तो विशुद्ध ज्ञानस्वरूप हैं, इसलिए अशुद्धिरूपा (मलिना) अविद्या, उनके पास तक नहीं जा सकती। तो क्या अविद्या उपपत्त्यानुवर्त्तनी (संगत असंगत का विचार कर कार्य करने वाली है)? यदि ऐसा है तो, वह कभी जीवों का तो आश्रय ले नहीं सकती।

किं च जीवाश्रया अविद्यायास्तत्त्वज्ञानोदयान्नाशे सति जीवो वा, न वा, ? यदि नश्येत्, स्वरूपोच्छित्तिलक्षणो मोक्षः स्यात् नो चेदविद्यानाशेऽप्यनिर्मोक्षः, ब्रह्मस्वरूपव्यतिरिक्त जीवत्वावस्थानात् ।

और यदि, तत्त्वज्ञान के होने पर, जीवाश्रित अविद्या का विनाश होता है तो उस अविद्या के नष्ट हो जाने से, जीवत्व का विनाश होता है या नहीं? यदि जीवत्व का भी विनाश हो जाता है तो कहना होगा कि-जीव का स्वरूपोच्छेद ही मोक्ष है। यदि विनाश नहीं होता तो, अविद्या के विनष्ट होने पर भी, मोक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि उस स्थिति में भी ब्रह्मस्वरूप से भिन्न, जीवत्व की स्थिति रहेगी।

यच्चोक्तं—मणिकृपाण दर्पण आदिषूपलभ्यमानमुत्तमलिनत्वविमलत्वादिवच्छुद्धयशुद्धया ध्यवस्योपपत्तिः, इति । तत्रेदं विमरानीयम्—अल्पत्वमलिनत्वादय उपाधिका दोषाः कदा नश्येयुरिति, कृपाणाद्युपाध्यपगम इति चेत्, किं तदाऽल्पत्वाद्याश्रयः प्रतिबिंबं तिष्ठति वा न वा ? तिष्ठति चेत्—तत्स्थानोपस्य जीवस्यापि स्थितत्वादनिर्मोक्ष प्रसंगः, नश्यति चेत्—तद्वदेव जीवनाशात् स्वरूपोच्छित्तिलक्षणो मोक्षः स्यात् ।

जो यह कहा कि—मणिकृपाण और दर्पण आदि में, उनकी चमक के अनुसार, प्रतिबिंबित मुख भी मलिन और विमल दीखता है, वैसे ही उपाधि के उत्कर्ष और अपकर्ष के अनुसार जीव में भी शुद्धि-अशुद्धि आदि भेद होते हैं। इसमें विचारणीय बात यह है कि—उपाधिगत मलिनता अल्पता आदि दोष, नष्ट कब होते हैं? कहें कि—वे तो कृपाण

आदि उपाधि भेदों के साथ ही नष्ट हो जाते हैं, तो फिर अल्पता आदि का आश्रय, प्रतिबिंब रहता है या नहीं? यदि रहता है तो, उसका स्थानीय जीव भी रहता है, अर्थात् उसका मोक्ष नहीं होता। यदि वह प्रतिबिंब नष्ट हो जाता है, तो उसी प्रकार जीव भी विनष्ट हो जायेगा; जिसे कि स्वरूपोच्छेद मोक्ष कहते हैं, वही हो गया।

कि च यस्य हि अपुरुषार्थरूपदोष प्रतिभासः, तस्य तदुच्छेदः पुरुषार्थः, तत्र किमौपाधिकदोष प्रतिमासो विंबस्थानीयस्य ब्रह्मणः उत प्रतिविंबस्थानीयस्य जीवस्य, उतान्यस्यकस्यचित् श्राद्ययोः कल्पयोः दृष्टान्तोऽयं न संगच्छते, मुखस्यमुख प्रतिविंबस्य चाल्पत्वादिदोष प्रतिमास शून्यत्वात्, न हि मुखं तत् प्रतिविंब वा चेतयते, ब्रह्मणो दोष प्रतिमासे ब्रह्माविद्याप्रसंगश्चे । तृतीयाऽपि कल्पो न कल्पयते जीवब्रह्मव्यतिरिक्तस्य द्रष्टुरभावात् ।

यदि, उपाधि संयोग से जो अनर्थमय (दुःखादि रूप) दोष प्रतीत होते हैं, उनका उच्छेद होने से ही, पुरुषार्थ सिद्धि हो जाती है, तो प्रश्न होता है कि—वह औपाधिक दोष प्रतीति, विंबस्थानीय ब्रह्म की है अथवा प्रतिविंबस्थानीय जीव की? या किसी अन्य की? यदि ब्रह्म जीव की है, तो यह दृष्टांत ही असंगत है, क्योंकि—मुख और उसका प्रतिबिंब दोनों ही अचेतन हैं, इसलिए इन दोनों में अलगता आदि दोष की प्रतीति असंभव है। ब्रह्मस्थानीय ब्रह्म में दोष प्रतीति स्वीकारने से, ब्रह्म का अविद्या आश्रय भी स्वीकारना होगा जीव और ब्रह्म के अतिरिक्त जब तीसरा कोई द्रष्टा ही नहीं है, तो किसी और में दोष प्रतीति का प्रश्न ही नहीं उठता।

कि च अविद्याकल्पस्य जीवस्य, कल्पकः कः? इति निरूपणीयम्, न तावदविद्या, अचेतनत्वात्। नापि जीवः, आत्माश्रयदोष प्रसंगात् शुक्तिकारजतादिवदेविद्याकल्पत्वाच्चजीवभावस्य, ब्रह्मैव कल्पकामिति चेत्—ब्रह्मज्ञानमेवायातम्।

अविद्या कल्पित जीव के, जीव भाव की कल्पना कौन करता है ? इसका निरूपण करना भी आवश्यक है, अविद्या ही कल्पना करती है, ऐसा तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि वह अचेतन है। जीव भी कल्पना नहीं कर सकता, ऐसा होने से तो आत्माश्रय दोष होगा (अर्थात् स्वयं अपने लिए ही कल्पना करना एक दोष है) यदि कहें कि—अविद्या कल्पित, शुक्ति रजत की तरह, जीव भाव भी, ब्रह्म कल्पित ही है, तब तो ब्रह्म में अज्ञान का अस्तित्व मानना पड़ेगा।

किं च ब्रह्माज्ञानामभ्युपगमे, किं ब्रह्म जीवान् पश्यति वा न वा ? न पश्यतिचेत्—ईक्षापूर्विका विचित्र सृष्टिर्नामरूप व्याकरण-मित्यादि ब्रह्मणो न स्यात् । अथ पश्यति, अखंडैकरसं ब्रह्म ना विद्यामंत-रेण, जीवान्पश्यतीति ब्रह्माज्ञान प्रसंगः। अतएव मायाविद्या विभागवादोऽपि निरस्तः। अज्ञानमंतरेणहि मायिनोऽपि ब्रह्मणो जीव दर्शित्वं न स्यात् । न च मायावी पलानदृष्ट्वा मोहयितुमरम् । नापि मायामायाविनो दर्शनसाधनम्, दृष्टेषु परेषु, तन्मोहनसाधनमात्रत्वात् तस्याः । अथ ब्रह्मणो माया तस्य जीव दर्शित्वं कुर्वती जीवमोहन-स्य हेतुरिति मन्यसे, तर्हि परिशुद्धस्याखंडैकरसस्वप्रकाशस्य ब्रह्मणः परदर्शनं कुर्वती माया, मायापरपर्याया अविद्यं वस्यात् । अथमतम् विपरीतदर्शनहेतुरविद्या । माया तु मिथ्याभूतं ब्रह्मव्यतिरिक्तं मिथ्या-त्वेन न दर्शयंती न ब्रह्मणो विपरीतदर्शनहेतुः । अतस्तस्यानाविद्या-त्वमिति ।

और यदि ब्रह्म में अज्ञान की स्थिति नहीं मानते तो ब्रह्म जीवों को देखता है या नहीं ? यदि नहीं देखता, तो मानना होगा कि—इच्छापूर्विका विस्तृतनामरूपवाली, विचित्र सृष्टि, ब्रह्म की नहीं है। यदि देखता है तो, अखंड एक रस ब्रह्म द्वारा, अविद्या रहित मुक्त जीव, का दर्शन संभव नहीं है, उसको देखने के लिए, ब्रह्म में अज्ञान की स्थिति आवश्यक होगी। इस प्रकार माया, अविद्या का प्रभेदवाद भी असिद्ध हो जावेगा। ब्रह्म को

माया (मायायुक्त) मानने से, अविद्या रहित जीव का दर्शन उसके द्वारा संभव नहीं है। मायावी जिसे देख न पावेगा उसे कभी, विमोहित नहीं कर सकता। माया ही जो कि मायावी की दृष्टि साधन है, वह भी नहीं हो पावेगी। क्योंकि—देखे गए पदार्थ को ही, विमोहित करने की माया में सामर्थ्य है। यदि यह माने कि—ब्रह्म की माया, ब्रह्म में जीव दर्शन की क्षमता समुत्पादनपूर्वक, जीव का सम्मोहन करती है, तब तो कहना होगा कि—जो अखंड एक रस विशुद्ध स्वप्रकाश ब्रह्म को भी अपर दर्शन की क्षमता प्रदान करती है, तो वह अविद्या ही है। यदि कहें कि—अविद्या, विपरीत जानोत्पादिका है माया, ब्रह्म में वैसा विपरीत जानोत्पन्न नहीं करती, केवल ब्रह्म से अतिरिक्त, मिथ्यावस्तु, के मिथ्यात्व का प्रकाशन मात्र करती है। इसलिए माया और अविद्या एक नहीं है।

नैवम्—चंद्रैकत्वेजायमाने द्विचंद्रदर्शनहेतोरप्यविद्यात्वात् ।
यदि च ब्रह्म मिथ्यात्वेनैव स्वस्थतिरिक्तं जानाति, न तर्हि तन्मोह-
यति, नहि अनुत्पत्तौ मिथ्यात्वेन ज्ञातान् मोहयितुमीहते । अथापुरु-
षार्थापरमार्थदर्शनहेतुरविद्या, माया तु ब्रह्मणो ना पुरुषार्थदर्शनहेतु-
अतोऽस्या नाविद्यत्वमितिमतम् तन्न, द्विचंद्रज्ञानस्य दुःखहेतुत्वाभा-
वेनापुरुषार्थत्वाभावेऽपि तदहेतुविद्यैव तन्निरसने च प्रयस्यति,
यदि च नापुरुषार्थं दर्शनकरी माया, तर्हि अनुच्छेद्यतया नित्या
ब्रह्मस्वरूपानुबन्धिनीस्यात् ।

उक्तमान्यता उपयुक्त नहीं है, क्यों कि—एक चंद्र है ऐसा ज्ञान होते हुए भी, जो दो चंद्रों की प्रतीति होती है, उसमें अविद्या ही कारण है। यदि ब्रह्म, अपने से अतिरिक्त सभी को मिथ्या ही समझे तो कभी किसी को मोहित नहीं कर सकते। जो पागल नहीं है, वह कभी जानबूझ कर, झूठी वस्तु को मोहित करने की चेष्टा नहीं करेगा। यदि कहें कि—जो अपुरुषार्थ और अपरमार्थ (असत्य) हैं, —अविद्या उन्हीं की प्रतीति कराती है। माया, ब्रह्म को वंसी प्रतीति नहीं कराती, इसलिए वह कभी अविद्या नहीं हो सकती। नहीं यह बात भी असंगत है; देखो, दो चंद्रों के दर्शन

में किसी प्रकार का दुःख तो होता नहीं, इसलिए अपुरुषार्थ साधक नहीं कहा जा सकता, फिर भी उस प्रतीति में अविद्या को ही, कारण माना जाता है। उस अविद्या के निवारण में लगी हुई माया, यदि अपुरुषार्थ साधिका नहीं है तो, वह अनुच्छेद्य अतएव नित्य होने से, ब्रह्म स्वरूप की अनुबंधनी हो जावेगी।

अस्तु को दोष इति चेत्-द्वैत दर्शनमेव दोषः। "यत्र हि द्वैतामिव भवति-यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्त्वेन कं पश्येत्" इत्यादि अद्वैत श्रुतयः प्रकुप्येयुः। परमार्थविषया अद्वैत श्रुतयः, मायायास्त्वपरमार्थत्वादविरोध इति चेत् अपरिच्छिन्नानन्दैकस्वरूपस्य ब्रह्मणोऽपरमार्थभूतमायादर्शनं तद्वत्ता चाविद्यामन्तरेण नोपपद्यते।

यदि कहो कि-इसमें क्या दोष है? द्वैत प्रतीति होने लगेगी, तथा-"जो द्वैत की तरह होती है-जब सब कुछ आत्मा है, तो कौन किसको देखेगा इत्यादि अद्वैत बोधकश्रुति प्रकुपित हो जावेगी। यदि कहो कि-अद्वैत श्रुतियां तो परमार्थ बोधक हैं और माया अपरमार्थ तत्त्व है, इसलिए उसमें कोई विरोध नहीं होगा। यह कथन भी असंगत है, क्योंकि कि-ब्रह्म अपरिच्छिन्न एकमात्र आनंदस्वरूप है, उनमें, अपरमार्थ रूप मायादर्शन, या उसी की सी अविद्या का संबंध कदापि संभव नहीं है।

किं च अपरमार्थभूतया नित्ययामायया किं प्रयोजनं ब्रह्मणः? जीव मोहनमिति चेत्-अपुमुषार्थेन मोहनेन किं प्रयोजनम्? क्रीडेति चेत्-अपरिच्छिन्ननन्दस्य किं क्रीडया? परिपूर्णं भोगानामेव क्रीडा पुरुषार्थत्वेन लोके दृष्टेति चेत्-नैवमिहोपपद्यते, नाहि अपरमार्थभूतैः क्रीडोपकरणैः अपरमार्थतया प्रतिभासमानैर्निष्पन्नयाऽपरमार्थभूतया क्रीडयापरमार्थभूतेकन च तत्प्रतिभासेनानुमत्तानां क्रीडारसो निष्पद्यते। मायाऽश्रयतया अभिमत्तब्रह्म व्यतिरेकेणाविद्याश्रयस्य जीवस्य कल्पना संभवश्च पूर्ववदेव दृष्टव्यः। अतो ब्रह्मैवानाद्यविद्या स्वगतनानात्वं पर्यतीत्यद्वितीयत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपपद्यदभिरभ्युपेत्यम्।

और फिर अपरमार्थभूत नित्य माया से, ब्रह्म को प्रयोजन ही क्या है? यदि जीव को मोहित करना ही प्रयोजन है तो, अपुरुषार्थ और अनुपयोगी मोहन से ही उसे क्या मिल जाता है? यदि कहो कि- यह तो उसकी क्रीडा है; भाई! अपरिच्छिन्न आनन्दकरसं को क्रीडा की क्या आवश्यकता है? यदि (अर्थात् ऐश्वर्यवान् की क्रीडा ही पुरुषार्थ होता है) ठीक है, परन्तु यह वैसी क्रीडा नहीं है, क्योंकि-क्रीडा, क्रीडा के उपभरण जब असत्य हैं यथा उसकी प्रतीति एक भ्रान्ति है तो, एक स्वस्थ वृद्धि को तो उसमें कोई आनन्द आ नहीं सकता, उन्मत्त, भले ही उसमें आनन्द अनुभूति करे। ब्रह्म को माया के आश्रित तथा जीव को अविद्या के आश्रित मानकर भी, ऐसा नहीं हो सकता। इस स्थिति में भी, क्रीडा में रसानुभूति नहीं हो सकती इसलिए ब्रह्म की अद्वैतता मानते हुए "अनादि अविद्या संवलित ब्रह्म स्वतः ही विभिन्नता देखता है "यही मानना पड़ेगा।

यत्तुबंधमोक्षव्यवस्थानोपपद्यतइति, न तद्ब्रह्माज्ञानवादिनश्चोद्यम्, एकस्यैव ब्रह्मणोऽज्ञस्य स्वाज्ञाननिवृत्यामोक्ष्यमाणत्वाद्बद्धमुक्तादि व्यवस्थायाः एवाभावात्, व्यवहियमाणायाश्च बद्धमुक्तशिष्याचार्यादिव्यवस्थायाः काल्पनिकत्वात्, स्वप्न दर्शन इव चैकस्यैवाविद्यया सर्वकल्पनोपपत्तेः, स्वप्नदृशा हि एकेन द्रष्टाः शिष्याचार्यादयः तदविद्या कल्पिता एव । अतएव बहु अविद्याकल्पनमपि न युक्तिम् ।

जो यह कहा कि-बंध मोक्ष व्यवस्था नहीं बन पाती । सो जो लोग, ब्रह्म में अज्ञान का अस्तित्व मानते हैं, उनके लिए तो इसका कोई प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि-अज्ञानाश्रित ब्रह्म स्वरूपतः है तो, एक ही यदि वह अपने अज्ञानाश्रय की निवृत्ति करता है तो, उसका तात्पर्य हुआ कि वह मुक्त हो जाता है । इसलिए बंध मोक्ष की व्यवस्था ब्रह्म के लिए तो है नहीं । फिर भी जो, बद्ध मोक्ष आदि व्यवहार दीखता है वह काल्पनिक है, जैसे कि-स्वप्नद्रष्टा, एक होते हुए भी, अविद्यावश बहुरूप की कल्पना कर लेता है, वैसे ही, मोक्ष की व्यवस्था भी है । अर्थात् स्वप्न द्रष्टा की तरह, एक ही तत्त्व में शिष्य आचार्य आदि अनेक रूपों की कल्पना की जाती है । जो कि-अविद्या कल्पित ही है । अविद्या अनेक है, ऐसी कल्पना करना भी, युक्तिसंगत न होगा ।

पारमार्थिकी बंधमोक्षव्यवस्था स्वपरव्यवस्था च जीवाज्ञान-
वादिनापि नाभ्युपेयते । अपारमार्थिकी त्वेकस्यैवाविद्योपपद्यते ।
प्रयोगश्च बंधमोक्षव्यवस्थाः स्वपर व्यवस्थायाश्च, स्वाविद्याकल्पिताः,
अपारमार्थिकत्वात् स्वप्रदृष्टव्यवस्थावदिति । शरीरान्तराण्यपि, मयै
-वात्मवन्ति, शरीरत्वात्, एतच्छरीरवत् । शरीरान्तराण्यपि मदवि-
द्याकल्पितानि शरीरत्वात्, कार्यत्वात्, जड़त्वात्, कल्पितत्वाद् वा
एतच्छरीरवत् । विवादाध्यासितं चेतनजातमहमेव, चेतनत्वात्, मद-
नहम्, तदचेतनं दृष्टम् यथा घटः । अतः स्वपरविभागो बद्धमुक्त
शिष्याचार्यादिव्यवस्थाश्चैकस्याविद्याकल्पिताः । द्वैतवादिनामपि,
बद्धमुक्तव्यवस्था दुरुपयादा, अतीतानां कल्पाना अनन्त्यात् एकैक-
स्मिन् कल्पे एकैकमुक्तावपि सर्वेषां मोक्षसंभवादमुक्तानुपपत्तेः ।

जो लोग, जीवगत अज्ञानाश्रय मानते हैं, वे भी, बंधन और मोक्ष,
तथा स्व-पर भेद की, व्यावहारिक सत्यता नहीं स्वीकारते । उनकी
दृष्टि में, यह सारा व्यवहार अपारमार्थिक (असत्य) है इसलिए वे एक-
मात्र अज्ञानाश्रय मानकर बंधनमोक्ष की व्यवस्था का समाधान कर लेते
हैं । उक्त मत से यह निश्चित होता है कि-बंधमोक्ष और स्वपर व्यवस्था,
अविद्या कल्पित है, क्योंकि वह अपारमार्थिक है, यह भी, स्वप्नद्रष्टा की
सी व्यवस्था है । स्वप्न में जो अन्य शरीर देखते हैं, वे मेरे ही तरह
सप्राण जीव हैं, ऐसी जो प्रतीति होती है, वह सब हमारी अविद्या की ही
कल्पना है ये सारे शरीर, अन्य पदार्थ, जड़ पदार्थ, एवं कल्पित पदार्थ
सभी, उस (अविद्या) के आधार हैं । इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हमारा
शरीर ही है [अर्थात् जैसा हम देखते हैं, उसी का कल्पना करते हैं] विवा-
दास्पद, चेतन तत्त्व "अहं" ही है, क्योंकि-इसी से चेतनता की प्रतीति
होती है । जो "अहं" पदवाच्य नहीं है, वह जड़ है, जैसे कि-घट । इससे
निश्चित होता है कि-बद्धमोक्ष का भेद, स्व-पर का भेद तथा शिष्य
आचार्य की कल्पना, सब कुछ अविद्या कल्पित ही हैं । द्वैतवादियों के मत
से भी, बंधमोक्ष की व्यवस्था का समाधान करना, सहज नहीं है, क्योंकि-

अनंत कल्प बीत चुके हैं, यदि एक एक कल्प में एक एक व्यक्ति भी मुक्त होते रहते तो अब तक किसी को बद्ध नहीं रहना चाहिए था ।

अनंतत्वादात्मनाममुक्ताश्च संतीति चेत्—किमिदमनंतत्वम् ? असंख्येयत्वमिति चेत्—न भूयस्त्वादल्पज्ञैरसंख्येयत्वेऽपीश्वरस्य सर्वज्ञस्य संख्येया एव । तस्याप्यशक्यत्वे सर्वज्ञत्वं न स्यात् । आत्मनां निःसंख्यत्वादीश्वरस्याविद्यमानसंख्यावेदनाभावो नासर्वज्ञतावहतीति चेत्—भिन्नत्वे संख्यविधुरत्वं नोपपद्यते । आत्मानः संख्यावंतः, भिन्नत्वात् भाषसर्षपघटपटादिवत् । भिन्नत्वे चात्मनां घटादिवन्द्भत्वमनात्मत्वं क्षयित्वं च प्रसज्यते ।

यदि कहें कि—जीवात्मा अनंत हैं, उनमें अनेक मुक्त भी हैं । भाई ! इस अनंतता का क्या स्वरूप है ? असंख्यतावाची अनंतता तो हो नहीं सकती, अल्पज्ञों के लिए वह भले ही असंख्य हो, पर सर्वज्ञ ईश्वर के लिए तो, वे गण्य है ही, यदि वह ईश्वर भी इनकी गणना करने में असमर्थ है तो, वह सर्वज्ञ नहीं है । यदि कहें कि आत्मा ? निःसंख्य अर्थात् उनके लिए संख्या शब्द का प्रयोग ही नहीं हो सकता, इसलिए ईश्वर की सर्वज्ञता निर्वाध है । सो यह कथन भी असंगत है, क्योंकि जब प्रत्येक जीव भिन्न है तो वह निःसंख्य नहीं हो सकते । आत्मायें संख्य ही हैं, क्योंकि उर्द, सरसों, घट-पट आदि की तरह उनकी भिन्नता है, जब ऐसी भिन्नता स्वीकार्य है तो घट-पट आदि की तरह उनमें भी जड़ता, अनात्मता और विनाशशीलता स्वीकारनी होगी [इसलिए जीवों के भेद की कल्पना असंगत है]

ब्रह्माणश्चानन्तत्वं न स्यात् । अनंतत्वंनाम् परिच्छेदरहितत्वम् । भेदवादे च वस्त्वंतराद् विलक्षणत्वेन ब्रह्मणो वस्तुतः, परिच्छेदरहितत्वं न शक्यते वक्तुम् । वस्त्वंतरभाव एव हि वस्तुतः परिच्छेदः वस्तुतः परिच्छिन्नस्य, देशतः कालतरचापरिच्छिन्नत्वं च न युज्यते । वस्त्वंतराद्विलक्षणत्वेन वस्तुतः परिच्छिन्ना एव घटादयो देशतः कालतरश्च परिच्छिन्ना हि दृष्टाः, तथा सर्वे चेतनाः ब्रह्म च वस्तुतः

परिच्छिन्नाः देशकालाभ्यामपि परिच्छिद्यते । एवं च “सत्यंज्ञानम-
नंतम्” इत्यादिभिः सर्वप्रकारपरिच्छेदरहितत्वं वदद्भिर्विरोधः ।
उत्पत्ति विनाशादयश्च जीवानां ब्रह्मणश्च प्रसज्येरन्, कालपरिच्छेद
एव उत्पत्तिविनाशभागित्वं अत एकस्यैवापरिच्छिन्नस्य ब्रह्मणोऽवि-
द्याविजृम्भितम् ब्रह्मादिस्तंबपर्यन्तं कृत्स्नं जगत् सुख दुःखप्रतिसंधान-
व्यवस्थादयोऽपि स्वाप्नव्यवस्थावदविद्यास्वभाव्यादुपपद्यंते । तस्मादे-
कमेव नित्यमुक्तस्वप्रकाश स्वभावननाद्यविद्यावशाज्जगदाकारेण
विवर्तते इति परमार्थतो ब्रह्मव्यतिरिक्ताभागासदनन्यत्वं जगतः,
इति ।

अनंतता ब्रह्म की भी नहीं हो सकती, परिच्छेद रहितत्व ही तो
अनंतत्व है । भेदवाद मे, ब्रह्म को, अन्य सभी वस्तुओं से विलक्षण
कहा गया है, यदि अनंतता का अर्थ अपरिच्छिन्नता मानते हैं तो, भेदभाव
के ब्रह्म का अपरिच्छिन्न भाव समाप्त हो जावेगा । उसे वे फिर अपरि-
च्छिन्न नहीं कह सकते । अन्यान्य वस्तुओं का सद्भाव ही तो परिच्छेद है
वास्तविक परिच्छेद का देश और काल से अपरिच्छेद नहीं हो सकता ।
एक दूसरे से विलक्षण होने के कारण, वास्तविक परिच्छिन्न घट आदि देश
और काल से भी परिच्छिन्न ही देखे जाते हैं । वैसे ही सभी चेतनजीव
और ब्रह्म, वस्तुतः परिच्छिन्न हैं और देश काल से भी परिच्छेद्य हैं ।
ऐसा मानना पड़ेगा; ऐसा मानने से फिर “सत्यज्ञानमनंत ब्रह्म” इत्यादि
वाक्य से जिस ब्रह्म को निर्विशेष (सभी प्रकार के परिच्छेदों से रहित)
कहा गया है उससे विरोध उपस्थित होगा । साथ ही जीवों और ब्रह्म की
उत्पत्ति और विनाश का प्रसंग भी उपस्थित होगा, क्यों काल द्वारा किया
गया परिच्छेद ही तो विनाश कहलाता है । इसलिए यही मानना समी-
चीन है कि—एक ही अपरिच्छिन्न ब्रह्म का, अविद्या विलासात्मक यह
संपूर्ण जगत, सुख दुःखानुभूतिजन्यव्यवस्थाभेद, आदि सभी कुछ स्वप्न-
कालीन व्यवहार की तरह, अविद्यात्मक होने से स्वतः घटित होता है ।
तथा नित्यमुक्त और प्रकाश स्वभाव अद्वैत ब्रह्म ही अविद्यावश जगदा-
कार रूप से विवर्त होता है; परमार्थतः ब्रह्म से अतिरिक्त कोई पदार्थ
नहीं है, यह जगत उससे अभिन्न है ।

प्रत्रोच्यते:—निर्विशेष स्वप्रकाशमात्रं ब्रह्मनाद्यविद्या तिरोहित स्वरूपं स्वगतनानात्वं पश्यतीत्येतत् प्रकाशस्वरूपस्य निरंशस्य प्रकाशानिवृत्तिरूप तिरोधाने स्वरूपनाश प्रसंगेन तिरोधान संभवादिभ्यः सकल प्रमाणविरुद्धं स्ववचन विरुद्धं चेति पूर्वमेवोक्तम् । यत्पुनरुक्तं—कारणव्यतिरिक्तं कार्यं युक्तिवाधितत्वेन शुक्तिकारजतादिवद्भ्रमः, इति, तदयुक्तम्, युक्तेरभावात् । यत्स्वनुवर्तमानस्य कारणमात्रस्यत्सत्वम्, व्यावर्तमानानां घटशरावादिकार्याणामसत्यत्वमिति, तदप्यन्यत्र दृष्टस्यान्यत्र व्यावर्तमानता न बाधिकेत्यादिभिः पूर्वमेव परिहृतम् । यच्चोपलभ्यमानत्वविनाशित्वाभ्यां सदसदनिर्वचनीयत्वेन कार्यस्य मृपात्वमिति, तदसत्, उपलब्धि विनाशयोगो हि, न मिथ्यात्वं साधयति, किन्त्वनित्यत्वम् । यद् देशकाल संबन्धितया यदुपलब्धं, तद्देशकालसंबन्धितया वाधितत्वमेव हि तस्य मिथ्यात्वे हेतुः । देशांतरकालान्तर संबन्धितयोपलब्धस्यान्य देशकालसंबन्धित्वेन वाधितत्वं देशांतरकालांतराव्याप्तिमात्रं साधयति, न तु मिथ्यात्वम् । प्रतियोगश्च घटादि कार्यं सत्यम्, देशकालादि प्रतिपन्नोपाधावबाधित्वात्, आत्मवत् ।

(शांकरमत निरसन) उक्त कथन पर कहते हैं कि—एकमात्र प्रकाश स्वरूप निर्विशेष, ब्रह्मनादि अविद्या द्वारा अपने स्वरूप के तिरोहित हो जानेसे ही विभिन्नता देखता है । अखंड प्रकाश स्वरूप उसके प्रकाश निवृत्ति रूप, स्वरूपावरण से ही, स्वरूप का विनाश हो सकता है, परंतु उसके स्वरूप का आवृत होना ही असंभव है, यदि ऐसा संभव हुआ, तो, वह शास्त्र प्रमाणों अपने वचनों के ही विरुद्ध होगा । ऐसा हम कह भी चुके हैं । जो यह कहा कि—कारण से भिन्न कार्य की मत्ता, युक्ति बाधित होने, युक्ति रजत की तरह भ्रम मात्र है; यह भी असंगत बात है, क्योंकि—तद-मुरूप कोई युक्ति नहीं है । तथा यह कहना कि—कार्यरूप में अनुवर्तमान कारण ही एकमात्र सत्य है तथा व्यावर्तमान (कारण से अनुगत) घट प्याला आदि कार्य सब असत्य हैं । असंगत बात है, इसको भी हम-

“एक स्थल में दृष्टव्यावर्त्तमानता, अन्यत्र देखे गए विषय की बाधक नहीं होती” इत्यादि में पहिले ही निराकरण कर चुके हैं। प्रत्यक्ष, विनाशशील सदमदनि र्वचनीय, मानकर कार्य को मिथ्या मानना भी असंगत है, प्रत्यक्षोपलब्धि और विनाश के आधार पर कोई भी वस्तु मिथ्या नहीं हो सकती अनित्य तो हो सकती है। जो वस्तु जिस देश और जिस काल में उपलब्ध होती है, वह वस्तु उसी देश और उसी काल में यदि बाधित हो जाय (गलत मिद्ध होजाय) तब तो मिथ्या है। अन्यथा देशांतर या कालांतर देखी गई वस्तु अव्याप्ति की ही द्योतिका हो सकती है, मिथ्या नहीं। उक्तप्रकार के मिथ्यावादी सिद्धांत से तो विपरीत धारणा भी बन सकती है कि—“घटआदि कार्य सत्य है, क्योंकि—अनुभूत देश काल आदि उपाधियों से वे अबाधित है जैसे कि—आत्मा अबाधित होता है”। इत्यादि।

यच्चोक्तं कारणस्वरूपादविकृताद्विकृताच्च कार्योत्पत्तिर्न संभवति—इति, तदसत्—देशकालादिसहकारिसमवहितात् कारणात् कार्योत्पत्ति संभवात्। तत्समवधानं च विकृतस्याविकृतस्य च न संभवति इति यदुक्तम्, तदयुक्तम्—पूर्वमविकृतस्यैव कालादिसमवधानं संभवात्। अविकृतत्वाविशेषात् पूर्वमपिदेशकालादिसमवधानं प्रसज्यत इति चेन्न, देशकालादि समवधानस्य कारणान्तरा यत्तस्यैतदायत्तत्वाभावात्। अतो देशकालादि समवधानरूपविशेषमापन्नं कारणं कार्यमुत्पादयतीति न किञ्चिदवहीनम्। कारणस्य च कार्यं प्रत्यारम्भकत्वमबाधितं दृष्यमानं न केनापि प्रकारेणापहनोतुं शक्यते।

जो यह कहा कि—अविकृत या विकृत कारण स्वरूप से कार्योत्पत्ति नहीं हो सकती, यह भी असंगत बात है, क्योंकि—देश काल आदि सहकारी कारणों से संयुक्त कारण द्वारा ही कार्योत्पत्ति हो सकती है केवल एक कारण से नहीं) यदि कहो कि—अविकृत या विकृत किसी प्रकार के कारण से, सहकारी सयोग नहीं हो सकता, तो तुम्हारा यह कथन भी असंगत है, क्योंकि—कार्योत्पत्ति के पूर्व अविकृत कारण के साथ, देशकाल का संबंध हो सकता है। यदि कहो कि अविकृत भाव में किसी प्रकार की

विलक्षणता नहीं होती, इसलिए कार्योत्पत्ति के पूर्व भी देशकाल आदि का समवधान हो सकता है। सो ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि देशकाल आदि के साथ जो समवधान (संयोग) होता है, वह किसी अन्य कारण के अधीन होता है। यह उपादान कारण किसी से अधीन तो है नहीं; इसलिए इसे अधीनता की अपेक्षा होती है। इस प्रकार विशिष्ट देश काल आदि के संयोग से अवस्थाविशेष को प्राप्त वही कारण, यदि कार्योत्पादन करता है, तो उससे कोई क्षति नहीं होती। कार्य में कारण की उपादानता जब अवाध्य होती है तो उसे किसी भी प्रकार से छिपाना कठिन है [अर्थात् उपादान कारण जब प्रत्यक्ष और निर्वाध रूप से कार्योत्पादक हो तो उसे अमान्य नहीं कह सकते]

यत्तु हेमादिमात्रस्य रुचकादिकार्यस्यैतदाश्रयस्य वा हेमादेरारम्भकत्वं संभवति-इति, तदयुक्तम्, हेमादिमात्रस्यैव तयोक्तपरिकरयुक्तस्यारंभकत्व संभवात्। न चारम्भक हेम व्यतिरिक्तं कार्यं न दृश्यत इति वक्तुं न शक्यम् हेमातिरिक्तस्य स्वस्तिकस्य दर्शनात् बुद्धिशब्दान्तरादिभिर्वस्त्वंतरस्य साधितत्वाच्च। न चायं शुक्तिकारजतादिवद् भ्रमः, उत्पत्तिविनाशयोरन्तराल उपलभ्यमानस्य तद्देशकाल संबंधितया बाधादर्शनात् न। चास्या उपलब्धेर्बाधिका काचिदपि युक्तिदृश्यते। प्रागनुपलब्धेस्वस्तिकोपलब्धि वेलायामपि हेम प्रत्यभिज्ञा स्वस्तिकाश्रयतया हेमोऽप्यनुवृत्ते रविरुद्धा। श्रुतिभिस्तु प्रपञ्चमिष्यात्वसाधनं पूर्वमेव निरस्तम्। यच्चान्यदत्र प्रत्यक्ष विरोधादि प्रतिवक्तव्यम्, तदपि सर्वं पूर्वमेव सुष्ठूक्तम्।

जो यह कहा कि-एकमात्र सुवर्णादि ही, हार आदि कार्य और आश्रयभूत सुवर्णता आदि के आरंभक (उपादान कारण) नहीं हो सकते। यह कथन भी युक्ति शून्य है; देश काल आदि सहकारी कारणों से युक्त एकमात्र सुवर्ण आदि ही, हार आदि के उपादान कारण हो सकते हैं। यह एक भी नहीं कह सकते कि-आरंभक सुवर्ण से भिन्न, कोई कार्य नहीं देखा जाता, सो बात भी नहीं है हेम से भिन्न स्वस्तिक (आभूषण विषेण

जिसमें सुवर्ण की मात्रा कम तांवा अधिक होता है) आदि कार्य देखे जाते हैं। प्रतीति भेद और शब्द भेद से, वस्तु में भिन्नता मानी जाती है। यह, शुक्तिका रजत का सा भ्रम नहीं है, क्यों कि-इसमें उत्पत्ति और विनाश की मध्यवर्ती देश और काल संबंधी कोई बाधा नहीं है और न इसमें कोई दूसरी उपलब्धि (प्रतीति) की बाधिका युक्ति ही दीखती है। पूर्व अननुभूत स्वस्तिक की उपलब्धि के समय जो सुवर्ण संबंधी प्रत्यभिज्ञा (यह वही सुवर्ण है, ऐसी प्रतीति) होती है, वह भी विरुद्ध नहीं है, क्योंकि स्वस्तिक के आश्रयभूत, सुवर्ण की झलक रहती है। वेदवाक्यों से जगत को मिथ्या सिद्ध करने वाली बात का तो हम, पहिले ही निराकरण कर चुके हैं, तथा जो प्रत्यक्षविरोधी आदि तर्कों का निराकरण करना था, उन उन सबका भी पहिले बहुत अच्छे ढंग से कर चुके हैं।

यच्चोक्तम्—एकेनात्मना सर्वाणि शरीराण्यात्मवन्ति, इति, तदसत्, एकस्यैव सर्वशरीरप्रयुक्तसुखदुःख प्रतिसंधान प्रसंगात् सौभरि प्रभृतिषु हि आत्मनएकत्वेनानेकशरीरप्रयुक्त सुखादिप्रतिसंधानमेकस्य दृश्यते न चाहमर्थस्य ज्ञातृत्वात्तद् भेदात् प्रतिसंधानाभावो नात्मभेदादितिवक्तुं शक्यम्, आत्माज्ञातैव, स चाहमर्थ एव, अंतःकरणभूतस्त्वहंकारो जडत्वात्करणत्वाच्च शरीरेन्द्रियादिवन्न ज्ञाते-त्युपपादित्वात्। अथशरीरत्वजःस्कार्यत्वकल्पितत्वैः सर्वशरीराणां एकस्याविद्याकल्पितत्वमुक्तम्, तदपि सर्वशरीराणामविद्याकल्पितत्वस्यैवाभावादयुक्तम्। तद्भावंश्चात्राधितस्य सत्यदोषपादनात्। यच्च चेदनादन्यस्य जडत्वदर्शनात् सर्वचेतनानामनन्यत्वमुक्तम् तदपि सुखदुःख व्यवस्थया भेदोपपादनादेव निस्तम्।

जो यह कहा कि—एक ही आत्मा से सारे शरीर आत्मवान कहलाते हैं, यह भी असंगत बात है, ऐसा होने से तो, एक ही आत्मा, सभी शरीरों के सुख दुःख आदि को भोगने वाला सिद्ध होता है। सौभरि आदि ऋषियों के जो एक आत्मा के अनेक शरीर थे उनमें भोग भिन्न भी एक ही प्रकार का था, भिन्न नहीं था। अर्ह पदार्थ ही वास्तविक ज्ञाता है, प्रतिदेह में वह

भिन्न है, इसलिए प्रतिदेह की अनुभूति भिन्न भिन्न होती है। वह आत्मा के भेद से तो होती नहीं; इत्यादि भी नहीं कह सकते क्योंकि-आत्मा ही ज्ञाता है, ज्ञातृत्व स्वरूप वह आत्मा ही "अहं" है, दोनों भिन्न नहीं हैं, पर अंतः-कारण रूप अहंकार जड़ एवं ज्ञान का साधन होने से, शरीर और इन्द्रियों की तरह ज्ञाता नहीं हो सकता, ऐसा प्रथम ही कह चुके हैं। शरीरत्व, जड़त्व, कार्यत्व कल्पितत्व होने से सारे शरीर अविद्या कल्पित हैं; यह कथन भी असंगत है, सारे शरीर अविद्या कल्पित हैं, इसको प्रमाणित नहीं किया जा सकता, अवाधित पदार्थ की सत्यता सिद्ध हो जाने से ही यह बात अप्रामाणिक हो जाती है। तथा-चेतन से जड़ भिन्न है, इसलिए सब चेतन एक है, "यह बात भी-सुख दुःख भोग की भेद व्यवस्था से जो भेदवाद सिद्ध किया गया, उसी से निराकृत हो चुकी।

यत्तु-मयैवात्मवन्ति मदविद्याकल्पितान्यहमेव सर्वचेतन जातमित्यमहमर्थस्यैक्यमुपपादितम्, तदज्ञातस्वसिद्धान्तस्य भ्रांति-जल्पितम्, अहं त्वमाद्यर्थविलक्षणं चिन्मात्रं हि आत्मात्वन्मते । किं च निर्विशेष चिन्मात्रातिरेकि सर्वं मिथ्येति वदतो मोक्षार्थं श्रवणादि प्रयत्नो निष्फलः, अविद्याकार्यत्वात्, शुक्तिकारजतादिषु रजताद्युपा-नादि प्रयत्नवत् । मोक्षार्थं प्रयत्नोव्यर्थः कल्पिताचार्यायत्तज्ञानकार्य-त्वात् शुक्रप्रह्लादवामदेवादि प्रयत्नवत् । तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्य-ज्ञानम् न बन्धनिवर्तकम्, अविद्याकल्पितवाक्यजन्यत्वात्, स्वयं-मविद्यात्मकत्वात्, अविद्याकल्पितज्ञानाश्रयत्वात् कल्पिताचार्यायत्त-श्रवणजन्यत्वाद्वा स्वाप्नबंधनिवर्तनवाक्यजन्यज्ञानवत् । किं च निर्विशेषचिन्मात्रं ब्रह्म मिथ्या, अविद्याकार्यज्ञानगम्यत्वात् अविद्या-कल्पितज्ञानाश्रयज्ञानगम्यत्वात्, अविद्यात्मकज्ञानगम्यत्वाद् वा, यथेवंतत्तथा यथा स्वाप्नगंधर्वनगरादिः । न च निर्विशेष चिन्मात्रं ब्रह्म स्वयं प्रकाशते, येन न प्रमाणान्तरमपेक्षते । यत्त्वात्मसाक्षिकं स्वयं प्रकाशज्ञानं दृश्यते, तत्तु ज्ञेयविशेषसिद्धिरूपं ज्ञातृगतमेव दृश्यत इति पूर्वमेवोक्तम् । यानि च तस्य निर्विशेषत्व साधकानि यौक्तिकानि

ज्ञानान्युपन्यस्तानि, तानि चानन्तरोक्तै रविद्याकार्यत्वादिभिरनु-
मानैर्निरस्तानि। न च निर्विशेषस्य चिन्मात्रस्याज्ञानसाक्षित्वमहंकारादि
जगद् भ्रमश्चोपपद्यते, साक्षित्वभ्रमादयोऽपि हि ज्ञातृविशेषगतादृष्टाः
न ज्ञप्तिमात्रगताः, न च तस्य प्रकाशत्वं स्वायत्त प्रकाशता वा
सिध्यति, प्रकाशो हि कस्यचित्पुरुषस्य कंचनार्थविशेषं प्रति सिद्धरूपो-
द्दश्यते तत एव हि तस्य स्वयम्प्रकाशतोपाद्यते भवद्भिरपि । न
चातादृशस्य निर्विशेषस्यप्रकाशता संभवति यः पुनः स्वगोष्ठीष्वपर-
मार्थादपि परमार्थकार्यं दृश्यत इत्युदघोषः, सोऽपितानि कार्याणि
सर्वाण्यबाधितकल्पानिभ्यावहारिकसत्यानि, वस्तुनस्त्वविद्यात्म-
कान्येवेति स्वाभ्युपगमादेव निरस्तः । अस्माभिरपि सर्वत्र परमार्था-
देव कारणात्सर्वकार्योत्पत्तिमुपपादयद्भिः पूर्वमेव निरस्तः ।

ये सारे शरीर मेरे से ही आत्मवान हैं, मेरी ही अविद्या से कल्पित
हैं, मैं ही समस्त चेतन हूँ, इत्यादि जो, अहंभाव के अद्वैत भाव का
प्रतिपादन किया गया है, वह, अपने सिद्धान्त को न जानते से, भ्रान्तिमूलक
है तुम्हारे मत में तो, आत्मा, मैं और तू इत्यादि में विलक्षण, केवल
चैतन्य स्वरूप है । जो यह कहते हो कि-निर्विशेष चैतन्य के अतिरिक्त मव
कुछ मिथ्या है, तब तो मोक्ष के लिए किए जाने वाले, श्रवण-मनन आदि
सारे प्रयास व्यर्थ हैं, क्योंकि-ये भी तो अविद्या कल्पित ही हैं । शक्ति का
रजत में जैसे रजत आदि मिथ्या को जानने का प्रयास विफल है,
वैसे ही उक्त प्रयास भी विफल ही होगा । इससे तो यह भी धारणा
बनती है कि-मोक्ष के लिए किया जाने वाला प्रयत्न भी व्यर्थ है क्योंकि-
यह अविद्या कल्पित आचार्य के अधीन ज्ञान से साध्य होता है । जैसे कि-
शुक प्रह्लाद वामदेव आदि के प्रयास [परंतु बात सर्वथा भिन्न है, इन तीनों
का मोक्ष शास्त्र प्रसिद्ध है] इस प्रकार तो "तत्त्वमसि" आदि वाक्यजन्य
ज्ञान भी बंधनों को काटने वाला नहीं हो सकता, क्योंकि-अविद्या कल्पित
वाक्यजन्य है, तथा स्वयं अविद्यात्मक, अविद्या कल्पित ज्ञाता के आश्रित,
कल्पित आचार्य से आयत्त होने से कल्पित श्रवण जन्य है, जैसे कि-स्वप्न

में सुना गया ज्ञानात्मक वाक्य । और फिर इस मत से तो निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्म भी मिथ्या हो जायेगा, क्योंकि वह भी तो स्वयं, अविद्याजन्य ज्ञान का विषय ही तो है । जो कि अविद्या कल्पित ज्ञाता के आश्रित ज्ञान से जाना जाता है, तथा वह ज्ञान भी तो अविद्या कल्पित ही है । यह सब तो वैसा ही है जैसा कि-स्वप्न में दृष्ट गन्धर्व नगर आदि । यह नहीं कह सकते कि-निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्म स्वयं प्रकाशवान है, इस लिए उसे प्रमाणान्तरों की अपेक्षा नहीं होती स्वयं प्रकाश ज्ञान आत्मसाक्षिक होता है, वह तो ज्ञेय विशेष (ब्रह्म) सिद्धिरूप ज्ञाता के अधीन देखा जाता है, यह हम पहिले ही बतला चुके हैं तथा उस ब्रह्म की निर्विशेषता की साधिका ज्ञानमूलक जिन युक्तियों को प्रस्तुत किया था, उन सबका, अविद्या कार्यत्व आदि घटित अनुमानों से निराकरण भी कर चुके हैं । निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्म के संबन्ध में, अज्ञान साक्षित्व और अहंकार आदि जगद्भ्रम का आरोप भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि-साक्षित्व भ्रमादि तो किसी किसी ज्ञाता विशेष में ही होते हैं । वह ज्ञानगत नहीं होते, और न उस ज्ञान का प्रकाश ही होता है, न उसमें स्वतः प्रकाश की क्षमता ही हो सकती है । प्रकाश का अर्थ होता है, किसी व्यक्ति विशेष में, किसी वस्तु की अभिव्यक्ति होना । ऐसा स्वयं प्रकाश का भाव, आपके द्वारा ही बतलाया गया है । जो ऐसे लक्षण से घटित न हो सके उस निर्विशेष की ज्ञान प्रकाशता संभव नहीं है । असत् पदार्थ से ही सत् पदार्थ उत्पन्न होते हैं, ऐसा जो आपका अपनी गोष्ठी में उद्धोष है वह, आप ही के "सारे उत्पन्न होने वाले पदार्थ, एक रूप से अबाध व्यावहारिक सत्य हैं, वस्तुतः तो वे सब अविद्यात्मक ही है" इत्यादि मत से, समाप्त हो जाता है । परमार्थ कारण से ही, सर्वत्र सब कार्यो की उत्पत्ति होती है, ऐसा हमारा घोष भी, पहिले ही कट चुका है ।

न च त्वयेषामनुमानानां श्रुतिविरोधो वक्तुं शक्यते, श्रुतेरपि अविद्याकार्यत्वेन अविद्यात्मकत्वेन चोक्त दृष्टान्तेभ्यो विशेषाभावात् । यन्तु ब्रह्मणोऽपारमार्थिकज्ञानगम्यत्वेऽपि पश्चात्तनबाधः दर्शनाद् ब्रह्म सत्यमेव इति, तदसत्, दुष्टकारणजन्य ज्ञानगम्यत्वे निरिचते सति पश्चात्तनबाधा दर्शनस्याकिञ्चित्करत्वात्, यथा शून्यमेव तत्त्वमिति

वाक्यजन्यज्ञानस्य परचात्तनबाधादर्शनेऽपि दोषमूलत्वनिश्चयादेव तदर्थस्यासत्यत्वम् ।

तुम हमारे किये गए उक्त अनुमानों को श्रुतिविह्वल नहीं कह सकते-क्यों कि- तुम्हारे ही प्रतिपादन से यह लक्षित हो चुका है कि- श्रुति भी अविद्या का कार्य है अतएव अविद्यात्मक है, इसलिए गत दृष्टान्तों से कोई विशेष बात श्रुतियों में कही गई हो ऐसा समझ में नहीं आता [अर्थात् मिथ्या दृष्टान्तों की तरह, श्रुति भी मिथ्या दृष्टान्त रूपही है] ब्रह्म अपारमार्थिक ज्ञान से गम्य होते हुए भी, ज्ञानोत्तर काल में उसमें किसी प्रकार की बाधा नहीं देखी जाती, इसलिए ब्रह्म तो सत्य ही है, यह कहना भी बेकार ही होगा क्योंकि-ब्रह्म ज्ञान गम्य है तथा वह ज्ञान दोषावह कारणों से जन्य है ऐसा जब तक से निश्चित हो चुका तब उसमें, बाद में बाधा भले ही न पड़े उससे-मुक्त होता नहीं [अर्थात् अविद्या-जन्य ज्ञान से ही जब ब्रह्म की प्रतीति होती है तो यही कौन कम बाधा है ?] जैसे कि-“शून्य ही एकमात्र तत्त्व है” इत्यादि से जो प्रतीति हाती है भले ही उसमें बाधा न पड़े, पर है तो दोषमूलक हो, वैसे ही उक्त मत की असत्यता भी निश्चित होती है ।

कि च ‘निह नानाऽस्ति किंचन’ विज्ञानमानन्दं ब्रह्म” इति विज्ञान-भावातिरिक्तस्य कृत्स्नस्य वस्तुजातस्य निषेधकत्वेन सर्वस्मात् परत्वात् परचात्तन बाधादर्शनमुच्यते, शून्यमेव तत्रमिति तस्याप्यभावं वदतः तस्मात्परत्वेन परचात्तनबाधो दृश्यते । सर्वशून्यत्वातिरेकि-निषेधासंभवात्तस्यैव परचात्तनबाधादर्शनम्, दोषमूलत्वं तु प्रत्यक्षादीनां वेदांत जन्मनः सर्वशून्यज्ञानस्याप्यविशिष्टम् । अतः सर्वं विज्ञानजातं पारमार्थिकज्ञातृगतं, स्वयं च परमार्थभूतमर्थविशेषसिद्धिरूपम्, तत्र किंचनज्ञानं दोषमूलम्, दोषश्च परमार्थः, किंचिच्च निदोषं पारमार्थिकं सामग्रीजन्यमिति यावन्नाभ्युयेयते, न तावत्सत्यमिथ्यार्थव्यवस्था लोकव्यवहारश्चसेत्स्यति । लोकव्यवहारोऽपि पारमार्थिको भ्रांतिरूपश्च, पारमार्थिकज्ञातृगतार्थं विशेष सिद्धिरूपप्रकाशपूर्वकः, निर्विशेष

सन्मात्रस्य तु पारमार्थिकस्यापारमार्थिकस्य च प्रतिभासादेहेतुत्वा-
संभवात् लोकव्यवहारो न संभवति । यच्च-तैर्निर्घिष्ठानभ्रमा-
संभवात् सर्वाध्यासाधिष्ठानस्य सन्मात्रस्य पारमार्थिकत्वमुक्तम्,
तदपि दोष दोषाश्रयत्वज्ञातृत्वज्ञानानामपारमार्थ्येऽपि भ्रमोपपत्तिवद-
धिष्ठानापारमार्थ्येऽपि भ्रमोपत्तेर्निरस्तम् । अथ अधिष्ठानापारमा-
र्थ्येऽपि न क्वचिद् भ्रमोदृष्ट इति सन्मात्रस्य पारमार्थिकत्वमवस्था-
श्रयणीयमिति मन्यसे । हन्त तर्हि दोष दोषाश्रयत्वज्ञातृत्व
ज्ञानानामपारमार्थ्येऽपि न क्वचिद् भ्रमोदृष्ट इति, दराननानुगुण्येन
तेषामपि पारमार्थ्यमवस्थाश्रयणीयमिति न कंचिद् विशेषोज्यत्र
तत्संभवात् ।

“इस जगत और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है “ब्रह्म विज्ञान और
आनन्द स्वरूप है “इत्यादि में विज्ञान से अतिरिक्त समस्त पदार्थों के
निषेध तथा इन वाक्यों के परवर्ती होने से; ब्रह्म संबंधी बाधा की संभावना
नहीं रह जाती परंतु “शून्य ही तत्त्व है “इस, उक्त वाक्य के भी परवर्ती
वाक्य से, जो कि उसके भी प्रभाव को छोटन कर रहा है, बाधा उपस्थित
ही रहती है । सर्व शून्य से और अधिक निषेध की बात तो हो नहीं सकती,
इसलिए इस परवर्ती शून्यवाद बोधक वाक्य का बोध तो हो नहीं सकता ।
प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की तरह, वेदांत का यह सर्व शून्यवाद भी दोषमूलक
है । इसलिए जब तक, समस्त विज्ञान की सत्योपलब्धि, एवं वस्तु विशेष
अभिव्यक्त विज्ञान की सत्यता, तथा किसी किसी ज्ञान की निर्दोषता,
सत्य सृष्टिकरणता, आदि नहीं स्वीकारी जावेगी तब तक सत्य मिथ्या
विभाग और लोकव्यवहार भी सिद्ध नहीं हो सकता । क्योंकि-पारमार्थिक
और भ्रमात्मक दोनों प्रकार के लोकव्यवहार,- परमार्थ के ज्ञाता के लिए
तो पहिले से ही,, वस्तुविशेष के प्रकाशक प्रकाश सहित अपेक्षित रहते
हैं केवल निर्विशेष सत् स्वरूप कभी पारमार्थिक या अपारमार्थिक भाव
में, प्रतीति का हेतु नहीं हो सकता । इसलिए उससे लोकव्यवहार भी
संपन्न नहीं हो सकता । तथा-किसी एक वाक्य के बिना भ्रम होता ही
नहीं, ऐसा मानकर जो समस्त अध्यासों के अधिष्ठान शुद्ध सत् पदार्थ

ब्रह्म की पारमार्थिकता बतलाई, वह भी-दोष, दोष के आश्रय, ज्ञान और ज्ञातृत्व आदि के अपारमार्थिक होते हुए जैसे भ्रमोत्पादन हो जाता है, वैसे ही अधिष्ठान की अपारमार्थिकता होते हुए भी भ्रम उत्पन्न हो सकता है, इस संभावित बात से कट जाती है। यदि कही कि जब अधिष्ठान की अपारमार्थिकता में भ्रम नहीं दीखता, तब तो शुद्ध सत्। दार्थ की पारमार्थिकता अवश्य ही माननी पड़ेगी। ठीक है, तब तो, दोष दोषाश्रया ज्ञातृत्व और ज्ञान आदि की अपारमार्थिकता में भी जब कहीं भ्रम नहीं दीखता, तब लोकव्यवहार का अनुसरण करते हुए, इन सब की पारमार्थिकता भी अवश्य स्वीकारनी पड़ेगी। इस विषय में केवल बाष्पा-डम्बर के अतिरिक्त कोई विशेष बात नहीं है।

यत्तु भेदपक्षेऽव्यतीतकल्पानामानन्त्यात् सर्वेषामात्मनां भुवतत्वेन बद्धासंभवात् वद्धभुवत व्यवस्था न सभवति, तदात्मानन्त्येन परिहृतम्। यत्त्वात्मनां भिन्नत्वे मापसर्पपघटपटादिवत्संख्यावत्त्वमवर्जनोपपत्ति इति, तत्र घटादीनामप्यनंतत्वात्दृष्टान्तः साध्यविकलः स्यात्। दशघटाः सहस्रभाषाः, इति संख्यावत्त्व इत्यत इतिचेत्-सत्यम्, तत्त्वं न घटादिस्वरूपगतम्, अपितु देशकालाधुपाधिमाद घटादिगतम्, तादृशं तु संख्यावत्त्वमात्मनामभ्युपगच्छामः। न च तावता सर्वंभुवित प्रसंगः आत्मस्वरूपानन्त्यात्। यत्तु आत्मनां भिन्नत्वे घटादिवज्जडत्वानात्मत्वशयित्व प्रसंगः, इति तदयुक्तम्, एकजातीयानां भेदस्य तज्जातीयानां जात्यन्तरत्वानापादकत्वात्। न हि घटानां भेदः, तेषां पटत्वमापादयति। यत्तु भिन्नत्वे वस्तुतः परिच्छेदाद्येताकावाभ्यामपि परिच्छेदो ब्रह्मणः प्रसज्यत इत्यनंतत्वब्रह्मणो न सिध्यतीति, तदयुक्तम्, वस्तुतः परिच्छेदनामपि देशकालपरिच्छेदस्य न्यूनाधिकभावेनानियमदर्शनात्। देशकालसंबन्धेयत्तायाः प्रमाणान्तरासन्नियंत्वेन ब्रह्मणः सर्वदेशकालसंबन्धस्यापि प्रमाणान्तरादापत्प्ये विरोधाभावात्। वस्तुतः परिच्छेदमात्रादपि सर्वप्रकारपरिच्छेदरहितत्वाभावादानन्त्यासिद्धिरिति चेत्, तदभवतोऽप्यविद्याविलक्षणत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपगतः

समानम् । अतः सतोऽविद्याविलक्षणत्वाभ्युपगमाद् ब्रह्मणोऽपि भिन्नत्वेन भेदप्रयुक्ता दोषाः सर्वे तत्रापि प्रसज्येरन् । यद्यविद्या-विलक्षणत्वं नाभ्युपेयते, तर्ह्यङ्घ्रात्मकमेव ब्रह्मस्यात् । “सत्यं-ज्ञानमनंतंब्रह्म” इति लक्षणवाक्यमपि तत् एवापार्थक्यं स्यात् । भेदतत्त्वानभ्युपगमे हि स्वपक्ष परपक्ष साधनदूषणादिविवेकाभावाद सर्वमसमंजसं स्यात् श्रान्त्यप्रसिद्धिरच देशकालपरिच्छेदरहितत्व मात्रेण, ने वस्तुतोऽपि परिच्छेद रहितत्वेन, तथा विधस्य शशविषाणायमानस्यानुपलब्धेः । भेदवादिनस्तु सर्वंचिदचिद् वस्तुशरीरत्वेन ब्रह्मणः सर्वप्रकारत्वात् स्वतः परतोऽपि परिच्छेदो न विद्यते । तदेवोपादयद्भ्योऽवगम्यते । आरम्भणशब्दआदियेषां वाक्यानाम्, तान्याकारणादभिन्नस्य कार्यस्य सत्यत्वाद् ब्रह्मकार्यं कृत्स्नं जगद् ब्रह्मणोऽन्यदेव ।

जो यह कहा कि—अतीत कल्पों की अनन्तता होने से सभी आत्माओं के मुक्त हो जाने से, भेदवाद में भी बद्ध मुक्त व्यवस्था नहीं बनती, इस कथन का निराकरण जीवों की अनन्तता के आधार पर किया जा चुका है । जो यह कहो कि—आत्माओं की भिन्नता मानने से, उदं, सरसों, घट पट आदि की तरह, संख्यावत्त्व अर्थात् सान्तत्व होगा, सो यह दृष्टान्त ही गलत है, घट आदि तो स्वतः ही अनंत हैं । यदि कहो कि—दस घट, हजार भाव आदि गणना तो की जाती है, ठीक है की जाती है, पर यह गणना, घट आदि के रूप की नहीं है, यह तो देशकाल आदि से विशिष्ट घट की है । ऐसी ही संख्या आत्मा की भी है [अर्थात् किसी स्थान किसी समय कुछ आत्मायें विभिन्न आकारों में उपस्थित हो तो हम उनकी गणना भले ही कर लें, पर हैं तो वह अनंत ही] इसलिए एक साथ सबकी मुक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि आत्मायें अनंत हैं ।

जो यह कहा कि—आत्माओं को भिन्न-भिन्न मानने से उनमें जडता, घनात्मता, विनाग आदि दोष हो सकते हैं, यह बात भी युक्ति संगत नहीं है, क्योंकि—एक जातीय पदार्थ का भेद, कभी उस जातीय पदार्थ से

भिन्न जातीयता नहीं बतला सकता, जैसे कि—घटों के पारस्परिक भेद में, पटत्व का भान नहीं होता। यह कहना कि—भेद मानते से आत्माओं का वस्तुगत परिच्छेद हो जायगा, जिसके फलस्वरूप, ब्रह्म का देशकाल परिच्छेद (ससीमभाव) संभावित होगा, जिसे ब्रह्म की अनंतता सिद्ध होगी। यह भी असंगत बात है, परिच्छिन्न पदार्थों का भी देशकालात्मक परिच्छेद का न्यूनाधिक भाव देखा जाता है। देशकाल संबंधी जो परिच्छेद होता है, उसे प्रमान्तरों के सहारे ही, निरूपण किया जा सकता है, इसलिए ब्रह्म का, देशकाल आदि का जो संबंध है, वह भी प्रमाणान्तरों से ही सिद्ध हो सकता है। इसलिए इसमें कोई विरुद्ध भाव नहीं है। यदि कहें कि—आत्मा का रूप, वस्तु से परिच्छिन्न होते हुए भी, तथा उससे भिन्न सभी प्रकार के परिच्छेद का अभाव होते हुए भी, ब्रह्म की अनंतता सिद्ध नहीं होती। ठीक है, ब्रह्म को जब तुम, अविद्या से पृथक् तत्त्व मानते हो, तब भी तो यही दोष उपस्थित होना है। सत् स्वरूप ब्रह्म को, अविद्या से विलक्षण मानने पर ब्रह्म जब अविद्या से पृथक् हो जाता है तब भेद संबंधी जितने भी दोष तुम प्रस्तुत करते हो वे सभी, संभावित हो सकते हैं। यदि अविद्यात्मक भिन्नता नहीं मानते, तो भी ब्रह्म तो अविद्या-त्मक ही रहता है, जिससे “ब्रह्म सत्य ज्ञान अनंतस्वरूप है” यह वाक्य घटित नहीं होता। यदि तात्त्विक भेद ही मानते हो तो तुम्हारे पान अग्ने पक्ष के पुष्टि और दूसरे के पक्ष के दूषणों को विश्लेषण करने का कोई उपाय ही नहीं रह जायेगा। अतः सब कुछ असामंजस्य पूर्ण हो जायेगा। देशकाल परिच्छेद के न होने मात्र से ही “अनंतता” सिद्ध हो जायेगी तथा वस्तुगत परिच्छेद की अपेक्षा न होगी, ऐमा खरगोश की सींग का सा बनहोना, परिच्छेद तो कहीं भी दृढिगन नहीं होना। भेदवादियों के मत से जब, सभी जड़चेतन ब्रह्म का शरीर है, तब सारे पदार्थ, विज्ञेयित ब्रह्म से, स्वतः या परतः किसी भी रूप में परिच्छिन्न होकर नहीं रह सकते। इससे ज्ञात होता है कि—कारण से भिन्न, कार्य के सत्य होने से, ब्रह्म का कार्य, सारा जगत निश्चित ही पृथक् है।

सिद्धांतः—इति प्राप्ते प्रचक्ष्महे-तदन्यत्वभारम्भणशब्दादिभ्यः तस्माद् परम कारणाद् ब्रह्मणः, अनन्यत्वं जगतः, आरम्भणशब्दादिभ्यः तदुपरम्भणशब्दादीनि। आरम्भण शब्द आदिर्येषां वाक्यानां

तान्यारम्भणं शब्दादीनि “वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ।” “सदेव साम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयं तदैक्षत् बहुस्यां प्रजाप्येति तत्तेजोऽसृजत्” अनेन जीवेनाऽत्मनाऽनुप्रविश्य” सम्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सदप्रतिष्ठाः “एतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतोः” इत्येतानि प्रकरणान्तरस्थानि अप्येवंजातीयकानि अत्राभि प्रेतानि । एतानि हि वाक्यानि चिदचिदात्मकस्य जगतः परस्माद्ब्रह्मणोऽनन्यत्वमुत्पादयन्ति ।

उक्त संशय पर सूत्रकार “तदन्यत्वमारम्भणं शब्दादिभ्यः” सूत्र प्रस्तुत करते हैं । अर्थान्—ब्रह्म के साथ जगत के अभेद के प्रतिपादक “आरम्भण” आदि शब्दों के प्रयोग से ज्ञात होता है कि—परमकारण ब्रह्म से, यह जगत अभिन्न है । जिन वाक्यों में उक्त शब्दों का प्रयोग है वे इस प्रकार हैं—“विकारमात्र, वाक्यारब्ध नाममात्र है, मृत्तिका ही सत्य पदार्थ है—“सृष्टि के पूर्व यह सारा जगत् सत्स्वरूप था, तब परमात्मा ने एक से अनेक होने की कामना करके तेज की सृष्टि की—“उसने इस जीवात्मा के अन्तःकरण में प्रवेश करके”—हे सोम्य ! ये सारे पदार्थ मूल से ही सत्, सत् में ही स्थित तथा सत् में ही विलीन हैं—“यह सब आत्मस्वरूप हैं, वही एकमात्र सत्य आत्मा है, श्वेतकेतु ! तुम वही हो” इत्यादि भिन्न-भिन्न प्रकरणस्थ वाक्यों की एकता बतलाने के लिए ही सूत्र में आदि शब्द का प्रयोग किया गया है अर्थात् ये सारे वाक्य एक ही तत्त्व के बोधक हैं । ये सारे ही वाक्य चिदचिदात्मक जगत की, परब्रह्म से अनन्यता बतलाते हैं ।

तथा हि—“स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतंश्रुतं भवत्यमृतं मतमविज्ञातंविज्ञातम् ।” इति कृत्स्नस्यजगतो ब्रह्मैककारणत्वं, कारणकार्यस्यानन्यत्वं च हृदि निधाय कारणभूत ब्रह्म विज्ञानेन कार्यभूतस्य सर्वस्य विज्ञाने प्रतिज्ञाते सति कृत्स्नस्य ब्रह्मैककारणानजानता शिष्येण “कथं न्य भगवः स आदेशः” इत्यनुज्ञानेन अन्यज्ञातता संभवं चोदितो जगतो ब्रह्मैककारणतामुपदेक्ष्यन् लौकिक प्रती-

तिसिद्धं कारणात् कार्यस्यानन्यत्वं तावत् “यथा सौम्येकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात्” इति दशयति । यथैकमृत्पिण्डारब्धानां घटशरावादीनां तस्मादनतिरिक्तं द्रव्यतया तज्ज्ञानेन ज्ञाततेत्यर्थः ।

इसी प्रकार “वत्स ! तुम गर्व करते हो, तुमने इस विषय की कभी गुरु से जिज्ञासा की है ? जिसे जानकर, अश्रुत विषय श्रुत, अचिन्त्य विषय चिन्त्य एवं अविज्ञात विषय भी ज्ञात हो जाता है “इत्यादि श्रुत से, संपूर्ण अगत की ब्रह्मक कारणता, कारण से कार्य की अभिन्नता समझाते हुए, गुरु ने, कारणस्वरूप ब्रह्म के ज्ञान से कार्य मूत जगत का ज्ञान होता है, इस तथ्य को बतलाया । एकमात्र ब्रह्म ही जगत का कारण है इस तथ्य को न जानने वाले शिष्य द्वारा पुनः “उस रूप का उपदेश भगवन् ! किस प्रकार का होगा ?” जिज्ञासा करने पर “हे सौम्य ! एक मिट्टी के ढेले से जैसे मिट्टी की निर्मित सभी वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है उसी प्रकार” इत्यादि उत्तरसे गुरु ने एक विषय के ज्ञान के बिना अन्य विषयों का ज्ञान होना असंभव है, ऐसी लोक व्यवहारानुगत प्रतीति सिद्ध कारण कार्य की अभिन्नता बतलाई । इसका तात्पर्य है कि—एक मिट्टी के पिण्ड से समुत्पन्न घट प्याले आदि उस मृत् पिण्ड से अभिन्न माने जाते हैं । उस मिट्टी के ढेले की जानकारी से ही उक्त धारणा बनती है ।

अत्र काणाद वादेन कारणात् कार्यस्य द्रव्यान्तरत्वमाशङ्क्य लोक प्रतीत्यैव कारणात् कार्यस्यानन्यतामुपपादयति “वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येवसत्यम्” इति । आरभ्यते आलभ्यते स्पृश्यते इत्यारम्भणं “कृत्यत्युटोबहुलम्” इति कर्मणिल्युट् । वाचा-वाक्यपूर्वकेण व्यवहारेण हेतुनेत्यर्थः । “घटेनोदकमाहर” इत्यादि वाक्यपूर्वको हि उदकाहरणादिव्यवहारः तस्य व्यवहारस्य सिद्धये तेनैव मृद्द्रव्येण पृथुवुध्नोदरत्वादिलक्षणो विकारः संस्थानविशेषः, तत्प्रयुक्तं च घटइत्यादिनामधेयम्, स्पृश्यते-उदकाहरणादिव्यवहारविशेषसिद्धयर्थं मृद्द्रव्यमेव संस्थानांतरनामधेयांतरभागवति । अतोघटाद्यपि मृत्तिके-

त्येव सत्यम् मृत्तिकाद्रव्यमित्येव सत्यम् प्रमाणेनोपलभ्यत इत्यर्थः न तु द्रव्यान्तरत्वेन । अतस्तस्यैवमृद्गहिरण्यादे द्रव्यस्य संस्थानांतरभाक्त्वमात्रेण बुद्धिशब्दान्तरादय उपपद्यन्ते, यथैकस्यैव देवदत्तस्यावस्थाभेदैः "वालयुवास्थविरः" इति बुद्धिशब्दान्तरादयः कार्यविशेषाश्च दृश्यन्ते ।

इस विषय में कणाद मत में, कारण से कार्य भिन्न द्रव्य है ऐसी आशंका पूर्वक लोक प्रतीति के अनुसार ही कारण कार्य की अद्वैत प्रतीति होती है, इत्यादि प्रतिपादन किया गया है । "घट आदि विकार—कहने मात्र को भिन्न हैं, मिट्टी ही सत्य है" इत्यादि वाक्य में आरंभण शब्द का अर्थ है, आरंभ करने योग्य, आलंबन करने योग्य । "कृत्यल्युटो बहुलम्" इस पाणिनीय सूत्र से यहाँ कर्म में ल्युट प्रत्यय हुआ है "वाचा" का अर्थ है, वाक्यपूर्वक व्यवहार के अनुसार "घट से जल लाओ" इत्यादि शब्दोच्चारण द्वारा ही, जल लाना आदि व्यवहार पूरा होता है उस व्यवहार के संपादन के लिए, मिट्टी के स्थूल गोलाकार, मिट्टी के विशिष्ट आकृति वाले "घट" नाम का स्पर्श करता है, अर्थात् जल आहरण रूप विशेष व्यवहार संपादन के उद्देश्य से, मिट्टी की अन्य प्रकार की आकृति का "घट" नाम पड़ा । वस्तुतः घट और मिट्टी एक ही हैं, मिट्टी ही उसका सत्य रूप है, अर्थात् घट आदि पात्र मिट्टी होने से सत्य हैं । जैसे कि—देवदत्त नामक व्यक्ति अवस्था विशेष के अनुसार "वालक-युवा-वृद्ध" कहलाना है, ये भेद बुद्धि और शब्द व्यवहार के ही हैं, वास्तविक नहीं हैं वैसे ही एक ही मिट्टी के बनी विभिन्न आकृतियाँ घट प्याला आदि नामों से समझी और पुकारी जाती हैं ।

यदुक्तं सत्यामेव मृदि "घटो नष्टः" इति व्यवहारात् कारणाद् अन्यत्कार्यमिति, तदुत्पत्तिं विनाशादीनां कारणभूतस्यैव द्रव्यस्यावस्थाविशेषत्वाभ्युपगमादेव परिहृतम् । तत्तदवस्यस्यैकस्यैव द्रव्यस्य ते ते शब्दास्तानि तानि च कार्याणीति युक्तम् । द्रव्यस्य तत्तदवस्थत्वं कारकव्यापारायत्तमिति तत्सार्थवत्त्वम् अभिव्यक्तयनुबंधीनि चोद्यानि-

तस्या अनभ्युपगमादेव परिहृतानि । उत्पत्त्यभ्युपगमेऽपि सत्कार्य-
वादो न विरुध्यते, सत एवोत्पत्तेः । विप्रतिषिद्धमिदमभिधीयते पूर्वमे-
वसत्, तदुत्पद्यते च इति । अज्ञातोत्पत्ति विनाश याथात्म्यस्येदंचो-
द्यम्, द्रव्यस्योत्तरोत्तर संस्थान योगः पूर्वं पूर्वं संस्थान संस्थितस्य
विनाशः स्वावस्थस्योत्पत्तिः । अतः सर्वावस्थस्य द्रव्यस्य सत्त्वात्स-
त्कार्यवादो न विरुध्यते ।

जो यह कहा कि—मिट्टी के सत्य होते हुए भी “घट फूट गया” ऐसा व्यवहार होता है, इसलिए कारण से कार्य भिन्न है । तुम्हारा यह कथन भी असंगत है, वह शब्द व्यवहार मात्र ही है, उत्पत्ति विनाश आदि, कारण भूत द्रव्य की अवस्था के ही होते हैं । विशेष विशेष अवस्था को प्राप्त, एक ही द्रव्य, विशेष विशेष शब्द और कार्य भेद के रूप में प्रयुक्त होता है, द्रव्य की वे सारी विशेष अवस्थायें, कारक व्यापार के अधीन होती हैं । इसी से कर्ता के प्रयास की सार्थकता भी होती है । अभिव्यक्ति संबंधी प्रस्तुत दोषों का निराकरण अभिव्यक्ति को अस्वीकार करने से ही हो जाता है । अभिव्यक्ति को स्वीकारने पर भी सत्कार्यवाद (कार्य कारण अनंतत्ववाद) विरुद्ध नहीं होता । क्योंकि इस मत में सत् से ही उत्पत्ति मानते हैं । उत्पत्ति के पूर्व ही जब सत् था तब “वह उत्पन्न हुआ” ऐसा प्रयोग तो अपनी ही बात को काटने वाला है ? जो मोग उत्पत्ति विनाश के रहस्य को नहीं जानते वे ही ऐसा दोषारोपण करते हैं । द्रव्य का जो उत्तरोत्तर नूतन आकृतियों के साथ संभव है, वही पूर्वतन आकृति संपन्न द्रव्य का विनाश है । अपनी स्वाभाविक वर्तमान स्थिति का नाम ही उत्पत्ति है, सभी अवस्थाओं में द्रव्य की सत्ता अव्याहत रहती है, इसलिए उक्त बात सत्कार्यवाद से विरुद्ध नहीं है ।

संस्थानस्यासत उत्पत्तावसत्कार्यवाद प्रसंग इति चेत्-
असत्कार्यवादिनोऽप्युत्पत्तेरनुत्पत्तिमत्त्वे सत्कार्यवाद प्रसंगः । उत्पत्ति-
मत्त्वे च अनवस्था । अस्माकंत्ववस्थानां पृषक् प्रतिपत्तिकार्ययोगान्
अनहंत्वादवस्थावत एवोत्पत्त्यादिकं सर्वमिति निरवद्यम् ।

यदि कहो कि—अविद्यमान आकृति विशेष की उत्पत्ति स्वीकारने से तो असत् कार्यवाद संभव होगा । नहीं, असत् कार्यवादी कभी भी उत्पत्ति

से उत्पत्ति नहीं मानते, यह सत्कार्यवाद का ही प्रसंग है, उत्पत्ति की उत्पत्ति मानने से तो अनवस्था हो जायेगी [अर्थात्-अद्वैतवादी कहते हैं कि-जो असत् है वह आकाश पुष्प की तरह सर्वथा मिथ्या है, उसकी कभी उत्पत्ति हुई है न हो सकती है, इसलिए उत्पत्ति के पूर्व ही कारण वस्तु में कार्य की बीज रूप स्थिति माननी चाहिए। जो सूक्ष्मरूप से अनाभिव्यक्त था वही कर्त्ता-करण आदि की उपयुक्त चेष्टा से अभिव्यक्त होकर कार्य के आकार में प्रकाशित होता है, उसे ही उत्पत्ति कहते हैं, ऐसी उत्पत्ति से पुनः उत्पत्ति हो नहीं सकती इस अभिव्यक्ति का साधन ही, कर्त्ता के व्यापार की सार्यंकता है। असत्कार्यवादी (द्वैतवादी) कहते हैं कि-उत्पत्ति के पूर्व किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं कर्त्ताओं की चेष्टासे अभिनव कार्योत्पत्ति होती है। प्रत्येक वस्तु में विशेष विशेष कार्योत्पादन की शक्ति निहित है, इसलिए हर कारण से हर कार्य की उत्पत्ति हो नहीं सकती। इसपर आपत्ति की जाती है कि-कार्य की तरह उत्पत्ति की भी उत्पत्ति हो सकती है या नहीं? स्वीकार करने पर उस उत्पत्ति का क्रम प्रवाह सदा चलता रहेगा तो सृष्टि क्रम में अनवस्था होगी। इसलिए उत्पत्ति से उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती, परंतु अभिव्यक्ति के पूर्व उमका अस्तित्व स्वीकारना होगा। सत् से उत्पत्ति को अभिव्यक्ति मात्र मानकर प्रकारांतर से द्वैतवादी भी सत्कार्यवाद को स्वीकारते हैं] हम लोग (सत्कार्यवादी) तो अवस्थाओंकी पृथक् रूप से प्रतीति और कार्यव्यवहार की योग्यता स्वीकारते नहीं, इसलिए अवस्थित वस्तु की ही उत्पत्ति आदि स्वीकारते हैं, हमारा मत ही निर्दोष है।

कपालित्वचूर्णत्वापिडत्वावस्था प्रहाणेन घटत्वावस्थादेकत्ववस्था प्रहाणेन बहुत्वावस्था तत्प्रहाणेनैकत्वावस्थाचेति न कश्चिद् विरोधः।

घटोत्पत्ति की पूर्ववत्ती, कपालचूर्ण और पिडरूप तीन अवस्थाओं के समाप्त हो जाने पर ही जैसे घटाकार अवस्था विशेष होती है वैसे ही उस घटाकार अवस्था को बिगाड़ कर उसे अनेक आकृतियों में परिवर्तित कर सकते हैं, और पुनः एकाकार अवस्था में किया जा सकता है। इसलिए हमारे मत में कोई विरुद्धता नहीं है।

तथा—“सदेवसोम्येदमग्रग्रासीत् एकमेवाद्वितीयम् “इति संदे-
वेदम् इदानीं विभक्तनामरूपत्वेन नानारूपं जगत्, अग्रेनामरूपविभागा-

भावेन एकमेवासीत्, सर्वशक्तित्वेन अघिष्ठात्रन्तरासहतया अद्वितीयं चेत्यनन्यत्वमेवौपपादितम् । तथा—“तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय” इति स्रक्ष्यमाणतेजःप्रभृति विविध विचित्रस्थिरत्रसरूप जगत्वेनात्मनो बहुभवनं संकल्प्य जगत् सर्गाभिधानात् कार्यभूतस्यजगतः परमकारणात् परस्माद् ब्रह्माणोऽनन्यत्वमवसीयते ।

जैसे कि— ‘हे सौम्य! यह सब सृष्टि के पूर्व एक अद्वितीय सत् ही था “इत्यादि श्रुति में, सत्स्वरूप होते भी, वत्तमान काल में नामरूप में विभक्त, अनेक आकारों वाला यह जगत्, सृष्टि के पूर्व नामरूप के भेदों से रहित एक ही सर्वशक्ति संपन्न था, इसलिए इसके परिचालन के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं थी, वही एक अद्वितीय था, ऐसा अनन्यता का प्रतिपादन किया गया । तथा—“उसने संकल्प किया कि-अनेक होकर जन्म लूँ” इत्यादि सृष्ट्यर्थ तेज आदि विविध स्थावर जंगमाकार में, स्वयं को अनेक रूपों की अभिव्यक्ति के संकल्प और उसके अनुसार सृष्टि कार्य के, उपदेश से ज्ञात होता है कि-कार्य स्वरूप यह जगत्, परमात्मा से अभिन्न है ।

सच्छब्दवाच्यस्य परस्य ब्रह्माणः सर्वज्ञस्यसत्यसंकल्पस्य निश्चयस्यैव सदेवेदमिति निर्देशहिजगत्वम्, सच्छब्दवाच्यस्यैव जगतो नामरूपविभागाभावेनैकत्वमधिष्ठात्रन्तरनिरपेक्षत्वम्, पुनरपि तस्यैव विचित्रस्थिर त्रसरूपजगत्वेन बहुभवन संकल्परूपेक्षणम्, यथा संकल्पं सर्गश्चकयमुपपद्यत इत्याशंक्याह—“सैयं देवतैक्षत हुन्ताहमिमास्त्रिस्रो-देवताः अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपेव्याकरवाणीतित्तासां त्रिवृतं त्रिवृतम् “इत्यादि “तिस्रो देवताः “इति दृत्स्नमचिद्वस्तु निर्दिश्य स्वात्मक जीवानुप्रवेशेनैतद्विचित्रनामरूपभाक्करवाणीत्युक्तम् । अनेन जीवेनात्मना—मदात्मकजीवेन आत्मतयाऽनुप्रविश्यैतद्विचित्रनामरूपभाक्करवाणीत्यर्थः । स्वात्मनो जीवस्य चात्मतयाऽनुप्रवेशकृतं नामरूपभाक्त्वमित्युक्तं भवति । “यत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् तदनुप्रविश्या सच्चत्यच्चाभवत्” इति श्रुत्यन्तरेण स्पष्टं सजीवं

जगत्परेण ब्रह्मणा आत्मतयाऽनुप्रविष्टम् इति तदेतत्कार्यावस्थस्य च
कारणावस्थस्य च चिदचिद् वस्तुनः स्थूलस्य सूक्ष्मस्य च परब्रह्म
शरीरत्वम्, परस्य च ब्रह्मण आन्मत्वम्, अन्तर्यामिब्रह्मणादियु सिद्धं
स्मारितम् । अनेन पूर्वोक्ताशंका निरस्ता ।

सर्वज्ञ, सत्यसंकल्प, सर्वदोष रहित, सत्पदार्थ परब्रह्म की ही "यह
सत् स्वरूप ही था "इत्यादि निर्दिष्ट जगद् रूपता नया सत् पदवाच्य उस
जगत् की नामरूप विभाग रहित एकता, अत्यपरिचालक निरपेक्षता, पुनः
उसी का विचित्र स्थावरजंगमात्मक जगदाकार रूप में बहुत होने का
संकल्प तथा संकल्पानुसार सृष्टि इत्यादि कैसे संभव हैं? इत्यादि शंका पर
ही कहा गया कि-"उस देवता ने विचार किया कि-मैं इस जीवात्मा में
प्रवेश करके इन तीनों देवताओं को नामरूप से प्रकट करूँगा और उनको
भी तीन तीन अर्थात् भूतयात्मक करूँगा "इसमें "तीनों देवों" इस पद से
समस्त चिद्अचिद् वस्तु का निर्देश करके, स्वात्मक जीवानु प्रवेश से इसे
विचित्रनाम रूपवाला करूँगा, तथा "अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य" से,
सत्स्वरूप जीवरूप आत्मा के अभ्यन्तर में प्रवेश पूर्वक इस जगत् को
विचित्र नाम रूपवाला करूँगा; ऐसा बतलाया गया है । ऐसी ही दूसरी
श्रुति "उसकी सृष्टि करके, उसी में प्रविष्ट हो गए, और प्रविष्ट होकर
प्रत्यक्ष और परोक्ष हुए "इत्यादि में, स्पष्ट रूप से शरीर रूपी जगत् में
परब्रह्म का आत्मरूप से प्रवेश बतलाया गया है । इससे ज्ञात होता है कि-
कार्यावस्थ और कारणावस्थ, जड़ और चेतन, स्थूल और सूक्ष्म, सब कुछ
परमात्मा का ही शरीर है, परब्रह्म की और इस जगत् की ऐसी आत्मीय-
ता, अन्तर्यामी ब्रह्मण में प्रसिद्ध है । इत्यादि से उक्त शंका निवृत्त हो गई ।

अचिद्वस्तुनि सजीवे ब्रह्मण्यात्मतयाऽवास्यते नामरूपव्याकरण
वचभात् चिदचिद् वस्तुशरीरकं ब्रह्मैव जगच्छब्दवाच्यमिति "सदेवेद-
मप्रएकमेवासीत् "इत्यादि सर्वमुपन्नतरम् शरीरभूतचिदचिद्वस्तुगताः
सर्वे विकारारचापुरुषार्याऽचेति ब्रह्मणो निखद्यत्वं कल्याणगुणाकर्त्वं
इत्यस्मितम् । तस्मादेतत्-"अधिकं तु भेदनिर्देशात् "इत्यनन्तरमेव
तथा

वेदम इदानो वि०

परमात्मा ने आत्मा रूप से स्थित होकर, जडचेतन वस्तुमय जगत् को नाम रूप में अभिव्यक्त किया, इसका वास्तविक अर्थ तो यह हुआ कि-जडचेतनवस्तुमय शरीर वाले ब्रह्म ही जगत् पदवाच्य हैं। "मृट्टि से पूर्व जगत् एक सत् स्वरूप ही था ' इत्यादि से यह बात भली भाँति सिद्ध हो जाती है। शरीर रूप जडचेतन वस्तुगत सारे विकाश और अपुरुषार्थ, परब्रह्म की निर्दोषता और कल्याणगुणाकरता को अव्यवस्थित नहीं कर पाते, इसी बात को-"अधिकं तु भेद निर्देदशात् "सूत्र में कहेगे।

तथा-"ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् "इति कृत्स्नस्य चेतनाचेतनस्य ब्रह्मतादात्म्यमुपदिशति। तदेव च "तत्त्वमसि" इति निगमयति तथा प्रकरणान्तरेषु अपि वाक्येषु-"सर्वं खल्विदं ब्रह्म"- "आत्मनि -खल्वरे दृष्टे श्रुतेमते विज्ञात इदं सर्वं विदितम्"- "इदं सर्वं यदयमात्मा"- ब्रह्मैवेदं सर्वम्"- "आत्मैवेदं सर्वम्" इत्यनन्यत्वं प्रतीयते, तथाऽन्यत्वं च निषिध्यते। "सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद" "नेह नानास्ति- किञ्चन अमृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" इति तथा-"यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति, यत्र त्वस्य सर्वं मात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्? 'इत्यविदिषो द्वैतदर्शनं विदुषश्चाद्वैतदर्शनं प्रतिपादयन् अनन्यत्वमेव तत्त्वमिति प्रतिपादयति। तदेवमारंभणशब्दादिभ्यो जगतः परमकारणात् परस्माद् ब्रह्मणोऽन्यत्वमुपपाद्यते।

तथा-"यह सारा जगत् इस ब्रह्म का आत्मीय है" इस श्रुति में समस्त चिदअचिद् की ब्रह्मात्मकता का उपदेश दिया गया है "तुम वही हो" इस वाक्य में भी उसी को प्रकारान्तर से बतलाया गया है। इसी प्रकार अन्य प्रकरणों में भी- 'यह सब कुछ ब्रह्म है-आत्मा के दृष्ट, श्रुत चिंतित हो जाने से ही सारे जगत् का ज्ञान हो जाता है-यह जो कुछ है वह आत्मा ही है-यह सब कुछ ब्रह्म ही है-यह सब आत्मा ही है" इत्यादि वाक्यों से, ब्रह्म और जगत् की अनन्यता और द्वैतका निषेध किया गया है। "जो लोग सब पदार्थों को आत्मा से भिन्न मानते हैं- 'सारे पदार्थों से वे वंचित रह जाते हैं"- इस जगत् में कुछ भी भिन्न नहीं है, जो इसमें भिन्नता देखते हैं वे बार बार मरते रहते हैं"- जब तक द्वैतभाव रहता है तभी तक दूसरा

दोखता है, जब सब कुछ आत्मरूप हो जाता है, तब किससे किसको देखा जा सकता है? "इत्यादि वाक्यों में अज्ञानियों के द्वैतभाव और ज्ञानियों के अद्वैतभाव का प्रतिपादन किया गया है। यथा अद्वैत को ही तत्त्व बतलाया गया है इसी प्रकार आरंभण शब्द आदि से—परमकारण पर ब्रह्म और जगत् का उपपादान किया गया है।

अत्रेदं तत्त्वं—चिदचिद्वस्तुशरीरतया तत्प्रकार ब्रह्मैवसर्वंदा सर्वशब्दाभिधेयं, तत्कदाचित् स्वस्मात् शरीरतयाऽपि पृथग्व्यपदेशानहंसूक्ष्मदशापन्नचिदचिद्वस्तुशरीरम् । तत्करणावस्थं ब्रह्म, कदाचिच्च विभक्तनामरूपव्यवहारार्हस्थूलदशापन्नचिदचिद् वस्तुशरीरम् तच्च कार्यावस्थमिति कारणात् परस्माद् ब्रह्मणः कार्यरूपं जगदन्यत् शरीरभूतचिदचिद्वस्तुनः शरीरिणो ब्रह्मणश्चकारणावस्थायां-कार्यावस्थायांश्च श्रुतिशतसिद्धया स्वभावव्यवस्थया गुणदोषव्यवस्थया च "न तु दृष्टान्तभावात् "इत्यत्रोक्त ।

उक्त कथन का तत्त्व यह है कि—जड़चेतन सभी वस्तु ब्रह्म का शरीर है, इसलिए तद्विशिष्ट ब्रह्म हो हर जगह "सर्व"शब्द से प्रतिपाद्य हैं। सर्व शब्दवाच्य वह ब्रह्म ही, कभी अपने ही शरीर रूप, पृथक् न कहने योग्य, सूक्ष्मदशा को प्राप्त जड़चेतन शरीर वाला होकर कारणावस्थ ब्रह्म कहलाता है, और कभी विभक्त नामरूपों में व्यवहार्य, स्थूल दशा के प्राप्त जड़चेतन वस्तु शरीर का होकर कार्यावस्थ ब्रह्म कहलाता है। इसलिए कारणभूत परब्रह्म से उसी का कार्यभूत यह जगत भिन्न नहीं है। जड़चेतन वस्तुमय शरीर के शरीरी ब्रह्म के, कारण कार्यरूप और अवस्थागत स्वभावभेद तथा गुण दोष विभाग व्यवस्था आदि, जो कि सैकड़ों श्रुतियों से सम्मत है, उन सबका विवेचन "न तु दृष्टान्तभावात्" सूत्र में किया गया है।

ये तु कार्यकारणयोरनन्यत्वं कार्यस्य मिथ्यात्वाश्रयेण वर्णयन्ति, न तेषां कार्यकारणयोरनन्यत्वं सिद्ध्यति, सत्यमिथ्यायोरैक्यानुपपत्तेः, तथासति ब्रह्मणो मिथ्यात्वं जगतः सत्यत्वंवास्यात् ।

जो लोग (शांकर) कार्यरूप जगत को मिथ्या मानकर कार्यकारण की अनन्यता बतलाते हैं, वस्तुतः उसके अनुसार तो कार्य कारण अनन्यता सिद्ध ही नहीं हो सकती, सत्य और मिथ्या की एकता संभव ही कैसे है? यदि उनकी एकता मानने का प्रयास करेंगे तो ब्रह्म में मिथ्यात्व तथा जगत् में सत्यता हो जावेगी ।

ये च कार्यमपि पारमार्थिकमभ्युपयंतएव जीवब्रह्मणोरौपाधिक-मनन्यत्वम्, स्वाभाविकंचानन्यत्वम्, अचिद् ब्रह्मणोऽस्तु द्वयमपि स्वाभाविकामिति वदन्ति, तेषामुपाधिब्रह्मव्यतिरिक्तवस्त्वंतरा-भावान्निरवयवस्याखंडितस्य ब्रह्मणएवोपाधिसंबधात्ब्रह्मस्वरूपस्यैव हेयाकारपरिणामात् शक्तिपरिणामाभ्युपगमे शक्तिब्रह्मणोरनन्यत्वा-च्च जीवब्रह्मणोः कर्मवश्यत्वापहतपाप्मत्वादिव्यवस्थावादिन्योऽचिद्-ब्रह्मणोश्च परिणामवदिन्यः श्रुतयो व्याकुलीभवेयुः

और जो लोग (भास्कराचार्य आदि) कार्य की पारमार्थिकता स्वी-कारते हुए भी, जीव ब्रह्म के भेद को औपाधिक तथा अभेद को स्वाभाविक कहते हैं, उनके मतानुसार, उपाधि और ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य के न होने से, अखंड निरवयव ब्रह्म के साथ, उपाधि संबंध कल्पित हो जाता है, जिसके फलस्वरूप, ब्रह्म की ही हेय जगतके रूप में परिणिति होती है । ब्रह्म और शक्ति का परिणाम स्वीकारने पर भी, शक्ति और शक्तिमान ब्रह्म जब अनन्य हैं; तब जीव की कर्माधीनता, ब्रह्म की निष्पाप स्वभावता आदि व्यवस्था तथा अचेतन का परिणाम और चेतन का अपरिणाम बतलाने वाली श्रुतियाँ व्याकुल हो जावेंगी ।

ये पुनः निरस्तनिखिल भोक्तृत्वादिविकल्पविप्लवं सर्वशक्ति-युक्तं सन्मात्रद्रव्यमेव कारणं ब्रह्म, तच्च प्रलयवेलायां शांताशेष सुख दुःखानुभवविशेषं स्वप्रकाशमपि सुसात्मवदचिद्विलक्षणमवस्थितम्, सृष्टिवेलायां मृत्तिका द्रव्यमिव घटशरावादिरूपं, समुद्र इव च फेन-तरंग बुदबुदादिरूपो भोक्तृभोग्यनियंतृरूपेणांशत्रयावस्यमवतिष्ठते, अतो भोक्तृभोग्यनियंतृत्वानि तत्प्रयुक्तारचगुणदोषाः शरावत्वघटत्व-

मणिकत्ववत्तदमतकार्यभेदवच्चव्यतिष्ठन्ते । भोक्तृभोग्यनियंतृणां सदात्मनैकत्वं च घटशरावमणिकादीनां मृदात्मनैकत्ववदुपपद्यते, अतः सन्मात्रद्रव्यमेव सर्वावस्थावस्थितमिति ब्रह्मणोऽनन्यज्जगदातिष्ठन्ते, तेषां सकलश्रुतिस्मृति इतिहासपुराणन्याय विरोधः, सर्वाहि-श्रुतयः सस्मृतीतिहासपुराणाः सर्वेश्वरं सदैव सर्वज्ञं सर्वशक्ति सत्यसंकल्पं निखद्यं देशकालानवच्छिन्नानवधिकातिशयानन्दं परमकारणं ब्रह्म प्रतिदयन्ति, न पुनरीश्वरादपि परमीश्वरांशिसन्मात्रम् ।

श्रीर जो लोग (श्री निवासादि) भोक्तृत्व आदि समस्त विकल्प वाधाओं से रहित, सर्वशक्तिसंपन्न, कारणीभूत शुद्ध सत् स्वभाव ब्रह्म को प्रलयकाल में सब प्रकार की सुखदुःखानुभूतियों से शून्य स्वप्रकाश बतलाकर सुप्त आत्मा की तरह स्थित और अचेतन से पृथक् बतलाते हैं तथा सृष्टि के समय मिट्टी जैसे घट प्याला आदि रूपों में तथा समुद्र जैसे फेन तरंग आदि रूपों में रहता है वैसे ही वह ब्रह्म, भोक्तृ भोग्य और नियंता रूप तीन अंशावस्थाओं में रहते हैं घट प्याला आदि विकृत पदार्थों की विकृति की तरह, भोक्तृता, भोग्यता और नियंतृता भी अपने गुणदोषों सहित कार्यभेद भी उनमें स्थित रहते हैं । घट प्याला आदि विकृत पदार्थ जैसे मृदात्मक है, वैसे ही भोक्तृता, भोग्य और नियंता आदि भी सदात्मक होने से एक हैं, इस प्रकार एकमात्र द्रव्यरूपी सत् पदार्थ ही अनेक अवस्थाओं में अवस्थान करता है यही ब्रह्म और जगत की अनन्यता का रूप है, ऐसा बतलाते हैं । उनका यह मत संपूर्ण श्रुति स्मृति इतिहास पुराण आदि से विशुद्धमत है सारी श्रुतियाँ स्मृति इतिहास पुराणादि, सर्वेश्वर, सत् स्वरूप, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिसंपन्न सत्यसंकल्प, निखद्य, देश काल आदि से अनवच्छिन्न, अतिशय आनंदमय परमकारण ब्रह्म का ही प्रतिपादन करते हैं, परमेश्वर के भिन्न अंश ईश्वर आदि का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता ।

तथाहि— सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्—तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति—ब्रह्म वा इदमग्रआसीत् एकमेव तदेकं सन्नव्य भवततच्छेषो रूपमत्यसृजतक्षत्रं यान्येतानि देवक्षत्राणींद्रो बरुणः सोमो रुद्रः पजंन्योयमो मृत्युरीशान् इति—आत्मा वा इदमेक

एकाग्रभासीत् नान्यत् किञ्चनमिषत् स ऐक्षत लोकान्नु सृजा इति"—
 एको ह वै नारायण आसीत् न ब्रह्मा नेशानोनेमे द्यावापृथ्वी न
 नक्षत्राणिनापोनाग्निर्नसोमो न सूर्यः, स एकाकी न रमेत तस्य
 ध्यानान्तस्थस्य" इत्यादिभिः परमकारणं सर्वेश्वरेश्वरो नारायण
 एवेत्यवगम्यते ।

तथा—"हे सौम्य! सृष्टि से पूर्व यह जगत एक अद्वितीय सत् था"
 "उन्होंने विचारा कि अनेक होकर प्रकटूँ"—यह जगत पहिले एक ब्रह्म
 स्वरूप ही था"—कार्य साधन में अपने को अकेला समझकर उन्होंने श्रेय
 के साधन क्षत्रिय की रचना की, ये सारे देवता क्षत्रिय हैं जो कि—इन्द्र—
 वरुण—यम—रुद्र पर्जन्य—सोम और ईशान नाम से प्रसिद्ध हैं"—सृष्टि पूर्व
 जगत एक आत्म स्वरूप ही था, स्पन्दमान कुछ भी नहीं था, उन्होंने
 संकल्प किया कि लोक समूह की सृष्टि करूँगा"—एक नारायण ही थे, ब्रह्म,
 ईशान, द्यु पृथ्वी, नक्षत्र—जल-अग्नि-सोम सूर्य आदि कुछ न थे, वे एकाकी
 होने का अनुभव ही नहीं करते थे, वह उस समय समाधिस्थ थे "इत्यादि
 वाक्यों से ज्ञात होता है कि एकमात्र सर्वेश्वरेश्वर परम कारण नारायण हैं ।

सद् ब्रह्मात्मशब्दा हि तुल्यप्रकरणस्थाः तत्तुल्यप्रकरणस्थेन
 नारायणशब्देन विशेषिताः तमेवावगमयन्ति । "तमोश्वराणां परमं
 महेश्वरम्" सकारणं कारणाधिपाधियो न चास्यकश्चिद् जनिता न
 चाधिपः" इतीश्वरस्यैव कारणत्वं श्रूयते । स्मृतिरपिमानवो" ततः
 स्वयंभूभंगवान्" इति प्रकृत्य—"सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्वि-
 विधाः प्रजाः अह एव ससर्जादी तासुवीर्यमपासृजत् "इति ।
 इतिहासपुराणान्यपि पुष्पोत्तमं एव परमकारणमभिदधति
 —"नारायणोजगन्मूर्तिरनन्तात्मा सनातनः, स सिसृक्षुः सहस्रांशद्
 असृजत् पुष्पान् द्विधा, विष्णोः सकाशादुदभूतं जगत्त्रैव च स्थितम्
 "इत्यादिषु ।

सत् ब्रह्म और आत्मा शब्द, एक से ही प्रकरणों में, नारायण शब्द
 के ही विशेषण के रूप में प्रयोग किये गए हैं। "वह ईश्वरों के भी परम

महान ईश्वर तथा देवताओं के परमदेव हैं" वही परम कारण इंद्रियों के स्वामी, जीवों के भी स्वामी है, उनका कोई जनक नहीं है स्वामी ,,इत्यादि में भी ईश्वर को परमकारणता बतलाई गई है। तथा मनुस्मृति में भी-"वह स्वयंभूभगवान्" इत्यादि उपक्रम करते हुए "उन स्वयंभू ने प्रजासृष्टि की इच्छा से, सर्वप्रथम जल की सृष्टि की, उसमें अपने वीर्य का निक्षेप किया" इसी प्रकार इतिहासपुराणों में भी पुरुषोत्तम को ही परमकारण बनलाया गया है—“अनन्तआत्मा, सनातन जगत मूर्ति नारायण ने जगत्सृष्टि की इच्छा से अपने हजारवें हिस्से के एक हिस्से से द्विविध (स्थावरजंगम) जीवों की सृष्टि की "विष्णु से ही उत्पन्न यह जगत उन्हीं में स्थिर है। "इत्यादि,

न चेश्वर सन्मात्रमेवेति वक्तुं शक्यम्, तस्य तदंशत्वाभ्युपगमात् सविशेषत्वाच्च । न च तस्य ज्ञानानंदाद्यनंतकल्याणगुणयोगः कादाचित्क इति वक्तुंशक्यते, तेषां स्वाभाविकत्वेन सदातनत्वात् "पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" यः सर्वज्ञः सर्ववित् इत्यादिभ्यः । ज्ञानानंदादिशक्तियोग एवास्य स्वाभाविक इतिमावोचः । "शक्तिः स्वाभाविकी, ज्ञानबलक्रिया च स्वाभाविकी, इति पृथङ् निर्देशात् लक्षणाप्रसंगाच्च ।

वह ईश्वर एक मात्र सत्स्वरूप ही है, ऐसा भी नहीं कह सकते उसकी अंशविभूतियाँ भी हैं और वह सगुण भी हैं। उनका जो ज्ञान आनंद आदि कल्याणमय गुणों से संबंध है वह भी कादाचित्क (कभी रहता है कभी नहीं रहता) है, ऐसा भी नहीं कह सकते, वे आनंद आदि तो उनके स्वाभाविक होने से सनातन गुण हैं। जैसा कि—“उसकी स्वभाविकी पराशक्ति ज्ञान बल क्रिया आदि विविध रूपों की सुनी जाती है "वह सर्वज्ञसर्वविद है "इत्यादि वाक्यों से ज्ञात होता है। केवल ज्ञान और आनंद आदि शक्ति योग से ही उसमें स्वाभाविकी शक्ति हो सो बात नहीं है अपितु ज्ञान बल क्रिया आदि की पृथक् रूप से स्वाभाविकता बतलाई गई है। यदि इससे भिन्न कुछ अर्थ करेंगे तो वह लक्षणा से ही कर सकेंगे।

न च पाचकादिवत् "सर्वज्ञः" इत्यादिषु शक्तिमात्रेकत् प्रत्ययइतिवक्तुं शक्यम्, कृत् प्रत्ययमात्रस्यराकावस्मरणात्-

“शक्तौ हस्तिकवाटयोः इत्यादिषु केषांचिदेवकृतप्रत्ययानां शक्ति विषयत्वस्मरणात् । पाचकादिषुत्वगत्यालक्षणासमाश्रियते ।

यहाँ “पाचक” आदि शब्दों की तरह “सर्वज्ञ” इत्यादि शब्दों में केवल शक्तिमान अर्थ के द्योतन के लिए ही कृत प्रत्यय किया गया हो ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि—समस्त कृत प्रत्यय शक्ति अर्थ में ही नहीं होता है । “हस्ति और कवाट शब्द के पूर्ववर्ती होने पर ही शक्ति अर्थ में हन् घातु के बाद ढक् प्रत्यय होता है” इस व्याकरणीय नियम के अनुसार प्रयोग विशेष में ही, कृत प्रत्यय का, शक्ति विषयक प्रयोग बतलाया गया है । पाचक आदि शब्दों में तो कोई दूसरा मार्ग ही नहीं है इसलिए लक्षणा का आश्रय लेकर अर्थ किया जाता है [पाचक का लक्षणा द्वारा “पाकानुकूल शक्ति संपन्न” अर्थ किया जाता है]

किं च ईश्वरस्य तदंशविशेषत्वात्तस्य चांशित्वे तंरगात्समुद्र-
स्येवांशादंशिनोऽधिकत्वात् “तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्” न तत्स-
मश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते “इत्यादीनीश्वरविषयाणि परः शतानि
वचांसि बाध्येरन् ।”

यदि ईश्वर उस सत् का अंश विशेष है और वह उसके अंशों हैं तो अंश रूप तरंग से अंशीरूप समुद्र की तरह मानने पर “वह ईश्वरों के भी परमईश्वर हैं, उनके समान या उनसे अधिक कोई नहीं है” इत्यादि सैकड़ों ईश्वरविषयक वाक्यों में बाधा उपस्थित होगी (अर्थात् ईश्वर को तो श्रेष्ठ कहा गया है, तुम उसे अश बतलाकर सामान्य सिद्ध करते हो, श्री कृष्ण को ब्रह्म बतलाकर, नारायण ईश्वर को अश बतलाते हो, यही श्रुति वाक्यों में बाधा है)

किं च सन्मात्रस्य सर्वात्मकत्वे, अंशित्वे च ईश्वरस्य तदंशवि-
शेषत्वात्तस्य सर्वात्मकत्वांशित्वोपदेशाव्याहृत्ये रन् । नहिमणिकात्मक-
त्वं तदंशत्वं वा घटशरावादेः । स्वांशेषु सर्वेषु सन्मात्रस्य पूर्णत्वेने-
श्वरांशेषु त पूर्णत्वात् तदात्मकानि तदंशाश्चेतराणि वस्तूनीतिचेत्त,

घटेऽपि सन्मात्रस्य पूर्णत्वादीश्वरस्यापि घटात्मकत्व तदंशत्व प्रसंगात् ।

यह कहते हो कि—एक मात्र सत्पदार्थ ही अपने समस्त अंशों में परिपूर्ण रहते हैं, उसके अंश ईश्वर में भी उसकी पूर्णता विद्यमान है इसलिए सारी वस्तुएं तदात्मक और तदंशभूत (ईश्वरात्मक और ईश्वरांश) कही गई हैं। ऐसा नहीं कह सकते, ऐसा कहने से तो यह सिद्ध होता है कि—घट भी सत् का अंश और ईश्वर भी सत् का अंश दोनों एक से ही हैं; घट भी सदात्मक होने से परिपूर्ण है तथा ईश्वर भी सदात्मक है इसलिए दोनों अभिन्न हैं, तो यह समझना चाहिए कि ईश्वर घटात्मक भी है और घट का अंश भी है।

न च सन्मात्रस्य “घटोऽस्ति “पटोऽस्ति” इति वस्तुगततयाऽवगतस्यद्रव्यत्वंकारणत्वंवोपपद्यते। व्यवहारयोग्यता हि सत्त्वम् । विरोधि व्यवहार योग्यता तद् व्यवहार योग्यस्यासत्त्वम् । द्रव्यमेव सदित्यभ्युपगमे क्रियादीनामसत्त्व प्रसंगः । क्रियादिषु काशकुशावलंबनेऽपि सर्वत्रैकरूपा सत्ता दुरूपपादा । सदात्मना च सर्वस्याभिन्नत्वे सर्वज्ञत्वेन सर्वस्वभावप्रतिसंधानात् सर्वगुणदोषसंकर प्रसंगश्च पूर्वमेवोक्तः घटोऽयथोक्त प्रकारमेवानन्यत्वम् ।

सद् वस्तु की “घट है” पट है “ऐसी वस्तु धर्म संबंधी द्रव्यता और कारणता भी साध्य नहीं है। सत् का अर्थ होता है, जो वस्तु व्यवहार योग्य हो, जिसमें व्यवहार योग्यता का अभाव हो वही असत् है केवल द्रव्य को ही सत् मानने से उसके सारे कार्य असत् हो जावेंगे [अर्थात् बिना व्यवहार योग्य सद् वस्तु से उत्पन्न सारी वस्तुएं व्यवहार योग्यता के बिना असत् ही हैं] क्रिया आदि में यदि षोड़ा बहुत सत् का आश्रय स्वीकारें तो भी, सर्वत्र अद्वैत का प्रतिपादन करना संभव नहीं हो सकता सब पदार्थों को सत् स्वरूप से यदि अभिन्न मानेंगे तो, सर्वज्ञ संबंधी जो गुण दोष आदि स्वभावों की पर्यालोचना की जाती है, वह नहीं कर पावेंगे। जैसा हम पहिले अनन्यता का प्रतिपादन कर चुके हैं वही समीचीन है।

अथोच्येत्—एकस्यैवावस्थान्तरयोगेऽपि बुद्धिशब्दान्तरादयो बाल-
त्व युवत्वादिषु दृश्यन्ते, मृदादाहिरण्यादिषु द्रव्यान्तरत्वेऽपि दृश्यन्ते,
तत्र मृद घटादिषु कार्यकारणेषु बुद्धिशब्दान्तरादयोऽवस्थानिवन्धना
एवेति कुतो निर्णयिते ? इति । तत्रोत्तरम्—

प्रश्न होता है कि—एक ही पदार्थ की विभिन्न अवस्थाओं के स्वीकारने
पर जैसे बालत्व युवत्व आदि की प्रतीति और तद्बोधक शब्दों का प्रभेद
देखा जाता है, वैसे ही मिट्टी लकड़ी सोना आदि द्रव्यों की पृथक् सत्ता भी
देखी जाती है । पर मिट्टी, घट आदि कारण कार्यों में, शब्द और प्रतीति
के अनुसार, किस प्रकार का अवस्था भेद माना जावेगा ? इसी का
उत्तर देते हैं -

भावे चोपलब्धेः ।२।१।१६॥

कुण्डलादि कार्यं सदभावे च कारणभूतहिरण्यस्योपलब्धेः “इदं
कुण्डलं हिरण्यम्” इति हिरण्यत्वेन प्रत्यभिज्ञानादित्यर्थः । न चैवं
हिरण्यादिषु द्रव्यान्तरेषु मृदादय उपलभ्यन्ते । अतोवालयुवादिवत्
कारणभूतमेव द्रव्यमवस्थान्तरापन्नं कार्यमिति गीयते, द्रव्यान्तरवा-
दिनऽप्यभ्युपेतनावस्थान्तरयोगेन बुद्धिशब्दान्तरादिषूपपन्नेष्वनुपलब्ध-
द्रव्यान्तर कल्पनाऽनुपपत्तेश्च ।

कुण्डल आदि कार्यों में, कारणभूत स्वर्ण की सत्ता रहती है, तभी “यह
कुण्डल स्वर्ण का है” ऐसी प्रतीति होती है, ऐसी उपलब्धि में स्वर्ण को
मिट्टीतो कहा नहीं जा सकता, अर्थात् एक द्रव्य में अन्य की उपलब्धि तो
होती नहीं । इसी प्रकार, कारणभूत वस्तु बाल युवा आदि अवस्थांतरों
को प्राप्त होकर भी, उनमें निहित रहता है । जो लोग, द्रव्यान्तरवाद
मानते हैं उनके मत से शब्द और प्रतीति के प्रभेद मानने पर भी, अनुप-
लब्ध अन्य द्रव्य की कल्पना तो की नहीं जा सकती (अर्थात् एक ही द्रव्य
के अवस्थांतर रूप में दूसरे किसी द्रव्य की प्रतीति तो हो नहीं सकती)

न च जाति निवन्धनेयं प्रत्यभिज्ञा, जात्याश्रयभूतद्रव्यांतरानुप-
लब्धेः । एकमेव हेमजातीयं द्रव्यं कार्यकारणोभयावस्यं दृश्यते । न

च द्रव्यभेदे समवायिकारणानुवृत्त्या कार्ये प्रतिसंधानमिति वक्तुं शक्यम्, द्रव्यान्तरत्वे सत्याश्रयानुवृत्तिमात्रेण तदाश्रित द्रव्यांतरे प्रतिसंधानानुपपत्तेः । गोमयादिकार्ये वृश्चिकादौ गोमयादि प्रतिसंधानं न दृश्यत इति चेन्न, तत्राप्याद्यकारणभूतपृथ्वीद्रव्यप्रत्यभिज्ञानात् । अग्निकार्येधूमे अग्निप्रत्यभिज्ञानं दृश्यत इति चेत्, भवतु न तत्र प्रत्यभिज्ञानं, तथापि न दोषः अग्नेर्निमित्तकारणमात्रत्वात् । अग्नि-संयुक्तादेन्धनकार्यमेव धूमः । अतः कार्यभावे च तदेवेदमित्युपलब्धे-वुर्द्विशब्दान्तरादयोऽवस्थाभेदमात्र निबन्धनाः, इत्यवगम्यते । तस्माद् कारणादन्यत्कार्यम् ।

द्रव्य की जाति संबंधी प्रतीति से, उस जाति से आश्रित किसी अन्य द्रव्य की उपलब्धि भी नहीं हो सकती (अर्थात् सुवर्ण में सुवर्ण की ही प्रतीति हो सकती है मिट्टी की नहीं) एक ही सुवर्ण जातीय द्रव्य में कार्य-कारण रूप दो अवस्थायें देखी जाती हैं, एक जाति कारण हो, दूसरी जाति कार्य हो, ऐसा तो देखने में आता नहीं । भिन्न द्रव्यों का समवायिकारण एक है इसलिए कार्य का संधान एक सा ही हो, ऐसा कोई निश्चित नहीं है । यदि वस्तुतः ही द्रव्यभेद हो तो, आश्रयभूत समवायिकारण की प्रवृत्ति से पृथक् तदाश्रित द्रव्य में अभेद प्रतीति हो नहीं सकती यदि कहें कि-गोबर से होने वाले कीड़ों में, गोबर के रूप की प्रतीति नहीं होती तो भाई ! गोबर की भी कारण पृथ्वी के रूप की प्रतीति तो होती है [हैं तो वे पार्थिव ही] यदि कहें कि--अग्नि के कार्य धुएँ में तो अग्नि की प्रतीति होती नहीं ? ठीक है न हो उसमें दोष ही क्या है, अग्नि तो निमित्त कारण मात्र ही है, धुआं तो गीली लकड़ी की अग्नि से होता है, उसमें उसीकी गंध भी आती है । इससे निश्चित होता है कि-कार्यरूप में "उसी उपादान का यह कार्य है" ऐसी निश्चित प्रतीति, बुद्धि और शब्द भेद से अवस्थांतर में ही होती है, द्रव्यांतर में नहीं । इससे सिद्ध होता है कि-कारण से कार्य अभिन्न है ।

इतश्च—इसलिए भी कारण से कार्य अभिन्न है कि—

सत्त्वाच्चापरस्य ।२।१।१७॥

अपरस्य कार्यस्य सत्त्वाच्च कारणात् कार्यस्यानन्यत्वम् । लोकवेदयोर्हि कार्यमेव कारणतया व्यपदिश्यते, यथालोके "सर्वमिदं घटशरावादिकं पूर्वाह्णे मृत्तिकैवासीत्" इति । वेदे च — "सदेव सोभ्येदभग्रआसीत् ।"

कार्य में कारण की सत्ता रहती है, इसलिए कारण और कार्य की अनन्यता निश्चित है, लोक और वेद में कार्य को ही कारण रूप से निर्देश किया गया है—जैसे कि लोक में कहा जाता है कि —"ये घड़े प्याले आदि सब सबेरे मिट्टी ही तो थे" तथा वेद में जैसे—"सृष्टि के पूर्व ये सारे पदार्थ सत् ही तो थे ।" इत्यादि ।

असद्व्यपदेशान्नेतिचेन्नधर्मान्तरेण वाक्याशेषाद्युक्तेः शब्दांतराच्च ।

।२।१।१८

यदुक्तं कारणे कार्यस्य सत्त्वं लोकवेदाभ्यामवगम्यत, इति, तदयुक्तम्, असद् व्यपदेशात् "असदेवेदमग्रआसीत्" "असद् वा इदमग्र आसीत्" "इदं वा अग्नेनैवाकचनासीत्" इति—लोके च "सर्वमिदं घटशरावादिकं पूर्वाह्णेनासीत्" इति । अतो यथोक्तं नोपपद्यत इति चेत् तन्न, धर्मान्तरेण तथा व्यपदेशात् । स खल्वसह्यपदेशस्तस्यैव कार्य-द्रव्यस्य पूर्वकालेन धर्मान्तरेण—संस्थानांतरेण, न भवदभिप्रेतेन तु च्छेदनेन । सत्त्वासत्त्वेहि द्रव्यधर्माविरयुक्तम् । तत्र सत्त्वधर्माद्धिर्मान्तरमसत्त्वम् । इदं शब्दनिर्दिष्टस्य जगतः सत्त्वधर्मो नामरूपे, असत्त्वधर्मस्तु तद्विरोधिनी सूक्ष्मावस्था । अतो जगतो नामरूपयुक्तस्य तद्विरोधि सूक्ष्मदशापत्तिरसत्त्वम् ।

जो यह कहा कि—कारण में कार्य की स्थिति लोक और वेद से ज्ञात होती है, यह बात असंगत है, आपके कथन के विपरीत अमत् का ही उल्लेख मिलता है—जैसे कि—"यह सब कुछ मृष्टि के पूर्व नहीं था" यह सब पहिले असत् ही था "मृष्टि के पूर्व यह जगत कुछ नहीं था" इत्यादि वेद

में तथा लोक में जैसे—“ये सब घड़े प्याले आदि सबेरे कुछ नहीं थे” इत्यादि । इसलिए उक्त कारण में कार्यस्थिति की बात असंगत है यह कहना उपयुक्त नहीं है, असत् का जो उल्लेख किया गया है वह वस्तु के धर्मान्तरीय रूप का ही द्योतक है, वास्तविकता का नहीं । अर्थात् जिसका असत् रूप से उल्लेख है वह उसी कार्य द्रव्य की पूर्वकालीन स्वरूपांतर अवस्था का उल्लेख है, आपकी अभिप्रेत उच्छिन्न (अस्तित्वहीन) अवस्था का नहीं । सत्त्व और असत्त्व ये दो द्रव्य के धर्म हैं । सत्त्व धर्म से विपरीत दूसरा धर्म असत्त्व है । “इदं” शब्द से निर्दिष्ट जगत का, सत्त्व धर्म, नाम और रूप में है तथा असत्त्व धर्म उन दोनों की ही विपरीत सूक्ष्म अवस्था में है । इससे स्पष्ट है कि—जगत की नाम रूप युक्त स्थिति से विपरीत सूक्ष्म दशा ही असत्त्व है ।

कथमिदमवगम्यते ? वाक्यशेषाद् युक्तेः शब्दान्तराच्च । वाक्य-शेषस्तावत्—“इदं वा भग्नैव किंचनासीत्” इत्यत्र “तदसदेव सन्मनोऽकुर्वत् स्यामिति” इति अनेन वाक्यशेषगतेन मनस्कारत्विगेन असच्छब्दार्थे तुच्छातिरिक्ते निश्चिते तदैकार्थ्यात् “असदेवेदम्” इत्यादिष्वपि असच्छब्दस्यायमेवायं इति निश्चीयते । युक्तेश्चासत्त्वस्य धर्मान्तरत्वमवगम्यते, युक्तिर्हि सत्त्वासत्त्वे पदार्थधर्माविगमयति । मृदद्रव्यस्य पृथुबुध्नोदराकारयोगो घटोऽस्तीति व्यवहार हेतुः, तस्यैव तद्विरोध्यवस्थान्तरयोगो घटो नास्तीति व्यवहार हेतुः, तत्रकपालाद्यवस्थास्तद्विरोधित्वेन सैव घटावस्थस्य नास्तीति व्यवहारहेतुः । न च तद्व्यतिरिक्तो घटाभावो नाम कश्चिदुपलभ्यते, न च कल्प्यते तावतैवाभावव्यवहारोपपत्तेः । तथा शब्दान्तराच्च पूर्वकाले धर्मान्तरयोग एवावगम्यते । शब्दान्तरं च पूर्वोदाहृतम् “सदेव सोम्येदमग्रं प्रासीत्” इत्यादिकम् । तत्र हि “कृतस्तु खलुसोम्यैवंस्यात्” “इति तुच्छत्वाभाशिष्य “सत्त्वेव सोम्येदमग्रं प्रासीत्” इति स्थापितम् “तद्वैदं तर्हि भव्याकृतं प्रासीत्तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत्” इति सुषुप्तमुक्तम् ।

यदि रहें कि—उक्त निष्कर्ष किस आधार पर निकाला ? तो सुनिये—युक्ति और शब्दांतर प्रयोग तथा वाक्य के अंतिम वर्णन से । अंतिमवर्णन जैसे—“सृष्टि के पूर्व यह सब कुछ नहीं था” कहने के बाद ही “आत्मसर्जन की इच्छा से उस असत् ने मन की सृष्टि की” इत्यादि में मन की सृष्टि का वर्णन किया गया है, जिससे निश्चित होता है कि—असत्-शब्द तुच्छ के अतिरिक्त, कुछ विशेष अर्थ का बोधक है नाम रूपात्मक जगत् और उसकी सूक्ष्मावस्था की एकार्यता को बतलाने के लिए ही “यह सब असत् ही था” ऐसा कहा गया । इस वाक्य में प्रयुक्त “असत्” शब्द का, उक्त विशेष अर्थ ही, निश्चित होता है । युक्ति जैसे—“असत्” शब्द धर्मान्तरत्व का द्योतक है, युक्ति से ही, सत्त्व और असत्त्व इन दो धर्मों का ज्ञान हो सकता है, जैसे कि—मिट्टी रूपी द्रव्य की स्थूल गोलाकार आकृति ही घट कहलाती है, उस आकृति के नष्ट हो जाने पर “घट नहीं है” ऐसा प्रयोग किया जाता है, या घट निर्माण के पूर्व की जो, दो कपालों के रूप में आकृति होती है वह “घट नहीं है” इस विपरीत अवस्था की परिचायक होती है । इस प्रकार की विपरीत अवस्था को घटाभाव नहीं कहा जाता और न उसका नाम घटाभाव ही पड़ जाता है; उसकी स्थिति ही उसके धर्माव का द्योतन करती है । शब्दांतर प्रयोग जैसे—“हे सौम्य ! यह सब सृष्टि के पूर्व सत् ही था”, इत्यादि पूर्वोक्त उदाहरण में धर्मान्तर के द्योतक—असत् के स्थान पर सत् शब्द का प्रयोग किया गया है । उस प्रसंग में—“हे सौम्य ! ऐसा कैसे संभव ?” ऐसी शंका करते हुए—“हे सौम्य ! यह प्रपंचमय जगत पहिले मत् ही था” ऐसा सिद्धान्त स्थापित किया गया है । “सृष्टि के पूर्व यह जगत अव्याकृत था, वही नाम रूप में अत्रिद्वयत्त हुआ” ऐसा मुस्पष्ट उल्लेख है ।

इदानीं कार्यस्य कारणादनन्यत्वे निदर्शनद्वयं द्वाभ्यां सूत्रान्यादसंयति ।

अब आगे के दो सूत्रों से कार्यकरण की अनन्यता के दृष्टांत प्रस्तुत करते हैं

पटवच्च । २।१।१६॥

यथा तन्तव एव व्यक्तिपंगविशेष भाजः पट इति नाम रूप कार्यान्तरादिकं भजन्ते, तद्वद् ग्रह्यापि ।

जैसे कि—सूतों की विशेष बुनावट को वस्त्र कहा और माना जाता है वैसे ही ब्रह्म भी, विशिष्ट नामरूप वाले होकर जगत् कहलाते हैं ।

यथा च प्राणादिः ।२।१।२०॥—

यथा च वायुरेक एव शरीरे वृत्ति विशेषं भजमानः प्राणा-
पानादिनाम् रूपकार्यान्तराणि भजते, तद् वद् ब्रह्मैकमेव विचित्र-
स्थिरत्रस्वरूपं जगद् भवतीति परम कारणात्परस्माद् ब्रह्मणोऽनन्य-
त्वं जगतः सिद्धम् ।

जैसे कि—एक ही वायु, शरीर में विशेष वृत्ति का माश्रय लेकर
प्राण अपान, उदान, व्यान, समान आदि नाम और रूपवाला होकर कई
प्रकार से व्यवहृत होता है, वैसे ही, एक ही ब्रह्म, स्थावर और जंगमात्मक
विचित्र जगदाकार को प्राप्त होता है । इससे परमकारण परब्रह्म से,
जगत की अभिन्नता सिद्ध होती है ।

७ इतरव्यपदेशाधिकरणः—

इतरव्यपदेशाद् हिताकारणादिदोष प्रसक्तिः ।२।१।२१॥—

जगतो ब्रह्मान्यत्वं प्रतिपादयद्भिः “तत्त्वमसि “अयमात्माब्रह्म”

इत्यादिभिर्जीवस्यापि ब्रह्मानन्यत्वं व्यपदिश्यत इत्युक्तम्, तत्रेदं चोद्यते,
यदीतरस्य जीवस्य ब्रह्मभावोऽस्मीभिवैक्यैर्व्यपदिश्यते, तदा ब्रह्मणः
सार्वज्ञ सत्यसंकल्पत्वादियुक्तस्यात्मनो हितरूपजगदकरणमहितरूप-
जगत्करणमित्यादयो दोषाः प्रसज्येरन् । आध्यात्मिकाधिदैविकाधि-
भौतिकान्तदुःखाकरं चेदं जगत्, न चेदृशेस्वानर्थे स्वाधीनो बुद्धिमान्
प्रवर्तते । जीवाद् ब्रह्मणो भेदवादिन्यः श्रुतयोः जगद्ब्रह्मणोरनन्यत्वं
वदतात्वमैवपरिष्यक्ताः, भेदे सत्यनन्यत्वासिद्धेः ।

जगत और ब्रह्म की अनन्यता के प्रतिपादक “तत्त्वमसि” “अय-
मात्मा ब्रह्म” इत्यादि वाक्यों से जीव की ब्रह्म से अनन्यता बतलाई गई
है । इस कथन पर आपत्ति करते हैं कि—उक्त श्रुति में यदि जीव से भिन्न
ब्रह्म की अनन्यता अभिहित है तो, सत्य संकल्पता सर्वज्ञता आदि गुणों
से युक्त परब्रह्म में, अपने हित के लिए, जगत की रचना करना तथा
अहित होने पर न करना इत्यादि दोष लागू हो जावेंगे । यह जगत् आध्या-

त्मिक-आधिदैविक-आधिभौतिक दुःखों का आकर है, ऐसे दुःखपूर्ण जगत को कोई भी बुद्धिमान स्वतंत्र अपने लिये नहीं रचेगा। जीव और ब्रह्म की अनन्यता बतलाने के लिए, जीव ब्रह्म के भेद की प्रतिपादिका श्रुतियों को तुम छोड़ देते हो तभी तुम अनन्यता की सिद्धि कर पाते हो अन्यथा, भेद के रहते अभेद की सिद्धि हो नहीं सकती।

श्रौपाधिक भेदविषया भेदश्रुतयः स्वाभाविकाभेदविषयाश्च अभेद श्रुतयश्चित्चेत्-तत्रेदं वक्तव्यम्-स्वभावतः स्वस्माद्भिन्नं जीवं किमनुपहितम् जगत्कारणं ब्रह्मजानाति वा, न वा? न जानातिचेत्-सर्वज्ञत्व हानिः। जानाति चेत्-स्वस्माद्भिन्नस्य जीवस्य दुःखंस्वदुःखमिति जानतो ब्रह्मणो हिताकरणाहितकरणादिदोष-प्रसक्तिरनिवार्या।

यदि कहो कि-श्रुतियाँ, जीव और ब्रह्म के, औपाधिक भेद तथा स्वाभाविक अभेद, का प्रतिपादन करती हैं। इस पर कथन यह है कि-जगत का कारण, अनुपहित (उपाधिसंबंध रहित निर्विशेष) ब्रह्म, स्वभाव से अभिन्न जीव को जानता है या नहीं? यदि नहीं जानता तो उसकी सर्वज्ञता समाप्त होती है। यदि जानता है, तो वह अपने से अभिन्न जीव के दुःखों को अपना ही दुःख मानता है, तब तो, ब्रह्म की, हित करण और अहित प्रकरण आदि दोषों से, मुक्ति कदापि संभव नहीं है (अर्थात् वह सुख की ही सृष्टि करेगा दुःख की नहीं)

जीवब्रह्मणोरज्ञानकृतोभेदः, तद्विषया भेदश्रुतिरितिचेत् तत्रापि जीवाज्ञानपक्षे पूर्वोक्तो विकल्पः तत्फलं च तदवस्थम्। ब्रह्माज्ञानपक्षे स्वप्रकाशस्वरूपस्य ब्रह्मणोऽज्ञानसाक्षित्वं तत्कृतजगत्सृष्टिश्च न संभवति। अज्ञानेन प्रकाशः तिरोहितश्चेत्-तिरोधानस्य प्रकाशनिवृत्तिकरत्वेन प्रकाशस्यैव स्वरूपत्वात् स्वरूपनिवृत्तिरेवेति स्वरूपनाशादिदोष सहस्रं प्रागेवोदीरितम्। अतइदमसंगतम् ब्रह्मणो जगत्कारणत्वम्।

यदि कहो कि-भेद सम्यक् श्रुतियाँ, जीव और ब्रह्म के अज्ञानकृत भेद का प्रतिपादन करती हैं। तब, जीव के अज्ञानपक्ष में, पूर्वोक्त दोषानुसंगादि विकल्प के फलस्वरूप होने वाली अनवस्था होती है तथा ब्रह्म के अज्ञान पक्ष में-स्वप्रकाश स्वरूप ब्रह्म का, अज्ञान का साक्षी होना और उससे संबद्ध जगत् की रचना करना असंभव है। यदि कहें कि-अज्ञान से (ब्रह्म का) प्रकाश तिरोहित हो जाता है; प्रकाश निवृत्ति करना ही तो, तिरोधान का कार्य है, प्रकाश ही परब्रह्म का स्वरूप है, प्रकाश का तिरोधान मानने का अर्थ होता है, ब्रह्म का स्वरूपनाश; ऐसे ही हजारों दोष उपस्थित होंगे, ऐसा पहिले भी कह चुके हैं। इसलिए ब्रह्म की जगत् कारणाता असंगत है।

इति प्राप्तेऽभिधीयते-सिद्धान्तः

उक्त सशय पर-सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं-

अधिकन्तु भेद निर्देशात् ।२।१।२२।।-

तु शब्दः पक्षव्यावर्तयति, आध्यात्मिकादिदुःखयोगार्हात्प्रत्यगात्मनः अधिकं अर्थात्तरभूतं ब्रह्म । कुतः भेदनिर्देशात्-प्रत्यगात्मनो हि भेदेन निर्दिश्यते परं ब्रह्म "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मानं वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मानन्तर्याम्यमृतः "पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति । "स कारणं करणाधिपाधिपः "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनशनन्नन्यो अभिचाकशीति "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ "प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तः "प्राज्ञेनात्मनान्वारूढः "अस्मान्मायीसृजते विश्वमेतत् तस्मिंश्चान्योमाययासन्निरूढः "प्रधानक्षेत्रज्ञपतिगुणेशः "नित्यो नित्यानांचेतनश्चेतनानामेकोबहूनां यो विदधाति कामान्" "योऽव्यक्तमंतरे संचरन् यस्याव्यक्तं शरीरं यमव्यक्तं न वेद योऽक्षरमंतरे संचरन् यस्याक्षरं शरीरं यमक्षरं न वेद एष सर्वभूतांतरात्माऽपहृतपाप्मादिव्योदेवएकोनारयणः "इत्यादिभिः।

सूत्रस्य तु शब्द उपयुक्त पक्ष का निराकरण करता है, आध्यात्मिक आदि दुःखों के योग्य जीव की अपेक्षा, ब्रह्म थोड़ा होने से, भिन्न है, ऐसा श्रुतियों से ज्ञात होता है। ब्रह्म और जीव की भिन्नता, निम्नांकित श्रुतियों से स्पष्ट होती है "जो आत्मा में स्थित होकर भी उससे भिन्न है, आत्मा जिन्हें नहीं जानता, जो आत्मा के शरीरी हैं और अन्तर्यामी होकर आत्मा का संयमन करते हैं, वे आत्मान्तर्यामी अमृत स्वरूप हैं।" जीव अपने से पृथक् परमात्मा का चित्तन, प्रेरक रूप से करके उनकी प्रीति प्राप्त करके अमृतत्व प्राप्त करता है।" वह इन्द्रियों के कारण जीव के भी, स्वामी हैं" उन दोनों में एक फल का आस्वाद करता है, दूसरा केवल देखता मात्र है "वे दोनों अज्ञ, अज्ञ—प्राज्ञ, ईश्वर—अनीश्वर हैं" प्राज्ञ परमात्मा से मिलकर "प्राज्ञ परमात्मा से अधिष्ठित होकर" मायी ब्रह्म, माया के सहयोग से इस जगत की सृष्टि करते है, दूसरा जीव, इस जगत में माया से बंधा रहता है "वे परमात्मा, प्रधान प्रकृति और क्षेत्रज्ञ जीवों के, स्वामी और गुणेश हैं" "जो नित्यों के नित्य, चेतनों के चेतन, एक होकर अनेक कार्यों का संचालन करते हैं" जो अव्यक्त अक्षर में संचरित हैं, अक्षर जिनका शरीर है, वह उन्हें नहीं जानता। जो मृत्यु में संचरित है, मृत्यु जिनका शरीर है, मृत्यु उन्हें नहीं जानता, ऐसे सर्वान्तर्यामी, निष्पाप, दिव्य देव, एक नारायण ही हैं" इत्यादि।

अश्रमादिवद्य तदनुपपत्तिः।२।१।२३॥

अश्रमकाष्ठलोष्टतृणादीनामत्यंतहेयानां सततविकारःस्पदानाम-
चिदविशेषाणां निरवद्यनिर्विकारनिखिलहेय प्रत्यनीककल्याणैकतान-
स्वेतर समस्त वस्तुविलक्षणान्त ज्ञानानंदैक स्वरूपनानाविधानन्त-
महाविभूति ब्रह्म स्वरूपैक्यं यथा नोपपद्यते, तथा चेतनस्याप्यनन्त-
दुःखयोगार्हस्य द्यतोतकल्पस्य अपहतपाप्मा "इत्यादि वाक्यावगत
सकलहेय प्रत्यनीक अनवधिकातिशयासंख्येय कल्याण गुणाकर
ब्रह्म भावानुपपत्तिः ।

जैसे कि—पत्थर, लकड़ी, मिट्टी और तृण आदि अत्यंत तुच्छ, सदा विकारशील अचेतन पदार्थों से, विशिष्ट, निर्दोष, निर्विकार समस्त वस्तुओं

से विलक्षण, कल्याण तत्पर, अनंतज्ञानानंदमय अनंत महाविभूतियों से परिपूर्ण, पर ब्रह्म का ऐक्य कभी संभव नहीं हैं; वैसे ही—अनंत दुःख भोगने वाले, जुगनु से टिमटिमाते चेतन (जीव) से—“अपहतपाप्मा” इत्यादि विशेषताओं वाले, तुच्छ पदार्थों से विपरीत, निरवधि असंख्य कल्याणमय गुणों के आकर परब्रह्म परमात्मा की, कभी एकता संभव नहीं है।

सामानाधिकरणनिर्देशः “अस्यात्मा शरीरम्” इत्यादिश्रुतेर्जीवस्य ब्रह्मशरीरत्वाद् ब्रह्मणो जीव शरीरतया तदात्मत्वेनावस्थितेर्जीवप्रकार ब्रह्म प्रतिपादन परश्चैतदविरोधी, प्रत्युतैतत्स्वार्थस्योपपादकश्चेति “अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः” इत्यादिभिरसकृदुपपादितम्।

“आत्मा जिनका शरीर है” इत्यादि श्रुति से ज्ञात होता है कि—जीव ब्रह्म का शरीर है, शरीरी होने के कारण ब्रह्म जीव में निवास करते हैं। इस सामान्य वर्णन से जीव ब्रह्म की अभिन्नता निश्चित होती है। इससे किसी भी प्रकार की शंका का स्थान नहीं रह जाता, अपितु वक्तव्य की पुष्टि होती है। “अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः” इत्यादि सूत्रों में भी इसी तथ्य का प्रतिपादन किया गया है।

अतः सर्वावस्थं ब्रह्म चिदचिद् वस्तु शरीरमिति सूक्ष्म चिदचिद् वस्तु शरीरं ब्रह्मकारणं, तदेव ब्रह्म स्थूल चिदचिद् वस्तुशरीरम् जगदाख्यं कार्यमिति जगद्ब्रह्मणोः सामानाधिकरण्योपपत्तिः, जगतो ब्रह्मकार्यत्वम्, ब्रह्मणोऽनन्यत्वम्, अचिद्वस्तुनो जीवस्य च ब्रह्मणश्च परिणामित्वं दुःखित्वकल्याणगुणाकरत्वं स्वभावासंकरः सर्वश्रुत्यविरोधश्च भवति।

इससे ज्ञात होता है कि—जड़चेतन वस्तु शरीरी ब्रह्म ही विविध अवस्थाओं में स्थित हैं। सूक्ष्म जड़चेतन शरीरी ब्रह्म कारण स्वरूप है तथा वे ही स्थूलजड़चेतन शरीरी होकर जगत नाम से, कार्य रूप होते हैं। इस प्रकार जगत और ब्रह्म की परिणामता, दुःखपूर्णता, कल्याण गुणाकरता आदि परस्पर विरोधी गुण दोषों का, जो कि शास्त्रों में वर्णित है, सामंजस्य हो जाता है।

“सदेव सोम्येदमेकमेवासोत्” इत्यविभागावस्थायां अपि अचि-
द युक्त जीवस्य ब्रह्मशरीरतया सूक्ष्मरूपेणावस्थानं भवश्याभ्युपगंत-
व्यम् ‘वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्’ न कर्माविभागादिति चेन्नाना-
दित्वादुपपद्यते चाप्युपलभ्यते च “इति सूत्र द्वयोदितत्वात्तदानीमपि
सूक्ष्मरूपेणावस्थानस्य अविभागस्तु नामरूपविभागाभावादुपपद्यते ।
अतो ब्रह्मकारणत्वं संभवत्येव ।

“हे सौम्य ! सृष्टि से पूर्व यह जगत एकमात्र सत् ही था’ इस
श्रुति से यह सिद्ध होता है कि-अव्यक्त प्रलयावस्था में भी ब्रह्म का शरीर
स्थानीय अचित्त युक्त जीव, सूक्ष्म रूप से उसमें स्थित रहता है “वैषम्य-
नैर्घृण्ये” न कर्माविभागादिति” इत्यादि दो सूत्रों में, अव्यक्त अवस्था में,
जीव की सूक्ष्मरूप से स्थिति बतलाई गई है । इस प्रकार के नामरूप के
अभाव से, जीवात्मा परमात्मा की अभिन्नता सिद्ध हो जाती है, और ब्रह्म
की कारणता भी निश्चित हो जाती है ।

ये पुनरस्यैव जीवस्याविद्यावियुक्तावस्थामभिप्रेत्येवं भेदवर्णयन्ति
तेषामिदं सर्वमसंगतं स्यात् । न हि तदवस्थस्य सर्वज्ञत्वं सर्वेश्वरत्वं
समस्तकारणत्वं, सर्वात्मत्वं, सर्वनियंतृत्वमित्यादीनि सन्ति । अनेनैव-
रूपेण हि आभिः श्रुतिभिः प्रत्यगात्मनो भेदः प्रतिपाद्यते । तस्य
सर्वस्याविद्यापरिकल्पितत्वात् । न चाविद्या परिकल्पितस्याविद्याव-
स्थायां शुक्तिका रजतादिभेदवत् परस्परभेदोऽत्र सूत्रकारेण “अधिक-
न्तु भेद निर्देशात्” इत्यादिषु प्रतिपाद्यते ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्येति
जिज्ञास्यतया प्रकान्तस्य ब्रह्मणो जगज्जन्मादिकारणस्य वेदांत वेद्य-
त्वं, तस्य च स्मृतिन्यायविरोध परिहारश्च क्रियते । “अपीती तद्-
वत प्रसंगादसमंजसम्” न तु दृष्टांत भावात्” इति सूत्रद्वयमेवदधि-
करणसिद्धमनुवदति, तत्र हि विलक्षणयोः कार्यकारणभाव संभव
एवाधिकरणार्थः । “असदिति चेन्न प्रतिषेध मात्रत्वात्” इति च
पूर्वाधिकरणस्य मनुवदति ।

जो लोग जीव की अविद्यारहित अवस्था को लक्ष्य करके, जीव ब्रह्म का भेद बतलाते हैं, उनके अनुसार उक्त सारी व्यवस्था असंगत हो जाती है। जीव की उस अविद्या रहित अवस्था में, कभी सर्वज्ञता, सर्वेश्वरता समस्त कारणता, सर्वात्मकता, सर्वनियामकता आदि विशेषतायें नहीं हो सकतीं। जिस प्रकार का भेद ऊपर बतला चुके हैं, वही शास्त्रों का प्रतिपाद्य है। यह जगत मिथ्या है, यह परिकल्पना अविद्या जन्य है। अविद्या परिकल्पित शक्ति रजत के भेद की तरह, जीव जगत और ब्रह्म का भेद “अधिकस्तु भेद निर्देशात्” सूत्र में स्वीकार्य हो, सो बात नहीं है, अपितु ब्रह्म की जिज्ञासा को कर्तव्य मानते हुए, जिज्ञास्य रूप से उपक्रांत जगत के कारण ब्रह्म को ही वेदांत वेद्य बतलाकर सूत्रकार उनसे संबद्ध स्मृति शास्त्रीय और युक्ति पूर्ण विरोधों का परिहार मात्र करते हैं। “अपीतौ तद्वत्” एवं “न तु दृष्टान्तभावात्” इन दो सूत्रों में इस अधिकरण का अनुवाद मात्र करते हैं। वहाँ पर भी दोनों विलक्षण वस्तुओं का कार्यकारणभाव से प्रतिपादन करना ही अधिकरण का उद्देश्य है। “अमदिति चेत्” इत्यदि सूत्र भी, पूर्वं अधिकरण के प्रतिपाद्य विषय का अनुवादक मात्र है।

८ उपसंहारदर्शनाधिकरणः—

उपसंहारदर्शान्नेतिचेन्न क्षीरवद् हि ।२।१।२४॥

परस्य ब्रह्मणः सर्वज्ञस्य सत्यसंकल्पस्य स्थूलसूक्ष्मावस्थयः सर्वचेतनाचेतनवस्तु शरीरतया सर्वप्रकारत्वेन सर्वात्मत्वं सकलेतर विलक्षणत्वं चाविरुद्धमिति स्थापितम् । इदानीं सत्यसंकल्पस्य परस्य ब्रह्मणः संकल्पमात्रेणविचित्र जगत् सृष्टि योगो न विरुद्ध इति स्थाप्यते ।

अब तक सर्वज्ञ सत्य संकल्प, स्थूल सूक्ष्म अवस्था वाले, समस्त जड़ चेतन शरीर वाले, समस्त पदार्थों से विशिष्ट सर्वात्मा, अन्य सभी से विलक्षण, अविरुद्ध परब्रह्म का स्वरूप बतलाया गया। अब सर्वज्ञ, सत्य-संकल्प परब्रह्म की, संकल्पमात्र से विचित्र जगत की सृष्टि कार्यता भी विरुद्ध नहीं है, इस मत की स्थापना करते हैं।

ननु च परिमित शक्तीनां कारककलापोपसंहार सापेक्षत्वदर्शनेन सर्वशक्तेर्ब्रह्मणः कारककलापानुपसंहारेण जगद्कारणत्व विरोधः कथमाशङ्क्यते ?

प्रश्न होता है कि—परिमित शक्ति वाले लोगों का कार्य, अनेकों कारकों से अपेक्षित होता है, उसी प्रकार परब्रह्म को भी, कार्य में अनेक कारकों का साहाय्य अपेक्षित होगा, उनके बिना उस सर्वशक्तिमान के लिए, जगत का कार्य करना असंभव है, ऐसी आशंका क्यों की जाती है?

उच्यते—लोके तत्कार्यं जननशक्तियुक्तस्यापि तत्तदुपकरणापेक्षत्व दर्शनात्— सर्वशक्ति युक्तस्य परस्य ब्रह्मणोऽपि तत्तदुपकरणविरहिणः स्रष्टृत्वंनोपपद्यत इति कस्यचिन्मदधियः शंका जायत इति सा निराक्रियते घटपटादिकारणभूतानां कुलालकुविन्दादीनां तज्जननसामर्थ्ये सत्यपि कानिचिदुपकरणान्युपसंहृत्येव जनयितृत्व दृश्यते । तज्जननाशक्ताः कारककलापोपसंहारेऽपि जनयितुं न शक्नुवन्ति, शक्ताः पुनः कारक कलापोपसंहारे जनयन्तीत्येतावानेव विशेषः । ब्रह्मणोऽपि सर्वशक्तेः सर्वस्य जनयितृत्वं तदुपकरणानामुपसंहारे नोपपद्यते । प्राक्सृष्टेश्च असहायत्वं “सदेव सोम्येदमग्र आसीत्” एको ह्यवैनारायण आसीत्”इत्यादिषु प्रतीयते । अतः स्रष्टृत्वं नोपपद्यत इत्येवंप्राप्तं, तदिदमारंक्ते उपसंहार दर्शनान्नेति चेत् इति ।

उक्त शंका पर कहते हैं कि—लोक में विशेष विशेष कार्य शक्ति होते हुए भी, उन उन कार्यों से संबद्ध उपकरणों की अपेक्षा देखी जाती है, वैसे ही सर्वशक्तिमान परब्रह्म, सृष्टि संबंधी उपकरणों के बिना सृष्टि करने में असमर्थ है, ऐसी किसी मंदबुद्धि को ही आशंका होती है । उनका कथन है कि—घट पट आदि कार्यों के कर्त्ता कुम्हार और जुलाहा आदि में उनके बनाने की सामर्थ्य के होते हुए भी, कार्य की पूर्ति के लिये कुछ उपकरणों की आवश्यकता होती है जो इन कार्यों को नहीं जानते, उनके

समक्ष यदि सारे साधन एकत्र भी हो तो भी उनमें इन कार्यों को करने की सामर्थ्य नहीं है' वे नहीं कर सकते । जो कर सकते हैं वे साधनों के एकत्र होने मात्र से कार्य करते हैं, यही उनकी विशेषता है । ब्रह्म सर्व-शक्ति और सर्वकार्य कुशल होते हुए भी साधनों के अभाव में सृष्टि नहीं कर सकते । सृष्टि के पूर्व उनकी असमर्थता—“हे सौम्य! सृष्टि के पूर्व यह सारा जगत् सत् ही था” एकमात्र नारायण ही थे “इत्यादि वाक्यों से प्रतीत होनी है । इसलिए उनसे सृष्टि होना असंभव है, यही बात “उप-संहार दर्शनाच्चेति चेत्” में कही गई है ।

सिद्धान्तः—परिहरति—न क्षीरवद् हि इति । न सर्वेषां कार्यज-ननशक्तानामुपसंहारसापेक्षत्वमस्ति, यथाक्षीरजलादेर्दीर्घहिमजन-नशक्तस्य तज्जनने, एवं ब्रह्मणोऽपि स्वयमेव सर्वजननशक्तेः सर्वस्य जनयितृत्वमुपपद्यते । हीति प्रसिद्धवन्निर्देशश्चोद्यस्य मंदताख्यापनाया क्षीरादिष्व्वातंचनाद्यपेक्षा न दध्यादिभावाय, अपिशौघ्रयाथं रस विशेषार्थं वा ।

उक्त शंका के परिहार में सूत्रकार सिद्धांत रूप से “क्षीरवद् हि” कहते हैं—वे कहते हैं कि—सर्व कार्य समय परमात्मा को साधन संग्रहों की अपेक्षा नहीं होती । जैसे कि—दही और बर्फ आदि के कारण दूध और जल को, उक्त कार्यों के रूप में परिणत होने में, किन्हीं साधनों की अपेक्षा नहीं होती वैसे ही—परमात्मा में, जगत् रूप से परिणत होने की पूर्ण सामर्थ्य है, उनसे सृष्टि संभव है । उक्त सिद्धांत की प्रसिद्धि और आशंका की हीनता का द्योतक सूत्रस्य “हि शब्द है । दूध को जमाने के लिए जो आतंचन (फिटकरी आदि दामन) का प्रयोग किया जाता है वह, शौघ्रता या स्वाद विशेष के लिए होता है, जमाने के लिए नहीं होता ।

देवादिवदपि लोके ।२।१।२५॥

यथा देवादयः स्वे स्वे लोके संकल्प मात्रेण स्वापेक्षितानि सृजति, तथाऽसौ पुरुषोत्तमः कृत्स्नं जगत् संकल्प मात्रेण सृजति । देवादीनां वेदावगतशक्तीनां दृष्टान्ततयोपादानम्, ब्रह्मणो वेदावगतशक्तेः सुखग्रहणायेति प्रतिपत्तव्यम् ।

जैसे कि-देवगण, अपने अपने लोकों में अपनी अपेक्षित वस्तुओं की संकल्पमात्र से सृष्टि कर लेते हैं वैसे ही यह पुरुषोत्तम भी संपूर्ण जगत् की सृष्टि संकल्पमात्र से करते हैं देवों की ऐसी शक्ति महिमा वेदों में प्रख्यात है, इसका दृष्टान्त इसलिए प्रस्तुत किया गया कि-परब्रह्म की वेदोक्त महिमा को सुखपूर्वक जाना जा सके।

६ कृत्स्न प्रसवत्याधिकरणः—

कृत्स्न प्रसक्तिर्निरवयवत्व शब्द कोषो वा २।१।२६॥

“सदेव सोम्येदमग्र आसीत्” इदं वा अग्रैनैव किञ्चनासीत्”

“आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्” इत्यादिषु कारणावस्थायां निरस्त्र चिदचिद् विभागतया निरवयवं ब्रह्मैवासीदित्युक्तम्, तदविभागमेकं निरवयवमेव ब्रह्म “बहुस्याम्” इति संकल्प्य आकाशवाय्वादिविभागं ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त क्षेत्रज्ञविभागं चाभवदिति चोक्तम्, एवं सति तदेव परं ब्रह्म कृत्स्नं कायत्वेनोपयुक्तमित्यभ्युपगंतव्यम् । अथ चिदंशः क्षेत्रज्ञविभागविभक्तः, अचिदंशश्चाकाशादि विभाग विभक्तः, इत्युच्यते, तदा “सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम् “ब्रह्मैकमेव-आत्मैक एव” इत्येवमादयः कारणभूतस्य ब्रह्मणो निरवयवत्ववादिनः शब्दाः कुप्येयुः वाधिता भवेयुः ।

“हे सोम्य! सृष्टि के प्रथम, यह जगत् सत् स्वरूप ही था” “उस समय यह सब कुछ नहीं था” यह सब सृष्टि के पूर्व आत्मस्वरूप ही था “इत्यादि वाक्यों में, बतलाया गया है कि-सृष्टि से पूर्व जडचेतन का विभाग न होने से एकमात्र, निराकार कारणावस्थ ब्रह्म ही था । अविभक्त निराकार एक ब्रह्म ने “बहुत हो जाऊँ” ऐसा संकल्प करके, आकाश पृथ्वी आदि विभाग तथा ब्रह्मा से स्तम्बपर्यन्त जीवों में अपने को व्यक्त किया वही पर ब्रह्म, संपूर्ण कार्यरूपों में परिणत हुए, यही मानना चाहिए । यदि यह मानें कि-ब्रह्म का चेतनांश जीवों के रूप में तथा अचेतानांश पृथ्वी आकाशादिरूपों में विभक्त हुआ, तब, कारण ब्रह्म की निराकारता के

प्रतिपादक "हे सौम्य! यह जगत् सृष्टि से पूर्व एक अद्वितीय सत् या" "ब्रह्म निश्चित ही एक है "आत्मा निश्चित ही एक है "इत्यादि वाक्य, विरुद्ध समझे जावेगे ।

यद्यपि सूक्ष्मचिदचिद् वस्तुशरीरं ब्रह्मकारणम्, स्थूलचिदचिद् वस्तुशरीरं ब्रह्म कार्यमित्यभ्युपगम्यते, तथापि शरीरि अंशस्यापि कार्यत्वाभ्युपगमादुक्त दोषो दुर्धारः । तस्य निरवयवस्य बहुभवनं च नोपपद्यते । कार्यत्वानुपपुक्तांशास्थितिश्च नोपपद्यते । तस्माद् समंजसमिवाभाति । अतो ब्रह्म कारणत्वं नोपपद्यते ।

यद्यपि सूक्ष्म चिदचिद् वस्तु शरीर ब्रह्म कारण तथा स्थूल चिदचिद् वस्तु शरीर ब्रह्म कार्य है, ऐसा मानते हैं, फिर भी शरीर के अंश की कार्यता स्वीकारने में उक्त दोष उपस्थित ही जाता है। इससे स्पष्ट है कि—निराकार का अनेक होना संभव नहीं है अंश की कार्यरूप में कोई उपयोगिता नहीं है, ऐसे एक अंश की अवस्थिति भी युक्ति संगत प्रतीत नहीं होती । इसलिए ब्रह्म कारणवाद सिद्ध नहीं होता ।

इत्याक्षिप्ते समाधत्ते—उक्त आक्षेप का समाधान करते हैं—

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् । २।१।२७॥

तु शब्द उक्त दोषं व्यावर्तयति नैवमसामंजस्यम्, कुतः? श्रुतेः श्रुतिस्तावन्निरवयवत्वं ब्रह्मणस्ततो विचित्रं समं चाह । श्रौतेष्वेयं यथा श्रुति प्रतिपत्तव्यमित्यर्थः । ननु च श्रुतिरपि अग्निना सीचेदिति-वत् परस्परान्वयायोग्यमर्थं प्रतिपादयितुं न समर्थाः, अतमाह शब्दमूलत्वादिति शब्दैक प्रमाणकत्वेन सकलेतरवस्तुविसजातीयत्वाद-स्यायंस्य विचित्रशक्ति योगो न विरुद्ध्यत इति न सामान्यतो दुष्टं साधनं दूषणं वा ग्रहंति ब्रह्म ।

सूत्रस्थ "तु" शब्द उक्तदोष के परिहार का बोधक है, आप जिस असमंजसता की शंका कर रहे हैं वह नहीं होगी, क्योंकि श्रुति, ब्रह्म की निराकारता, और विचित्र जगत् सृष्टि, दोनों का ही वर्णन करती हैं, श्रुति प्रतिपाद्य विषय को श्रुति द्वारा ही जाना जा सकता है । यदि कहें

कि-श्रुति "अग्नि से सेचन करो "इत्यादि की तरह अनहोनी बात का प्रतिपादन नहीं कर सकती; तो श्रुतियाँ—शब्द मूलक हैं, अर्थमूलक नहीं इसलिए ऐसा होना संभव है। ब्रह्म समस्त पदार्थों से, विजातीय है, यह बात एकमात्र, शब्द प्रमाणगम्य है, इसलिए श्रुतिकथित ब्रह्म का विचित्र शक्ति संबंध होना, कोई विवद नहीं है। ब्रह्म कभी, सामान्यतोदृष्ट साधन या दोषाक्षेप का विषय नहीं हो सकता (अर्थात् ब्रह्म को लौकिकदृष्टान्तों के आधार पर आक्षिप्त नहीं किया जा सकता)

आत्मनि चैवं विचित्राश्चहि ।२।१।२७॥

कि च—एवं वस्त्वन्तर संबंधिनो धर्मस्य वस्त्वन्तरे चारोपणे सति, अचेतने घटादीं दृष्टा धर्मास्त्वद्विसजातीये चेतने नित्ये आत्मन्यपि प्रसज्यन्ते । तदप्रसक्तिश्च भावस्वभाववैचित्र्यादित्याह-विचित्राश्चहि इति-यथा-“अग्निजलादीनामन्योन्यविसजातीयाना मौष्ण्यादि शक्तयश्च विसजातीया पृश्यन्ते, तद्वत्लोकदृष्ट विसजातीये परे ब्रह्मणि तत्रतत्रादृष्टाः सहस्रशः शक्तयः सन्तीति न किञ्चिदनुपपन्नम् । यथोक्तं भगवता पराशरेण-“निर्गुणस्या प्रमेयस्य शुद्धस्याप्यमलात्मनः, कथं सर्गादिकतृत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपगम्यते” इति सामान्यदृष्टया परिचोद्य, “शक्तयः सर्वंभावानामचिन्त्यज्ञानगोचरा, यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भावशक्तयः, भवतितपतां श्रेष्ठ पावकस्ययथोष्णता” इति । श्रुतिश्च-“किं स्विद्वदनं क उत वृक्ष आसीद्यतो द्यावापृथ्वी निष्ठतक्षुः, मनीषिणो मनसा पृच्छतेदुतद्यद-ध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्, ब्रह्मवनं ब्रह्मसवृक्ष आसीद्यतो द्यावापृथ्वी निष्ठतक्षुः, मनीषिणो मनसा प्रव्रवोमि वो ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्” इति । सामान्यतो दृष्टं चोद्यं सर्ववस्तुविलक्षणे परे ब्रह्मणि नावतरतीत्यर्थः ।

संशय होता है कि—इस प्रकार तो, अन्य वस्तु संबंधी गुण का अन्य में अरोपण करने से, अचेतन घट आदि में, दृष्ट गुण, विसजातीय नित्य

चैतन्यात्मा में भी आरोपित हो जावेंगे?, वस्तु में स्वभावगत विलक्षण्य मानने से ऐसा नहीं होगा। परस्पर विसजातीय अग्नि जल आदि पद्यों में, उष्णता शीतलता आदि विचित्र शक्तियां देखी जाती हैं, ऐसी जगत में दृश्यमान समस्त विचित्रतायें, परब्रह्म में एक साथ अविच्छेद रूप से स्थित रहती है, जैसा कि-भगवान पराशर ने कहा भी है—“निर्गुण अपरिच्छिन्न, शुद्ध विमल स्वभाव परब्रह्म से सृष्टि कैसे संभव है? ' ऐसी, सामान्यतः शंका करके—“अग्नि में जैसे उष्णता है, वैसे ही वस्तु निष्ठ सृष्टि आदि शक्तियां परब्रह्म में स्वभावतः स्थित हैं। “ऐसी ही श्रुति भी है—“मैं जिज्ञासा करता हूँ कि-जिससे घुलोक और पृथ्वी निम्नृत हुए, वह वन है अथवा कुछ और? वह वृक्ष है अथवा कुछ और? परमेश्वर जिसमें अधिष्ठान करके जगत का परिचालन करते हैं, वेवन और वृक्ष सभी ब्रह्म हैं, घुलोक और पृथ्वी उन्ही से प्रादुर्भूत हुए। “इनका तात्पर्य यह है—कि—जागतिक सारे पदार्थ विलक्षण हैं, इसलिए उन विलक्षण परब्रह्म में, उनकी स्वामा-विक स्थिति है।

स्वपक्ष दोषाच्च ।२।१।२६॥

स्वपक्षे, प्रधानादिकारणवादे, लौकिकवस्तु विसजातीयत्वाभावेन प्रधानादेः लोकदृष्टा दोषास्तत्र भवेयुरिति सकलेतर विलक्षणं ब्रह्मैव कारणमभ्युपगन्तव्यम् । प्रधानं च निरवयवम्, तस्य निरवयवस्य कथमिव महदादिविचित्र जगदारम्भ उपपद्यते ।

जो लोग प्रधान आदि को जगत का कारण बतलाते हैं, उनके स्वयं अपने मत में भी, लौकिक पदार्थ विसजातीय न होने के कारण, लोक दृष्ट दोष, प्रधान आदि में लागू होते हैं। वे लोग प्रधान को निराकार मानते हैं; निराकार प्रधान से, महत आदि विचित्र जगत की सृष्टि कैसे संभव है?

सत्त्वरजस्तम इति तस्यावयवा विद्यन्त इति चेत्, तत्रेदं विवेचनीयम्, किं सत्त्वरजस्तमसां समूहः प्रधानं, उत सत्त्वरजस्त-मोभिरारब्धं प्रधानम्? अनन्तरे कल्पे, प्रधानं कारणमिति स्वाभ्यु-पगम- विरोधः, स्वाभ्युपेतसंख्याविरोधश्च, तेषामपि निरवयवानां

कार्यारम्भ विरोधश्च । समूहपक्षे च तेषां निरवयवत्वेन प्रदेशभेदमनपेक्ष्य संयुज्यमानानां न स्थूल द्रव्यारम्भकत्व सिद्धिः । परमाणुकारणवादेऽपि तथैव अणवो निरंशाः निष्प्रदेशाः, प्रदेशभेदमनपेक्ष्य परस्परं संयुज्यमाना अपि न स्थूलकार्यारम्भाय प्रभवेयुः ।

यदि कहें कि—सत्त्व रज और तम, ये तीनों गुण ही उसके अवयव हैं, तो विचार करना होगा कि—सत्त्व रज तम का समूह, प्रधान है अथवा सत्त्व रज तम से आरब्ध वस्तु विशेष, प्रधान है? यदि इन तीनों गुणों का कार्य प्रधान को मानें तो “प्रधान ही एक मात्र कारण है” ऐसा तुम्हारा कथन कट जावेगा और तुम्हारी अभिमत संख्या में भी विरोध होगा तथा निरवयव उन गुणों से, कार्य वस्तु का संभव भी, विरुद्ध बान होगी । यदि तीनों गुणों के समूह को प्रधान मानें तो, निरवयव उनके कारण, किसी अंश का परस्पर संयुक्त होना संभव न होगा । इस कारण, स्थूल द्रव्यों का उत्पादन भी असिद्ध हो जावेगा ।

परमाणुवाद में भी, वही बातें हैं, क्यों कि अणु, चिदंश और निष्प्रदेश (भाग रहित) हैं, इसलिए उनके परस्पर मिल जाने पर भी स्थूल रूप में, उनका कार्यान्वित होना असंभव है ।

सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ।३।१।३०

सकलेतरवस्तु विसजातीया परा देवता सर्वशक्त्युपेता च । तथैव परां देवतां दर्शयन्ति हि श्रुतयः” पराऽस्य शक्तिविविधैव श्रूयते स्वाभाविको ज्ञान बलक्रिया च” तथा— “अपहतपाप्मा विजरो-विमूर्त्युर्विशोको विजिथत्सोऽपिपासः “इति सकलेतर विसजातीयतां परस्या देवता याः प्रतिपाद्य “सत्यकामः सत्यसंकल्पः “इति सर्वशक्तियोगं प्रतिपादयन्ति । तथा—“मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वं कर्मा सर्वकामः सर्वगंधः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्सोऽवावय नारदः “इति च ।

अन्यान्य समस्त पदार्थों से विलक्षण परा देवता सर्वशक्ति सम्पन्ना है, ऐसा ही उस परा के संबंध में श्रुत्रियों का कथन है—“इसकी परा शक्ति स्वाभाविकी-ज्ञान-बल-क्रिया आदि अनेक नामों की है” तथा “वह निष्पाप, अजर-अमर-विशोक-भूख-प्यास रहित है “परा देवता की ऐसी विलक्षणता बतलाकर “सत्यकाम सत्यसंकल्प “इत्यादि सर्वशक्तियोग का प्रतिपादन किया गया है। तथा—“वह मनोमय अर्थात् मानस संकल्पवाला है, प्राण उसका शरीर तथा दीप्ति उसका स्वरूप है, वह सत्यकाम, सत्यसंकल्प, आकाश सदृश, सर्वकाम, सर्वबंध, सर्वरस वाक्य और आदर रहित, समस्त जगत में परिव्याप्त है। “इत्यादि।

विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम् ।२।१।३१॥

यद्यप्येकमेव ब्रह्म सकलेतर विलक्षणं सर्वशक्तिः, तथापि “न तस्य कार्यं करणं च विद्यते “इति करणविरहिणस्तस्य न कार्यारम्भः संभवतीति चेत्—तत्रोत्तरं—“शब्दभूलत्वात्” । “विचित्राश्च हि “इत्युक्तं शब्दैक प्रमाण सकलेतरविलक्षणं तत्तत्करण विरहेणापि तत्तत्कार्यंसमर्थमित्यर्थः । तथा च श्रुतिः “पश्यत्यक्षुः स शृणोत्यकर्णः : अपाणिपादो जवनो ग्रहीताः “इत्येवमाद्या ।

यद्यपि ब्रह्म, एक अद्वितीय, अन्य पदार्थों से विलक्षण सर्वशक्तिमान हैं, फिर भी “उनके देह इन्द्रियाँ नहीं हैं” इत्यादि श्रुति से ज्ञात होता है कि—वह करण रहित है, इसलिए उनसे कार्यों का होना संभव नहीं है। इस कथन का उत्तर “शब्दभूलत्वात् विचित्राश्च हि “इत्यादि के प्रसंग में दे चुके हैं। शब्दैक प्रमाणगम्य, सबसे विलक्षण, करणों से रहित भी वह, सब कार्यों को करने में समर्थ हैं। ऐसी श्रुति भी है—“नेत्ररहित देखते हैं, कानरहित सुनते हैं, बिना हाथ पैर के दौड़कर पकड़ते हैं “इत्यादि।

१० प्रयोजनवत्त्वाधिकरणः—

न प्रयोजवत्त्वात् ।२।१।३२॥

यद्यपीश्वरः प्राक्सृष्टेरेक एव सन् सकलेतर विलक्षणत्वेन सर्वार्थशक्तियुक्तः स्वयमेवविचित्रं जगत् स्रष्टुं शक्नोति, तथापीश्वर

कारणत्वं न संभवति । प्रयोजनवत्त्वाद् विचित्रसृष्टेः, ईश्वरस्य च प्रयोजनाभावात् । बुद्धि पूर्वकारिणामारम्भे द्विविधं हि प्रयोजनं स्वार्थः परार्थो वा । न हि परस्य ब्रह्मणः स्वभावत एवावाप्तसमस्त-कामस्य जगत् सर्गेण किञ्चन प्रयोजनमनवाप्तमवाप्सते । नापि परार्थः, अवाप्तकामस्य परार्थता हि परानुग्रहेण भवति, न चेदृशगर्भजन्म-जरामरण नरकादि नानाविधानंतदुःख बहुलं जगत् कष्टण्या सृजति, प्रत्युत सुखंकतानमेव जनयेज्जगत् कष्टण्या सृजन् । अतः प्रयोजनाभावात् ब्रह्मणः कारणत्वं नोपपद्यत इति ।

यद्यपि सृष्टि के पूर्व एकमात्र ईश्वर ही थे, सबसे विलक्षण होने से, सर्वशक्तियुक्त, यह स्वयम् ही जगत् की सृष्टि करने में समर्थ भी हैं, फिर भी—उनकी कारणता संभव नहीं है, क्यों कि—विशिष्ट सृष्टि, प्रयोजनाधीन होती है, ईश्वर से उस प्रयोजन का अभाव है । जो विवेचना-पूर्वक कार्य करता है, कार्यारम्भ में उसके दो प्रकार के प्रयोजन होते हैं एक स्वार्थ, दूसरा परार्थ । परब्रह्म जब स्वभाव से ही अभीष्ट विषयों से तृप्त अर्थात् आप्त काम हैं, तब जगत् सृष्टि से उन्हें किस अभीष्ट पदार्थ की प्राप्ति का प्रयोजन हो सकता है । उनका प्रयोजन परार्थ भी नहीं हो सकता, क्यों कि वे आप्त काम हैं, उनके अनुग्रह मात्र से दूसरे की कार्य सिद्धि हो सकती है । वे कष्टणादान, गर्भ-जन्म-जरा-मरण-नरकादि युक्त अनेक प्रकार के दुखों से पूर्ण, जगत् की सृष्टि नहीं कर सकते । यदि वे जगत् को रचते भी तो अपनी कृपा से एकमात्र मुक्त पूर्ण रचना करते । इसलिए प्रयोजन के अभाव से ब्रह्म की कारणता सिद्ध नहीं होती । एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—इस पर उत्तर देते हैं—

लोकवत्तु लीला कैवल्यम् । २।१।३३॥

अवाप्तसमस्तकामस्य परिपूर्णस्य स्वसंकल्प विकायंविचित्र-विचित्र चिदचिन्मिश्र जगत् सर्गे लीलैव केवला प्रयोजनम्, लोकवत्-यथा लोके सप्तद्वीपां मेदिनीमधितिष्ठतः संपूर्णशौर्यवीर्यपराक्रमस्यापि महाराजस्य केवल लीलैक प्रयोजनाः कंदुकादारम्भादृश्यंते, तथैव

परस्यापि ब्रह्मणः स्वसंकल्पमात्रावक्लृप्तजगज्जन्मस्थितिध्वंसादेर्ती-
लैकव प्रयोजनमिति निरवद्यम् ।

जो समस्त काम्य वस्तुओं से तृप्त और परिपूर्ण हैं, उनके लिए जडचेतन युक्त विविध विचित्र जगत् सृष्टि, केवल लीलामात्र है । जैसे कि—लोक में, सप्तद्वीपों वाली पृथ्वी के अधिष्ठाता महाराज, संपूर्ण शौर्य वीर्य पराक्रमवाले होकर भी, केवल मनोविनोद के प्रयोजन से, कंदुक क्रीडा इत्यादि करते हैं, वैसे ही परब्रह्म भी, अपने संकल्प मात्र से जगत् की सृष्टि—स्थिति—संहार आदि कार्य, लीला के प्रयोजन से ही करते हैं, जो कि निर्दोष है ।

वैषम्यनैधृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति २।१।३४॥

यद्यपि परम पुरुषस्य सकलेतरचिदचिद् वस्तु विलक्षणस्याचि-
त्यशक्तियोगात् प्राक्सृष्टेरेकस्य निरवयवस्यापि विचित्रचिदचिन्मिश्र
जगत् सृष्टि संभाव्येत, तथापि देवतिर्यङ् मनुष्यस्यावरात्मनोत्कृष्ट-
मध्यमापकृष्ट सृष्ट्या पक्षपातः प्रसज्येत् । अतिघोर दुःख योग-
करणान्धैधृण्यं चावर्जनीयमिति ।

यद्यपि सृष्टि के पूर्व, अद्वितीय निरवयव जडचेतन आदि समस्त पदार्थों से विलक्षण परमपुरुष परमेश्वर से, अपनी अव्यक्त शक्ति द्वारा जडचेतन युक्त विचित्र जगत् की सृष्टि संभव हो सकती है, तथापि, उत्तम, मध्यम और अधम रूप देव, मनुष्य और पशु आदि की सृष्टि करना उनके लिए दोषावह है तथा घोर दुःख संबोगमयी सृष्टि से उनकी निर्दयता निश्चित होती है ।

तत्रोत्तरं-न सापेक्षत्वादिति, न प्रसज्येयातां वैषम्यनैधृण्ये, कुतः?
सापेक्षत्वात्—सृज्यमानदेवादिक्षेत्रज्ञ कर्मसापेक्षत्वाद् विषमसृष्टेः
देवादीनां क्षेत्रज्ञानां देवादिशरीरयोगं तत्तत्कर्म सापेक्षं दर्शयन्ति हि
श्रुतिस्मृतयः “साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापोभवति, पुण्यः
पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन कर्मणा “तथा भगवता

पराशरेणापि देवादिवैचित्र्यहेतुः, सृज्यमानानां क्षेत्रज्ञानां प्राचीनकर्म-
शक्तिरेवेत्युक्तं "निमित्तमात्रमेवासौ सृज्यानां सगंकर्मणि, प्रधानकारणी-
भूता यतो वै सृज्यशक्तयः। निमित्त मात्रं मुक्तवैवनाग्यद् किञ्चिदपेक्षते,
नीयते तपतां श्रेष्ठ स्वशक्त्या वस्तु वस्तुताम्। "इति, स्वशक्त्या
स्वकर्मणैव देवादि वस्तुताप्राप्तिरिति ।

उक्त संशय का उत्तर देते हैं कि—वैपम्य और नैर्घृण्य दोषों की
संभावना नहीं होगी, क्योंकि—सृज्यमान देवता आदि जीवों के कर्मों के
तारतम्यानुसार ही सृष्टिगत वैपम्य है, देव आदि जीवों का, देवादि
शरीरों से जो संयोग होता है, वह अपने अपने कर्मों से मापेक्ष होता है
ऐसा ही श्रुति स्मृतियों का मत है—“उत्तम कार्य करनेवाला, उत्तम होता
है, पाप कर्म करने वाला पापी होता है, पुण्य से पुण्य तथा पाप से पाप
की प्राप्ति होती है।” सृज्यमान जीवों के प्राक्तन कर्म ही देवादि विचित्र
सृष्टि के कारण होते हैं, ऐसा भगवान पराशर भी कहते हैं—“उत्साद्य
जीवों की सृष्टि में, भगवान केवल निमित्त मात्र है, सृष्ट्य जीवों की
कर्मशक्ति ही प्रधान कारण है, जीवों को निमित्त की अपेक्षा होती है, पर
स्वकीय शक्तिबल से वे वस्तुत्व प्राप्त करते हैं, अर्थात् वस्तु रूप में प्रका-
शित होते हैं।” अपनी शक्ति अर्थात् अपने कर्म से ही, देव आदि योनियाँ
होती हैं, इसलिए परमात्मा दोषी नहीं हैं।

न कर्माविभागादितिचेन्नादित्वादुपपद्यते चाप्युपलभ्यते च
।२।१।३५॥

प्राक्सृष्टेः क्षेत्रज्ञाः न सान्ति, कुतः, ? अविभाग श्रवणात्
“सदेव सोम्येदमग्रआसोत्” इति, अतस्तदनीं तदंभावात्तत्कर्म न
विद्यते, कथं तदपेक्षं सृष्टिवैपम्यमित्युच्यते इति चेत्—न अनादि-
त्वात् क्षेत्रज्ञानां तत्कर्म प्रवाहाणां च। तदनादित्वेऽप्यविभाग उपप-
द्यते च, यतः तत् क्षेत्रज्ञवस्तु परित्यक्तनाहर्षं ब्रह्मशरीरतयाऽपि
पूषगव्यपदेशानहम् अति सूक्ष्मम्। तथाऽनम्युपगमे अकृताभ्यागमकृत
विप्रणाश प्रसंगश्च।

सृष्टि से पूर्व जीव नहीं थे, ऐसा अविभाग बोधक "हे सौम्य ! मृष्टि से पूर्व सत् ही था" इस वाक्य से ज्ञात होता है। उस समय उनके न रहने से, उनके कर्म भी नहीं थे, तब यह कैसे कह सकते हैं—कि सृष्टि-विषमता जीवकर्म सापेक्ष है ? ऐसा कथन अमंगल है, जीव और जीवों के कर्म का प्रवाह अनन्त है, उनके अनादि होने हुये भी, उनका अविभाग संभव है। वे क्षेत्रज्ञ, ब्रह्म के शरीर में नाम रूप विहीन होकर, ब्रह्म से अलग न रह सकने योग्य, अति सूक्ष्म रूप से स्थित रहते हैं। यदि ऐसा नहीं मानेगे तो अकृताभ्यागम और कृतविनाश दोष उपस्थित होंगे (अर्थात् प्रकृति का प्रवाह यदि अनादि नहीं है तो, जीवों का फलभोग आकस्मिक होने से अकृताभ्यागम दोष होगा। तथा पूर्व कल्प में किये हुये कर्मों का फल यदि बिना भोगे ही नाश होगा तो कृतनाश दोष होगा। सृष्टि प्रवाह को अनादि मानना ही उपयुक्त है।

उपलभ्यते च तेषामनादित्वं "न जायते म्रियते वा विपश्चित्" इति, सृष्टिप्रवाहानादिरथ च "सूर्याचन्द्रमसौघाता यथा पूर्वमकल्पयत्" इत्यादौ "तद्ध देवं तर्हि अव्याकृतमासोत्तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत्" इति नाम रूप व्याकरणमात्र श्रवणात् क्षेत्रज्ञानां स्वरूपानादित्वं सिद्धम्। स्मृतावपि "प्रकृतिं पुरुषं चैव विध्यनादीउभावपि" इति। अतः सर्वे विलक्षणत्वात् सर्वशक्तित्वात् सीलैकप्रयोजनत्वात्, क्षेत्रज्ञकर्मानुगुण्येन विचित्र सृष्टियोगात् ब्रह्मैव जगत् कारणम्।

उनकी अनादिता का वर्णन मिलता भी है—जीव का जन्म और मृत्यु नहीं होती" सृष्टि प्रवाह की अनादिता भी जैसे—"विघाता ने पूर्व कल्प के अनुसार सूर्य और चंद्र की सृष्टि की।" सृष्टि के पूर्व यह जगत अव्याकृत था, उसे ही नाम रूप से व्यक्त किया" इस वाक्य में केवल नाम रूप का वर्णन होने से, जीवों की स्वरूपतः अनादिता सिद्ध होती है। "प्रकृति और पुरुष दोनों को अनादि जानो इस स्मृति वाक्य से भी अनादिता सिद्ध होती है। सब से विलक्षण और सर्व शक्ति संपन्न ब्रह्म एक मात्र सीला के प्रयोजन से, जीवों के कर्मानुसार विचित्र सृष्टि करते हैं, वे ही जगत के कारण हैं, यही मानना चाहिए।

सर्वधर्मोपपत्तेश्च । २।१।३६॥

प्रधान परमाण्वादीनां कारणत्वे यद् धर्मवैकल्यमुक्तं, वक्ष्य-
माणं च तस्य सर्वस्य धर्मजातस्य कारणत्वोपपादितो ब्रह्मण्युपपत्ते-
श्च ब्रह्मैव जगत् कारणमिति स्थितम् ।

प्रधान और परमाणु को कारण बनाने में जो कारण धर्मों में अस्तं-
गति होती है, उसे आगे बतलाया गया है । कारणता के उपपादक समस्त
धर्म, ब्रह्म में ही उपपन्न होते हैं, इसलिए ब्रह्म ही जगत के कारण है यही
निश्चित मत है ।

॥ द्वितीय अध्याय प्रथम पाद समाप्त ॥

[द्वितीय अध्याय]

[द्वितीय पाद]

१ रचनानुपपत्त्याधिकरण ।

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानं प्रवृत्तेश्च । २।२।१॥

उक्तं जगज्जन्मादिकारणं परं ब्रह्मेति, तत्र परैरुद्भाविताश्च दोषाः परिहृताः । इदानीं स्वपक्ष रक्षणाय पर पक्षाः प्रतिक्षिप्यन्ते, इतरप्धा कस्यचिन्मंदधिय स्तेपां पक्षाणां युक्त्याभासमूलतामजानतः प्रामाणिकत्व शंकया वैदिक पक्षे किञ्चिद् श्रद्धा वैकल्यं जायेतापि, अतः परपक्ष प्रतिक्षेपायानन्तरः पादः प्रवर्तते । तत्र प्रथमं तावत् कापिलमतं निरस्यते । वैदिकानुमत्सत्कार्यवादाद्यर्थं संग्रहेणतस्य सत्यक्षनिक्षेप संभावनान्भ्रम हेतुत्वातिरेकात् ।

अब तक जगत के जन्म आदि के कारण ब्रह्म का समर्थन किया गया तथा दूसरों द्वारा किए गये दोषों का परिहार किया गया । अपने अपने मत की रक्षा के लिये, दूसरो के दूषण बतलावेगे, यदि परमत दोषों का उद्घाटन नहीं करेगे तो मंद बुद्धिवाले, उनके तर्क पूर्ण कथनों के चक्र में पड़कर, वैदिक मत के प्रति अश्रद्धालु हो जावेंगे । इसलिये विरुद्ध मतों के खंडन से इस पाद को प्रारम्भ करते हैं । सर्व प्रथम कापिल मत का ही खंडन करेगे, क्योंकि—ये लोग वैदिक समस्त सत्कार्यवाद को मानते हैं, जिससे वैदिक से प्रतीत होत है, इसलिये सर्वाधिक भ्रमोत्पादक हैं ।

“ईक्षतेनशिब्दम्” इत्यादिभिर्वैदिकवाक्यानामतत्परत्वमात्रमुक्तम्, अत्रैव तत्पक्ष स्वरूप प्रतिक्षेपः क्रियत इति न पौनरुक्त्याशंसा । एषा सांख्यानां दर्शनस्यिति, “मूल प्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त, षोडशकश्चविकारो न प्रकृतिर्नविकृतिः पुरुषः” इति

तत्त्वसंग्रहः । मूलप्रकृतिर्नाम सुखदुःखमोहात्मकानि लाघव प्रकाश
चलनोपष्टंभनगौरवावरणकार्याण्यत्यन्तातीन्द्रियाणी कार्यैकनिरूपण
विवेकान्यन्यूनातिरेकाणि समतामुपेतानि सत्त्वरजस्तमांसिद्रव्याणि ।
सा च सत्त्वरजस्तमसां साम्यरूपा प्रकृतिरेका स्वयमचेतनाऽनेक
चेतन भोगापवर्गार्था नित्या सर्वगता सततविक्रिया न कस्यचिद्
विकृतिः, अपितु परमकारणमेव, महदाद्यास्नद विकृतयो अन्वेषां च
प्रकृतयः सप्त, महानहंकारः शब्दतन्मात्रम्, स्पर्शतन्मात्रम्, रूपत-
न्मात्रं, रसतन्मात्रम्, गन्धतन्मात्रम् इति । तत्राहंकारस्त्रिधा-वैका-
रिकस्तैजसोभूतादिश्च क्रमात् सात्त्विकोराजनस्तामसश्च, तत्र वैका-
रिकः सात्त्विकः, इन्द्रियादि, भूतादिस्तामसो महाभूतहेतुभूततन्मात्र
हेतुः, तैजसो राजसस्तूभयोऽनुग्राहकः, आकाशादीनि पंचमहाभूतानि,
श्रोत्रादीनि पंचज्ञानेन्द्रियाणि, वागादीनि पंच कर्मेन्द्रियाणि, मन इति
केवल विकाराः षोडश, पुरुषस्तु निष्परिणामत्वेन न कस्यचित्
प्रकृतिः, न कस्यचिद् विकृतिः, तत एव निर्धर्मकश्चैतन्यमात्रवपुर्नि-
त्यो निष्क्रियः सर्गगतः प्रतिशरीरं भिन्नश्च, निर्विकारत्वान्निष्क्रिय-
त्वाच्चतस्य कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च न संभवति एवंभूतेऽपि तत्त्वे मूढाः
प्रकृतिपुरुष सन्निधि मात्रेण पुरुषस्य चैतन्यं प्रकृतावध्यस्य
प्रकृतेश्च कर्तृत्वं स्फटिकमणाविव जवाकुमुमस्यारुणिमानं
पुरुषेऽध्यस्य "अहंकर्ता भोक्ता" इति मन्यन्ते । एवमज्ञानाद्भोगः
तत्त्वज्ञानच्चापवर्गः । तदेतत्प्रत्यक्षानुमानागमैः साधयति । तत्र
प्रत्यक्ष सिद्धेषु पदार्थेषु नातीव विवादपदमस्ति । आगमोऽपि कपि-
लादि सर्वज्ञानमूल इति सोऽपि प्रथमे कांडे प्रमाणलक्षणे निरस्त
प्रायः । यदिदं प्रधानमेव जगत्कारण । मित्यनुमानं, तन्निरसनेन तन्मतं
सर्वं निरस्तं भवतीति तदेव निरस्यते ।

वैदिक वाक्यों का तात्पर्य, प्रकृति कारणवाद का सम्मोदन करना नहीं है, यह बात "ईक्षतेर्नाशब्दम्" इत्यादि में बतला चुके हैं। सही रूप से कापिलमत का खंडन अब करते हैं, इसलिए पुनरुक्ति दोष की शंका नहीं करनी चाहिये ! सांख्य दर्शन का मत है कि—"मूल प्रकृति अविकृत है, महत् आदि सात पदार्थ प्रकृति और विकृत दोनों हैं, किन्तु पुरुष न प्रकृत है न विकृत, वह तो एकमात्र अनुभव स्वरूप है।" सुख-दुःख-मोहात्मक-लघुता-प्रकाश-स्पन्दन-धारण-गुरुता और आवरण इत्यादि घर्मे युक्त अतिशय अतीन्द्रिय तत्त्व विशेष ही, मूल प्रकृति है। इसका पार्यंक्य एकमात्र कार्यगम्य है। न्यूनाधिक भाव शून्य, साम्य अवस्था को प्राप्त सत्त्वरज और तम द्रव्य ही प्रकृति है, जो कि नित्य सर्वव्यापी, निरन्तर विकारशील स्वतः अचेतन होते हुये भी, अनेक चेतनी (जीवों) के भोग और अपवर्ग का साधन करती है, यही उसका मुख्य प्रयोजन है। वह किसी का कार्य नहीं है, अपितु चरम कारण स्वरूप है। महत्-अहंकार-शब्दतन्मात्रा स्पर्शतन्मात्रा-रूप तन्मात्रा-रसतन्मात्रा-गन्धतन्मात्रा इत्यादि सात, मूल प्रकृति के कार्य हैं, तथा अधस्तन तत्त्व समूहों के कारण भी हैं। अहंकार तीन प्रकार का है, वैकारिक, तैजस और भूतादि, ये क्रमशः सात्त्विक राजसिक और तामसिक है। वैकारिक सात्त्विक अहंकार इन्द्रियों का कारण है। भूतादि तामस अहंकार, पृथ्वी आदि महामूत और पंच तन्मात्राओं का कारण हैं। तैजसराजस अहंकार, दोनों (सात्त्विक तामस) संस्कारों का अनुग्राहक (उपकारक) है। आकाश आदि पंचमहामूत, श्रोत्र आदि पंच ज्ञानेन्द्रिय, वाक् आदि पंच कर्मेन्द्रिय और ये सोलह केवल विकारमात्र है। पुरुष परिणाम हीन है, अतः न किसी की विकृति है न प्रकृति। इसी से पुरुष निगुण, एकमात्र चैतन्यस्वरूप नित्य, निष्क्रिय, सर्वव्यापक, प्रति शरीर में भिन्न भिन्न है। निविकार और निष्क्रिय होने से, उसमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व संभव नहीं है। इस प्रकार के तत्त्व को जानते हुये भी, मूढ लोग, प्रकृति और पुरुष के सानिध्य होने से, पुरुष के चैतन्य को, प्रकृति से आरोपित करके स्फटिक मणि में प्रतिबिंबित जवा-कुसुम की लालिमा की भांति प्रकृति के कर्तृत्व को पुरुष में आरोपित करके "मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ" ऐसा मानते हैं। इस प्रकार के अज्ञान से भोग तथा तत्त्वज्ञान से अपवर्ग होता है। प्रत्यक्ष-अनुमान और आगम प्रमाणों से, उक्त सिद्धांत स्थिर करते हैं। प्रत्यक्ष सिद्ध पदार्थों में कोई

विवाद नहीं है आगम प्रमाण, कपिल ऐसे सर्वज्ञ पुरुषों के ज्ञान से उद्बुद्ध है प्रथम अध्याय में उनके आगम प्रमाण को प्रायः खंडित किया जा चुका है। प्रधान की, जगत कारणता के विषय में जो अनुमान करते हैं, उसका निराकरण करने से उनका सारा मत ही निराकृत हो जायगा, इसलिये अब उसी का निराकरण करते हैं।

ते चैवं वर्णयन्ति—कूटस्नस्य जगत् एकमूलत्वमवश्याभ्युपगमनीयम्, अनेकेभ्यः कार्योत्पत्त्यभ्युपगमे कारणानवस्थानात् । तंतुप्रभृतयो हि अवयवाः स्वांशभूतैः पङ्क्तिभिः पार्श्वैः परस्परं संयुज्यमाना अवयविनमुत्पादयन्ति, ते च तत्त्वादयः स्वावयवैस्तथाभूतैरुत्पाद्यन्ते, ते च तथाभूतैः स्वावयवैरिति परमाणुभिरपिस्वकीयैः पङ्क्तिभिः पार्श्वैः संयुज्यमानैरेव स्वाकार्योत्पादनमभ्युपेतव्यम् । अन्यथा प्रथिमानुपपत्तेः । परमाणवो अप्यंशित्वेन स्वांशैस्तथैवोत्पाद्यन्ते, ते च स्वांशैरिति न क्वचिद् कारणव्यवस्थितिः अतः कारणव्यवस्था सिद्ध्यर्थमेकद्रव्यं विविधविचित्रपरिणामशक्तियुक्तं स्वयमप्रच्युत स्वरूपमेव महदाद्यनन्तावस्थाश्रयः कारणमाश्रयणीयम् । तच्चैकं कारणं गुणत्रयसाम्यरूपं प्रधानमिति तत्कल्पने हेतूनुपन्यस्यन्ति— 'भेदानां परिणामात् समन्वयाच्छक्तिः प्रवृत्तेश्च । कारणकार्यविभागादविभागाद् वैश्वरूपस्य कारणमस्त्यव्यक्तम्" इति ।

वे लोग वर्णन करते हैं कि—किसी एक पदार्थ को जगत का मूल कारण अवश्य मानना पड़ेगा, अनेक कारणों को मानने से, कारणगत अनवस्था होगी। देखा जाता है कि—तंतु आदि अवयव, अपने अंशभूत छः पार्श्वों से संयुक्त होकर अवयवी (वस्त्र) का उत्पादन करते हैं, वे तंतु आदि अवयव, पूर्वानुरूप स्वीय अवयवों से समुत्पादित होते हैं, वैसे ही वे अवयव अपने अवयवों से समुत्पादित होते हैं। ऐसी ही परमाणु समूह भी अपने छः पार्श्वों से संयुक्त होकर, अपने कार्य पदार्थ का समुत्पादन करते हैं, इसे स्वीकारना होगा। अन्यथा पदार्थ की स्थूलता, ही नहीं सकती। अंशो चावयव परमाणु भी, स्वकीय अंशो से उत्पन्न होते हैं, इस प्रकार कारण

कल्पना की कभी समाप्ति नहीं हो सकती। इसलिए कारण व्यवस्था की सिद्धि के लिए, अनेक विचित्रताओं वाले, परिणाम शक्ति संपन्न, स्वतः अच्युतस्वभाव, महत्त्व आदि अनंत अवस्थाओं के आश्रयीभूत किसी एक कारण को स्वीकारना चाहिए। सत्त्वादि तीनों गुणों की साम्यावस्था ही उक्त प्रकार का कारण है जो कि प्रधान है। ऐसे काल्पनिक प्रधान की ध्याख्या इस प्रकार करते हैं—“भेदों के परिणाम से, कार्य और कारण के समन्वय से, शक्त्यानुसार प्रवृत्ति से, कार्य और कारण के विभाग से, कारण कार्य के तादात्म्य संबंध से, जिसकी विशेषता ज्ञात होती है, ऐसा अव्यक्त ही कारण है।

अयमर्थः विश्वरूपमेव वैश्वरूप्यम् विचित्रसन्निवेश तनुभुवनादि कृत्स्नजगत्, तच्च जगद् विचित्र सन्निवेशत्वेन कार्यभूतं तत्सरूपाव्यक्त कारणम्, कुतः? कार्यत्वात्; कार्यस्य हि सर्वस्य तत्सरूपात् कारणविशेषात् विभागस्तस्मिन्नेवाविभागश्च दृश्यते। यथा घट मकुटादेः कार्यस्य तत् सरूपान्मृत्सुवर्णादिः कारणाद् विभागस्तस्मिन्नेव चा विभागः अतो विश्वरूपस्य जगतः तत्सरूपात् प्रधानादुत्पत्तिस्तास्मिन्नेवलयश्चेति प्रधानकारणकमेव जगत्। गुणश्रूय साम्यरूपं प्रधानमेव जगत्सरूपं कारणं सत्त्वरजस्तमोमयसुखदुःखमोहात्मकत्वाज्जगतः। यथा मृदात्मनाघटस्य मृद् द्रव्यमेव कारणम् तदेव हि तदुत्पत्त्याद्यप्रवृत्तिशक्तिमत्, तथा दर्शनात्। अव्यक्तस्य गुणसाम्य रूपस्य देशतः कालतश्चापरिमितस्यैव कारणत्वं भेदानां महदहंकारतन्माशादीनां परिमितत्वादवगम्यते। महदादीनि च घटादिवत्परिमितानि कृत्स्न जगदुत्पत्तौ न प्रभवन्ति, अतस्त्रिगुणं जगद् गुणत्रयसाम्यरूपप्रधानै ककारणमिति निश्चीयते।

उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि—विश्वरूप ही वैश्वरूप्य (अर्थात्—देह भुवन आदि संपूर्ण जगत्) है। विचित्र सन्निवेश समन्वित कार्यरूप यह जगत्, तदनुसृत अव्यक्त कारण से उद्भूत है। सारे होने वाले पदार्थ,

अपने ही समान स्वभाव वाले विशिष्ट कारण से विभक्त और तिरोभूत होने देखे जाते हैं। जैसे कि-घट मुकुट आदि, अपने समान रूप वाले मिट्टी और सुवर्ण आदि से विभक्त और लीन होते हैं। वैसे ही विचित्र सन्निवेश विशिष्ट जगत, प्रधान से ही, उत्पन्न और लीन होता है। इसलिए प्रधान को ही, जगत का उपादान कारण स्वीकारना चाहिए। यह जगत सर्व-रजतमोगुणमयसुखदुःखमोहात्मक है, इसलिए तीनों गुणों की साम्यावस्था रूप प्रधान ही, जगत् के स्वभावानुरूप कारण है। जैसे कि-मृत्तिका-त्मक घट की कारण मृत्तिका ही हो सकती है, मृत्तिका में उस घट के उपादान पाये जाते हैं। भेद समूह (महत्-अहंकार और पंचतन्मात्र) पदार्थ, परिमित (परिच्छिन्न) हैं, इससे ज्ञात होता है कि-देशकाल आदि से अपरिच्छिन्न गुणसाम्यरूप अव्यक्त ही, इन सब का कारण है। महत् आदि तत्त्व समूह, घट आदि पदार्थों की तरह, परिच्छिन्न हैं, इसलिए वे सब तो, जगत के उत्पादन में ममर्थ हो नहीं सकने। तीनों गुणों की साम्यावस्थारूप, प्रधान ही, त्रिगुणात्मक जगत् की एकमात्र कारण निश्चित होती है।

अत्रोच्यते—रचनानुपपत्तेश्च नानुमानं प्रवृत्तेश्च अनुमीयत इत्यनुमात्रं, न भवदुक्तं प्रधानं विचित्रजगत् रचना समर्थं, अचेतनत्वे सति तत्स्वभावाविज्ञानधिष्ठितत्वात्, यदेवं तत्तथा, यथा रथप्रासादादिनिर्माणे केवल दावादिकम्। दावादिरेचेतनस्य तज्ज्ञानधिष्ठितस्य कार्यारम्भानुपपत्तेः दर्शनात्, तज्ज्ञानधिष्ठितस्य कार्यारम्भ-प्रवृत्तेर्दर्शनाच्च न प्राज्ञानधिष्ठितं प्रधानं कारणमित्युक्तं भवति।

उक्त मत पर कथन यह है कि-रचना और तद् विषयक प्रवृत्ति की अनुपपत्ति और अनुमान से ऐसा निश्चित होता है कि-प्रधान कारण नहीं हो सकती। जिसकी अनुभूति की जाय वही अनुमान है, अनुमित प्रधान तत्व विचित्र जगत् की रचना करने में समर्थ नहीं है क्योंकि-वह स्वयं अचेतन है, उसके स्वभाव से भिन्न कोई दूसरा चेतन यदि उसका परिचालन नहीं करता तो, जैसी है वैसी ही सदा रहेगी जैसे कि-रथ प्रासाद आदि के निर्माण में केवल लकड़ी आदि ही समर्थ नहीं है, चेतन शिल्पी से अपरि-

चालित स्रकड़ी से कोई कार्य होता देखा नहीं जाता, अपितु उसके अधि-
ष्ठान में ही कार्यारम्भ होता है। वैसे ही किसी एक प्राज्ञ से अधिष्ठित
हुए बिना प्रधान भी जगत का कारण नहीं हो सकती।

चकारादन्वयस्थानैकान्त्यं समुच्चिनोति, नहि अन्वितं शौक्यगो
त्वादि कारणत्व व्याप्तं । न च वाच्यं माभूदन्वितानामपि शौक्या-
दिधर्माणां कारणत्वं, द्रव्यस्य तु हेमादेः कार्येऽन्वितस्य कारणत्वव्या-
प्तिरस्त्येव सत्त्वादोन्यपि द्रव्याणि कार्येऽन्वितानि कारणत्व व्याप्तानि
इति । यतः सत्त्वादयो द्रव्य धर्माः न तु द्रव्यस्वरूपम्, सत्त्वादयो हि
पृथिव्यादिद्रव्यगतलघुत्व प्रकाशादि हेतुभूताः सत्त्वभाव विशेषा एव,
न तु मृदूहिरण्यादिवत् द्रव्यतया कार्यान्विता उपलभ्यन्ते, गुणा इत्येव
च सत्त्वादीनां प्रसिद्धिः ।

सूत्रस्थ "च" के प्रयोग से, कार्यकारणानुवृत्ति की अनैकान्तिकता
ज्ञात होती है। शुक्लता और गोस्व आदि धर्मों के अन्वित अर्थात् कार्य में
अनुवृत्त होते हुये भी, कारणता धर्म से वह व्याप्त नहीं होता [अर्थात्
यही कार्य का कारण है, ऐसा नहीं कहा जा सकता] शुक्लता आदि से
अन्वित होते हुये, कारण धर्म व्याप्त नहीं होता तो न सही, मुकुट आदि
कार्यों से अन्वित सुवर्ण आदि में तो कारणता है, अतएव सत्त्व आदि गुण
द्रव्य पदार्थ, जब कारण से अनुवृत्त हैं, तो उनमें कारणता व्याप्ति क्यों न
होगी? ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि—सत्त्व आदि गुण धर्म ही है।
स्वयं द्रव्य स्वरूप नहीं हैं। पृथिवी आदि पदार्थ गत लघुता और प्रकाश
आदि के प्रवृत्तक, सत्त्व आदि गुण, पृथ्वी आदि के, एक प्रकार से स्वभाव
ही हैं, वह कभी मिट्टी और सुवर्ण की तरह द्रव्य रूप से किसी कार्य में
अन्वित नहीं हो सकते। सत्त्व आदि तो गुण नाम से ही प्रसिद्ध हैं।

यच्च कारणव्यवस्था सिद्धये जगतः एकमूलत्वमुक्तम्, तदपि
सत्त्वादोनामनेकत्वान्नोपपद्यते । अत एव कारणव्यवस्था च न
सिध्यति । साम्यावस्थाः सत्त्वादय एवहि प्रधानमिति त्वन्मतम् ।
अतः कारणबहुत्व । दनवस्त्रातदवस्थैव । न च तेषाम परिमितत्वेन

व्यवस्थासिद्धिः । अपरिमितत्वे हि त्रयाणामपि सर्वगतत्वेन न्यूनाधिकभावाभावाद् वैषम्यासिद्धेः कार्यारम्भा संभवात् । कार्यारम्भायैव परिमितत्वमवश्याश्रयणीयम् ।

जो यह कहा कि—अनेक कारण मानने से अव्यवस्था होगी वह भी सत्त्व आदि गुणों के अनेक होने से असंगत बात है । इससे भी कारणव्यवस्था नहीं बनती । तुम्हारे मत से, साम्यावस्थापन्न सत्त्वादि ही “प्रधान” है तो गुणों की अनेकता होने से, कारण बाहुल्य सिद्ध होता है इस प्रकार अनवस्था दोष तुम्हारे ही गले पड़ता है । तुम जो गुणों को अपरिमित मानने हुए, व्यवस्था की रक्षा करने की चेष्टा करते हो, वह भी नहीं हो पाती, क्योंकि—उनमें न्यून अधिक भाव तो हो नहीं सकता और वैषम्यावस्था सिद्ध नहीं होती, बिना वैषम्यावस्था के कार्यारम्भ नहीं हो सकता, इसलिए कार्यारम्भ के लिए तुम्हें उनकी परिमितता अवश्य स्वीकारनी होगी ।

यत्र रथादिषु स्पष्टं चेतनाधिष्ठित्वं दृष्टम्, तद्व्यक्तं सर्वं पक्षीकृतमित्याह—

रथ आदि के निर्माण में चेतनाधिष्ठान स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है, उससे भिन्न और सब पदार्थ पक्षीकृत हैं, इस संशय पर कहने हैं—

पयोम्बुवन्चेत्तत्रापि । २।२।२॥

यदुक्तं प्रधानस्य प्राज्ञानधिष्ठितस्य विचित्रजगद्रचनानुपत्तिरिति, तन्न, यतः पयोऽम्बुवत्प्रवृत्तिरुपपद्यते । पयस्तत्तावद्दधिभावेन परिणममानस्यानन्यापेक्षस्याऽऽपरिस्पन्द प्रभृति परिणामपरंपरा स्वत एवोपपद्यते, यथा च वारिदविमुक्तस्याम्बुन एकरसस्य नारिवेलतालचूतकपित्थ निम्बार्तित्रिष्यादित्ररसरूपेण परिणामप्रवृत्तिः स्वत एव दृश्यते तथा प्रधानस्यापि परिणामस्वभावस्यान्यानधिष्ठितस्यैव प्रतिसर्गाविस्थायां सदृश परिणामेनावस्थितस्य सर्गाविस्थायां गुण वैषम्यनिमित्तं विचित्र परिणाम उपपद्यते । यद्योक्तं—“परिणा-

मतः सलिलवत् प्रतिगुणाश्रयविशेषात्” तदेवमव्यक्तमनन्यापेक्षं-
 प्रवृत्तं इति चेत्-अत उत्तरं तत्रापि इति । यत् क्षीरजलादिदृष्टान्त-
 तया निर्दिष्टं तत्रापि प्राज्ञानधिष्ठाने प्रवृत्तिर्नोपपद्यते तदपि पूर्वञ्च
 पक्षीकृतमित्यभिप्रायः । “उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद हि”
 इत्यत्र दृष्टपरिकरान्तर रहितस्यापि स्वासाधारण परिणाम
 उपपद्यत, इत्येतावदुक्तम्, न प्राज्ञाधिष्ठितत्वं पराकृतम्
 “योऽप्सु तिष्ठन्” इत्यादिश्रुतेः ।

जो यह कहा कि-प्रभिन्न चेतन से अभिष्टित न होने से, प्रधान
 जगत की रचना करते में समर्थ नहीं है, यह असंगत बात है, दुग्ध और
 जल की तरह उसकी भी प्रवृत्ति हो सकती है । कारणान्तर निरपेक्ष,
 दधिरूप में परिणत, दुग्ध में जो, परिस्पन्दन आदि परिणाम परम्परा
 होती है वह स्वतः ही होती है । तथा मेष से पतित जल जैसे एकरस
 होते हुए भी—नारियल, ताल, आम, कंधा, नीम, आदि विचित्र स्वादु रसों
 में स्वतः ही परिणत होता है, वैसे ही, परिणाम शील प्रधान, प्रलयावस्था
 में किसी अन्य से परिचालित न होकर, सदृश परिणाम विशिष्ट के रूप
 में स्थित रहकर, सृष्टिकाल में, सत्व आदि गुणों की विपमता से विचित्र
 आकारों में परिणत होती है । जैसा कि कहा भी गया है—“जल की तरह,
 गुणों में भी, निश्चित आश्रयों में, परिणाम भेद होता है, और उसी से
 कार्य वैचित्र्य होता है । “इसमें निश्चित होता है कि-अव्यक्त अनन्यापेक्ष
 होकर, सृष्टि रूप में परिणत होती है । इस कथन का उत्तर-सूत्र में तत्रापि
 पद से दिया गया है अर्थात् दृष्टान्त रूप से जिन दुग्ध आदि का उदाहरण
 दिया गया है, उनमें भी प्राज्ञ के अधिष्ठान (चेतन के परिचालन) के बिना
 प्रवृत्ति संभव नहीं है । इस बात को, पूर्व सूत्रोक्त आपत्ति को पक्ष श्रेणी
 (विवादास्पद स्थल) में रक्खा गया है । पूर्वोक्त “उपसंहार दर्शनात्” इत्यादि
 सूत्र में, केवल यही कहा गया है कि-लौकिक सहायता शून्य पदार्थ भी,
 स्वकीय असाधारण शक्ति के आधार पर, विशेष विशेष कार्यों के आकार
 में परिणत होते हैं, प्राज्ञ अधिष्ठाता की वहाँ पर अपेक्षा नहीं होती, ऐसा
 नहीं कहा जा सकता; “जो जल में अधिष्ठान करते हैं “इत्यादि श्रुति
 प्राज्ञ अधिष्ठान का समर्थन करती है ।

व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् २।२।३॥

इतश्च सत्यसंकल्पेश्वराधिष्ठानापेक्षपरिणामित्वे सगंब्यतिरेकेण प्रतिसर्गावस्थयाऽनवस्थित प्रसंगाच्च नप्राज्ञानधिष्ठितं प्रधानं कारणम्, प्राज्ञाधिष्ठितत्वे तस्य सत्यसंकल्पत्वेन सगंप्रतिसर्गविचित्रा सृष्टिव्यवस्था सिद्धिः । न च वाच्यं प्राज्ञाधिष्ठितत्वेऽपि तस्यावाप्तसमस्तकामस्य परिपूर्णस्यानवधिकाधिकातिशयानन्दस्य निरवद्यस्य निरंजनस्य सगंप्रतिसर्गव्यवस्था हेत्वभावात् विषम सृष्टौ निर्दयत्व प्रसंगाच्च समानोऽयं दोष इति । परिपूर्णस्यापि लीलार्थं प्रवृत्ति संभवात्, सर्वज्ञस्य तस्य परिणामविशेषापन्न प्रकृति दर्शनरूप सगं प्रतिसर्गं विशेष हेतोः संभवात्, क्षेत्रज्ञ कर्मणामेव विषम सृष्टिव्यवस्थापकत्वाच्च ।

सत्य संकल्प परमेश्वर की अधिष्ठातृता से रहित, प्रधान की परिणति स्वीकारने से, प्रलयावस्था में प्रधान में, सारे जगत की स्थिति कदापि संभव नहीं है । प्राज्ञ परमेश्वर से अनधिष्ठित, प्रधान, जगत की कारण नहीं हो सकती । प्राज्ञ द्वारा परिचालित मानने से ही, उसको सत्य संकल्प जन्य सृष्टि, प्रलय और सृष्टिगत विचित्रता की व्यवस्था हो सकती है । यदि कहो कि-प्रधान को प्राज्ञ से अधिष्ठित मान लेने पर भी, प्राप्त काम परिपूर्ण निरवधि, अतिशय आनन्दमय, निर्दोष, निरंजन परमेश्वर के लिए सृष्टि और प्रलय के किसी उपयोगी कारण के न होने से, वैषम्य पूर्ण सृष्टि परक निर्दयता की बात उठ सकती है, इस प्रकार दोनों ही पक्षों में दोष तो समान ही है । तुम्हारा यह कथन भी असंगत है; परिपूर्ण, केवल लीला के लिए ही सृष्टि में प्रवृत्त होते हैं । सर्वज्ञ परमेश्वर के पक्ष में, विशेष परिणामापन्न प्रकृति का दर्शन ही सृष्टि और प्रलय का हेतु हो सकता है । विशेषतः, जीवों के प्राप्त कार्य ही, सृष्टिगत विषमता के कारण हैं ।

नन्वेवं क्षेत्रज्ञपुण्यापुण्यरूपकर्मभिरेव सर्वावस्थाः सिध्यन्तीति कृतमीश्वरेणाधिष्ठात्रा, पुण्यापुण्यरूपानुष्ठितकर्म संस्कृता प्रकृतिरेव

पुरुषार्थानुरूपं तथा तथा व्यवस्थया परिणंस्यते, यथा विषादि दूषितानां अन्नपानादीनामौषधविशेषाप्यायितानां च सुख दुःख हेतु भूतः परिणामविशेषो देशकालव्यवस्थया दृश्यते, अतः सर्गं प्रतिसर्गं व्यवस्था देवादिविषमसृष्टिः कैवल्यव्यवस्था च सर्वप्रकार परिणाम-शक्तियुक्तस्य प्रधानस्यैवोपपद्यत इति ।

यदि ऐसा ही है कि-जीवों के प्राक्तन शुभाशुभ कर्मों से ही सारी वैषम्यव्यवस्था होती है तो-प्रधान के अधिष्ठाता परमेश्वर की क्या आवश्यकता है? जैसे कि-विष आदि के संसर्ग से दूषित, औषधविशेष के संयोग से परिशोधित, अन्न जल आदि का, देशकाल के अनुसार, सुखदुःख-कर विचित्र परिणाम देखा जाता है, वैसे ही, प्रकृति भी, पुरुषानुष्ठित पुण्यापुण्य कर्म संस्कार के सहयोग से, तदनुरूप, पुरुषभोग तंपादन के लिए, विशेष वैचित्र्यमय कार्य के आकार में परिणत हो जाती है । इस प्रकार-हर प्रकार के परिणाम वाली प्रधान से सम्बन्धित होकर-सृष्टि प्रलय की व्यवस्था, देवादि सृष्टिगत वैषम्य, और मोक्ष की व्यवस्था आदि सब, संपन्न हो जाती है ।

अनभिज्ञो भवान् पुण्यापुण्यकर्मस्वरूपयोः, पुण्यापुण्यस्वरूपेहि शास्त्रैक समधिगम्ये, शास्त्रं चानदिनिघनाविच्छिन्नपाठसम्प्रदाया-नाघ्रातप्रमादादिदोषगंधवेदाख्याक्षराशिः तच्छ परमपुरुषाराधनतद-विपर्ययरूपे कर्मणी पुण्यापुण्ये, तदनुग्रहं निग्रहायत्ते च तत्फले सुखदुःखे इति वदति । तथाह द्रमिडाचार्यः “फलसंविभत्सया हि कर्मभिरात्मानं पिप्रीर्षति स प्रीतोऽलं फलायेति शास्त्रमर्यादा ” इति । तथा च श्रुतिः “इष्टापूतं बहुधाजातं जायमानं विरवं विभर्तिभुवन-स्य नाभिः ” इति । तथा च भगवता स्वयमेवोक्तं-“यतः प्रवृत्तिभूतानां येन सर्वमिदं ततं, स्व कर्मणा तमभ्यर्च्यं सिद्धिं विदन्ति मानवः ” इति । “तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्क्षिपाम्यजलम-शुभानासुरोष्वेवयोनिषु” इति च ।

(उत्तर) आर. पुण्यापुण्य कर्म के स्वरूप विभाग के विषय से अनभिज्ञ हैं। पुण्यापुण्य का स्वरूप एकमात्र शास्त्र गम्य है। उत्पत्ति विनाश रहित अविच्छिन्न पाठ संप्रदाय, प्रमाद आदि दोषों से असंपृष्ट, वेदनामक अक्षर राशि ही शास्त्र है। वह शास्त्र ही परमपुरुष परमेश्वर के आराधात्मक कर्म को पुण्य तथा उससे विपरीत कर्म को अपुण्य तथा परमेश्वर के निग्रह और अनुग्रह के अधीन सुख दुःख को, पुण्य अपुण्य का फल बतलाता है। द्रमिदाचार्य भी ऐसा ही कहते हैं—“फल प्राप्ति की इच्छा से कर्मों द्वारा जो आत्मा को प्यार करते हैं, वह प्रीत हो जाने पर फल प्राप्त कर लेते हैं, यही शास्त्र मर्यादा है” (अर्थात् फलरूपा पराभक्ति से जो परमात्मा से प्रीत करते हैं, उन्हें फलस्वरूप प्रीति की प्राप्ति हो जाती है) ऐसा ही श्रुति का भी मत है—“जगत का नामिस्वरूप अनेक प्रकार के दृष्टापूर्त कर्म ही, ज्ञात और जायमान जगत को धारण करते हैं”। स्वयं भगवान् भी ऐसा ही कहते हैं—“जिससे प्रणिमात्र की एवं जिसके द्वारा यह सारा जगत परिष्कृत है, मानव स्वकीय वर्णाश्रमोचित कर्म द्वारा, उसकी अर्चना करके सिद्धिनाम करते हैं “संसार में ईश्वर द्वेषी क्रूर प्रकृति वाले पापिष्ठ अवमनरों को मैं, निरन्तर आसुरी योनियों में डालता रहता हूँ”।

स भगवान् पुरुषोत्तमोऽवाप्तसमस्तकामः सर्वज्ञः सर्वेश्वरः सत्यसंकल्पः स्वमाहात्म्यानुगुणलीला प्रवृत्तः एतानि कर्माणि समीचीनान्येतान्यसमीचीनानीति कर्म द्वैविध्यं संविधाय तदुपादानोचितदेहेन्द्रियादिकं तन्नियममराक्षितं च सर्वेषां क्षेत्रज्ञानां सामान्येन प्रदिश्य स्वशासनावबोधि शास्त्रं च प्रदर्श्य तद्रूपसंहारार्थं चान्तरात्मतयाऽनुप्रविश्यानुमंतृतया च नियच्छंस्तिष्ठति। क्षेत्रज्ञास्तु तदाहितशक्तयः तत्प्रदिष्टकरण क्लेवरादिकास्तदाधारारश्च स्वयमेव स्वेच्छ्यानुगुण्येन पुण्यापुण्यरूपे कर्मणी उपाददते। ततरचपुण्यापुण्य रूपकर्मकारिणं स्वशासनानुवर्त्तिनं ज्ञात्वा धर्मार्थकाममोक्षैर्वर्धयते शासनातिवर्त्तिनं च तद् विपर्ययैर्योजयति, भ्रतः स्वातंत्र्यादिवैकल्य चोद्यानि नावकाशं लभन्ते।

वही आप्तकाम, सर्वज्ञ, सत्यसंत्कप, सर्वेश्वर भगवान् पुरुषोत्तम अपनी महिमायुक्त लीला में प्रवृत्त होकर, उत्तम और अधम कर्मों का निर्धारण करके, समस्त जीवों को, कर्मग्रहणोपयुक्त देहेन्द्रिय और उसकी संयमन शक्ति प्रदान कर, लोग उनका शासन स्वीकारें, ऐसा शास्त्रोपदेश देकर-स्वयं सर्वान्तर्यामीरूप से प्रविष्ट होकर, संयमन करते हुए स्थित रहते हैं। जीव उन परमात्मा से शक्ति प्राप्त कर, उनके प्रदत्त इन्द्रिय और शरीर धारण करके, स्वेच्छानुसार पाप और पुण्य कर्मों का उपपादन करते हैं। वह परमात्मा पुण्य कर्म करने वालों को, अपने शासन के अनुगत मानकर, धर्म अर्थ काम मोक्ष द्वारा बढ़ाते हैं, तथा शासन के उल्लंघन करने वालों को उससे विपरीत गति प्रदान करते हैं। इस प्रकार, ईश्वर संबंधी स्वातंत्र्य हानि आदि दोषों का कोई स्थान ही नहीं रहता।

दयाहि नाम स्वार्थं नरपेक्षा परदुःखासहिष्णुता, सा च स्वशासनातिवृत्तिव्यवसायिन्यपि वर्तमाना न गुणायवकल्पते, प्रत्युतापुंस्त्वमेवावहति, तन्निग्रह एव तत्र गुणः, अन्यथा शत्रु निग्रहादीनामगुणत्वप्रसंगात् । स्वशासनातिवृत्तिव्यवसाय निवृत्तिमात्रेणानाद्यनंतकल्पोपचितदुर्विषहानंतापराधानंगीकारेण निरतिशय सुखसंवृद्धये स्वयमेव प्रयतते । यथोक्तं—“तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्, ददामिबुद्धियोगं तं येन मामुपयांति ते । तेषामेवानुकंपार्थं अहमज्ञानजंतमः, नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता । “इति, अतः प्राज्ञानधिष्ठितं प्रधानं न कारणम् ।

स्वार्थ संबंध रहित, परदुःख को न सह सकना ही दया है जो जीव ईश्वर के शासन का उल्लंघन करते हैं, उन पर भी प्रभुकी वैसी दया है, परंतु, वह उपकार न करके अपुरुषार्थ (दुःख) का उत्पादन करती है भगवान् की ऐसी दयामय अकृपा भी, उनका एक गुण है, यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो, शत्रु निग्रह आदि कार्य दोषावह माने जावेंगे। शासनातिक्रमण विषयक अध्यवसाय से निवृत्त हो जाने पर, भगवान् स्वयं ही, जीवों के अनादिकाल संचित अपराधों की उपेक्षा करके, अत्यानंद सुख समृद्धि प्रदान करने की चेष्टा करते हैं। जैसा कि वे स्वयं कहते भी हैं—“निरन्तर

एकाग्रचित्त से प्रीति पूर्वक भजन करने वाले को मैं ऐसी बुद्धि प्रदान करता हूँ, जिससे वह मुझे प्राप्त कर सके। उनके ऊपर अनुकम्पा करने के लिए ही मैं, आत्मा में स्थित होकर, उज्वल ज्ञान दीप द्वारा, उनके आंतरिक अज्ञानांधकार को दूर करता हूँ। “इत्यादि से निश्चित होता है कि-प्राज्ञ से अशासित, प्रधान जगत का कारण नहीं है।

अथस्यात्-यद्यपि प्राज्ञानधिष्ठितायाः प्रकृतेः परिस्पंद प्रवृत्तिरपि न संभवतीत्युक्तम्, तथाऽप्यनपेक्षया एव परिणामप्रवृत्तिः संभवति तथादर्शनात्, धेन्वादिनोपयुक्तं हि तृणोदकादि स्वयमेव क्षीराद्याकारेण परिणममानं दृश्यते। अतः प्रकृतिरपि स्वयमेव जगदाकारेण परिणंस्यते। इति तत्राह-

उक्त कथन पर आपत्ति करते हैं कि-परमेश्वर की प्रेरणा के बिना अचेतन प्रधान में क्रिया की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, यह तो ठीक है परंतु अनपेक्षित भाव से प्रधान में, परिणाम प्रवृत्ति तो हो सकती है, वैसे देखा भी जाता है, कि-गौद्वारा उपभुक्त तृण जल आदि स्वतः ही दुग्ध के रूप में परिणत हो जाते हैं, वैसे ही प्रकृति भी स्वतः जगत के आकार में परिणत हो जाती है। इसका उत्तर देते हैं-

अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् ।२।२।४॥

नैतदुपपद्यते, तृणादेः प्राज्ञानधिष्ठितस्य परिणामाभावाद् दृष्टान्तासिद्धेः, कथमसिद्धिः? अन्यत्राभावात्-यदि हि तृणोदकादिक मनुहुहाद्युपयुक्तं प्रहीणं वा क्षीराकारेण पर्यणंस्यत, ततः प्राज्ञानधिष्ठितमेव परिणमत इति वक्तुमशक्यत, न चैतदस्ति, अतो धेन्वाद्युपयुक्तं प्राज्ञ एव क्षीरी करोति। “पयोन्मुदच्चेति तत्रापि” इत्युक्तमेवात्र प्रपंचित्तम् तत्रैव व्यभिचार प्रदर्शनाय।

उक्त तर्क असंगत है, तृण आदि, परमेश्वर की प्रेरणा बिना स्वतः ही दुग्ध हो जाये, ऐसा दृष्टान्त नितान्त असिद्ध है, गौ आदि के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र ऐसा क्यों नहीं हो जाता? तृण खाने वाले बल आदि में यदि दुग्ध परिणति हो जाती तो, परमेश्वर के प्रेरणा बिना,

प्रधान की जगदाकार परिणति मान ली जाती, किन्तु ऐसा तो संभवे है नहीं। वस्तुतः गाय आदि से उपभुक्त तृण आदि की दुग्ध रूप में जो परिणति होती है, वह परमेश्वर की प्रेरणा से ही होती है। “पयोभुवच्चेत्त्रापि” सूत्र में कहे गए नियम के व्यभिचार को प्रदर्शित करने के लिए ही, इस सूत्र में विवेचन किया गया है।

पुरुषारमवदितिचेत्तथापि ।२।२।५॥

अथोच्येत—यद्यपि चैतन्यमात्रवपुः पुरुषो निष्क्रियः, प्रधानमपि दूक्छक्तिविकलम् तथापि-पुरुषसन्निधानादचेतनं प्रधानप्रवर्तते तथा दर्शनात्, गमनशक्तिविकलदूक्छक्ति युक्त पंगुसन्निधानात्तच्चैतन्योपकृतो दूक्छक्तिविकलः प्रवृत्तिशक्तोऽन्धः प्रवर्तते, अयस्कांताश्मसन्निधानाच्चायः प्रवर्तते। एवं प्रकृतिपुरुषसंयोगकृतो जगत् सर्गः प्रवर्तते। यथोक्तं—“पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य, पंग्वंधवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः। “इति पुरुषस्य प्रधानोपमोगार्थं कैवल्यार्थं च पुरुष सन्निधानात् प्रधानं सर्गादौ प्रवर्तते इत्यर्थः।

कहते हैं कि—यद्यपि चैतन्यमात्र शरीर पुरुष निष्क्रिय है और प्रधान भी दर्शनशक्ति हीन है, फिर भी, पुरुष के सानिध्य में रहने वाली अचेतन प्रधान अपने कार्य में प्रवृत्त हो सकती है, जैसे कि दर्शनशक्ति विहीन क्रियाक्षमअंधा व्यक्ति, गमनशक्ति रहित, देखने में समर्थ पंगुव्यक्ति के सानिध्य से कार्य करता है तथा चुम्बक के सानिध्य से लौहा स्पन्दित होता है। उसी प्रकार प्रकृति भी चैतन्य के संयोग से जगत् की सृष्टि करती है। जैसा कि कहा भी है—“पुरुष, प्रधान का भोग करके, स्वयं भी मुक्तिरूप कैवल्य की प्राप्ति करे, इसलिए पंगु और अंध की तरह, पुरुष और प्रकृति संयोग करते हैं, जिसके फलस्वरूप जगत् की सृष्टि होती है” अर्थात् पुरुष के प्रकृति संवंधी भोग और मोक्ष के लिए, पुरुष के सहारे प्रकृति, सृष्टि का विस्तार करती है।

अत्रोत्तरं—तथापीति, एकमपि प्रधानस्य प्रवृत्त्यसंभवस्तदवस्थं एव, पंगोयंमनशक्तिविकलस्यापि मार्गदर्शनतदुपदेशादयः कादाचित्का विशेषः सहस्रशः सन्ति, अंधोऽपि चेतनः सन् तदुपदेशाद्यवगनेन प्रस्तंते, तथा अमस्कांतमणोरप्ययः समीपागमनादयःसंति । पुरुषस्यतु निष्क्रियस्य न ताहशा विकाराः संभवन्ति । सन्निधानमात्रस्य निकत्वेन नित्यसर्गप्रसंगो नित्यमुक्तत्वेन, बंधाभावोऽपवर्गभावश्च ।

“तथापि” कहकर उक्त तर्क का निराकरण करते हैं । अर्थात् इस स्थिति में भी, प्रकृति का अभाव पूर्ववत् ही है । पंगु में गमन शक्ति न होते हुए भी, मार्ग दर्शन के सूचक उपदेश आदि हजारों साधन उसे मिल सकते हैं, अन्धा भी सचेष्ट होकर पंगु के उपदेश से जानकारी प्राप्त कर अपने कार्य में प्रवृत्त हो सकता है, चुम्बक की ओर लोहा भी खिंच सकता है; पर निष्क्रिय पुरुष में ऐसा विकार संभव नहीं है । यदि प्रधान और पुरुष का साहचर्य सदा मानते हो तो, सृष्टि भी सदा रहेगी, प्रलय कभी होगा ही नहीं, साथ ही जब पुरुष नित्यमुक्त है, तो बंधन और मुक्ति इन दोनों का ही अभाव रहेगा ? [जो कि—तुम्हारे मत से विपरीत बात है]

अंगित्वानुपपत्तेश्च । २।२।६॥

गुणानामुत्कर्षनिकर्षनिबंधनांगांगिभावाद हि जगत् प्रवृत्तिः “प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात्” इति वदद्भिः भवद्भिरभ्युपगम्यते । प्रतिसर्गायस्थायां तु साम्यावस्थानां सत्त्वरजस्तम सामन्योन्याधिकन्यूनत्वाभावादंगांगिभावानुपपत्तेर्न जगत् सर्ग उपपद्यते । तदापि वैषम्याभ्युपगमे नित्यसर्ग प्रसंगः । अतश्च न प्राज्ञानधिष्ठितं प्रधानं कारणम् ।

सत्त्व भादि गुणों की जो आश्रयगत विशेषता है, उसी से विचित्र परिणाम होता है, तुम्हारे इस कथन के अनुसार गुणों के उत्कर्ष और अपकर्ष एवं तारतम्य के अनुसार अंग अंगी भाव से जगत् की प्रवृत्ति होती है । इस प्रकार प्रत्येक सृष्टि की स्थिति में, साम्यअवस्था को प्राप्त सत्त्व

रजतम में न्यूनाधिकता का अभाव होने से, अंग अंगी भाव तो हो नहीं सकता इसलिए जगत की सृष्टि भी नहीं हो सकती । यदि गुण वंपम्य स्वीकारते हो तो सृष्टि सदा बनी रहेगी । इससे निश्चित होता है कि प्राज्ञ से अनविष्टित प्रधान, जगत का कारण नहीं हो सकती ।

अन्यधानुमितौ चज्ञशक्तिवियोगात् ।२।२।७॥

दूषित प्रकारातिरिक्त प्रकारान्तरेण प्रधानानुमितो च प्रधानस्य ज्ञानस्त्वशक्तिवियोगात् ते एव दोषः प्रादुःष्युः । अतो न कथंचिदप्यनुमानेन प्रधान सिद्धिः ।

तुम्हारे द्वारा प्रस्तुत, प्रधान कारण संबंधी सभी युक्तियां दूषित हो गईं, इनके अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार से, प्रधान के संबंध में अनुमान करो भी तो, जब प्रधान में ज्ञानशक्ति का ही अभाव है, तब तुम्हारे अनुमान भी दूषित हो जावेगे । किसी भी प्रकार, प्रधान की कारणता, प्रमाणित नहीं होती ।

अभ्युपगमेऽप्यर्काभावात् ।२।२।८॥

अनुमानेन प्रधान सिद्धि अभ्युपगमेऽपि प्रधानेन प्रयोजनाभावान्त तदनुमातव्यम् । “पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य” इति प्रधानस्य प्रयोजनं पुरुषभोगापवर्गावभिमतौ तौ च न संभवतः । पुरुषस्य चैतन्यमानवपुषो निष्क्रियस्य निर्विकारस्य निर्मलस्य तत एव नित्यं मुक्त स्वरूपस्य प्रकृतिदर्शनरूपो भोगस्तद्वियोगरूपोऽपवर्गश्च न संभवति एवं रूपस्यैव प्रकृतिसंनिधानात्तत्परिणामविशेषमुखदुःख दर्शन रूपभोग संभावनायां प्रकृति संनिधानस्य नित्यत्वेन कदाचिदप्यपवर्गो न सेतस्यति ।

अनुमान से किसी प्रकार प्रधान का अस्तित्व स्वीकार भी से, पर सृष्टि कार्य में प्रधान का कोई प्रयोजन नहीं समझ में आता इसलिए उसके लिए अनुमान करना ही व्यर्थ है । “पुरुष के कैवल्य तथा प्रधान के दर्शन के लिए ही” अर्थात् पुरुष, प्रकृति का दर्शन का मोक्ष लाभ करे यही एक-

मात्र प्रयोजन है इस सांख्योक्ति से ज्ञान होना है कि-पुरुष का सुख दुःख भोग और मुक्ति लाभ ये दो ही सांख्य सम्मत प्रयोजन पुरुष के लिए संभव भी तो नहीं है क्योंकि-पुरुष स्वभाव से ही चैतन्य स्वरूप निष्क्रिय, निर्विकार और निर्मल होने से नित्यमुक्त स्वरूप है इसलिए उसमें प्रकृति दर्शन रूप भोग और प्रकृति से संबंध विच्छेद रूप मुक्ति की संभावना ही कहाँ है ? यदि किसी प्रकार, प्रकृति के सानिध्य से, प्रकृति के परिणाम विशेष सुख दुःख अनुभवात्मक भोग को पुरुष में मान भी ले तो, जब प्रकृति पुरुष के नित्य सानिध्य में रहती है, तब पुरुष की मुक्ति तो कभी हो नहीं सकती ।

विप्रतिषेधाच्चासमंजसम् ।२।२।६॥

विप्रतिषिद्धं चेदं सांख्यानां दर्शनम् । तथाहि-प्रकृतेः परार्थत्वेन दृश्यत्वेन भोग्यत्वेन च प्रकृतेर्भोक्तारं अधिष्ठातारं च द्रष्टारं साक्षिणं च पुरुषमभ्युपगम्य प्रकृत्यैव साधनभूतया तस्य कवलयमपि प्राप्यं वदंत एव तस्य नित्यनिर्विकारचैतन्यमात्रस्वरूपतया अकर्तृत्वं कैवल्यं च स्वरूपमेवाहुः, तत एव बंधमोक्षसाधनानुष्ठानं मोक्षश्च प्रकृतेरेवेत्याहुः एवंभूतनिर्विकारोदासीनपुरुषसंनिधानात् प्रकृतेरितरेतराध्यासेन सर्गादि प्रवृत्ति पुरुषभोगापवर्गायित्वंचाहुः "संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादि विपर्ययादधिष्ठानात् । पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कवलयार्थं प्रवृत्तेश्च तस्माच्च विपर्ययात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य, कवलयं माध्यस्थ्यं दृष्टृत्वं कर्तृभावरश्च "इति । "पुरुष विमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य" इत्युक्तवैवाह्याहुः "तस्मान्नवध्यते नापि मुच्यते नापि संसरति कश्चित्, संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः इति," तथा-"तस्मावृत् संयोगात् अचेतनं चेतनावदिवलिगम्, गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तृव भवत्युदासीनः पुरुषस्यदर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य पंग्वंध वैदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः इति" ।

साधुओं का यह दर्शन परस्पर विरुद्ध तथ्यों को भी उपस्थित करता है, जैसे कि-प्रकृति स्वयं पुरुषार्थ, जड और पुरुष भोग्या है, इसलिए पुरुष को उसका भोक्ता, द्रष्टा और अधिष्ठाता, साक्षी कहा गया है। प्रकृतिरूपी साधन से पुरुष की कैवल्य प्राप्ति बतलाई गई है साथ ही पुरुष को नित्य, निर्विकार चैतन्यस्वरूप, निष्क्रिय और कैवल्य कहा गया है। इसीलिए बंधन से मुक्त होने के लिए साधनानुष्ठान और मोक्ष प्रकृति सापेक्ष कहा गया है। निर्विकार उदासीन पुरुष की नित्य सन्निधि होने से, प्रकृति पुरुष में इतरेतर अभ्यास (अर्थात् प्रकृति में पुरुष के और पुरुष में प्रकृति के गुण मिल जाने से) होने से सृष्टि आदि कार्य और पुरुषीय भोगापवर्ग साधन में, प्रकृति की प्रवृत्ति बतलाई गई है जैसे कि-संघात परार्थता (समष्टिरूप सावयव पदार्थों की पर प्रयोजनीयता) त्रिगुणों की विपरीतता, अधिष्ठान पुरुष संबंधी भोक्तृभावना तथा कैवल्यार्थ प्रवृत्ति से, पुरुष नामक पदार्थ की स्थिति निश्चित होता है। पूर्वोक्त विपरीत के कारण ही पुरुष का साक्षित्व, विशुद्धता, औदास्य, द्रष्टृत्व और अकर्तृत्व सिद्ध होता है। आत्मा की मुक्ति के अनुरूप ही प्रधान की चेष्टायें होती हैं। “इत्यादि कहने के बाद ही कहते हैं “इसलिए कोई आत्मा, बद्ध-मुक्त या संसारी नहीं होता, अपितु परिवर्तनशील प्रकृति ही, संसारी, बद्ध या मुक्त होती है। “इसलिए पुरुष के संयोग से अचेतन प्रकृति, चेतन की तरह होती है और पुरुष स्वभाव से निष्क्रिय होते हुए भी कर्त्ता सा प्रतीत होता है। पुरुष की कैवल्य सिद्धि के लिए तथा पुरुष द्वारा प्रकृतिदर्शन के लिए, अंधे और लंगड़े के संयोग का सा, प्रकृति पुरुष का संयोग होता है जिसके फलस्वरूप सृष्टि होती है।

साक्षित्व द्रष्टृत्वभोक्तृत्वादयो नित्यनिर्विकारस्याकर्तुं रुदासीनस्य कैवल्यैक स्वरूपस्य न संभवन्ति । एवं रूपस्य तस्याभ्यासमूलभ्रमोऽपि न संभवति, अभ्यासभ्रमयोरपि विकारत्वात् । प्रकृतेश्च तौ न संभवतः, तयोरचेतन धर्मत्वात् । अभ्यासोहिनाम चेतनस्यान्यस्मिन्नन्य धर्मानुसंधानं स च चेतन धर्मो विकारश्च । न च पुरुषस्य प्रकृतिसन्निधि मात्रेणाभ्यासादयः संभवन्ति, निर्विकारत्वात् । संभवति चेत्, नित्यं प्रसज्येरन्, सन्निधेरकचित्करत्वं च” न

विलक्षणत्वात् "इत्यत्र प्रतिपादितम् ।

साक्षित्व, द्रष्टव्य, भोक्तृत्व आदि, धर्म, नित्य, निर्विकार, उदासीन अकर्ता, कैवल्यैकस्वरूप पुरुष मे नहीं हो सकते, तथा ऐसे स्वभाव वाले पुरुष में, अध्यासमूलक ध्रम भी नहीं हो सकता, क्योंकि अध्यास और ध्रम दोनों ही विकारात्मक है । प्रकृति मे भी, अध्यास और ध्रम नहीं हो सकते, क्योंकि ये दोनों चेतन के धर्म है, प्रकृति अचेतन है । किसी चेतन को, किसी एक पदार्थ में किसी अन्य पदार्थ के धर्म या गुणों की प्रतीति हो, उसे अध्यास कहते है, यह अध्यास, चेतन का विकारात्मक धर्म है यदि कहो कि-प्रकृति के साहचर्य से चेतन में अध्यास आदि होते हैं सो भी नहीं हो सकता, क्यों कि पुरुष स्वभाव से निर्विकार है । यदि कहो कि-प्रकृति के नित्य साहचर्य से, पुरुष मे संभव हो सकते है; तब तो, इन्हे पुरुष में सदा ही आरोपित मानना पड़ेगा । प्रकृति पुरुष के सानिध्य की अकिञ्चित् कार्यता हम न विलक्षणत्वात् "सूत्र में दिखला चुके है ।

प्रकृतिरेव संसरति बध्यते मुच्यते चेत्-कथं नित्यमुक्तस्य पुरुषस्योपकारिणी सेत्युच्यते? वदन्तिहि—“नानावधैरुपायैरुपकारिव्य-
नुपकारिणः पुंसः, गुणवत्यगुणस्य सतस्तस्याथर्मपाथकं चरति "इति
तथा- प्रकृतिर्येन पुरुषेण यथास्वभावाद्दृष्टा, तस्मात्पुरुषात्तदानीमेव
निवर्तत इति चाहुः । "रंगस्यदर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा वृत्तात्
पुरुषस्यतथाऽऽत्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः प्रकृतेः सुकुमारतरं न
किञ्चिदस्तीति मेमतिर्भवति । या दृष्टास्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति-
पुरुषस्यै इति । तदप्यसंगतम्-पुरुषोहि नित्यमुक्तत्वान्निर्विकारत्वात्तदा
कदाचिदपि पश्यति नाध्यस्यति च । स्वयं स्वात्मानं न पश्यति,
अचेतनत्वात् । पुरुषस्य स्वात्मदर्शनं, स्वदर्शनमिति नाध्यवस्यति
स्वयमचेतनत्वात् पुरुषस्य च दर्शनरूप विकारासंभवात् ।

यदि कहो कि—प्रकृति ही संसरति, बद्ध और मुक्त होती है; तो उसे नित्यमुक्त पुरुष की उपकारिणी कैसे कह सकते हो? सांख्यों का कथन है कि—“गुणवती (सत्त्वरजतमोमयी अथवा सद्गुण संपन्ना स्त्री)

पुरुष (आत्मा या स्वामी) के अपकार करने पर भी, गुणहीन उस पुरुष का, उपकार ही करती है, अपना प्रयोजन होते हुए भी, उसी का प्रयोजन साधती है। “वे ये भी कहते हैं कि-प्रकृति, जिस पुरुष से, जैसे स्वभाव से देखी जाती है, उस पुरुष के निकट से वह बंसी ही, उस समय लौट आती है—जैसे कि—“नर्तको, रंगशाला में स्थित पुरुषों को नृत्य दिखलाकर, लौट जाती है, वैसे ही प्रकृति, पुरुष को अपनी झलक दिखलाकर लौट आती है। प्रकृति से अधिक, कोई और सुकुमार नहीं हो सकता, ऐसी मेरी भति है, पुरुष ने मुझे पहिचान लिया, ऐसा सोचते ही वह लज्जित होकर पुनः उसके सामने नहीं जाती। “इत्यादि कथन भी असंगत है—पुरुष जब नित्य मुक्त और निर्विकार है तो वह, उस प्रकृति को न देख सकता है और न स्वतः अध्यस्त ही हो सकता है। वह प्रकृति स्वयं अपने को तो देख नहीं सकती, क्यों कि अचेतन है। वह जो, पुरुष को अपना दर्शन देती है, उसमें स्वयं तो अध्यस्त (लिप्त) हो नहीं सकती, क्योंकि—अचेतन है। पुरुष भी निर्विकार है, इसलिए दर्शन कर नहीं सकता।

अथ सन्निधिमात्रमेव दर्शनमिरयुच्यते, सन्निधेर्नित्यत्वेन नित्य दर्शनं प्रसंग इत्युक्तम्। स्वरूपातिरिक्तादाचित्क सन्निधिरपि नित्यनिर्विकारस्य नोपपद्यते।

जो यह कहा कि—प्रकृति की सन्निधि होने मात्र से, दर्शन की प्रवृत्ति होती है, तो नित्य सन्निधि से, दर्शन की प्रवृत्ति भी नित्य होगी। यदि नित्य सन्निधि न मानकर कभी कभी की सन्निधि मानते हो तो भी, नित्यनिर्विकार पुरुष में दर्शन प्रवृत्ति की संभावना नहीं है।

किं च मोक्षहेतुस्तु स्वसन्निधानरूपमेव दर्शनं चेत्-बंधहेतुरपि तदेवेति नित्यवद् बंधो मोक्षश्चस्याताम्। अथवा दर्शनं बंधहेतुः यथावत् स्वरूपदर्शनं मोक्षहेतुरिति चेत्-उभयविषयापि दर्शनस्य सन्निधानरूपतान्तिरेकात्सदोभय प्रसंग एव। सन्निधिरनित्यत्वे तस्यहेतुरन्वेषणीयः, तस्यापोत्यनवस्था। अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया स्वरूपसदभाव एव सन्निधिरिति तदा स्वरूपस्य नित्यत्वेन

नित्यवद्बन्धमौक्षौ । अत एवमादेविप्रतिषेधात् सांख्यानां दर्शन-
मसमंजसम् ।

यदि कहो कि-प्रकृतिसानिध्य दर्शन ही, पुरुष का मोक्ष है, तो वह प्रकृति बंधन का कारण भी तो है, इस प्रकार तो बंधन और मोक्ष दोनों साथ साथ रहेंगे । यदि कहो कि-प्रातिपूर्णज्ञान ही बंधन का कारण है तथा आत्मा का साक्षात्कार ही मोक्ष का कारण है; तो इन दोनों प्रतीतियों से उक्त सन्निधि से कोई भेद नहीं है, वही बंधन और मुक्ति की साथ साथ होने वाली बात, उठती है । यदि सन्निधि को अनित्य मानें तो उसकी अनित्यता का कारण खोजना होगा, उससे भी अनवस्था होगी । दोष परिहार के लिए यदि प्रकृति और पुरुष के स्वरूप सद्भाव को ही सन्निधि माने, तो जब दोनों का ही स्वरूप नित्य माना है, बंधन और मोक्ष भी नित्य हो जावेंगे । इस प्रकार की अनेक अनर्गल बातों से सांख्यों का दर्शन असंगत सिद्ध होता है ।

येऽपिकूटस्थनित्यनिर्विशेषस्वप्रकाशचिन्मात्रं ब्रह्माविद्या-

साक्षित्वेनापारमार्थिकं बन्धमोक्षभागिति वदन्ति तेषामप्युक्तनीत्याऽ-
विद्यासाक्षित्वाध्यासाद्यसंभवादसामंजस्यमेव, इयांस्तुविशेषः, सांख्याः
जननमरण प्रतिनियमादिव्यवस्था सिद्ध्यर्थं पुरुषबहुत्वमिच्छन्ति, तैस्तु
तदपि नेच्छन्तीति सुतरामसामंजस्यम् ।

और जो लोग (शांकरमतावलंबी) कूटस्थ, नित्य निर्विशेष, स्वप्रकाश, चैतन्यमात्र स्वरूप ब्रह्म को ही अविद्या का नाश और द्रष्टा बतलाकर बंधन और मोक्ष के मिथ्यात्व की बात कहते हैं, उनके मतानुसार भी, ब्रह्म के अविद्या साक्षित्व आदि धर्मों का अध्यास संभव नहीं हो सकता, असामंजस्य ही होता है इनकी सांख्यों से इनकी ही विशेषता है कि-सांख्य लोग-जननमरणव्यवस्था की रक्षा के लिए अनेक पुरुषों की कल्पना करते हैं, जब कि शांकर वो भी नहीं करते अर्थात् अद्वैत स्वीकारते हैं, असामंजस्य तो हर स्थिति में होता ही है ।

यत्तु प्रकृतेः पारमार्थ्या पारमार्थ्यविभागेन वैषम्यमुक्तं,
तदयुक्तम्, पारमार्थिकत्वेऽप्यपारमार्थिकत्वेऽपि नित्यनिर्विकार
स्वप्रकाशैकरस चिन्मात्रस्य स्वव्यतिरिक्त साक्षित्वाद्यनुपपत्तेः ।
अपारमार्थिकत्वे तु तस्याः दृश्यत्ववाध्यत्वाभ्युपगमात्
सुतरामसंगतम् । औपाधिक भेदवादेऽपि उपाधिसंबन्धिनो
ब्रह्मणोऽयमेवस्वभाव इत्युपाधिसंबन्धा-द्यनुपपत्तेरसामंजस्यं
पूर्वमेवोक्तम् ।

और जो, प्रकृति की परमार्थता और अपरमार्थता के आधार पर
वैषम्य का समर्थन किया वह भी असंगत है; प्रकृति परमार्थ हो या
अपरमार्थ, नित्य-निर्विकार-स्वप्रकाश-एकमात्र चिन्मय वस्तु के लिए
अपने से अतिरिक्त कोई और साक्षी, नहीं हो सकता । यदि प्रकृति को
अपरमार्थ मानते हैं तो प्रकृति में दृश्यत्व और वाद्यत्व भी मानने ही
पड़ेंगे, इस स्थिति में, पुरुष का साक्षित्व मानना असंगत होगा । प्रकृति
के पारमार्थिक भेद मानने पर भी, उपाधिसंबन्ध ब्रह्म का और उसका
स्वभाव जब एक सा ही है, तब उपाधि संबन्ध आदि घट नहीं सकता, इन
समस्त कारणों से जो असामंजस्य होता है, उसे तो पहिले ही बतला
चुके हैं ।

२ महद्दीर्घाधिकरणः—

महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमंडलाभ्याम् ।२।२।१०॥

प्रधानकारणवादस्य युक्त्याभासमूलतय विप्रतिसिद्धत्वाच्चा
-सामंजस्यमुक्तम् । संप्रति परमाणुकारणवादस्याप्यसामंजस्यम्
प्रतिपाद्यते- “महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमंडलाभ्याम् ”इति ।
असामंजसमिति वक्तंते, वा शब्दश्चार्ये । ह्रस्वपरिमंडलाभ्याम्,
द्वयणुकपरमाणुभ्यां, महद्दीर्घवत् अणुकोत्पत्तिवादवत्, अन्यच्च-
तदभ्युपगतं सर्वमसामंजसम्, परमाणुभ्यो द्वयणुकादिक्रमेण

जगदुत्पत्तिवादवदन्यदप्यसमंजसमित्यर्थः । तथाहितं तु प्रभृतयो हि
 अत्रयवाः स्वांशैः षड्भिः पार्श्वैः संयुज्यमाना अत्रयविनमुत्पादयन्ति,
 परमाणवोऽपि स्वकीयैः षड्भिः पार्श्वैः संयुज्यमाना एव द्वयणुकादीनां
 उत्पादकाभवेयुः, अन्यथा परमाणुनां प्रदेशभेदभावे सति,
 सहस्रपरमाणुसंयोगेऽपि एकस्मात् परमाणोरनतिरिक्तपरिमाणतया-
 अणुत्व ह्रस्वत्वमहत्त्वदीर्घत्वाद्यसिद्धिः स्यात् । प्रदेशभेदाभ्युपगमे
 परमाणवोऽपि सांशाः स्वकीयैरंशैः । ते च स्वकीयैरंशैरित्यनवस्था ।

असद् युक्तिमूलक, परस्पर विरुद्ध मतवाले, प्रधान कारणावाद की
 असंगति बतला दी गई । अब “महदोर्ध्ववद्” इत्यादि सूत्र से परमाणु
 कारणवाद की असंगति का प्रतिपादन करते हैं । सूत्र में वा शब्द च के
 अर्थ में प्रयुक्त है । इसका तात्पर्य है कि—यहाँ भी असामंजस्य है ह्रस्व और
 परिमंडल अर्थात् द्वयणुक और परमाणु से महद्दीर्घवत् अर्थात् द्वयणुक
 की उत्पत्ति होती है इत्यादि मत के साथ ही कणाद के अन्य मत भी
 असामंजस्यपूर्ण हैं । अर्थात् परमाणुओं से द्वयणुकादि क्रम से जगत् की
 उत्पत्ति का वर्णन जैसे असंगत है, वैसे ही अन्य विषय भी असंगत हैं ।
 जैसे कि वस्त्र के अवयव तंतु अपने छः पार्श्वों से परस्पर संयुक्त होकर,
 अवयवी (वस्त्र) का उत्पादन करते हैं, परमाणु भी अपने छः पार्श्वों से
 संयुक्त होकर ही द्वयणुक आदि के उत्पादक होंगे, अन्यथा अंशरहित
 परमाणु हजारों हजारों परमाणुओं से संयुक्त होने पर भी, बड़े परिमाण
 के ही ही नहीं सकते, इसके फलस्वरूप, अणुत्व, ह्रस्वत्व, दीर्घत्व, महत्त्व
 आदि की व्यवस्था भी नहीं बन सकती । परमाणुओं के अंशभेद स्वीकारने
 से, वे परमाणु अपने अपने अंशों से सावयव होंगे, इस प्रकार
 अनवस्था होगी ।

न च वाच्यम्-अत्रयवाल्पत्वमहत्त्वाभ्यां हि सर्वंपमहीधरयोः
 वंपम्यासिद्धेः । अत्रयवापकर्षकाष्टावश्याभ्युपगमनीया इति ।
 परमाणुनां प्रदेश भेदाभावे सत्येकपरमाणुपरिमाणातिरेकी प्रथिमा
 न जायेतेति, सर्वंपमहीधरयोरेवासिद्धेः । किं कुमं? इति चे-
 वैदिकः पक्षः परिगृह्यताम् ।

यह नहीं कह सकते कि-अवयवों की अल्पता और दीर्घता द्वारा ही सरसों और पर्वत रूप विपमता होती है। परमाणुओं के अनंत अवयवों को मानने पर, अवयवों के अनंतत्व साम्य होने से सरसों और पर्वत के मध्य में, कभी विभिन्न परिमाण, प्रमाणसिद्ध नहीं हो सकता, इसलिए अवयव की चरम सूक्ष्मता, अवश्य स्वीकारनी पड़ेगी। परमाणु के अवयव भेद को न स्वीकारने से, एक परमाणु का जो परिमाण है, उसके द्वारा, उससे अधिक परिमाण स्थूलता, कभी हो नहीं सकती, इसलिए सरसों और पर्वत का अस्तित्व भी सिद्ध नहीं हो सकता। यदि कहो कि-फिर क्या करें? वैदिक पक्ष स्वीकारो।

यत्तु परैः ब्रह्मकारणवाददूषणपरिहारपरमिदं सूत्रं व्याख्यातम्, तदसंगतम्। पुनरुक्तं च, ब्रह्मकारणवादे परोक्तान्दोषान् पूर्वस्मिन् पादे परिहृत्य परपक्षप्रतिक्षेपो हि अस्मिन् पादे क्रियते। चेतनाद् ब्रह्मणो जगदुत्पत्तिर्भवश्च "न विलक्षणत्वात्" इत्यत्रैव प्रपंचितः। अतो ह्रस्वपरिमंडलाभ्यां महद् दीर्घाणु ह्रस्वोत्पत्तिवदन्यच् च तदभ्युपगतं सर्वमसमंजसम् इत्येव सूत्रार्थः।

जो लोग, ब्रह्म कारणवाद दूषण परिहार परक इस सूत्र की व्याख्या करते हैं, वह असंगत और पुनरुक्ति मात्र है। पूर्वपाद में ही, ब्रह्मकारणवाद पर किये गए, परपक्ष के प्रहारों का परिहार करके इस द्वितीयपाद में परपक्ष का प्रत्याख्यान करते हैं। चेतन ब्रह्म से ही, जगत् की उत्पत्ति संभव हो सकती है, ऐसा "न विलक्षणत्वात्" सूत्र में विस्तृत रूप से बतला दिया गया है। ह्रस्व और परिमंडल से जैसे-महत्-दीर्घ अणु और ह्रस्व परिमाण युक्त पदार्थों की उत्पत्ति जैसे असंगत है, वैसे ही कणाद के अन्य मत भी असंगत हैं, यही सूत्र का तात्पर्य है।

किमन्यदसमंजसमित्याह-और असंगति क्या है? इसका उत्तर देते हैं।

उभयधाऽपि न कर्मात्स्तदभावः।२।२।११॥

परमाणुकारणवादे हि परमाणुगतकर्मजनित तत्संयोगपूर्वक-द्वयणुकादिब्रमेण जगदुत्पत्तिरिष्यते, तत्रनिखिलजगदुत्पत्तिकारणभूत

परमाणुगतमाद्यं कर्मादृष्टकारितमित्यभ्युपगम्यते "अग्नेरूष्वंज्वलनं वायोस्तिर्यंगमनं अणमनसोरचाद्यं कर्मेत्यदृष्टकारितानि "इति ।

जो परमाणु को जगत का उपादान मानते हैं, उनका अभिप्राय यह है कि—परमाणु से सर्वप्रथम क्रिया उत्पन्न होती है, उस क्रिया से परमाणुओं का परस्पर संयोग होता है, जिससे द्वयणुक आदि क्रम से जगत् की उत्पत्ति होती है । उसमें विशेषता यह है कि—समस्त जगत् की उत्पत्ति की कारणभूत जो परमाणुओं की आदिम क्रिया है, वह अदृष्ट परिचालित है । "अग्नि की ऊपर उठती हुई ज्वाला, वायु की तिरछी चाल, परमाणु और मन की आदिम क्रिया आदि, अदृष्ट परिचालित हैं, "इत्यादि ।

तदिदं परमाणुगतं कर्म स्वगतादृष्टकारितम्, आत्मगतादृष्टकारितं वा? उभयघाऽपि न संभवति, क्षेत्रज्ञपुण्यपापानुष्ठानजनित्तस्यादृष्टस्य परमाणुगतत्वासंभवात्, संभवे च सदोत्पादकत्व प्रसंगः । आत्मगतस्य चादृष्टस्य परमाणुगतकर्मात्पत्तिहेतुत्वं न संभवति ।

प्रश्न यह है कि—परमाणु को जो आद्यक्रिया है, वह परमाणुगत अदृष्ट द्वारा संपादित है अथवा, आत्मगत अदृष्ट द्वारा संपादित है? दोनों प्रकार से नहीं हो सकती, क्योंकि—जीवकृतशुभ अशुभ कर्म जनित अदृष्ट की कभी परमाणु में अवस्थिति नहीं हो सकती यदि सभव भी हो तो सदा क्रियोत्पत्ति होती रहेंगी, कभी विराम न होगा । आत्मगत अदृष्ट, कभी परमाणुओं में, कर्मात्पादन कर नहीं सकता ।

अथादृष्टवदात्मसंयोगादणु कर्मेत्पत्तिः । तदातस्य अदृष्टप्रवाहस्य नित्यत्वेन नित्यसंगं प्रसंगः । नन्वादृष्टं विपाकापेक्षं फलायालम् । कानिचिददृष्टानि तदानीमेव विपच्यन्ते, कानिचिज्जन्मान्तरे कानिचित्कल्पान्तरे । अतो विपाकापेक्षत्वान्न सर्वदोत्पादकत्वप्रसंगः इति, नैतत्, अनंतरैरात्मभिः संकेतपूर्वकमयुगपदनुष्ठतानेकविधकर्मजनितानामदृष्टानामेकस्मिन् काले एकरूपविपाकस्याप्रामाणिकत्वात् । अतएव युगपत् सर्वसंहारो द्विपराद्यं

कालं अविपाकेनावस्थानं च न संगच्छते । न चेश्वरेच्छाहितविशेषा-
दृष्टसंयोगादणुपुकर्म; आनुमानिकैरवरासिद्धैः "शास्त्रयोनित्वात्"
इत्यत्रोपपादित्वात् । अतो जगदुत्पत्तेरणुगतकर्मपूर्वकत्वाभावः ।

यदि कहो कि-अदृष्ट विशिष्ट आत्मा के साथ संयोग होने से परमाणुगत क्रिया उत्पन्न होती है, ऐसा होने से तो, जीव के अदृष्ट प्रवाह (पापपुण्य धारा) की नित्यता सिद्ध होती है साथ ही सृष्टि की नित्यता भी । परिपक्वतावस्था को प्राप्त अदृष्ट ही, फल प्रदान करता है । कोई कोई अदृष्ट (जिनका फल भोग इसी जन्म में संभव है) तत्क्षण ही परिपक्व हो जाते हैं, कोई अदृष्ट अन्तर्गमन में और कोई कल्पान्तर में परिपक्व होते हैं । इसलिए, अदृष्ट जीव ही जब, विपाक सापेक्ष है तब उससे, सदा उत्पादन की ही आशा रखना व्यर्थ है । नहीं आत्मार्थ अनन्त हैं, उनके द्वारा विभिन्न काल में अनुष्ठित क्रियाएँ, उन सबका कर्मजन्य अदृष्ट, एक ही समय, एकसा परिपक्व होगा, इसका तो कोई ठिकाना है नहीं । इसलिए एक साथ सब वस्तुओं का संहार, द्विपरार्थकाल, और विपाक रहित अदृष्ट की स्थिति संभव नहीं है । ईश्वर की इच्छानुरूप, अदृष्ट में कोई विशेष गुण हो जावे या उस अदृष्ट के संयोग से परमाणु में प्रथम स्पंदन हो जावे । ऐसा भी नहीं कह सकते, "शास्त्रयोनित्वात्" मूल में आनुमानिक ईश्वर को असिद्ध कर चुके हैं । इसलिए जगत की उत्पत्ति में अणुगत कर्म पूर्वकता नहीं हो सकती ।

समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः २।२।१२॥

समवायाभ्युपगमाच्चासमंजसम्, कुतः? साम्यादनवस्थितेः
समवायस्याप्यवयविजातिगुणवदुपपादकान्तरस्यापि तथेत्यनवस्थि-
तेरसमंजसमेव । एतदुक्तं भवति-अयुतसिद्धानामाधाराधेयभूतानामिह
प्रत्ययहेतुर्यः संबंधः, स समवाय इति समवायोऽभ्युपगम्यते ।
अपृथक्स्थित्युपलब्धीनां जात्यादीनां तथा भावस्य निर्वाहकत्वेन
चेत्समवायोऽभ्युपगम्यते, समवायस्यापि . तत्साम्यात्तथाभाव-

हेतुरन्वेषणीयः तस्याऽपित्थेत्पनवस्थितिः । समवायस्य तदप्रयक्-
सिद्धत्वं स्वभाव इति परिकल्प्यते चेत्—जातिगुणनामे वैप स्वभावः
परिकल्प्यनीयः, न पुनरदृष्टचरं समवायमभ्युपगम्य तस्यैव स्वभाव
इति कल्पयितुं युक्तम् इति ।

समवाय संबंध मानने से भी, यह मत अमंगल है । ऐसा मानने से
साम्य होता है, जिससे कि अव्यवस्था हो सकती है । अवयवी की जाति
और गुण के उपपादन के लिए, जैसे समवाय संबंध मानते हो, वैसे ही
समवाय की सिद्धि के लिए भी किसी अन्य हेतु का अन्वेषण करना पड़ेगा,
फिर उस कल्पित हेतु के हेतु की कल्पना करनी पड़ेगी, इस प्रकार कल्पना की
समाप्ति न होने से अमामंजस्य होगा । कथन यह है कि—जिसकी कोई
पृथक् स्थिति नहीं आधार आधेयभाव से ही जिसकी स्थिति होनी है,
उसकी आश्रयता बतलाने वाला संबंध ही समवाय है, ऐसी एक समवाय
संबंध की कल्पना की गई । जिनकी पृथक् रूप से स्थिति और उपलब्धि
नहीं होती, जाति गुण आदि की जिनसे अपृथक् स्थिति और उपलब्धि है,
केवल इतना बतलाने के लिए ही यदि समवाय संबंध को कल्पना करते हैं
तो, समवाय भी तो उसी प्रकार का एक द्रव्य होगा जिसकी पृथक् स्थिति
और उपलब्धि नहीं हो सकती, उसकी अपृथक्ता के लिए एक कारण की
कल्पना करनी आवश्यक हो जायगी, उस कल्पित हेतु के हेतु की भी
कल्पना करनी होगी, इस प्रकार अव्यवस्था होगी । यदि कहे कि—उससे
अपृक् सिद्धता ही समवाय का स्वभाव है तो, जाति गुण आदि का भी
ऐसे ही स्वभाव मानने में क्या हानि है । परंतु कल्पनातीति, समवाय
की कल्पना करके, उसके ऐसे स्वभाव की कल्पना करना युक्तियुक्त
नहीं है ।

समवायस्यनित्यत्वे अनित्यत्वे चायं दोषः समानः नित्यत्वेदोषान्तरं
चाह—समवाय की नित्यता अनित्यता दोनों ही स्थिति में उक्त दोष
समान रूप से होगा । नित्यता की स्थिति के दोषों को बतलाते हैं ।

नित्यमेव च भावात् । २। २। १३॥

समवायस्य संबंधत्वात् संबंधस्य नित्यत्वे संबंधिनोजगतरच
नित्यमेव भावादसमंजसम् ।

समवाय एक संबंध विशेष है, उस संबंध को नित्यता स्वीकारने से, उससे संबंधी जगत को भी नित्यता हो जावेगी, जो कि असंगत बात है।

रूपत्वादिमत्वाच्च विपर्ययो दर्शनात् ।२।२।१४॥

परमाणुनां पार्थिवाप्यतैजसवायवीयानां चतुर्विधानां रूपरसगंधस्पर्शवत्त्वाभ्युपगमादभिमतनित्यत्वसूक्ष्मत्वनिरवयवत्वादिविपर्ययेण अनित्यत्वस्थूलत्व सावयवत्वादि प्रसज्यते, रूपादिमतां घटादीनां अनित्यत्व तथाविघकारणान्तरारब्धत्वादिदर्शनात् । नहि दर्शनाऽनुगुप्येनादृष्टोऽर्थः कल्प्यमानः स्वाभिमतविशेषेव्यवस्थापयितुं शक्यः । दर्शनानुगुप्येन हि परमाणुनां रूपत्वादिमत्त्वं त्वया कल्प्यते । अतोप्यसमंजसम् ।

पार्थिव, जलीय, तैजस और वायवीय इन चार प्रकार के परमाणुओं को रूप-रस-गंध और स्पर्श विशिष्ट स्वीकारने पर भी तुम्हारी अभिमत नित्यता और निराकारता के विपरीत, अनित्यता स्थूलता और साकारता संभावित हो जाती है। रूपादि विशिष्ट घट आदि को अनित्य और स्वानुरूप कारणों से उत्पन्न होते देखा जाता है। लोक प्रतीति के अनुसार प्रत्यक्ष पदार्थ की कल्पना करते हुए, अपने अभिप्रेत विशेषार्थ का प्रतिपादन नहीं कर सकते। इसलिए तुम्हारा मत असंगत है।

अथैतद्दोषपरिजिहीर्षया परमाणुनां रूपादिमत्त्वंनाम्युपगम्यते तत्राह—

यदि उक्त दोष के परिहार के लिए परमाणुओं के रूपादि को नहीं स्वीकारते तो उस पर कथन है।

उभयघा च दोषात् २।२।१५॥

न केवलं परमाणुनां रूपादिमत्त्वाभ्युपगम एव दोषः, रूपादि विरहेऽपि कारणगुणपूर्वकत्वात् कार्यगुणानां पृथिव्यादयो रूपादिशून्याः

स्युः तत्परिजिहीर्षया रूपादिमत्वाभ्युपगमे पूर्वोक्त दोष इत्युभयथा
च दोषात् असमंजसम् ।

केवल परमाणुओं को रूपादिमान मानने से ही दोष उपस्थित
होता हो, सो बात नहीं है। अपितु रूपादि के बिना भी, कारण का गुण
कार्य में आ जाता है, इस नियम के अनुसार, परमाणुजन्य पृथ्वी आदि
कार्य रूप आदि से शून्य हो जावेंगे। इस दोष के परिहार के लिए यदि,
परमाणुओं का रूपादि संबंध स्वीकारते हो तो वही अनित्यता आदि
दोष उपस्थित होते हैं। इस प्रकार दोनों ही स्थितियों में दोष होने से,
असमंजस्य निश्चित है।

अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा ।२।२।१६॥

कापिल पक्षस्य श्रुतिन्यायविरोध परित्यक्तस्यापि सत्यकार्यवादा-
दिना क्वचिदंशे वैदिकैः परिग्रहोऽस्ति, अस्यतु काणादपक्षस्य
केनाप्यंशेनापरिग्रहात् अनुपपन्नत्वाच्चात्यन्तमनपेक्षैव निःश्रेयसार्थिभिः
कार्या ।

श्रुति और युक्ति विरुद्ध होने से कपिल का मत परिभ्यक्त है पर
उनके सत्कार्यवाद आदि किन्ही अंशो को वैदिकों ने स्वीकारा है। इस
कणादमत का कोई भी अंश, वैदिकों द्वारा नहीं स्वीकारा गया, तथा यह
युक्ति विरुद्ध भी है। इसलिए मुमुक्षुओं को इसकी एकदम उपेक्षा करनी
चाहिए।

३ समुदायाधिकरणः—

समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः ।२।२।१७॥

परमाणुकारणवादिनो वैशेषिका निरस्ताः । सौगताश्च जगतः
परमाणुकारणत्वमभ्युपगच्छन्नीत्यनंतरं तन्मतेऽपि जगदुत्पत्तितद-
व्यवहारादिकं नोपपद्यत इत्युच्यते ते चतुर्विधा; केचित्पार्थिवाप्यतैजस-
वायवीय परमाणुसंघातरूपान् भूत भौतिकान् बाह्यांश्चित्त
षैत्तरूपांश्चाभ्यंतरानर्थान् प्रत्यक्षानुमानसिद्धानभ्युपयन्ति । अन्ये तु

वाह्यार्थान् सर्वान् पृथिव्यादीन् विज्ञानानुमेयान् वदन्ति । अपरे त्वर्थशून्यं विज्ञानमेव परमार्थसत् वाह्यार्थास्तु स्वाप्नार्थकल्पा इत्याहुः त्रयोऽप्येते स्वाभ्युपगतं वस्तु क्षणिकमाचक्षते, उक्तभूतभौतिकाचित्त-चैतन्यतिरिक्तमाकाशादिकं स्वरूपेणैव नानुमन्वते अन्ये तु सर्व-शून्यत्वमेव संगिरते । तत्र ये वाह्यार्थास्तित्ववादिनः, ते तावन्निरस्यन्ते, ते चैवं मन्यन्ते रूपरसस्पर्शगंधस्वभावाः पार्थिवाः परमाणवः, रूपरस स्पर्शस्वभावाश्चाप्याः, रूपस्पर्शस्वभावाश्चतैजसाः, स्पर्शस्वभावाश्च वायवीयाः, पृथिव्यपतेजोवायुरूपेण संहन्यन्ते, तेभ्यश्च पृथिव्यादिभ्यः शरीरेन्द्रियविषयरूपसंघाता भवन्ति, तत्र च शरीरान्तर्वर्ती ग्राहकाभिमानारूढो विज्ञानसंतान एवात्मत्वे-नावतिष्ठन्ते, तत एव सर्वो लौकिको व्यवहारः प्रवर्तते इति ।

परमाणु कारणवादियों का वैशेषिक मत निरस्त हो चुका । अब, सौगत (बौद्ध) भी परमाणुकारणवाद को जगत् की सृष्टि के लिए स्वीकारते हैं, उनके मतानुसार भी, जगत् की उत्पत्ति आदि का व्यवहार उपपन्न नहीं हो सकता, इत्यादि का प्रतिपादन करते हैं । वे बौद्ध चार संप्रदायों में विभक्त हैं, उनमें से एक-पार्थिव, जलीय, तैजस और वायवीय परमाणुओं की समष्टि को भूत (पृथ्वी आदि) और भौतिक (घट-पट-आदि) तथा चित्त और चैतन्यिक (चित्तगतसुखदुःखादि) रूप से वाह्य और आभ्यन्तर पदार्थ मानते हैं, ये लोग प्रत्यक्ष और अनुमान के आधार पर ऐसा मानते हैं । दूसरे-पृथ्वी आदि समस्त वाह्य पदार्थों को बुद्धि अनुमेय धतलाते हैं, प्रत्यक्षसिद्ध नहीं मानते । तीसरे-विज्ञान (बुद्धि वृत्ति) को ही एकमात्र सत्य मानते हैं, वाह्य पदार्थों को स्वप्न की तरह काल्पनिक मानते हैं । ये तीनों ही अपने स्वीकृत पदार्थों को क्षणिक मानते हैं । इन भूत भौतिक-चित्त चैतन्यिक पदार्थों के अतिरिक्त, आत्मा और आकाश आदि का स्वरूपतः अस्तित्व नहीं मानते । चौथे-सब कुछ शून्य ही बतलाते हैं [अर्थात् शून्य ही एकमात्र सत्य, और सब कुछ मिथ्या है] इनमें वाह्यार्था-स्तित्ववादी कहते हैं कि—रूप-रस-स्पर्श और गंध, ये चार गुण, पार्थिव परमाणुओं के; रूप-रस और स्पर्श ये तीन गुण, जलीय परमाणुओं के;

रूप और स्पर्श ये दो गुण, तैजस परमाणुओं के; स्पर्शमात्र वायवीय परमाणुओं के; सनाभाविक गुण हैं। ये चारों पृथ्वी आदि चार स्थूल आकारों में एकत्र होते हैं तब इनके सम्मिलन से, शरीर, इन्द्रिय, और इंद्रियों के विषय रूप संघात होते हैं। शरीर का अन्तर्वर्ती जो, ज्ञातृत्व-भिमानो, विज्ञान संतान (बुद्धि का वृत्ति प्रवाह) है, वही आत्मा है उसी से सारे लौकिक व्यवहार संपादित होते हैं।

तत्राभिधीयते-समुदाय उभयहेतुकेऽपि, तदप्राप्तिः, योज्यं अणुहेतु पृथिव्यादिभूतात्मकः समुदायः, यश्च पृथिव्यादि हेतुकः शरीरेन्द्रिय विषयरूपः समुदायः, तस्मिन् उभय हेतुकेऽपि समुदाये, तत्प्राप्तिर्नोप-पद्यते-जगदात्मकसमुदोयात्पत्तिर्नोपपद्यत इत्यर्थः। परमाणुनां पृथिव्यादि भूतानां च क्षणिकत्वाभ्युपगमात्, क्षणध्वंसिनः परमाणवो भूतानि च कदा संहतौ व्याप्रियन्ते, कदावा संहन्यते, कदा विज्ञान विषयभूताः, कदा च हानोपादानादिव्यवहारास्पदतां भजन्ते, को वा विज्ञानात्मा, कं च विषयं स्पृशति, कश्च विज्ञानात्मा, कथं कदा वेदयते, कं वा विदितमर्थं, कश्च कदोपादत्ते, स्पृष्टा हिनष्टः, स्पृष्टश्च नष्टः, तथा वेदिता विदितश्च नष्टः, कथं चान्येन स्पृष्टमन्यो वेदयते, कथंचान्येन विदितमर्थमन्य उपादत्ते? संतानानामेकत्वेऽपि, संतानिभ्यस्तेषां वस्तुतो वस्त्वन्तरत्वानभ्यु-पगमान्ततन्निबंधनं व्यवहारादिकमुपपद्यते, अहमथ एवात्मा, स च ज्ञातैवेति, चोपपादितं पुरस्तात्।

इस पर कथन यह है कि—दोनों प्रकार के कारणों के मानने पर भी, संघात संभव नहीं है। अर्थात् परमाणुओं से उत्पन्न पृथ्वी आदि का भूतात्मक समुदाय, तथा पृथ्वी आदि भूतों से उत्पन्न, भौतिक शरीर-इन्द्रिय और विषयों का समुदाय, इन दोनों को मानने पर भी, जगदाकार समुदायोत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि—परमाणु और पृथ्वी आदि भूतों को जब क्षणिक मानते हो तो उन क्षणिक विनाशशील परमाणुओं और भूतों का संगठन कब होगा? और वे बुद्धिगम्य किस क्षण में होंगे? उनका

हेय और उपादेय रूप से व्यवहार कब होगा? विज्ञानात्मा किसे कहोगे और विषय को ग्रहण करने वाला किसे कहोगे? विज्ञानात्मा किस विषय को कब ग्रहण करेगा? उस ज्ञात विषय का कौन, कब अनुभव करेगा? जब स्पर्श करने वाला, स्पर्श होने वाला, तथा ज्ञाता और ज्ञेय आदि सभी क्षणभंगुर नष्ट हैं, तब कब, कौन, किस वस्तु का, स्पर्शजन्य अनुभव कर सकेगा? तथा ज्ञात विषय का, किसी दूसरे से कैसे उल्लेख कर सकेगा? परंपरित संघात को जब पृथक् वस्तु नहीं मानते अपितु एक मानते हो तो, लोकव्यवहार सध नहीं सकता, क्योंकि—“अहं” पदार्थ ही तो आत्मा है, उसे ही पहिले ज्ञाता रूप में बतला चुके हो ।

इतरेतरप्रत्ययत्वादुपपन्नमिति चेन्न संघातभावानिमित्तत्वात्

।२।२।१८॥

अविद्यादीनामितरेतरहेतुत्वेनोपपन्नं संघातभावादिकमिति चेत्, एतदुक्तं भवति-यद्यपिक्षणिकाः सर्वे भावाः, तथाऽप्यविद्ययैतत्सर्वं मुपपद्यते, अविद्या हि नाम विपरीत बुद्धिः क्षणिकादिषु स्थिरत्वादि-गोचराः तथा संस्काराख्याः रागद्वेषादयोजायंते, ततश्चित्ताभिज्वलन-रूपं विज्ञानं ततश्च नामाख्याश्चित्तचैताः पृथिव्यादिकं च रूपिद्रव्यम् ततः पढायतनाख्यमिन्द्रियपट्टकम् ततः स्पर्शाख्यः कायः, ततोवेदनादयः, ततश्चपुनरप्यविद्यादयो यथोक्ता, इत्यनादिरियमविद्यादिकाऽन्योन्यमूला चक्र परिवृत्तिः, एतच्च सर्वं पृथिव्यादिभूतभौतिकसंघातमंतरेण नोपपद्यते । अतः संघातभावादिकमुपपन्नम् इति ।

यदि यहो कि—अविद्या आदि पदार्थों में, परस्पर हेतुता है, जिससे कि—संघात सद्भावादि उपपन्न हो जाते हैं । यद्यपि सारे भावक्षणिक हैं, तथापि अविद्या द्वारा ये सब उपपन्न होते हैं । क्षणिकता आदि में स्थिरता आदि विपरीत बुद्धि का होना ही अविद्या है, उस अविद्या से ही राग द्वेष आदि संस्कार उत्पन्न होते हैं, उससे चित्त का स्फुरण रूप विज्ञान पैदा होता है, उस विज्ञान से, संज्ञात्मक चित्त और चैतधर्मसमुदाय तथा रूप युक्त पृथिवी आदि समुदाय होते हैं, उससे छः इन्द्रियाँ, स्पर्शनामक देह, उससे वेदना या अनुभूति का जन्म होता है, फिर उसी प्रकार अविद्या

आदि का क्रम चलता है। इस प्रकार अनादिकाल से परस्परमूलक अविद्यादि चक्र घूम रहा है। पृथ्वी आदि भूत भौतिकमय सघात के प्रभाव में यह चक्र बंद हो जाता है। इसलिए सघात सद्भाव ठीक है।

तत्रोत्तरं—न संघातभावानिमित्तत्वात्—इति । नैतदुपपद्यते एषामविद्यादीनां पृथिव्यादिभूतभौतिक संघातभावं प्रत्यनिमित्तत्वात् न खल्वस्थिरादिषु, स्थिरत्वादिवुद्धयात्मिकाऽविद्या तन्निमित्तारागद्वेषादयो चाऽर्थान्तरस्य क्षणिकस्य संहति हेतुतां प्रतिपद्यन्ते, शुक्तिकारजतादिवुद्धिर्हि न शुक्तयाद्यर्थं संहतिर्हुतुर्भवति । किं च यस्य क्षणिके स्थिरत्ववुद्धिः सतदैव नष्ट इति कस्य रागादयः उत्पद्यन्ते । संस्काराश्रयं स्थिरमेकं द्रव्यमनभ्युपगच्छतां संस्कारानुवृत्तिरपि न शक्या कल्पयितुम् ।

उसका उत्तर देते हैं—संघात सद्भाव आदि उपपन्न नहीं हो सकते, क्योंकि संघात भाव की निमित्त, अविद्या नहीं है। जैसे कि—पृथ्वी आदि भूत भौतिक समुदाय में, अविद्या, निमित्त नहीं है, वैसे ही चक्र ध्रम का सिद्धान्त भी असंगत है। स्थिरता रहित पदार्थों में, स्थिरता बुद्धिवाली अविद्या और उससे उत्पन्न होने वाले रागद्वेष, कभी अन्य क्षणिक पदार्थों के साथ, संघात भाव से समुत्पादन के कारण नहीं हो सकते। सीप में जो चाँदी की प्रतीति होती है, वह कभी सीप आदि पदार्थों के संघात की हेतु नहीं हो सकती। एक बात और भी है कि—क्षणिक पदार्थों में, जिसकी स्थिरत्व बुद्धि होती है वह क्षणिक होने से उसी समय नष्ट हो जाती है, फिर राग आदि होंगे किस आधार पर? जो स्थिरतर किसी एक द्रव्य को, ज्ञान संस्कार का आश्रय नहीं मानते, उनके मतानुसार, ज्ञान संस्कार की जो उत्तरोत्तर अनुवृत्ति है, उसकी कल्पना होगी कैसे?

उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् । २।२।१६॥

इतरश्च क्षणिकत्वपक्षे जगदुत्पत्तिर्नोपपद्यते, उत्तरक्षणोत्पत्तिवैलायां, पूर्वक्षणस्य विनष्टत्वात्, तस्योत्तरक्षणं प्रति हेतुत्वानुपपत्तेः, प्रभावस्य हेतुत्वे सर्वं सर्वत्र सर्वदोत्पद्येत् अथ पूर्वक्षणवृत्तित्वमेव

हेतुत्वमित्युच्यते, एवं तर्हि कंचिदेव घटक्षणः तदुत्तरकालभाविनां सर्वपामेव गोमहिषाश्वकुड्यपापाणादीनां त्रैलोक्यवर्तिनां हेतुः स्यात् । अथैक जातीयस्यैव पूर्वक्षणवर्तिनो हेतुत्वमित्युच्यते, तथापि सर्वदेशवर्तिनामुत्तरक्षणभाविनां घटानामेक एव पूर्वक्षणवर्तिघटो हेतुः स्यात्, अथैकस्यैव हेतुरेक इति मनुषे, तथापि, कस्यैकस्य को हेतुः ? इति न ज्ञायते । अथ यस्मिन् देशे यो घटक्षणः स्थितः, तद्देशसंबन्धिन एवोत्तरक्षणस्य स हेतुरिति; किं देशस्य स्थिरत्वं मनुषे ? किंच चक्षुरादिसंप्रयुक्तस्यार्थस्य ज्ञानोत्पत्तिकालेऽनवस्थितत्वात् कस्यचिदर्थस्य ज्ञानवियत्वं संभवात् ।

इस लिए भी क्षणिक वादियों के मत से जगदुत्पत्ति संभव नहीं है—कि—कार्य क्षण की उत्पत्ति के समय ही, कारण क्षण तत्काल नष्ट हो जाता है, इसलिए वह, परवर्ती कार्यक्षण का, कारण तो कहलायेगा नहीं । यदि पूर्वक्षण के ब्रह्म को ही कारण मानें तो, सभी स्थानों में, सभी क्षणों में, सभी कार्यों की उत्पत्ति होती रहेगी । यदि कहो कि—पूर्वक्षण की जब स्थिति रहती है, उसे ही हेतु मानते हैं, तो उत्तर काल में होने वाले गाय, भैंस, घोड़ा, भीत-पत्थर आदि सभी जागतिक पदार्थों का वह हेतु होगा (किसी विशेष का कारण कैसे स्थिर करोगे ?) यदि कहो कि हम एक जातीय पूर्वक्षण को ही कारण मानते हैं, तो पूर्वक्षणवर्ती एक ही घट, उत्तर क्षणवर्ती, सर्व देशीय सभी घटों का कारण माना जावेगा । यदि एक क्षण को, एक कार्य का ही, कारण मानो, तो कौन सा क्षण किस कार्य का कारण है ? इसका निर्णय कैसे करोगे ? यदि कहो कि—जिस स्थान में जो घटक्षण है, वह उसी स्थान में स्थित उत्तर घटक्षणों का कारण होगा । तो क्या आप उस स्थान को स्थिरतर मानते हैं ! और भी एक बात है नेत्र के साथ जो पदार्थ का संबंध होता है, ज्ञानोत्पत्ति काल में यदि वह पदार्थ विद्यमान न रहेगा, तो कोई भी पदार्थ, ज्ञान का विषय होगा कैसे ?

असंति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यया । २।२।२०॥

असत्यपिद्देती कार्यमुत्पद्यते चेत्, सर्वं सर्वत्रसर्वदोत्पद्येतेत्युक्तम्,

न केवलमुत्पत्ति विरोध एव, प्रतिज्ञा च भवतामुपरुध्येत, अधिपति-सहकार्यालम्बनसमनन्तर प्रत्ययाश्चत्वारो विज्ञानोत्पत्तो हे तवः इति वः प्रतिज्ञाः, अधिपतिः इन्द्रियम् । अथ प्रतिज्ञानुपरोधाय घट क्षणे स्थित एव घटकक्षणान्तरोत्पत्तिरिष्यते तथा च सति द्वयोः कार्यकारणयोर्योगपद्येनोपलब्धिः प्रसज्येत, न च तयोपलभ्यते, क्षणिकत्व प्रतिज्ञा चैवं हीयेत । क्षणिकत्वं स्थितमेवेति चेत्— इन्द्रियसंप्रयोगज्ञानयोर्योगपद्यं प्रसज्येत ।

हेतु के अभाव में भी यदि कार्य की उत्पत्ति मानो तो, हर समय, हर स्थान में, हर कार्य की उत्पत्ति होती रहेगी । इतना ही नहीं, तुम्हारी प्रतिज्ञा में भी व्याधात होगा, तुम्हारी प्रतिज्ञा है कि—अधिपति, सहकारी अवलंबन और समन्तर प्रत्यय, इन चार कारणोंसे विज्ञान की उत्पत्ति होती है । अधिपति का अर्थ इन्द्रिय है । उक्त दोष के परिहार के लिए, यदि एक ही घटकक्षण के समकाल में, अपर घट की उत्पत्ति मानों तो, कार्य और कारण दोनों घटक्षणों की, एक साथ उपलब्धि होती, दो क्षणों की, एक साथ स्थिति कहीं भी देखी नहीं जाती, इसलिए तुम्हारा क्षणिकवाद हीन सिद्ध होता है । यदि कहो कि क्षणिकत्व का सिद्धांत ही स्थिर है, तब तो विषयों के साथ इन्द्रियों का संयोग और तद्विषयक ज्ञान, एक साथ होंगे [जो कि तुम्हें स्वीकार नहीं है]

प्रतिसंख्या प्रतिसंख्या निरोधाप्राप्तिरविच्छेदात् । २।२।२१॥

एवं तावदसत् उत्पत्ति निरस्ताः, सतो निरन्वयविनाशोऽपि नोपपद्यत इत्युच्यते, क्षणिकत्ववादिभिर्मुद्गराभिघाताद्यनंतरभावित-योपलब्धियोग्यः सदृशसंतानावसानरूपः स्थूलो यः, सदृशसंताने प्रतिक्षणभावी चोपलब्ध्यनर्हः सूक्ष्मश्च यो निरन्वयो विनाशः प्रतिसंख्यानिरोधाप्रतिसंख्यानिरोधशब्दाभ्यामभिघोमते, तौ न संभवत इत्ययं । कुतः ? अविच्छेदात्—सतो निरन्वयविच्छेदासंभवात् । असंभवश्चसत् उत्पत्तिविनाशौ नामावस्थान्तरापत्तिरेव, अवस्था योगि

तु द्रव्यमेकमेव स्थिरमिति कारणादन्यत्वं कार्यस्योपपादयद्भिरस्माभिः
'तदनन्यत्वम्' इत्यत्र प्रतिपादितम् । निर्वाणस्य दीपस्य निरन्वयविनाश-
दर्शनादन्यत्ररपि विनाशो निरन्वयोऽनुमीयत इति चेन्त, घटशरावादी
मृदादिद्रव्यानुवृत्त्युपलब्ध्या सतो द्रव्यस्यावस्थान्तरापत्तिरेव विनाश
इति निश्चिते सति, प्रदीपादौ सूक्ष्मदशापत्याऽप्यनुपलब्धोपपत्तेः ।
तत्राप्यवस्थान्तरापत्ति कल्पनस्यैव युक्तत्वात् ।

असद् उत्पत्ति का निराकरण कर चुके अब सत् के निरन्वय और
विनाश की अनुपपत्ति वतलावेंगे । क्षणिकतावादी मुद्गर प्रवाह के बाद
के क्षण में उपलब्धि के योग्य समान प्रवाहों की स्थूल परम्परा के विनाश
को प्रति संख्या निरोध, तथा उन प्रवाहों के मध्यवर्ती अतिसूक्ष्म उपलब्धि
के अयोग्य प्रवाहों के विनाश को अप्रतिसंख्यानिरोध कहते हैं । अर्थात्
स्थूल विनाश का नाम प्रतिसंख्यानिरोध और सूक्ष्म विनाश का नाम
अप्रति संख्या निरोध है । ये दोनों नहीं हो सकते क्योंकि—जिसका कारण
के साथ किसी प्रकार का संयोग ही न होगा, उसके विनाश का प्रश्न ही
नहीं उठता । सत्पदार्थ की उत्पत्ति और विनाश तो, अवस्थान्तर प्राप्ति
मात्र है । "तदन्यत्वम्" इत्यादि सूत्र के प्रसंग इसका प्रतिपादन कर चुके
हैं, अवस्थावान् द्रव्य स्थिरतर एक ही है, इसलिए कारण से कार्य, भिन्न
वस्तु है । यदि कहें कि—दीप निर्वाण के बाद, दीप का निरन्वय (स्थूल)
विनाश देखा जाता है, उसी के अनुसार अन्यत्र भी, निरन्वय विनाश का
अनुमान किया जा सकता है । नहीं ऐसा नहीं कर सकते । घट प्याला-
आदि सत्तावान पदार्थों में, उनकी कारण मिट्टी की अनुवृत्ति दिखलाई
पड़ती है, जिससे निश्चित होता है कि—सत्पदार्थ की अवस्थान्तर
प्राप्ति का नाम ही विनाश है । विनाश के बाद, प्रदीप आदि के रहते
हूए भी, दीप ज्वाल का प्रत्यक्ष नहीं होता, उसका एकमात्र कारण है
कि—वह सूक्ष्म है । स्थूल तत्व की ही अवस्थांतर विनाश कल्पना की
जा सकती है ।

उभयथा च दीपात् ।२।२।२॥

क्षणिकत्ववादिभिरभ्युपेता तुच्छाद्दुत्पत्तिः उत्पन्नस्य तुच्छता-

पत्तिश्च न संभवतीत्युक्तम्, तदुयमप्रकाराभ्युपगती दोषश्च भवति ।
 तुच्छादुत्पत्तौ तुच्छात्मकमेव कार्यं प्राप्तिः, यदहि यस्मादुत्पद्यते,
 तत्तदात्मकं दृष्टम्—यथा मृत्सुवर्णदिक्कर्मन्, भणिसकुटादि मृत्सुवर्णा-
 द्यात्मकं दृष्टम्, न च जगत्तुच्छात्मकं भवद्भिरभ्युपगम्यते, न च
 प्रतीयते । सतो निरन्वयविनाशे सत्त्वक्षणादुत्पन्नं कृत्स्नस्य जगतः
 तुच्छतापत्तिरेव स्यात् पश्चात्तुच्छाजगदुत्पत्तौ अनंतरोक्तं तुच्छा-
 त्मकत्वमेव स्यात् । अत उभयघाऽपि दोषान्न भवदुक्तप्रकारावुत्पत्ति-
 निरोधौ ।

क्षणिक वादी कहते हैं कि—कार्य वस्तु तुच्छ कारण से उत्पन्न होती
 है और उत्पत्ति के बाद भी तुच्छ रूपता को ही प्राप्त होती है, उनकी यह
 बात भी संभव नहीं है, दोनों बातें दोषपूर्ण हैं । तुच्छ से उत्पन्न होनेवाला
 कार्य भी तुच्छात्मक ही होगा, जो जिससे उत्पन्न होता है वह वैसा ही
 देखा जाता है जैसे कि मिट्टी सुवर्ण आदि से निर्मित घट-मुकुट आदि
 मिट्टी सुवर्णात्मक ही दीखते हैं । आप स्वयं भी जगत को तुच्छात्मक
 नहीं स्वीकारते, और न ऐसी प्रतीति ही होती है । सत्यार्थ का यदि
 निरन्वय विनाश ही ठीक है तो अवस्थिति के तत्काल बाद ही सारे जगत
 की तुच्छता हो जायगी, तुच्छ कारण से यदि जगत की उत्पत्ति हो तो भी
 वही तुच्छता होगी, इस प्रकार दोनों ही प्रकारों से दोष की संभावना
 होने से तुम्हारा उत्पत्ति विनाश का सिद्धान्त, असंगत ठहरता है ।

आकाशे चाविशेषात् ।२।२।२३॥

वाह्याभ्यंतरवस्तुनः स्थिरत्वप्रतिपादनाय प्रतिसंख्याप्रतिसंख्या
 निरोधयोस्तुच्छरूपता निराकृता, तत्प्रसंगेन ताभ्यामह तुच्छत्वेन
 सौगतैः परिगणितस्याकाशस्यापि तुच्छता प्रतिक्षिप्यते । आकाशे
 च निरुपाख्यता न युक्ता, भावरूपत्वेनाभ्युपगतपृथिव्यादिवदाकाश-
 स्यापि अबाधितप्रतीति सिद्धत्वाविशेषात् । प्रतीयते हि आकाशः
 “अत्रशयेनः पतति, अत्रगृध्रः” इतिशयेनादिपतनदेशत्वेन ।

वाह्य और आभ्यन्तर पदार्थों की स्थिरता बतलाने के लिए प्रति-संख्या और अप्रतिसंख्या निरोध की तुच्छरूपता का निराकरण किया गया, बौद्ध इन दोनों के साथ आकाश की भी तुच्छ बतलाते हैं, प्रसंगत उसका भी निराकरण करते हैं। आकाश की तुच्छता युक्ति संगत नहीं है, जब पृथ्वी आदि का अस्तित्व स्वीकारते हो, उसी प्रकार आकाश की भी तो प्रतीति होती है, उसका अस्तित्व क्यों नहीं मानोगे? "आकाश में बाज उड़ता है, गिद्ध उड़ता है" ऐसे बाज आदि के उड़ने के स्थान रूप से, आकाश की प्रत्यक्ष उपलब्धि होती है।

न च पृथिव्याद्यभावमात्र प्रकाश इति वक्तुं शक्यम्, विकल्पासहत्वात् । पृथिव्यादेः प्रागभावः, ध्वंसाभावः, इतरेतराभावः अत्यन्ताभावोवा आकाशः, सर्वथाऽप्याकाश प्रतीत्यनुपपत्तिः स्यात् । प्रागभावप्रध्वंसाभावयोराकाशत्वे पृथिव्यादिषु वर्तमानेषु आकाश प्रतीत्ययोगात् निराकाशं जगत्स्यात् । इतरेतराभावस्याकाशत्वेऽपि इतरेतराभावस्य तसदवस्तुगतत्वेन तेषामंतराले आकाश प्रतीतिर्न स्यात् । अत्यन्ताभावस्तु पृथिव्यादीनां न संभवति । अभावस्य विद्यमानपदार्थावस्था विशेषत्वोपपादनाच्चाकाशस्याभावरूपत्वेऽपि न निरुपाख्यत्वम् । अंडान्तर्वर्तिनिश्चाकाशस्य त्रिवृत्करणोपदेश प्रदर्शित पंचोकरणेन रूपवत्त्वात् चाक्षुषत्वेऽप्यविरोधः ।

यह नहीं कह सकते कि—पृथ्वी आदि सत्तावान पदार्थों का अभाव ही आकाश है, ऐसा रहना विचार पूर्ण नहीं होगा। पृथ्वी आदि के प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, इतरेतराभाव और अत्यन्ताभाव में से किस प्रकार का अभाव आकाश को मानोगे। इनमें से किसी भी प्रकार को मान लो, आकाश की प्रतीति में तो कोई बाधा आने से रही। प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव मानते हो तो पृथिवी आदि के रहते हुए, आकाश की प्रतीति कभी हो नहीं सकती, जगत को आकाश शून्य होना चाहिए। यदि इतरेतराभाव मानते हो तो, यह अभाव जब वस्तुनिष्ठ है, तब आकाश की प्रतीति हो नहीं सकती। पृथिवी आदि का अत्यन्ताभाव तो हो नहीं सकता, इसलिए आकाश, अत्यन्ताभाव रूप नहीं है। विद्यमान भाव पदार्थों की, अवस्था

विशेष को ही अभाव माना जाय तब भी आकाश अभाव स्वरूप होते हुए भी तुच्छ नहीं हो सकता । त्रिवृतकरण श्रुति में प्रदर्शित पंचीकरण पद्धति के अनुसार, ब्रह्माण्डान्तर्गत आकाश में, नीलिमा रूप की स्थिति प्रमाणित होती है, आकाश चाक्षुष विषय है, इसलिए भी उसका अस्तित्व मान्य है।

अनुस्मृतेश्च ।२।२।२४॥

पूर्वप्रस्तुतं वस्तुनः स्थिरत्वमेवोपपाद्यते—अनुस्मरणं—पूर्वानुभूत-वस्तु विषयं ज्ञानम्—प्रत्यभिज्ञानमित्यर्थः । तदेवेदमिति सर्ववस्तुजातं अतीतकालानुभूतं प्रत्यभिज्ञायते । न च भवद्भिर्ज्वालादिष्विव सादृश्यनिबंधनोऽयमेकत्वव्यामोह इति वक्तुं शक्यम् । व्यामुह्यतो ज्ञातुरेकस्यानभ्युपगमात् । तर्हि अन्यानुभूतेनैकत्वं सादृश्यं वा स्वानुभूतस्यान्योऽनुसंधत्ते । अतोभिन्नकालवस्त्वाश्रयतादृश्यानुभवनिबंधनमेकत्वव्यामोहं वदद्भिः ज्ञालुरेकत्वमवश्याश्रयणीयम् ।

पहिले जो वस्तु की स्थिरता प्रनिपादन की गई, यहाँ उसका ही उपपादन किया जायेगा । अनुस्मृति का अर्थ है, पूर्वानुभूत वस्तु विषयक ज्ञान, अर्थात् प्रत्यभिज्ञा । पूर्वानुभूत समस्त वस्तु "यह वही वस्तु है" ऐसी प्रत्यभिज्ञा, ज्ञान का विषय होती है । आप यह नहीं कह सकते कि—अग्नि की ज्वालाओं में जैसे सादृशता होने से, एक ज्वाला का सा भ्रम होता है, वैसे ही यह प्रत्यभिज्ञा भी, सादृश्य भ्रम मूलक है । क्योंकि—आप किसी मोहग्रस्त एक ही जाता व्यक्ति का अस्तित्व तो मानेंगे ही नहीं । दूसरा कोई व्यक्ति किसी अन्य के अनुभूत विषय के साथ, अपनी स्वानुभूति की एकता तो मानता नहीं है । इसलिए—जिसने, विभिन्न कालवर्ती वस्तुनिष्ठ सादृश्यानुभव मूलक एकत्व भ्रम निर्देश किया, दोनों कालों में अनुभव करने वाला कोई एक ही व्यक्ति हो सकता है ऐसा तो मानना ही पड़ेगा।

न च ज्ञेयेष्वपि घटादिषु ज्वालादिष्विव भेदसाधन प्रमाणमुपलभामहे, येन सादृश्य निबंधनां प्रत्यभिज्ञां कल्पयेम् । यदपि चेदमुच्यते प्रत्यक्षानुमानाभ्यां घटादेः क्षणिकत्वं सिद्ध्यति, प्रत्यक्षं तावत् वर्तमानार्थविषयमवर्तमानाद्वस्तुनो ध्यावृत्तं स्वविषयमवगमयति,

नीलं इव पीतात् एवं च भूतभविष्यद्भ्यां वर्तमानस्य वस्त्वंतरत्व-
मवगतं भवति । अनुमानमपि अर्थं क्रियाकारित्वात् सत्त्वाच्च घटादिः
क्षणिकः यदक्षणिकं शशविपाणादि, तदनर्थक्रियाकार्यसच्च । तथा
अन्त्य घटक्षणसत्त्वात् पूर्वघटक्षणसत्त्वानि विनाशीनि, घटक्षणसत्त्वात्
अंत्यघटक्षणसत्ववत् इति । तच्चकार्यकारणभावानुपपत्त्यादिभिः पूर्व-
मेव निरस्तम् ।

अग्निशिखा आदि में जैसा भेद साधक प्रमाण मिलता है, ज्ञातव्य
घट आदि में वैसा प्रमाण नहीं मिलता जिससे कि-प्रत्यभिज्ञा को सादृश्य-
मूलक भ्रम कहा जा सके । जो यह कहा कि-प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण
से ही घटादि की क्षणिकता सिद्ध होती है, क्योंकि वर्तमान विषय का ही
ग्राहक प्रत्यक्ष प्रमाण होता है । जैसे कि पीतिमा से नीलिमा भिन्न दीखती
है । वैसे ही-प्रत्यक्ष प्रमाण, अपने विषय की, भूत और भविष्य से पृथक्
प्रतीति कराता है । तथा क्षणिकवाद की सिद्धि के लिए जो अनुमान किया
जाता है कि-घट आदि पदार्थ में, अर्थ क्रियाकारिता तथा सदरूपता के
कारण क्षणिकता की प्रतीति होती है । जो अक्षणिक शशशृंग आदि हैं वे
अनर्थ क्रियाकारी असत् हैं । परवर्ती घटक्षण की अपेक्षा, पूर्ववर्ती घटक्षण
का अस्तित्व, विनाशशील होने से ही, घटक्षण का अस्तित्व सिद्ध होता है,
जैसे कि-अंतिम घटक्षण का अस्तित्व । इत्यादि कार्यकारण भाव की
अनुपपत्ति बतलाते हुये इस मत का पहिले ही निराकरण कर चुके हैं ।

किं च प्रत्यक्षगम्या वर्तमानस्यावर्तमानाद्व्यावृत्तिनवर्तमा-
नस्य वस्त्वंतरत्वमवगमयति, अपितु वर्तमान कालयोगिता मात्रम् ।
न च तावता वस्त्वंतरत्वं सिध्यति, तस्यैवकालान्तरयोग संभवात् ।
यत्तु सत्त्वादर्थं क्रियाकारित्वाच्चेति क्षणिकत्वे हेतुद्वयमुक्तम्, तदभि-
मतविपरीत साधनत्वाद्विरुद्धम् । सत्त्वादर्थं क्रियाकारित्वाद् वा
घटादि स्थास्नु, तदस्थास्नु, तदसदनर्थं क्रियाकारि च यथा शशविपा-
णमित्यपि हि वक्तुं शक्यम्, किं च अर्थ क्रियाकारित्वमक्षणिकत्वमेव

साधयेत् । क्षणध्वंसिनो हि व्यापारासंभवादर्थक्रियाकारित्वं च संभवतीत्युक्तम् ।

एक बात और भी है कि-वर्तमान की जो अवर्तमान वस्तु से व्यावृत्ति (भेद) है, वह प्रत्यक्ष होते हुए भी, वस्तुतः उस वस्तु से भिन्नता नहीं बतलाती अपितु उस वस्तु का वर्तमान में अस्तित्व ही ज्ञापन करती है, इसलिए उसकी पृथक् वस्तुता नहीं सिद्ध होती और उस वर्तमान वस्तु का अतीतकाल के साथ संबंध स्थापित होना सरल हो जाता है । क्षणिकत्व साधन के लिए जो सत्त्व और अर्थ क्रियाकारिता, इन दो कारणों का उल्लेख किया है, वह भी तुम्हारे अभिप्राय का प्रतिपादक न होकर विरुद्ध ही सिद्ध होता है । उससे क्षणिकता सिद्ध नहीं होती । ऐसा भी अनुमान किया जा सकता है कि-घट आदि स्यास्नु (स्थिर) हैं, इस लिए सत् और अर्थ क्रियाकारी हैं, जो स्थिर नहीं है, वह असत् और अनर्थ क्रियाकारी है, शशविषाणादि उसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं । तथा-अर्थ क्रियाकारिता वस्तु की अक्षणिकता का भी साधन करती है, क्षणध्वंसी पदार्थों में जब किसी प्रकार की कार्यक्षमता ही नहीं है, तब उसमें अर्थ क्रियाकारिता भी संभव नहीं है, ऐसा पहिले ही कह चुके हैं ।

तथा अन्त्य घट क्षणस्य हेतुतो नाशदर्शनादितरेऽपि घटक्षणा हेत्वपेक्षविनाशाः स्युरित्यामुद्गरादिहेतु उपनिपातात् स्यास्नुत्वमेव । न च वाच्यं, न मुद्गरादयो विनाशहेतवः, अपितु कपालादि विसदृश संतानोत्पत्ति हेतव इति, कपाल त्वावस्थापत्तिरेव घटादीनां विनाश इत्युपपादित्वात् । कपालोत्पत्तिव्यतिरिक्तत्वाभ्युपगमेऽपि विनाशस्य विनाशहेतुत्वमेव मुद्गरादेरानन्तर्यायुक्तम् । अतः प्रत्यभिज्ञाया स्थिरत्वमवगम्यमानं न केनापि प्रकारेणापह्नोतुं शक्यम् । पूर्वापरकाल संबंध्यैक्य विषयायाः प्रत्यभिज्ञाया अन्यविषयत्वं ब्रुवन्नीलादिज्ञानानामपि नीलादेरर्थान्तर विषयत्वं ब्रूयात् ।

तथा-अंतिम घट क्षण का जब कारणाधीन विनाश देखा जाता है, तब अन्यान्य घटक्षणों का कारणाधीन विनाश भी निश्चित है ।

यह भी नहीं कह सकते कि—मुद्गर आदि विनाश के कारण नहीं हैं, केवल कपाल के रूप में परिवर्तित घटावयव ही विनाश के कारण हैं; कपाल के रूप में परिवर्तित हो जाना ही तो घट का विनाश है, ऐसा पहिले भी कह चुके हैं। विनाश को यदि, कपाल से भिन्न मानते हो तो, मुद्गर के प्रहार के बाद जो घट का विनाश दीखता है, उसे देखकर मुद्गर आदि ही विनाश के कारण सिद्ध होते हैं। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा से ज्ञात वस्तु की स्थिरता को, किन्हीं भी प्रमाणों से शूठलाया नहीं जा सकता। और यदि अतीत और वर्तमान कालवर्ती, एक वस्तु विषयक प्रत्यभिज्ञा के विषय भेद की कल्पना करते हो तो, नीलिमा विषयक ज्ञान को भी, नीलादि भिन्न पदार्थ विषयक मानना पड़ेगा।

किं च प्रमातृप्रमेययोः क्षणिकत्वं वदद्भिव्याप्त्यवधारणतस्मरणपूर्वकानुमानाभ्युपगमोऽपि दुःशकः। तथा इदं क्षणिकमित्यादि प्रतिज्ञापूर्वकहेतुपन्यासादिकमपि नोपपद्यते भवताम्। प्रतिज्ञोपक्रमक्षण एव वक्तुविनष्टत्वात् नहि अन्येनोपक्रान्तमजानद्भिरन्यैः समापयितुं शक्यम्।

तथा जो—प्रमाता (ज्ञाता) और प्रमेय (ज्ञेय) इन दोनों के अनुमानोपयोगी व्याप्ति के अवधारण और उसके स्मरण पूर्वी अनुमान की कल्पना को भी सहज नहीं माना जा सकता, ऐसा मानने से “यह क्षणिक है” इत्यादि प्रतिज्ञा का उल्लेख भी उत्पन्न नहीं हो सकेगा, क्योंकि—आप के मतानुसार तो साध्यनिर्देश के उपक्रम काल तक वक्ता को नष्ट हो जाना चाहिए, दूसरे को वह बता भी कैसे सकेगा तथा दूसरा बिना जाने उस कार्य को पूरा भी कैसे कर सकेगा।

नसतोऽदृष्टत्वात् ।२।२।२५

एव तावद्वैभाषिक सौतांत्रिकयोर्वाह्यास्तित्ववादिनोः साधारणानि दूषणान्युक्तानि, तत्र यदुक्तं—संप्रयुक्तस्यार्थस्य ज्ञानोत्पत्तिकालेऽनवस्थितत्वान्न कस्यचिदर्थस्य ज्ञानविषयत्वं संभवतीति, तत्र सौतांत्रिक प्रत्यवतिष्ठते—न ज्ञानकालेऽनवस्थानमर्थस्य ज्ञानाविषयत्व

हेतुः ज्ञानोत्पत्ति हेतुत्वमेवहि ज्ञानविषयत्वम् । न चैतावता चक्षुरादेः ज्ञानविषयत्व प्रसंगः, स्वाकार समर्पणेन ज्ञानहेतोरेव ज्ञानविषयत्वाभ्युपगमात्। ज्ञाने स्वाकारं समर्प्यं विनष्टोऽप्यर्थो ज्ञानगतेन नीलाद्याकारेणानुमीयते । न च पूर्वं पूर्वं ज्ञानेनोत्तरोत्तरज्ञानाकारसिद्धिः, नीलज्ञान संततौ पीतज्ञानानुत्पत्ति प्रसंगात् । अतोऽर्थकृतमेव ज्ञानवैचित्र्यम् ।

वाह्य पदार्थ के अस्तित्व मानने वाले, वैभाषिक और सौत्रांतिकों के मत के साधारण दोषों का दिग्दर्शन कराया गया । उनमें जो यह कहा कि—ज्ञानोत्पत्ति के समय इन्द्रिय संयुक्त विषय की स्थिति न होने से, कोई वस्तु ज्ञान का विषय नहीं हो सकती । इस पर सौत्रांतिक, प्रतिपक्षी के रूप में कहते हैं कि—ज्ञान के समय वस्तु की स्थिति नहीं रहती, इसलिए वस्तु का ज्ञान नहीं होता, यह कथन ठीक नहीं क्योंकि—ज्ञान का विषय ही ज्ञानोत्पत्ति का हेतु होना है, दृश्यवस्तु से जब प्रतिदिन ज्ञान होता है तब वह ज्ञान का विषय कैसे म होगा ? चक्षु आदि इन्द्रिया ही ज्ञान का विषय हो जावेगी, ऐसा भी नहीं है, क्योंकि—जो अपने आकार सहित ज्ञानोत्पादन करता है वही ज्ञान का विषय कहा जा सकता है । नील आदि दृश्य पदार्थ अपने आकार से, नीलिमा विषयक ज्ञान कराकर यदि नष्ट भी हो जावें, तो भी नीले आकार को देखकर उनका अनुमान हो सकता है । यह नहीं कह सकते कि पूर्व पूर्व ज्ञान की सहायता में ही उत्तरोत्तर ज्ञान के आकार की सिद्धि होती है, ऐसा मानने से नीलाकार में पीताकार की प्रतीति न हो नवेगी इसलिए मानना होगा कि ज्ञेय विषय ही, ज्ञानगन वैचित्र्य (पार्यंक्य का कारण होता है ।

अत्रोच्यते—“नासतोऽदृष्टत्वात्” इति, योऽयं ज्ञाने नीलादिराकार उपलभ्यते, स विनष्टस्यासतोऽर्थस्याकारो भवितुं नाहंति, कुतः ? अदृष्टत्वात्—न खलु धर्मिणि विनष्टे तदधर्मस्यार्थान्तरे संनमणं दृष्टम् । प्रतिविवादिकमपि स्थिरस्यैव भवति । तथापि न धर्ममात्रस्य । अतोऽर्थवैचित्र्यकृतं ज्ञानवैचित्र्यमयंस्य ज्ञानकालेऽवस्थानादेव भवति ।

उक्त मत पर सूत्रकार—“नासतोऽदृष्टत्वात्” सूत्र प्रस्तुत करते हैं, वे कहते हैं कि—असत् में कार्य जनन शक्ति कदापि संभव नहीं है, ज्ञान में जो, नीलादि विषयक आकार दीखता है, वह कभी विनष्ट अर्थात् असत् पदार्थ का आकार नहीं हो सकता, ऐसा कहीं भी देखा नहीं जाता धर्म या गुण जिसके आश्रय में रहता है, वह धर्मों यदि नष्ट हो जाय तो, उसका धर्म कहीं अन्यत्र संक्रमित हो जाता है, ऐसा दृष्टिगत नहीं होता। प्रतिबिम्ब भी, स्थिर वस्तु में ही संक्रमित होता है। प्रतिबिम्ब में केवल धर्म का संक्रमण नहीं होता। इसलिए दृश्य पदार्थ की विचित्रता से जन्य जो ज्ञान वैचित्र्य है, वह ज्ञान के समय, ज्ञेय पदार्थ की स्थिति में ही संभव हो सकता है।

पुनरपि साधारणं दूषणमाह—पुनः साधारण दुषण बतलाते है—

उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः ।२।२।२६॥

एवं क्षणिकत्वासदुत्पत्त्यहेतुक विनाशाद्यभ्युपगमे उदासीनानामनुद्युंजानानामपि सर्वार्थं सिद्धिः स्यात्, इष्ट प्राप्तिरनिष्टनिवृत्तिर्वा प्रयत्नादिभिः साध्यते, क्षणध्वंसे हि सर्वेषां भावानां पूर्वं पूर्वं वस्तु लदगतो वा विशेषः संस्कारादिको विद्यादिर्वा उत्तरत्र न कश्चिदनुवर्तत इति प्रयत्नादिसाध्यं न किंचिदस्ति । एवं सत्यहेतुसाध्यत्वात् सर्वसिद्धीनामुदासीनानामप्यैहिकामुष्मिक फलं मोक्षश्च सिध्येत् ।

क्षणिकता, असदुत्पत्ति और अहेतुक विनाश स्वीकारने से उदासीन निश्चेष्ट व्यक्तियों की अभिलाषा भी स्वतः सिद्ध हो जायेगी, तथा साधारण प्रयास से अभिष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट की निवृत्ति हो जायेगी सारे पदार्थ यदि क्षणिक होंगे तो समस्त भाव पदार्थों की, पूर्वं पूर्वं वस्तु धीरे उनके संस्कार आदि या विद्या आदि विशेषताये, परवर्ती पदार्थों में अनुवृत्त न हो पावेगी, जिसके फलस्वरूप प्रयास करने पर भी कोई कार्य न हो सकेगा। ऐसा मानने से, बिना कारण के फलावाप्ति होगी, जिससे निश्चेष्ट उदासीन व्यक्ति भी, ऐहिक सुख और पारलौकिक मोक्ष आदि सब कुछ अनायास ही प्राप्त कर लेगे।

४ उपलब्ध्यधिकरणः—

नाभाव उपलब्धेः । २।२।२७॥

विज्ञानमात्रास्तित्व वादिनो योगाचाराः प्रत्यवतिष्ठन्ते । यदुक्तमर्थवैचित्र्यकृतं, ज्ञानवैचित्र्यमिति, तन्नोपपद्यते, अर्थवत् ज्ञानानामेव साकाराणां स्वयमेव विचित्रत्वात् । तच्च स्वरूपवैचित्र्यं वासनावशादेवोपपद्यते । वासना च विलक्षण प्रत्यय प्रवाह एव । यद् घटाकारज्ञानं कपालाकार ज्ञानस्योत्पादकं, तस्य तथा विघस्योत्पादकं तत् पूर्वं घटज्ञानम् । तस्य च तथा विघस्योत्पादकं ततः पूर्वं घटज्ञानं इत्येवं रूपः, प्रवाह एव वासनेत्युच्यते । कथं वहिष्ठ सर्पमहीघराकार आन्तरस्य ज्ञानस्येत्युच्यते ? इत्यम् अर्थस्यापि व्यवहारयोग्यत्वं ज्ञानप्रकाशायत्त, अन्यथा स्वपरवेद्ययोरनतिशय प्रसंगात् । प्रकाशमानस्य च ज्ञानस्य साकारत्वमवश्याश्रयणीयम्, निराकारस्य प्रकाशायोगात् । एकश्चायमाकार उपलभ्यमानो ज्ञानस्यैव । तस्य च वहिर्वदवभासोऽपि भ्रमकृतः । ज्ञानार्थयोः सहोपलम्भ नियमाच्च ज्ञानादव्यतिरिक्तोऽर्थः ।

विज्ञान मात्र का अस्तित्व स्वीकारने वाले योगाचार बौद्ध, प्रतिपक्षी रूप में उपस्थित होते हैं, उनका कथन है कि तुम लोग जो बाह्य पदार्थों की विचित्रता से ज्ञान की विचित्रता मानते हो, वह असंगत है, क्योंकि बाह्य पदार्थों की तरह, ज्ञान और ज्ञानी का आकार स्वयं ही विचित्रता पूर्ण होना है । उस स्वाभाविक विचित्रता के वासनात्मक संस्कारवश ही, उस ज्ञाता में, वस्तु के प्रति विचित्रता की भावना होती है । विभिन्न प्रकार के ज्ञान प्रवाह का नाम ही तो वासना है । घटाकार संबंधी जो ज्ञान होता है, वही उस घट के पूर्वरूप, कपाल के आकार का ज्ञान भी, उत्पन्न कर देता है घट संबंधी ज्ञान भी उसी प्रकार होता है । इस प्रकार के ज्ञान प्रवाह का नाम ही वासना है । बाह्य स्थित सरसों पहाड़ आदि का आकार, आंतरिक ज्ञान का विषय है, यह कैसे कहते

हो ? वह इस प्रकार है—वाह्य पदार्थों की जो व्यवहार योग्यता होती है, वह ज्ञान प्रकाशक के अधीन होती है—(अर्थात् कोई ज्ञाता व्यक्ति अपनी स्वानुभूति के अनुसार किसी वस्तु के नाम गुण आदि का निर्देश करता है, तभी वह वस्तु उस नाम गुण आदि से व्यवहृत होती है) यदि ऐसा नहीं मानोगे तो, अपने और पराये व्यवहार्य पदार्थ में भेद करना कठिन होगा। प्रकाशमान ज्ञान की साकारता भी स्वीकारनी होगी, निराकार का तो प्रकाश हो नहीं सकता ज्ञेय और ज्ञान में जो समानाकार प्रतीत होती है, वस्तुतः वही ज्ञान का आकार है, उस आकार को वाह्य मानना नितान्त भ्रम है। ज्ञान और ज्ञेय की जो एक साथ उपलब्धि होती है, उससे यह स्पष्ट है कि—ज्ञान से ज्ञेय भिन्न है।

किं च बाह्यमर्थमभ्युपयद्भिरपि घटपटादिविज्ञानेषु ज्ञानस्य तत्तदर्थसाधारण्यं तत्तदर्थसारूप्यमंतरेण नोपपद्यत इत्यवश्यं ज्ञाने-
अर्थस्वरूपं रूपमास्थेयम् । तावतैव सर्वव्यवहारोपपत्तेः तद्व्यतिरिक्तार्थं कल्पना निष्प्रामाणिका । अतोविज्ञान मात्रमेव तत्त्वम्, न बाह्यार्थोऽस्ति इति ।

जो लोग ज्ञान के अतिरिक्त बाह्य पदार्थों का अस्तित्व मानते हैं, उनके मत में भी, घट पट आदि के जो विशेष गुण रूप आदि हैं, वे बाह्य विषय की तरह, किन्हीं अन्य में तो हो नहीं सकते। इसलिए ज्ञान विषय के अनुरूप, कोई एक रूप अवश्य स्वीकारना होगा। एक मात्र ज्ञानीय आकार को मान लेने से ही, जब सारे लौकिक व्यवहार संपन्न हो सकते हैं, तब उस ज्ञान से भिन्न विषय की कल्पना करना निष्प्रामाणिक है। एक मात्र विज्ञान ही सत्य पदार्थ है, उससे भिन्न बाह्य कोई वस्तु नहीं है।

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे “नाभाव उपलब्धेः” इति । जानातिरिक्त-
स्थार्थस्याभावो वक्तुं न शक्यते, कुतः ? उपलब्धेः, जातुरात्मनोऽर्थ-
विशेष व्यवहारयोग्यतापादन रूपेण ज्ञानस्योपलब्धेः । एवमेव हि सर्वे लौकिकाः प्रतियन्ति—“घटमहं जानामि” इति । एवं रूपेण सकर्मकेण सकर्तृकेन जाघात्वर्थेन सर्वलोकसाक्षिकमपरोक्षमवभाव-

मानेनैव ज्ञानमात्रमेव परमायं इति साधयन्तः सर्वलोकोपहासोपकरणं भवन्तीत वेदवादच्छ्रद्दम प्रच्छन्न बौद्ध निराकरणे निपुणतरं प्रपंचितम् ।

उक्त मत पर सूत्रकार "नाभाव उपलब्धेः" सूत्र प्रस्तुत करते हैं, उनका कथन है कि - ज्ञान के अतिरिक्त बाह्य विषयों को अस्तित्व हीन नहीं कह सकते; क्यों कि—ज्ञाता को जो ज्ञान की उपलब्धि होती है वह अपने प्रयोजनानुरूप विशेष व्यवहार निष्पादन के रूप से होती है । सामान्यतः लोग "मैं घट जानता हूँ" ऐसा ही अनुभव करते हैं । सब के समक्ष प्रत्यक्ष रूप से प्रकाशमान, ऐसे सकर्मक, सकर्तृक, जा धातु का अर्थ यदि, केवल ज्ञान और पारमार्थिक ही मान लें तो उपाहास्पद होगा । यह बात हम, वेदवाद की आड़ में छिपकर बौद्धमत का प्रचार करने वालों (शंकर) के मत का निराकरण करते समय, विस्तृत रूप से कह चुके हैं ।

यत्तु—"सहोपलम्भ नियमादभेदो नीलतद्विधोः" इति, तत्स्ववचन विरुद्धम्, साहित्यस्यार्थभेदहेतुकत्वात् । तदर्थव्यवहार योग्य-तैकस्वरूपस्य ज्ञानस्यतेन सहोपलम्भ नियमस्तस्मादवलक्षणसाधनमिति च हास्यम् । निरन्वयविनाशितां ज्ञानानामनुवर्तमानस्थिराकारविरहाद्वासना च दुरूपपादा । विनष्टेन पूर्वज्ञानेनानुत्पन्नमुत्तर-ज्ञानकथं वास्यन्ते । अतोज्ञानवंचिश्रमप्यर्थवैचिश्रमकृतमेव । तत्तदर्थव्यवहारयोग्यतापादनरूपतया साक्षात्प्रतीयमानस्य ज्ञानस्य तत्तदर्थसंबंधायत्तं तत्तदसाधारण्यम् । संबन्धश्च संयोगलक्षणः । ज्ञानमपि हिद्व्यमेव । प्रमाद्रव्यस्यप्रदीपगुणभूतस्येव ज्ञानस्याप्रात्मगुणभूतस्य द्रव्यत्वमविरुद्धमित्युक्तं अतो न चाह्यार्थाभावः ।

"एक साथ उपलब्धि होने से नील और तद्विषयक ज्ञान का अभेद सिद्ध होता है" यह कथन तो, उनके स्वयं के ही विरुद्ध है, क्योंकि पदार्थगत भेद ही, उक्त प्रकार की प्रतीति कराता है, अर्थात्—यदि पदार्थ भिन्न न हो तो, एक साथ प्रतीति का प्रश्न ही नहीं उठता, एक साथ

के व्यवहार में जब, ज्ञान को ही एक मात्र स्वरूप योग्य मानते हो और उस पदार्थ के साथ, एकत्र उपलब्धि के नियम से सहोपलम्भन को स्वीकारते हुए, उसके अर्थ के साथ अभेद व्यवस्था का कारण रूप से प्रतिपादन करते हो तब, उपाहास्पद सर प्रतीत होता है ।

जिसमें कुछ भी अवशिष्ट न हो ऐसे निरन्वय विनाशशील, ज्ञान समूह के अनुगत स्थिरतर किसी आकार या स्वरूप विशेष के न रह जाने पर ज्ञानीय वासना का अस्तित्व स्थिर करना भी कठिन है । पूर्व ज्ञान के नष्ट हो जाने पर, पूर्व ज्ञान से अनुत्पन्न उत्तर ज्ञान, किस प्रकार वासना का उत्पादन कर सकता है ? इत्यादि विचार से निश्चित होता है कि सांसारिक पदार्थों की विचित्रता से ही ज्ञान का भी वैचित्र्य होता है । जिसके फलस्वरूप विशेष विशेष पदार्थों के व्यवहार भेद से, ज्ञानगत वैलक्षण्य संपन्न होता है । वह संबंध, संयोग के अतिरिक्त, कुछ और नहीं है, एवं उक्त ज्ञान भी, निश्चित ही द्रव्य पदार्थगत है । प्रदीप की गुण रूप प्रभा जैसे द्रव्य है, वैसे ही, आत्मा के गुण स्वरूप ज्ञान की भी द्रव्यता है, है, इसमें कोई विरुद्धता नहीं है, ऐसा हम पहिले भी बतला चुके हैं । इसलिए बाह्य पदार्थों का अभाव सिद्ध नहीं होता ।

यत्परैः स्वप्नज्ञानदृष्टान्तेन, जागरित ज्ञानानामि निरालंबनत्व-
मुक्तम् तत्राह ,

जो स्वप्नगत ज्ञान के दृष्टान्त से, जागरित ज्ञान की निर्विषयता कहो, उस पर कहते हैं—

बंधान्याच्च न स्वप्नादिषत् ।२।२।२॥

स्वप्न ज्ञान बंधान्याच्च जागरितज्ञानानामर्थशून्यत्वं न युज्यते षक्तुम् । स्वप्नज्ञानानिहि निद्रादि दोषदुष्टकरण जन्यानि, बाधितानि च, जागरित ज्ञानानि तु तद्विपरीतानि तेषां न तत्साम्यम् । सर्वेषां च ज्ञानानां अर्थशून्यत्वे भवदभिः साध्योऽप्यर्थो न सिध्यति । निरालंबनानुमानस्याप्यर्थं शून्यत्वात् । तत्सार्थवत्त्वे ज्ञानत्वस्थानैकान्त्या-
त्सुतरामर्थशून्यत्वासिद्धिः ।

स्वप्नकालीन ज्ञान से विपरीत, जागरित ज्ञान की समता करते हुए अथे शून्यता बतलाना उपयुक्त नहीं है। स्वप्न ज्ञान, निद्राआदि दोषों से कलुषित इन्द्रियों से जन्य होता है, जो कि जगने पर मिथ्या सिद्ध होने पर बाधित हो जाता है। जागरित ज्ञान, इसमें एकदम विपरीत होता है, इसलिए उसकी इससे कोई समता नहीं है। सभी ज्ञानों को यदि अथशून्य मान ले तो, तुम्हारे अभिमत पदार्थ की भी सिद्धि न हो पावेगी। क्यों कि आधार रहित अनुमान अर्थ शून्य होता है। यदि अनुमान के विषयी भूत पदार्थ का अस्तित्व मानते हो तो, ज्ञान के अनेक हेतु हो जावेंगे, जिससे कि शून्यता की बात ही समाप्त हो जावेगी।

न भावोऽनुपलब्धेः २।२।२६।

न केवलस्यार्थशून्यप्रत्यज्ञानस्य भावः संभवति, कुतः ? क्वाचि-
दप्यनुपलब्धेः, न हि अकर्तृकस्याकर्मकस्य वा ज्ञानस्य क्वचिदुप-
लब्धेः । स्वप्नज्ञानादिष्वपि नार्थशून्यत्वमिति ख्याति निरूपणे प्रति-
पादितं ।

वाह्य पदार्थों का अस्तित्व समाप्त हो जाने पर, केवल ज्ञान का ही अस्तित्व शेष रह जाय ऐसा कभी दृष्टिगोचर नहीं होता। कर्त्ता और कर्म शून्य ज्ञान कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। स्वप्न कालीन ज्ञान में भी अर्थशून्यता नहीं होती, ऐसा हम उक्तिवाद निरूपण के प्रसंग में प्रतिपादन कर चुके हैं।

५. सर्वथानुपपत्त्यधिकरणः—

सर्वथानुपपत्तोश्च । २।२।३०

अक सर्वशून्यवादी माध्यमिकः प्रत्यवतिष्ठते । शून्यवाद एव हि सुगतमत काष्ठा । शिष्यबुद्धियोग्यतानुगुण्यनार्थाभ्युपगमादिना क्षणिकत्वादयः, उक्ताः । विज्ञानं वाह्यार्थाश्च सर्वे न संति, शून्यमेव तत्त्वम्, अभावापत्तिरेव च मोक्षः, इत्येवबुद्धस्याभिप्रायः । तदेव हि युक्तम् शून्यस्याहेतु साध्यतया स्वतः सिद्धेः, सत एव हि हेतु-

रन्नेपणीयः, तच्च सत् भावादभावाच्च नोत्पद्यते, भावात्तावन्नं कस्यचिदुत्पत्तिर्दृष्टा, न हि घटादिरनुपमृदिते पिण्डादिके जायते । नभ्यभावादुत्पत्तिः संभवति, नष्टे पिण्डादिके हि अभावाद्युत्पद्यमानं घटादिकमभावात्मकमेवस्यात् । तथा स्वतः परतश्चोत्पत्तिर्न संभवति, स्वतः स्वोत्पत्तावात्माश्रयदोष प्रसंगात् प्रयोजनाभावाच्च । परतः परोत्पत्तौ परत्वाविशेषात् सर्वेषां सर्वेभ्य उत्पत्तिप्रसंगः । जन्माभावादेव विनाशस्याप्यभावः । अतः शून्यमेवतत्त्वम् ।

अत्र सर्वं शून्यवादी माध्यमिक सामने आते हैं । शून्यवाद ही सुगत बौद्धमत की चरम सीमा है । केवल शिष्यों की बुद्धि की योग्यतानुसार वाह्य पदार्थ स्वीकारते हुए, क्षणिकवाद आदि का उपदेश दिया गया है । विज्ञान और वाह्य पदार्थ सभी अस्तित्व हीन हैं, शून्य ही एक मात्र वास्तविक तत्त्व है अभावापत्ति (शून्यता प्राप्ति) ही मोक्ष है, यही बौद्ध का अंतिम अभिप्राय है । यही उनकी दृष्टि में उपयुक्त सिद्धान्त है, क्यों कि शून्य, किन्हीं भी कारणों की अपेक्षा नहीं करता, अतएव स्वतः सिद्ध है । पदार्थ सत् है वह किस कारण से उत्पन्न होता है, इसका अनुसंधान करना आवश्यक है भाव या अभाव से तो उस सत् की उत्पत्ति ही नहीं सकती । अधिकृत भाव से किसी भी पदार्थ की उत्पत्ति देखी नहीं जाती, मिट्टी को विना चूर्ण किये घट आदि कभी बनते नहीं । अभाव से भी सत् की उत्पत्ति संभव नहीं है, मिट्टी के ढंले के टूटने पर पदार्थ की अभाव स्थिति होती है, उससे घट आदि भी अभावात्मक हो जाते हैं । स्वतः या किसी अन्य से भी उत्पत्ति संभव नहीं है । अपने से अपनी उत्पत्ति होने से आत्माश्रय दोष और प्रयोजन हीनता सिद्ध होती है । अन्य पदार्थ से उत्पत्ति मानने से, हर पदार्थ से हर पदार्थ की उत्पत्ति संभव हो जावेगी । इस प्रकार जिसकी उत्पत्ति असंभव सिद्ध होती है उसका विनाश भी असंभव ही है । इसलिए शून्य ही तत्त्व है ।

अतो जन्मविनाश सदसदादयो भ्रान्तिमात्रम् । न च निर-
धिष्ठानभ्रमासंभावाद् अभाधिष्ठानं किञ्चित्पारमाथिकं तत्त्व-

मांश्रयित्वं दोषदोषाश्रयत्वज्ञातृत्वाद्यपारमार्थ्येऽपि भ्रमोपपत्तिवद-
घिष्ठानापारमार्थ्येऽपि भ्रमोपपत्तेः । अतः शून्यमेव तत्त्वम् ।

जन्म विनाश सत्असत् आदि कार्यं भ्रान्तिमात्र हैं, वस्तु की सत्ता के ग्राहक नहीं है । किसी एक सत्य पदार्थ के आश्रय के बिना, आधार रहित भ्रम हो नहीं सकता, इसलिए भ्रम के आधार भूत किसी पारमार्थिक (सत्य) तत्त्व को अवश्य स्वीकारना पड़ेगा, ऐसा नहीं कह सकते, क्यों कि—दोष और दोषाश्रय तथा ज्ञाता की असत्यता जानने हुए भी जैसे, भ्रम हो जाता है, वैसे ही निराधार भ्रम भी हो सकता है इसलिए शून्य ही एक मात्र तत्त्व है ।

इति प्राप्ते प्रचक्ष्महे—सर्वथानुपपत्तेश्च—इति । सर्वथानुपपत्तेः सर्वशून्यत्वं च भवदिप्रेतं न संभवति । किं भवान् सर्वं स्यादिति वा प्रतिजानोते, असिदिति वा, अन्यथा वा, सर्वथातवाभिप्रेतं तुच्छत्वं न संभवति । लोके भावाभावशब्दयोस्तत्प्रतोल्योरच विद्यमानस्यैव वस्तुनोऽवस्थाविशेषगोचरत्वस्य प्रतिपादितत्वात् । अतः सर्वं शून्यमिति प्रतिजानता सर्वं स्यादिति प्रतिजानतेव सर्वस्य विद्यमान-स्यावस्थाविशेष योगितैव प्रतिज्ञाता भवतोति भवदभिमता तुच्छता न कुतश्चिदपि सिध्यति । किं च कुतश्चित्प्रमाणाच्छून्यत्वमुपलभ्य शून्यत्वं सिपाधमिता तस्य प्रमाणस्य सत्यत्वमभ्युपेत्यम्, तस्यासत्यत्वे सर्वं सत्यं स्यादिति सर्वथा सर्वं शून्यत्वं चानुपपन्नम् ।

इस उपस्थित मत पर सूत्रकार—“सर्वथानुपपत्तेश्च” सूत्र प्रस्तुत करते हैं, जिसका तात्पर्य है कि हर प्रकार की अनुपपत्ति (असामंजस्य) से तुम्हारा अभिप्रेत शून्य तत्त्व संभव नहीं है । आप सब पक्षों को सत्असत् अथवा किसी अन्य प्रकार का मानकर शून्य कहते हैं ? इनमें से किसी प्रकार से शून्य तत्त्व हो नहीं सकता । जगत में भाव या अभाव शब्द से एवं तद्विषयक प्रतीति से, विद्यमान वस्तु की अवस्था विशेष की प्रतीति होती है । इसलिए तुम्हारा ‘सब कुछ शून्य है’ यह कथन ‘सब कुछ सत् है’ ऐसी समस्त वस्तुओं की विद्यमान अवस्था विशेष

द्योतक प्रतीत होता है, इस प्रकार आपका अभिमत शून्यवाद किमौ प्रकार सिद्ध नहीं होता । यदि किसी प्रमाण की सहायता से शून्यता की उपलब्धि को सिद्ध करने की चेष्टा भी करें तो उस प्रमाण का अस्तित्व स्वीकारना पड़ेगा, यदि प्रमाण को असत्य मानते हैं तो सारे पदार्थ स्वयं ही असत्य सिद्ध हो जायेंगे (अर्थात् शून्य प्रमाण रहित असत्य ही जायेगा इसलिए हर प्रकार से सर्वशून्यता का सिद्धान्त असिद्ध हो जाता है ।

६. एकस्मिन्नसंभवाधिकरणः—

नैकस्मिन्नसंभवात् । २।२।३१॥

निरस्ताः सौगताः । जैना अपि परमाणुकारणत्वादिकं जगतो वदन्तीद्वयनन्तरं जैनपक्षः प्रतिक्षिप्यते । ते किल मन्यन्ते जीवाजीवात्मकं जमदेतन्निरीश्वर, तच्चषड्द्रव्यात्मकं । तानि च द्रव्याणि जीवधर्मा-धर्म पुद्गलकालाकाराख्यानि तत्र जीवाः, बद्धाः योगसिद्धाः, मुक्ताश्चेति त्रिविधाः । धर्मो नाम गतिमतां गतिहेतुभूतो द्रव्यविशेषो-जगद्द्रव्यापी । अधर्मश्च स्थितिहेतुभूतोव्यापी । पुद्गलो नाम वर्ण-गंधरसस्पर्शवद्द्रव्यम् । तच्चद्विविधं-परमाणुरूपं तत्संघातरूपं च पवनज्वलनसलिलधरणीतनुभुवनादिकम् । कालस्तु भूदस्ति-भविष्यतीति व्यवहारहेतुरणुरूपो द्रव्य विशेषः । अकाशोऽप्येकोऽनंत-प्रदेशश्च । तेषुचाणुव्यतिरिक्त द्रव्याणि पंचास्तिकाया इति च संगृह्यन्ते—जीवास्तिकायः, धर्मास्तिकायः अधर्मास्तिकायः, पुद्गला-स्तिकायः, आकाशास्तिकायः, इति । अनेकदेशवर्तिनि द्रव्येऽस्तिकाय-शब्दः प्रयुज्यते ।

सौगत बौद्धों का निराकरण कर दिया गया । जैन भी परमाणुओं को जगत का कारण मानते हैं, इसलिए उनके मत का भी निराकरण करते हैं उन लोगों की मान्यता है कि—जीव और अजीवमय यह जगत अनीश्वर है, जो कि जीव, धर्म, अधर्म, पुद्गल, आकाश, काल आदि छः द्रव्यों वाला है । जीव- बद्ध, योगसिद्ध और मुक्त तीन प्रकार के हैं ।

स्वर्ग, नरक गामी प्राणियों में स्वर्ग के हेतुभूत जगद् व्यापी द्रव्य विशेष का नाम धर्म है तथा स्थिरता का हेतुभूत जगद् व्यापी द्रव्य विशेष का नाम अधर्म है। रूप-रस-गंध-स्पर्श विशिष्ट द्रव्य को पुद्गल कहते हैं, जो कि दो प्रकार के हैं, परमाणु और अपरमाणु पञ्च। वायु-तेज-जल-पृथ्वी-शरीर-स्वर्ग आदि सभी पुद्गल हैं। भूत-भविष्य और वर्तमान व्यवहार का हेतुभूत द्रव्य विशेष ही काल है। आकाश एक और अनंत स्वरूप है। इन द्रव्यों से अणुरहित द्रव्य पांच अस्तिकाय कहलाते हैं जीवास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और आकाशास्तिकाय। अनेक स्थानवर्ती द्रव्य को अस्तिकाय शब्द से प्रयोग करते हैं।

जीवानां मोक्षोपयोगिनमपरमपि संग्रहं कुर्वन्ति—जीवाजीवा-
स्रवबंधनिर्जरसंवरमोक्षाः, इति। मोक्षसंग्रहेण मोक्षोपायश्च ग्रहीतः।
स च सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्ररूपः। तत्रजीवस्तु-ज्ञानदर्शनसुखवीर्य-
गुणः। अजीवश्च जीवभोग्यवस्तुजातम्। आस्रवः तद्भोगोपकरण-
भूतमिन्द्रियादिकं बंधश्चाष्टविधः घातिकर्मचतुष्टयमघातिकर्म-
चतुष्टयंचेति। तत्राद्यंजीवगुणानांस्वाभाविकानां ज्ञानदर्शनीयंसुखानां
प्रतिघातकरम्। अपरंशरीरसंस्थानतदभिमानतत्स्यतित्प्रयुक्तसुस्त-
दुःखोपेक्षा हेतुभूतम्। निर्जरम् मोक्षसाधन महदुपदेशावगतंतपः।
संबरोनामेन्द्रियनिरोधः समाधि रूपः। मोक्षस्तुनिर्वन्तरागादि-
क्लेशस्य स्वाभाविकात्मस्वरूपाविर्भावः।

वे लोग जीवों के मोक्षोपयोगी साधनों का भी संग्रह करने हैं, जो कि—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, निर्जर संवर और मोक्ष नामक हैं। इन मोक्ष संग्रहों के साथ मोक्षोपायों को भी ग्रहण करते हैं जो कि—सम्यग्ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यग् चरित्र आदि तीन प्रकार के हैं। ज्ञान-दर्शन-सुख और वीर्य संग्रह को जीव कहते हैं। जीव भोग्य समस्त वस्तुओं को अजीव कहते हैं। जीव के योग्य उपकरण भूत इन्द्रियों का नाम आस्रव है। बंध आठ प्रकार का है—घातिकर्म चतुष्टय और अघातिकर्म चतुष्टय। जीव के स्वाभाविक, ज्ञान, दर्शन, वीर्य और सुखा-

त्मकगुण, जिनसे प्रतिहत हों उन्हें घातिकर्म कहते हैं। जिन कर्मों से शरीर, शरीराभिमान, शरीरस्थित और शरीर संबंधी सुख दुःख आदि में उपेक्षा बुद्धि को अघातिकर्म कहते हैं। मोक्ष के साधन रूप, अहंत द्वारा उपदिष्ट तप को निर्जर कहते हैं। ज्ञानेन्द्रिय निरोधक समाधि को संवर कहते हैं राग आदि बलेशों के निवृत्त हो जाने पर, स्वाभाविक आत्म स्वरूप के आविर्भाव को ही मोक्ष मानते हैं।

पृथिव्यादिहेतुभूताश्चाणवो वैशेषिकादीनामिव न चतुर्विधाः ।
अपित्वेकस्वभावाः । पृथिव्यादिभेदस्तु परिणाम कृतः । सर्वं च वस्तु-
जातं सत्त्वासत्त्वनित्यत्वानित्यत्वभिन्नत्वाभिन्नत्वादिभिरनैकान्तिक-
मिच्छंति, स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्तिचनास्ति च—स्यादवक्त-
व्यम्, स्यादस्तिचावक्तव्यम् च स्यानास्ति चावक्तव्यं च, स्यादस्ति च
नास्तिचावक्तव्यं चेति सर्वत्र सप्तभंगीनयावतारात् । सर्वं वस्तुजातं
द्रव्यपर्यायात्मकमिति द्रव्यात्मना सत्त्वेकत्वनित्यत्वाद्युपपादयति,
पर्यायात्मना च तद्विपरोतं, पर्यायाश्च द्रव्यस्यावस्था विशेषाः,
तेषां च भावाभावरूपत्वात्सत्त्वासत्त्वादिकं सर्वं उपपन्नमिति ।

ये लोग वैशेषिकों की तरह पृथ्वी आदि के परमाणुओं को चार प्रकार का नहीं मानते अपितु सबको एक स्वभाव का मानते हैं। केवल परिणाम से ही उनमें पृथ्वी, जल, तेज, वायु आदि भेद मानते हैं। उनके मत से, सारी ही वस्तुएँ, सत्य-असत्य नित्य अनित्य भिन्न-अभिन्न तथा अनैकान्तिक (अनियत) हैं। अर्थात् स्यात् हैं, स्यात् नहीं हैं, स्यात् हैं भी नहीं भी, स्यात् अवक्तव्य हैं, स्यात् हैं और अवक्तव्य हैं, स्यात् नहीं है और अवक्तव्य हैं, स्यात् हैं और नहीं हैं और अवक्तव्य हैं, इत्यादि सप्त भंगी न्याय से प्रस्तुत करते हैं। सभी वस्तुएँ द्रव्य पर्याय भूत द्रव्यात्मक इसलिए, द्रव्य रूप से वह सत्य, नित्यत्व और एकत्व आदि धर्मों का उप-पादन करती हैं। स्वतः पर्याय रूप से, उससे विपरीत उपपादन करती हैं। द्रव्यों की अवस्था विशेष ही पर्याय है, जो कि भाव अभाव वाली अवस्था है इसीलिए सत्त्व' असत्त्व आदि परस्पर विरुद्ध धर्म, समस्त वस्तुओं में उत्पन्न होते हैं।

अत्राभिधीयते—“नैकस्मिन्न संभवात्” इति । नैतदुपपद्यते, कुतः ? एकस्मिन्न संभवात्—एकस्मिन् वस्तुनि अस्तित्वेन अन्नास्तित्वादेर्विरुद्धस्य छायातपवद् युगपदसंभवात् । एतदुक्तं भवति—द्रव्यस्य तद्विशेषणभूतपर्यायशब्दाभिधेयावस्थाविशेषस्य च पृथक्पदार्थत्वात् नैकस्मिन्विरुद्धधर्म समावेशः संभवति इति । तथाहि—एकेनास्ति त्वादिनाऽवस्थाविशेषण विशिष्टस्य तदानीमेव न तद्विपरीत-नास्तित्वादि विशिष्टत्वं संभवति । उत्पत्ति विनाशाख्यपरिणामविशेषास्यदत्तं च द्रव्यस्यानित्यत्वम्, तद्विपरीत च नित्यत्वं तस्मिन् कथं समवैति, विरोधिधर्माश्रयतत्त्वं च भिन्नत्वम्, तद्विपरीतंचाभिन्नत्वं कथं वा तस्मिन् समवैति । यथाऽश्वमहिषत्वयोयुगपदे कस्मिन् न संभवः ।

उक्त जैन मत पर सूत्रकार “नैकस्मिन्” इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं । उक्त मत असंभव है, एक ही वस्तु में विपरीतता, धूप और छांह की तरह हो नहीं सकती, अस्तित्व और नास्तित्व, ये विरुद्धतायें एक साथ हो नहीं सकती । कथन यह है कि—विशेष द्रव्य की और उसके विशेषण रूप, पर्याय शब्दाभिधेय अवस्था विशेष (अस्तित्व नास्तित्व की, स्वभावतः पृथक्ता होने से, एक में ही विरुद्ध धर्मों का समावेश होना असंभव है । अस्तित्व आदि किसी एक विशेषण से वस्तु, तत्काल उमके विपरीत, नास्तित्व आदि विशेषण से विशेषित हो जाय, ऐसा संभव नहीं है । उत्पत्ति विनाश नाले परिणाम को प्राप्त द्रव्य की, अनित्य अवस्था में, उसके नितान्त विपरीत नित्यता कैसे हो सकती है ? विरोधी धर्मों की आश्रयता हो तो भिन्नता है, उमसे विरगीत अभिन्नता होती है दोनों बातें एक में कैसे संभव हैं ? जैने कि एक ही जीव में अश्वत्व और महिषत्व दोनों एक साथ संभव नहीं हैं ।

अयमर्थः पूर्वमेव भेदभेदवादि निरसन समये “तत्तुसमन्वयात्” इत्यत्र प्रपंचितः । कालस्य पदार्थं विशेषणतयैव प्रतीतेस्तस्य

पृथगस्तित्वनास्तित्वादयो न वक्तव्याः, न च परिहृतव्याः।
कालोऽस्तित्वास्तौयि व्यवहारो व्यवहर्तृणां जात्याद्यस्तित्वनास्तित्व-
व्यवहार तुल्यः। जात्यादयो हि द्रव्यविशेषणतयैव प्रतीयन्त इति,
पूर्वमेवोक्तम्।

उक्त तत्त्व को हम भेदाभेदवाद के निरसन के समय "तत्त्व
समन्वयात्" सूत्र में विस्तृत रूप बतला चुके हैं। काल की जब पदार्थ
विशेष रूप से ही प्रतीति होती है, तब उसके पृथक् अस्तित्व और नास्तित्व
को कहने और उसके खंडन करने का प्रश्न ही नहीं उठता, काल के
अस्तित्व नास्तित्व का व्यवहार करना, व्यवहार करने वालों की अपनी
जाति आदि के अस्तित्व नास्तित्व के व्यवहार के समान है। जाति आदि
धर्मों की प्रतीति भी, द्रव्य के विशेषण रूप से ही होती है, ऐसा पहिले ही
बता चुके हैं।

कथं पुनरेकमेव ब्रह्म सर्वात्मकमिति श्रोतियैरुच्यते? सर्वं
चेतनाचेतनशरीरत्वान् सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेः सत्यसंकल्पस्य
पुरुषोत्तमस्येत्युक्तम्। शरीरशरीरिणोः तद्वर्माणां च अत्यंत
वैलक्षण्यमप्युक्तम्। किं च जीवादीनांपण्णां द्रव्याणामेकद्रव्य
पर्यायत्वाभावात्तेषु द्रव्यैकत्वेन पर्यायात्मना चैकत्वानैकत्वादयो
दुरुपपादाः? अथोच्येत्-पडैतानि द्रव्याणि स्वकीयैः पर्यायैः
स्वेतत्वेनचात्मना तथा भवन्ति इति। एवमपि सर्वं मेनेकान्तिक-
मित्यभ्युपगम विरोधः अन्योन्यतादात्म्याभावात्। अतो न युक्तमिदं
जैनमतं। ईश्वरानधिष्ठितपरमाणुकारणवादे पूर्वोक्त दोषास्त
थैवावतिष्ठन्ते।

यदि कहो कि-वेदज्ञ लोग एक ही ब्रह्म में सर्वात्मकता कैसे बतलाते
हैं? भाई वह तो उसे समस्त जडचेतन शरीर वाला, सर्वज्ञ सर्वशक्ति मंपन्न,
सत्यसंकल्प पुरुषोत्तम कहते हैं। शरीर और शरीरी इन दोनों के धर्मों में
अत्यंत विलक्षणा होती है, यह हम पहिले ही कह चुके हैं।

जीव आदि छहो द्रव्यों का एक पर्यायत्व न होने से, उसमें एक द्रव्यपर्यायता मानकर, एकता अनेकता का प्रतिपादन करना कठिन है। यदि कहो कि-ये छहो अपने अपने पर्याय होकर, स्वतंत्ररूप से अपने अपने स्वरूपानुसार भिन्न अभिन्नरूप वाले होते हैं। ऐसा मानने पर भी, सारे पदार्थों में जो अनेक रूपता मान रखी है उससे विरुद्धता हो जावेगी, क्योंकि-उनमें परस्पर तादात्म्य तो है नहीं। इसलिये यह जैनमन असंगत है। ईश्वर रहित परमाणु कारणवाद पर जिन दोषों का आरोपण हो चुका है, वे सब, इस मत में भी उसी प्रकार आरोपित होंगे।

एवं चात्माकात्स्न्यम् ।२।२।३२॥

एव भवदभ्युपगमे सति आत्मन चाकात्स्न्यं प्रसज्यते जीवोऽसख्यात् प्रदेशो देह परिभागा इति हि भवतां स्थितिः । तत्रहस्त्यादि-शरीरेऽवस्थितस्यात्मनस्ततो न्यूनपरिमाणे पिपीलिकादि शरीरे प्रवेशितोऽल्पदेशव्यापित्वेनाकात्स्न्यं प्रसज्यते- अपरिपूर्णता प्रसज्यत् इत्यर्थः ।

यदि आपके अभिमत शरीर परिमित सिद्धान्त को स्वीकारते हैं तो आत्मा की अपूर्णता निश्चित होती है, जीव असंख्य स्थलों में देह परिमाण के अनुसार घटना बढ़ता हुआ स्थित रहता है, यह आपका मत है हाथी के शरीर वर्तमान आत्मा का यदि चीटी के शरीर में प्रवेश होगा तो अल्पदेशव्यापी होने से उसमें, अपरिपूर्णता होगी।

अथ संकोच विकास धर्मतया आत्मनः पर्यायशब्दाभिधेयावस्थान्तरापत्त्या विरोधः परिहृत्यत इत्युच्यते, तत्राह-

यदि, संकोच और विकास को आत्मा का धर्म मानकर, पर्याय शब्द-वाच्य अवस्थान्तर प्राप्ति से उक्त अपूर्णता का परिहार करते हो, तो सुनो

न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिन्यः ।२।२।३३॥

न च संकोच विकास रूपावस्थान्तरापत्त्या विरोधः परिहृतुं शक्यते, विकार तत्प्रयुक्तानित्यत्वादि दोष प्रसङ्गैर्घटादितुल्यत्व प्रसंगात् ।

संकोच विकास रूप अवस्थान्तर प्राप्ति को मानकर भी विरोध का परिहार नहीं कर सकते, ऐसा मानने से विकार और विकाराधीन अनित्यता आदि दोष संभावित होंगे, जिसके फलस्वरूप आत्मा, घट आदि की तरह विकृत पदार्थ हो जायगा ।

अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः ।२।२।३४॥

जीवस्य यदन्त्यं परिमाणम् मोक्षावस्थागतं, तस्य पश्चाद्देहान्तर परिग्रहाभावात् अवस्थितत्वादात्मनश्च मोक्षावस्थस्य तत्परिमाणस्य चोभयोर्नित्यत्वात्तदेव आत्मनः स्वाभाविकं परिमाणमिति पूर्वमपि तस्मादविशेषः स्यात् । अतो देह परिमाणत्वात्मनो न स्यादित्यसंगतमेवेदमाहंतमतम् ।

जीव का जो मोक्षकालीन अंतिम परिमाण होगा, वह निश्चित ही संकोच विकास रहित स्थिर परिमाण होगा, क्यों कि उसके बाद तो देहान्तर प्राप्ति का प्रश्न ही नहीं उठता । आत्मा और आत्मा का मोक्षकालीनपरिमाण दोनों ही नित्य हैं, इससे निश्चित होता है कि-वही आत्मा का स्वाभाविक परिमाण होगा, उसके पूर्व के परिमाणों का कोई महत्त्व नहीं है । इस से सिद्ध हो गया कि-आत्मा का परिमाण कभी देहानुसार नहीं होता । यह अहंत मत नितांत असंगत है ।

७ पशुपत्यधिकरणः—

पन्थुरसामंजसायात् ।२।२।३५॥

कपिलकणाद सुगताहंतमतानामसामंजस्यात् वेदवाह्यात्वाच्च निश्च्रेयसाधिभिरनादरणीयत्वमुक्तम्, इदानीं पशुपतिमतस्य वेदविरोधाद सामंजस्याच्च अनादरणीयतोच्यते । तन्मतानुसारिणश्चतुर्विधाः, कापालाः कालामुखाः, पाशुपताः, शैवाश्च इति । सर्वेचैते वेदविहृदां तत्त्वप्रतिक्रियां ऐहिकामुष्मिकनिश्च्रेयससाधनकल्पनाश्चकल्पयन्ति । निमित्तोपादान-

योर्भेदं, निमित्तकारणं च पशुपतिमाचक्षते । तथानिरश्रेयससाधनमपि मुद्रिकापट्क धारणादिकं-यथाहुः कापालाः “मुद्रिकापट्क तत्त्वज्ञः परमुदा विशारदः भगासनस्यमात्मानं ध्यात्वानिर्वाणमुच्छति, कठिकारुचकं चैव कुंडलं च शिखामणिः भस्म यज्ञोपवीतं च मुद्रापट्कं प्रचक्षते । आभिर्मुद्रित देहस्तु न भूय इति जायते” इत्यादिकम् ।

कापिल, कणाद, सुगन, अर्हत् आदि के मत असंगत और वेदवाह्य होने से मुमुक्षुओं के लिए अनादरणीय हैं । अब पशुपति के वेदविरुद्ध असंगत मत की अनादरणीयता बतलाते हैं । इस मत के अनुयायी चार प्रकार के हैं, कापालिक, कालमुख, पाशुपत और शैव । ये सब वेद विरुद्ध तंत्र प्रणाली तथा ऐहिक पारलौकिक मोक्ष साधन को कल्पना करते हैं । निमित्त और उपादान कारणों में भेद तथा पशुपति को निमित्त कारण मानते हैं । तथा मोक्ष की साधनिका छः मुद्राओं को धारण करना मानते हैं, जैसा कि-कापालिक कहते हैं—“छः मुद्रिकाओं को जानने वाले, पर मुद्रा विशारद, अपने को भगासनस्य रूप में ध्यान करके निर्वाण प्राप्त करते हैं, कंठिका, रुचक, कुंडल और शिखामणि तथा भस्म और यज्ञोपवीत, ये छः मुद्रायें हैं, इन छद्मों से जिसका देह मुद्रित है, वह पुनः जन्म नहीं लेता । “इत्यादि,

तथा कालामुखा अपि कपालपात्रभोजनशवभस्मस्नान तत्प्राशन लगुडधारणमुराकुंभस्यापनतदाधारदेवपूजादिकमैहिकामुष्मिक सकलफलसाधनमभिदधति । “रुद्राक्षकंकणहस्ते जटा पैका च मस्तके, कपालं भस्मनास्नानम् “इत्यादि च प्रसिद्धं ऐवागमेषु । तथा केनचित्क्रियाविशेषेण विजातीयानामपि ब्राह्मण्यप्राप्तिमृत्तमाश्रमप्राप्ति चाहुः “दोक्षा प्रवेश मात्रेण ब्राह्मणो भवतिक्षणान्तु, कपालं व्रतमास्थाय यतिर्भवतिमानवः “इति ।

तथा कालमुख भी, कपालपात्र में भोजन, शवभस्म स्नान, उसी का भक्षण, लगुडधारण, मद्यकुंभस्यापन, उसी से देवता का पूजन आदि को

ऐहिक आमुष्मिक फल का साधन कहते हैं। "हाथ में द्वादश का कंकण, मस्तकपर एक जटा, नर कपाल ग्रहण और भस्म स्नान "इत्यादि शांवागमों में प्रसिद्ध आचार हैं तथा किन्हीं विशेष क्रियाओं से, विजातीयों की भी ब्राह्मणत्व प्राप्ति और उत्तम आश्रय प्राप्ति बतलाते हैं—“दीक्षा प्रवेश मात्र से तत्काल ब्राह्मण हो जाता है तथा कापालिक व्रत में स्थित होकर मानव, यति हो जाता है। "इत्यादि,

तत्रेदमुच्यते—“पत्युरसामंजस्यात्” इति । “नैकस्मिन् संभवात्” इत्यतो “न” इत्यनुवर्तते । पत्युः, पशुपतेः, भतं नादरणीयम् । कुतः? असामंजस्यात् । असामंजस्यं च भ्रान्त्यन्यन्याघातात् वेदविरोधाच्च । मुद्रिकाषट्कधारणभगासनस्थात्मध्यानसुराकुंभस्थापन तत्स्थदेवता-चर्चनं गुडाचारः स्मशानभस्मस्नानप्रणवपूर्वाभिधानानन्यन्यो न्य विरुद्धानि वेदविरुद्धं चेदं तत्त्व परिकल्पनमुपासनमाचारश्च ।

उक्त मत के निराकरण के लिए “पत्युरसामंजस्यात्” सूत्र प्रस्तुत किया जाता है, “नैकस्मिन्” इत्यादि पूर्वं सूत्र से इस सूत्र में भी “न” शब्द का अनुवर्तन होगा । पति अर्थात् पशुपति का मत अनादरणीय है, क्यों कि—वह असंगत है । परस्पर विरुद्धता और वेदविरुद्धता होने से इसका तालमेल नहीं बैठता । छः मुद्राओं का धारण करना, भगासनस्थ होकर ध्यान करना, सुराकुंभ स्थापन करना, उसी से देवाचर्चन करना गूढ ध्यान करना, स्मशान भस्म से स्नान करना तथा प्रणवोच्चारण पूर्वक ध्यान करना इत्यादि विरुद्धतायें हैं । तत्त्व परिकल्पना, उपासना और आचार में यह मत, वेदविरुद्ध है ।

वेदाः सन्तु परब्रह्म नारायणमेव जगत्तिमितमुपादानं च वदन्ति—“नारायणं परं ब्रह्म तत्त्वं नारायणः परः, नारायणपरोज्योतिरात्मा नारायणः परः “तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति” सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति” तदात्मानं स्वयमकुरुत” इत्यादयः । परब्रह्मभूत परमपुरुष वेदनमेव च . मोक्षसाधनमुपासनं वदन्ति—“वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं द्यादित्यवणं तमसस्तुपारे “तमेवविद्वानमृत इह भवति”

नान्यः पन्थाः, अथनाथ विद्यते “इत्यादिना एकतां गताः सर्वे वेदांताः, तदितिकर्तव्यताभूतं कर्म च वेदविहितवर्णाश्रम संबंधि यज्ञादिकमेव वदन्ति—“तमेत वेदानुवचनेन ग्राह्याणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन “एतमेवलोकमिच्छन्तः प्रव्राजिनः प्रव्रजन्ति “इत्यादयः । केवल परतत्त्व प्रतिपादनपरनारायणानुवाकसिद्धतत्त्वपराः केषुचिदुपासनादि विधिपरेषु वाक्येषु श्रुताः प्रजापतिशिबेन्द्राकाश-प्राणादिशब्दा इति “शास्त्र दृष्ट्यातूपदेशो वामदेववत् “इत्यत्र प्रतिपादितम् । तथा—“एको ह वै नारायण आसीन्नब्रह्मानेशान.” इत्यारभ्य “स एकाको न रमेत” इति सृष्टिवाक्योदितं लुष्टारं नारायणमेव समान प्रकरणस्थाः “तदेव सौम्येदमग्रे “इत्यादिषु साधारणाः सदग्रहादि शब्दाः प्रतिपादयन्तीति “जन्माद्यस्यमतः” इति प्रतिपादितम् । अतो वेद विरुद्ध तत्त्वोपासनानुष्ठानाभिधानात् पशुपतिमतमनादरणीयमेव ।

वेदों में, परब्रह्म नारायण को ही, जगत का निमित्त और उपादान कारण बतलाया गया है—“नारायण ही परब्रह्म, नारायण ही परं तत्त्व नारायण ही पर ज्योति और नारायण ही परमात्मा हैं “उन्होंने कामना की कि अनेक रूपों में व्यक्त हो जाऊँ” उन्होंने इच्छा की कि—अनेक हो कर जन्म लूँ” उन्होंने अपनी स्वयं सृष्टि की “इत्यादि । परब्रह्म परमपुरुष के ज्ञान को ही, मोक्ष का साधन, उपासना बतलाया गया है ।—“अज्ञान से अनीन, आदित्यवर्ण इस महान् पुरुष को मैं जानता हूँ “साधक पुष्ट इग प्रकार जानकर इग लोक में ही अमर हो जाता है” उनको पाने का उगके अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं है । इत्यादि रूप से सारे ही वेदान वाक्य एक ही तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं । वेदविहित, वर्णाश्रमानुगत यज्ञ आदि को ही, मोक्षोपाय का अंगीनूत कर्म बतलाया गया है “ग्राह्याग, वेदाध्ययन, वेदोक्त यज्ञ दान, तप और भोग निवृत्ति द्वारा, उसको जानने की इच्छा करने हैं” “इसी प्रकार संन्यासी आत्मलोक प्राप्त की कामना से संन्यास ग्रहण करते हैं “इत्यादि । उपासना विधायक किन्ही किन्ही वाक्यों में कहे गए, प्रजापति शिव, इन्द्र, आकाश और प्राण आदि शब्दों

को नारायण ही मानना चाहिए तैत्तिरीयोपनिषद् के नारायण अनुवाक से ऐसा ही सिद्ध होता है, इसका प्रतिपादन हम "शास्त्रदृष्ट्यातुपदेशो वामदेववत्" सूत्र में कर चुके हैं। तथा—सृष्टि के पूर्व एक नारायण ही थे, ब्रह्मा, शंकर आदि कोई न थे "इत्यादि से प्रारंभ करके "वह अकेले रमण नहीं करते "इत्यादि सृष्टि वाक्य में जिन नारायण को स्रष्टा बतलाया गया है, उन्हें ही दूसरे सृष्टि प्रकरण में—" हे सौम्य! सृष्टि के पूर्व यह जगत सत् ही था "इत्यादि में साधारण सत् शब्द से बतलाया गया है। "जन्माद्यस्य यतः" सूत्र में इसका विवेचन हो चुका है वेदविरुद्ध तत्त्व की उपासना का प्रतिपादक पाशुपत सिद्धान्त निश्चय ही अनादरणीय है।

अधिष्ठानानुपपत्तेश्च । २। २। ३६॥

वेदवाह्यानामनुमानाद् हि केवल निमित्तेश्वर कल्पना तथा सति दृष्टानुसारेण कुलालादिवदधिष्ठानं कर्तव्यम्, न च कुलालादेमंदाद्याधिष्ठानवत्पशुपतेर्निमित्तभूतस्य प्रधानाधिष्ठान-मुत्पद्यते, शरीरोत्त्वात्, शरीराणामेव हि कुलालादीनामधिष्ठान-शक्तिर्दृष्टा, न शरीरस्य शरीरोत्त्वमभ्युपगंतव्यम्, तच्छरीरस्य सावयवस्य नित्यत्वं अनित्यत्वे च "शास्त्र योनित्वात्" इत्यत्र दोषस्योक्तत्वात् ।

वेदविरुद्ध पाशुपतों के अनुमान से यदि ईश्वर की ही निमित्तकारण रूप से कल्पना करेंगे तो, उन्हें निमित्त कारण रूप से देखने वाले कुम्हार आदि की तरह ही मानना पड़ेगा। कुम्हार आदि जैसे मिट्टी आदि उपादानों से निर्माण करते हैं वैसे ही पशुपति, प्रधान से निर्माण नहीं कर सकते क्यों कि वह शरीरी नहीं है, शरीर वाले कुम्हार आदि में ही निर्माण शक्ति देखी जाती है, ईश्वर को शरीर वाला कभी माना नहीं जा सकता, क्यों कि, उनका सांगोपांग शरीर मानने से, नित्यता और अनित्यता होगी जिसे कि—"शास्त्रयोनित्वात्" में दोष बतला चुके हैं।

करणावच्छेन्न भोगादिभ्यः ।२।२।३७॥

यथा भोक्तुर्जीवस्य करणकलेवराद्यधिष्ठानमशरीरस्यैव दृश्यते, तद्वन्महेश्वरस्याप्यशरीरस्य च प्रधानाधिष्ठानमुपपद्यत इति चेत्-न भोगादिभ्यः पुण्यपापरूपकर्मफलभोगार्थं पुण्यपापरूपादृष्टकारितं हि तदधिष्ठानं तदवद पशुपतिरपि पुण्यपापरूपादृष्टवत्तया तत्फलभोगादि सर्वं प्रसज्येत्, अतो नाधिष्ठानं संभवः ।

शरीर होते हुए भी भोक्ता जीव को जैसे, देह और इन्द्रिय आदि से निर्माण करते देखा जाता है वैसे ही महेश्वर भी अशरीरी होते हुए प्रधान से सृष्टि करते हैं, ऐसा नहीं कह सकते, ऐसा मानने से भोग आदि की संभावना होगी। जीव का जो देह इन्द्रिय आदि में अधिष्ठान है वह पुण्य-पाप कर्मों के फल भोगने के लिए है वैसे ही पशुपति में भी पुण्यपाप कर्म और उसके फल भोगने की स्थिति होगी। इसलिए पशुपति का अधिष्ठान नहीं हो सकता।

अन्तवरवमसर्वज्ञता या ।२।२।३८॥

वाराहचर्यायें, पशुपते पुण्यापुण्यरूपादृष्टवत्त्वे जीववदंतवत्त्वं सृष्टिसंहाराद्यास्पदत्वं असर्वज्ञता च स्यादित्यनादरणीयमेवेदं 'विरोचेत्वनपेक्ष्यंस्यात्' इत्यादिना वेदविरुद्धस्यानादरणीयत्वे सिद्धेऽपि पशुपति मतस्य वेदविरुद्धताख्यापनार्थं "पत्पूरसामंजस्यात्" इति पुनरारम्भः। यद्यपि पाशुपतशिवयोर्वेदाविरोधिन इव केचन धर्माः प्रतीयते, तथापि वेदविरुद्ध निमित्तोपादानभेदकल्पनापरावर तत्त्वव्यत्यय कल्पन, मूलत्वात् सर्वमसमंजसमेवेति "प्रसामंजस्यात्" इत्युक्तम्।

सूत्रस्य वा शब्द च के अर्थ में प्रयुक्त है। पशुपति का यदि पुण्य अपुण्य रूप अदृष्ट संबंध स्वीकारेंगे तो, जीव की तरह उनकी भी नाश-धान, सृष्टि-संहार और सर्वज्ञता हो जावेगी, इसलिए यह मत अनादरणीय

ही है। "वेद विरुद्ध होने से उपेक्षणीय है" इस वाक्य के अनुसार जना-
दरणीय सिद्ध होने पर भी, इस मत की वेद विरुद्धता बतलाने के लिए
"पत्युरसामंजस्यात्" सूत्र से उसी बात को पुनः आरम्भ किया गया है।
यद्यपि पाशुपत और शैवमत की कुछ मान्यतायें, वेद से अविरुद्ध भी प्रतीत
होती हैं तथापि—वेद विरुद्ध, निमित्त और उपादान कारणों की भेद
कल्पना, पर अपर तत्त्व की विपर्यय कल्पना ही जब इस मत के मूल
सिद्धान्त हैं तो उसीसे सारा मत असंगत हो जाता है, "असामंजस्यात्"
से यही बात कही गई है।

८ उत्पत्त्यसंभवाधिकरणः—

उत्पत्त्यसंभवात् । २। २। ३६॥

कपिलादितंत्र सामान्याद् भगवदभिहितपरमनिः श्रेयस
साधनावबोधनि पंचरात्रतत्रेऽप्यप्रामाण्यमाशंक्य निराक्रियते । तत्रैव
मारांकते—“परमकारणात् परब्रह्मभूतात् वासुदेवात् संकर्षणो नाम
जीवो जायते, संकर्षणात् प्रद्युम्नसंज्ञ मनोजायते, तस्मादनि द्व संज्ञोऽहं
कारो जायते” इति हि भागवतप्रक्रिया। अत्र जीवस्योत्पत्तिः श्रुतिवि-
रुद्धा प्रतीयते, श्रुतयो हि जीवस्य अनादित्वं वदन्ति "न जायते म्रियते
वा विपरिचत्" इत्यादिना ।

कपिल आदि तंत्रों की समानता होने से, स्वयं भगवान द्वारा
उपदिष्ट मोक्ष साधन बोधक पंचरात्र तंत्र की भी अप्रामाणिकता की
आशका करके निराकरण करते हैं—“परमकारण परब्रह्म स्वरूप वासुदेव
से संकर्षण नामक जीव उत्पन्न हुआ, संकर्षण से प्रद्युम्न नामक मन हुआ,
उससे अनिरुद्ध नामक अहंकार होता है।” ऐसी भागवतो की प्रक्रिया है।
इस पर आशका करते हैं कि—इसमें जो जीव की उत्पत्ति बतलाई गई है
वह वेद विरुद्ध है, वेदों में तो जीव को अनादि बतलाया गया है—
“विपरिचत् न उत्पन्न होता है न मरता है” इत्यादि।

न च कर्तुः कारणम् । २।२।४०॥

“संकर्षणात् प्रद्युम्नसंज्ञ मनो जायते” इति कर्तुः जोवात् कारणस्य मनस उत्पत्तिर्नसंभवति । “एतस्माज्जायते प्राणो मनसः सर्वेन्द्रियाणि च” इति परस्मादेव ब्रह्मणो मनसोऽप्युत्पत्तिश्रुतेः । अतः श्रुतिविरुद्धार्थं प्रतिपादनादस्यापि तत्रस्य प्रामाण्यं प्रति सिध्यति इति ।

“संकर्षण से प्रद्युम्न नामक मन होता है” कर्ता जीव से इन्द्रिय रूप मन की जो उत्पत्ति बतलाई गई है वह भी संभव नहीं है । “इससे ही प्राण मन आदि इन्द्रिया उत्पन्न होती हैं” इत्यादि श्रुति में परब्रह्म से ही मन की उत्पत्ति बतलाई गई है । इसलिए श्रुति विरुद्ध प्रतिपादन करने वाले इस तंत्र की भी प्रामाणिकता, अमान्य है ।

एवं प्राप्त प्रचक्ष्महे—इस पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं—

विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः । २।२।४१॥

वा शब्दान् पक्षो विपरिवर्तते, विज्ञानं चादिचेति परब्रह्म विज्ञानादि । संकर्षणं प्रद्युम्नानिरुद्धानामपि परब्रह्मभावे सति तत्प्रतिपादन परस्य शास्त्रस्य प्रामाण्यं न प्रतिविध्यते । एतदुक्तं भवति—भागवत प्रक्रियामजानतामिदं चोद्यं—यज्जोवोत्पत्तिविरुद्धाऽमहिता इति । वासुदेवाख्यं परं ब्रह्मैवाश्रितवत्नलं स्वाश्रित समाश्रयणोप-त्व, यस्वेच्छया चतुर्धाऽवतिष्ठति इति हि तत्प्रक्रिया । यथा षोडशर संहितायां—“कर्त्तव्यत्वेन वै यत्र चातुरात्म्यमुपास्यते, क्रमागतं स्वसजाभिः ब्राह्मणैरागमं तु तत्” इत्यादि । तच्च चातुरात्म्योपा-सनं वासुदेवाख्य परब्रह्मोपासनमिति सात्वत् संहितायामुक्तम्—“ब्राह्मणानां हि सदब्रह्म वासुदेवाख्ययाजिनाम् विवेकादपर शास्त्रं ब्रह्मोपनिषदमहत्” इति ।

सूत्र वा शब्द पूर्वपक्ष की आपत्ति का निवारक है। विज्ञानादि का तात्पर्य है, सबका कारणीभूत परब्रह्म। संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध भी परब्रह्म के ही स्वरूप हैं, उनके प्रतिपादक शास्त्र की प्रामाणिकता प्रतिपिद्ध नहीं हो सकती। कथन यह है कि—भागवत संप्रदाय की तत्त्वचिंतन प्रणाली को न जानने वाले ही ऐसा कहते हैं कि—जीव की उत्पत्ति शास्त्र विरुद्ध है। भागवतों का मत है कि—वासुदेव नामक परब्रह्म ही शरणागत वत्सल रूप से अपने भक्तों को आश्रय प्रदान करने के लिए स्वेच्छा से चार रूप धारण करते हैं। जैसा कि पौष्कर संहिता में वे कहते हैं—जिससे, गुरु शिष्य भावापन्न ब्राह्मण लोग, कर्तव्य बुद्धि से चतुर्व्यूह की उपासना करते हैं वही आगम है” इत्यादि। वह चतुर्व्यूह उपासना, वासुदेव नामक परब्रह्म की ही है, ऐसा सात्वत संहिता में कहा गया है—“वासुदेव नामक सद्ब्रह्म के उपासक ब्राह्मणों को विवेक प्रदान करने वाला यही एक मात्र ब्रह्मोपनिषद् है।”

तद् हि वासुदेवाख्यं परंब्रह्म संपूर्णषाड्गुण्यवयुः सूक्ष्मव्यूहविभवं भेदभिन्नं यथाधिकारं भक्तैः ज्ञानपूर्वेण कर्मणा अभ्यर्चितं सम्यक् प्राप्यते। विभवाचंनादव्यूहं प्राप्य, व्यूहाचंनात् परं ब्रह्म वासुदेवाख्यं सूक्ष्मं प्राप्यत इति वंदति। विभवो हि नाम रामकृष्णादि प्रादुर्भावगणः। व्यूहो वासुदेव संकर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धरूपश्चतुर्व्यूहः। सूक्ष्मं तु केवल षाड्गुण्य विग्रहं वासुदेवाख्यं परंब्रह्म। यथा पौष्करे—“यस्मात् सम्यक् परंब्रह्म वासुदेवाख्यमव्ययम्, अस्मादवाप्यते शास्त्रात् ज्ञानपूर्वेण कर्मणा” इत्यादि।

संपूर्ण छः गुणों वाले सूक्ष्म व्यूह रूप विशिष्ट संपत्तिशाली उन वासुदेव नामक परब्रह्म को, भक्तगण अपने अपने अधिकारानुसार, ज्ञान-युक्त कर्म द्वारा अर्चना करके, अच्छी तरह प्राप्त होते हैं। विभवाचन से व्यूह की प्राप्ति करके, व्यूहाचन करते हैं उससे परब्रह्म वासुदेव नामक सूक्ष्म तत्त्व को प्राप्य करते हैं। राम कृष्ण आदि अवतार ही विभव हैं, वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध चतुर्व्यूह हैं। सूक्ष्म तो केवल छःगुण संपन्न, वासुदेव नामक परब्रह्म ही हैं। जैसा कि -पौष्कर संहिता

में कहा गया है—“वासुदेव नामक सद्ब्रह्म की प्राप्ति, जिम शास्त्रोपादिष्ट ज्ञान पूर्वी कर्म से होती है” इत्यादि ।

अतः संकर्षणादोनामपि परस्यैव ब्रह्मणः स्वेच्छाविग्रह रूपत्वात् “अजायमानो बहुधा विजायते” इति श्रुतिसिद्धस्येवाश्रित वात्सल्यनिमित्ता स्वेच्छाविग्रह संग्रहरूपजन्मनोऽभिधानात्तदभिधायि शास्त्रप्रामाण्यस्याप्रतिषेधः, इति । तत्र जीवमनोऽहंकार तत्त्वानामधिष्ठातारः संकर्षण प्रद्युम्नानिरुद्धा इति तेषामेव जीवादिशब्दैरभिधानमविरुद्धम्, यथा आकाश प्राणादिशब्दैः ब्रह्मणोऽभिधानम् ।

संकर्षण आदि तीन, परब्रह्म के स्वेच्छा विग्रह हैं—“जो जन्मरहित-होते हुए भी, अनेक रूपों में आविर्भूत होते हैं” ऐसा श्रुति प्रसिद्ध मत है, शरणागत वात्सल्य से स्वेच्छा विग्रहों के रूप में उनका प्राकट्य बतलाया गया है, जिससे कि उनके प्रतिपादक शास्त्र की प्रामाणिकता अकाट्य सिद्ध होती है । जीव मन अहंकार के अधिष्ठता, संकर्षण-प्रद्युम्न और अनिरुद्ध है, उन्हें ही जीव आदि शब्दों से बतलाया गया है, जैसा कि—आकाश आदि शब्दों से परब्रह्म का उल्लेख किया गया है ।

विप्रतिषेधाच्च ।२।२।४२॥

विप्रतिषिद्धा हि जीवोत्पत्तिस्तस्मिन्नपितंत्रे, यथोक्तं परमसंहितायाम् “अचेनना परार्था च नित्या सतत विक्रया, त्रिगुणा कमिणां क्षेत्रं प्रकृतेरूपमुच्यते । व्याप्तिरूपेण संवद्यस्तस्याश्च पुरुषस्य च, स हि अनादिरनन्तश्च परमार्थेन निश्चितः ” इति । एवं स-ष्वपि संहितासु जीवस्य नित्यत्ववचनाज्जीवस्वरूपोत्पत्तिः पंचरात्रतंत्रे प्रतिषिद्धैव । जन्ममरणादिव्यवहारस्तु लोकवेदयोर्जीवस्य यथोपपद्यते, तथा “नात्मा श्रुतेः ” इत्यत्र वक्ष्यते । अतो जीवस्योत्पत्तिस्तत्रापि प्रतिषिद्धैवेति जीवोत्पत्तिवादानिमित्ताप्रामाण्यशंका दूरोत्सारिता ।

जीव की उत्पत्ति तो नारद पांचरात्रतंत्र में भी अस्वीकार की गई है जैसा कि परम संहिता में—“अचेतन परार्थं (पुरुष की भोग साधिका) नित्य और निरंतर विकारशील, त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही जीवों की कर्म भूमि है, जो कि यथार्थ सा है। व्यापक होने से प्रकृति के साथ पुरुष का दृढ़ संबंध हो गया है, जो कि अनादि अनंत सत्य मा प्रतीत होता है।” ऐसा ही मभी संहिताओं में जीव के निम्नना बोधक वाक्यों से जीव की स्वरूपोत्पत्ति पांचरात्रतंत्र में प्रतिषिद्ध है। जीव के जन्म और मरण आदि का व्यवहार जैसा लोक और वेद में किया जाता है उसे “नात्मा श्रुते.” में दिखलाया है। जीव की उत्पत्ति तो, पांचरात्रतंत्र में भी प्रतिषिद्ध है इसलिए जीवोत्पत्तिवाद निमित्तक प्रामाण्य की शंका निराकृत हो जाती है।

यश्चैव केपांचिद् उद्घोषः “सांगेषु वेदेषु निष्णामलभमानः शांडिल्यः पंचरात्र शास्त्र मधीतवान् “इति । सोऽप्यनाघ्रातवेदवच-सामनाकलिततदुपवृंहणन्यायकलापानां श्रद्धामात्र विजृम्भितः, यथा—“प्रातः प्रातरनृतं ते वदन्ति पुरोदयाञ्जुह्वति येऽग्निहोत्रम् “इति-अनुदितहोमनिन्दा उदितहोम प्रशंसार्थेत्युक्तम्, यथा च भूमविद्याप्रक्रमे नारदेन “ऋग्वेद् भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थंमितिहासपुराणं पंचमम् “इत्यारभ्य सर्वेविद्यास्थानमभिधाय—“सोऽहं भगवो मंत्रविदेवास्मि नात्मवित् “इति भूमविद्याव्यतिरिक्तासु सर्वानु विद्यास्वात्मवेदनालाभवचनं वक्षमाणभूमविद्या प्रशंसार्थंकृतं श्रयवाग्रस्य नारदस्य सांगेषु वेदेषु यत्परतत्त्वं प्रतिपाद्यते, तदलाभनिमित्तोऽयंवादः, एवमेव शांडिल्यस्येति । पश्चाद् वेदांत वेद्यवासुदेवाख्य परब्रह्म तत्त्वाभिधानादवगम्यते तथा वेदार्थस्य दुर्ज्ञानतया सुखावबोधार्थः शास्त्रारम्भः परमसंहितायामुच्यते—“अधीता भगवन् वेदाः : तोषांगाः सविस्तराः, श्रुतानि च मयाऽंगानि वाक्यो वाक्ययुतानि : न चैतेषु समस्तेषु संशयेन विना ष्वचित्, श्रेयोभागं प्रपश्यामि

येन सिद्धिर्भविष्यति "इति "वेदांतेषु यथासारं संगृह्य भगवान् हरिः,
भक्तानुकम्पमाविद्वान् संचिक्षेप यथा सुखम् "इति च ।

किसी का जो यह कथन है कि—“शांडिल्य ऋषि ने अङ्गों सहित वेदों में पुरुषार्थ निष्ठा न देखकर पांचरात्र शास्त्र का अध्ययन किया” इस वाक्य में वेद वेदांग में पुरुषार्थ निष्ठा की अनुपस्थिति गई है, इसलिए यह तन्त्र वेद विरुद्ध है। उन कहने वालों ने, वस्तुतः वेदों को सूँघा तक नहीं और न वे वेदानुकूल युक्तियों से ही परिचित हैं, उनमें केवल श्रद्धा का अंकुर मात्र ही है, जिसके आधार पर वे वेद की दुहाई देते हुए प्रायः अनगल प्रलाप करते हैं। वेद की युक्ति का एक उदाहरण जैसे—“जो सूर्योदय के पूर्व हवन करते हैं, वे नित्य प्रातः काल झूठ बोलते हैं” ऐसी सूर्योदय पूर्व के हवन की निन्दा का तात्पर्य सूर्योदय के बाद के हवन की प्रशंसा ही है। तथा-भूमाविद्या के प्रकरण में नारद ने कहा कि— भगवन् ! मैंने ऋग् यजु साम अथवा चारों वेद पढ़ा तथा पाँचवें वेद इतिहास पुराण का भी स्मरण किया” इत्यादि से सभी विद्याओं का उल्लेख करके 'हे भगवन् ! मैं मन्त्र वेत्ता तो हूँ किन्तु आत्म वेत्ता नहीं हूँ' इत्यादि में, ऋषि-विद्या के अतिरिक्त समस्त विद्याओं में आत्म ज्ञान प्राप्ति का अभाव बनला गया, वह एक मात्र भूमाविद्या की प्रशंसा के लिए ही है। अथवा अङ्गों सहित में जो परतत्त्व निहित है, उसको न समझ सकने के कारण नारद ने ऐसा कहा, उसी प्रकार शांडिल्य संबंधी कथन भी है। उक्त शांडिल्य सम्बन्धी कथन के ठीक बाद ही, वेदांत वेद्य बासुदेव नामक परब्रह्म तत्त्व का उल्लेख है, उससे यही बात गिद्ध होती है। ऐसे ही वेदार्थ दुर्ज्ञेयता के अनायास बोध के लिए पांचरात्र शास्त्र के प्रारंभ में परसंहिता में कहा गया कि—“भगवन् ! अंगों सहित वेदों का अध्ययन किया, तथा वाक्ययुक्ति विशिष्ट वेदांगों का भी श्रवण किया, किन्तु उनमें अज्ञानवित्त ऐसा श्रेयमार्ग नहीं पाया, जिसमें कि सिद्धि हो सके "भगवान् हरि ने स्वयं वेदों का सारतत्त्व स्पष्ट करके, भक्तों पर कृपावश, सहज ज्ञान प्राप्ति के लिए संक्षिप्त किया” ।

अतः स भगवान् वेदैकवेद्यः परब्रह्माभिधानोवासुदेवो निखिल
हेयप्रत्यनीककल्याणैकतानानं त शानानंदाद्यपरिमितोदारगुणसागरः
सत्यसंकल्परचातुर्वर्ष्याचानुराश्रम्यग्नवस्वयाऽवस्थितान् धर्माय काम

मोक्षाख्य पुरुषार्थाभिमुखान् भक्तानवलोक्यापारकारुण्यत्रौशील्य-
वात्सल्यौदार्यं महोदधिः स्वस्वरूपस्वविभूति स्वराराधन तत्फल
याथात्म्यावबोधिनोवेदान् ऋग्यजुसामाथर्वभेदभिन्नानपरिमितशाखान्
विध्यर्थवादमंत्ररूपान् स्वेतर सकलमुरनरदुरवगाहांश्चावधार्यं तदर्थं
याथात्म्यावबोधि पंचरारात्र शास्त्रं स्वयमेव निर्मिमीतेति निरवद्यम् ।

साराश यह है कि-अपार करुणावान्सत्य और सुशीलता के सागर,
वेदांत वेद्य, हीनतारहित, महान् गुणों की खान, अनंत ज्ञान आनंद आदि
अपरिमितउदार गुणों के सागर सत्यसकल्य परब्रह्म वासुदेव ने चारों वर्णों
और आश्रमों की व्यवस्था के अनुरूप, अपने भक्तों को, धर्म अर्थ काम मोक्ष
पुरुषार्थ प्राप्त के लिए उत्सुक देखकर, अपने स्वरूप, विभूति आराधना
और आराधना के फल के प्रतिपादक, ऋग् यजु साम अथर्व आदि रूपों में
विभक्त असंख्य शाखावाले, विधि, अर्थवाद और मंत्र वाले वेदों को, अपने
से भिन्न देव मनुष्य आदि के लिए दुर्विज्ञेय समझकर सुबोध पंचरात्र शास्त्र
का स्वयं ही निर्माण किया । इसलिए यह शास्त्र अनवद्य है ।

यत्तु परैः सूत्र चतुष्टयं कस्यचिद्विरुद्धांशस्य प्रामाण्य निषेध
परं व्याख्यातम्, तत्सूत्राक्षराननुगुणं, सूत्रकाराभिप्रायविरुद्धं च
तथाहि-सूत्रकारेण वेदांतन्यायाभिधायीनि सूत्राण्यभिधाय
वेदोपवृहणाय च भारतसंहितां शतसाहस्रिकां कुर्वता मोक्षधर्म
ज्ञानकाण्डेऽभिहितं-“ग्रहस्थो ब्रह्मचारी च वानप्रस्थोऽप्य भिक्षुकः, य
इच्छेत् सिद्धिमाप्नुयात् देवतां कां यजेत् सः “इत्यारम्भ महता प्रबंधेन
पंचरात्र शास्त्र प्रक्रियां प्रतिपाद्य “इदं शतसहस्राद् हि
भारताख्यानविस्तरात् आविध्य मति मथानं दध्नोघृतमिवोद्धृतं,
नवनीतं यथा दध्नो, द्विपदां ब्रह्मणो यथा आरण्यकं च वैदभ्यः
श्रौपथीभ्योययाऽमृतम् “इदं महोपनिषदं चतुर्वेद समन्वितं, सांख्य
योग कृतांतेन पंचरात्रानुशब्दितम् “इदं श्रेय इदं ब्रह्म इदं
हितमनुत्तमं, ऋग्यजुः सामभिर्जुष्टमधर्वागिरसैस्तथा, भविष्यति
प्रमाणं वा एतदेवानुशासनम् “इति । .. सांख्ययोगशब्दाभ्यां

ज्ञानयोगकर्मयोगावभिहतौ—यथोक्तं—“ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्म
योगेन योगिनामिति । भीष्मपर्वण्यपि—“ब्राह्मणैर्क्षेत्रियैर्वैश्यैः शूद्रैश्च
कृतलक्षणैः, अर्चनीयश्च, सेव्यश्च पूजनीयश्च माधवः । “सात्वतं
विधिमास्थाय गीतसंकर्षणेन यः “इति । कथमेवं द्रुवाणो वादरायणो
वेदविदग्रेसरो वेदांतवेद्य परब्रह्मभूतवासुदेवोपासनार्चनादि
प्रतिपादनपरस्य सात्वतशास्त्रस्याप्रामाण्यं श्रूयात्?

जिन्होंने उक्त चारों सूत्रों की, विरुद्धांश प्रामाण्य निषेध परकव्याख्या
की है, वह सूत्रार्थ और सूत्रकार के अभिप्राय के विरुद्ध है । सूत्रकार ने,
वेदांत व्याख्या के नियम के प्रकाशक ब्रह्मसूत्रों की रचना करके—वेदों की
वास्तविक विवेचना करने वाली, महाभारत के एक लाख श्लोकों की संहिता
बनाई उसी के मोक्षधर्म के ज्ञान कांड में ‘ग्रहस्थ, ब्रह्मचारी, वाणप्रस्थी और
संन्यासी, जो भी सिद्धि प्राप्ति की इच्छा करते हैं वे किन देवता का अर्चन
करें? ‘इत्यादि से प्रारंभ करके बड़े सुव्यवस्थित ढंग से पंचरात्र शास्त्र का
प्रतिपादन इस प्रकार किया है—‘दही से निकले नवनीत की तरह,
द्विजातियों में श्रेष्ठ ब्राह्मण की तरह, वेदों में आरण्यक की तरह, समुद्र से
निकले अमृत की तरह, अपनी बुद्धि रूपी मथानी की सहायता से, एकलाख
श्लोक वाले आख्यायिका प्रधान महाभारतरूपी दही के समुद्र से, नवनीत
की तरह यह पांचरात्र शास्त्र निकाला है । चारों वेदों के सार से युक्त यह
महोपनिषद्, सांख्य योग और वेदांत में “पंचरात्र” शब्द से वर्णित है ।
यही परम कल्याण रूप मोक्ष, यही ब्रह्म प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ हिन तथा यही
ऋग् यजु साम और अथर्व वेद के प्रतिपाद्य तत्त्व का प्रामाणिक अनुशासन
करने वाला है । “यहाँ साध्य और योग शब्द से ज्ञान और कर्म योग
समझना चाहिए—जैसा कि—“ज्ञान योग से सांख्य तथा कर्म योग से योग,
तात्पर्य है” इस वाक्य से निश्चित होता है । भीष्मपर्व में भी इसी प्रकार
कहा गया कि—“ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्रों के लिए, संवर्षण सहित
माधव ही, सात्वत विधि के अनुसार पूज्य, सेव्य और अर्च्य कहे गए हैं ।
“वेदज्ञों के अग्रगण्य भगवान वादरायण ही ऐसा बहूँ और स्वयं वे ही,
वेदांत वेद्य परब्रह्मस्वरूप भगवान वासुदेव की अर्चना के प्रतिपादन में
तत्पर सात्वत शास्त्र को अप्रामाणिक बतलावें ऐसा कैसे संभव है?

ननु च—“सांख्यं योगः पंचरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा ।
 किमेतान्येकनिष्ठानि पृथङ्निष्ठानि वामुने । इत्यादिना
 साख्यादोनामप्यादरणीयतोच्यते, शारीरके तु सांख्यादीनि
 प्रतिपिच्यन्ते, अत इदमपितत्रं तत्तुल्यम्. नेत्युच्यते, यतस्त्रपोभमेव
 शारीरकोक्तं न्यायमवतारयति “किमेतान्येकनिष्ठानि प्रथङ्निष्ठानि वा?
 “इति प्रश्नस्यायमर्थः—किं सांख्ययोगपाशुपतवेद पंचरात्राप्येकतत्त्व-
 प्रतिपादनपराणि, पृथक्तत्त्वप्रतिपादनपराणि वा? यदैकतत्त्वप्रतिपादन-
 पराणि, किं तदैकं तत्त्वम्? यदा तु पृथक्तत्त्वप्रतिपादनपराणि
 तदैवापरस्परं विरुद्धार्थं प्रतिपादनपरत्वात् वस्तुनि
 विकल्पासंभवाच्चैकमेव प्रमाणमंगोकरणीयम्, कित्तदेकम्—इति ।
 अस्योत्तरं ब्रुवन्—“जानान्येतानि राजपं विद्वि नानामतानि वै,
 सांख्यस्य वक्ता कपिलः “इत्यारम्भ सांख्ययोगपाशुपतात्रां,
 कपिलहिरण्यगर्भं पशुपतिं कृतत्वेन पौरुषेयत्वं प्रतिपाद्य
 “अवांतरतपानामं वेदाचार्यः स उच्यते “इति वेदानामपौरुषेयत्वम-
 भिधाय—“पंचरात्रस्यकृत्स्नस्य वक्ता नारायणः स्वयम् “इति
 पंचरात्रतंत्रस्य वक्ता नारायणः स्वयमेवेत्युक्तव्यम् ।
 एवंवदत्तश्चायमाशयः—पौरुषेयाणां तंत्राणां परस्पर विरुद्ध वस्तु-
 वादितया अपौरुषेयत्वेन निरस्तप्रमादादिनिखिलदोषगधवेदवेद्यवस्तु-
 विरुद्धाभिवायित्वाच्च यथावस्थितवस्तुनि प्रामाण्यं दुर्लभम् ।
 वेदवेद्यश्च परब्रह्मभूतो नारायणः, अतस्तत्तंत्राभिहितप्रधानपुरुष
 पशुपतिप्रभृति तत्त्वस्य त्रैदांतवेद्यपरब्रह्मभूतनारायणात्मकतयैव
 वस्तुत्वमभ्युपगमनीयमिति ।

कहते हैं कि—“सांख्य, योग, पंचरात्र, वेद पाशुपत, ये सब क्या, एक ही उद्देश्य माधन में पर्यवसित हैं अथवा भिन्न भिन्न साधनों में? इत्यादि वाक्यों में सांख्य आदि का तो आदर किया गया है, शारीरक ब्रह्मसूत्र में

इन सांख्य आदि का प्रतिषेध किया गया है, यह पांचरात्र तंत्र भी उसी प्रकार प्रतिषिद्ध है। नही ऐसा कहना ठीक नहीं, शारीरिक मूर्तों की युक्तियों की तरह उक्त वाक्य में भी युक्ति पूर्ण प्रस्तावना की गई है। 'किमेतान्येक निष्ठाति" इत्यादि प्रश्न का तात्पर्य है कि-मांडव योग, पाशुपत, वेद पांचरात्र आदि शास्त्र वशा एकही तत्त्व का प्रतिपादन करने हैं अथवा भिन्न भिन्न तत्त्वों का? यदि एक का ही प्रतिपादन करने हैं तो वह एक तत्त्व क्या है? यदि भिन्न भिन्न का प्रतिपादन करते हैं तो, उन सब में प्रमाण रूप से किमी एक को ही स्वीकारा जा सकता है, सो वह स्वीकार्य तत्त्व कौन सा है? इस प्रश्न का उत्तर भी नहीं दिया गया कि-ये विभिन्न मतानुयायियों के ज्ञान के फलस्वरूप उद्भूत प्रक्रियायें हैं उनमें सांख्य के वक्ता कपिल हैं "इत्यादि से प्रारंभ करके-सांख्य योग और पाशुपत मतों की कपिल, हिरण्यगर्भ और पशुपति प्रणीत पौरोषेयता का प्रतिपादन करके-"वे (नारद) ही अपान्तरतपा नामक वेदाचार्य कहलाते हैं "इत्यादि से वेदों की अपौरोषेयता दिखलाकर "संपूर्ण पांचरात्र स्वयं नारायण ने कहा-"इत्यादि से स्वयं नारायण को ही पांचरात्र तंत्र का वक्ता बतलाया। इतना कहने का आशय यह है कि-पौरोषेय मतों के परस्पर विरुद्ध तत्त्व प्रतिपादन के तथा अपौरोषेय होने से, वेद वेद्य तत्त्व, प्रमादादि ममस्तदोषों से रहित है, इसलिए जीव की प्रकृति से, विरुद्ध सा प्रतीत होता है, वस्तु की यथार्थता में इनको प्रमाण रूप से स्वीकारना बड़ा कठिन सा है। वेदवेद्य तत्त्व नारायण ही हैं, इसलिए सांख्य आदि शास्त्रोपदिष्ट, प्रकृति पुरुष, पशुपति आदि तत्त्वों को वेदांत वेद्य परब्रह्मस्वरूप नारायणात्मक रूप से ही स्वीकारा जायेगा।

तदिदमाह च-"सर्वेषु च नृपश्रेष्ठ ज्ञानेष्वेतेषु दृश्यते, यथागमं यथान्यायं निष्ठा नारायणः प्रभुः "इति। "यथागमं यथान्यायम् "इति न्यायानुगृहीततत्तदागमोक्तं वस्तुपरामृशतो नारायण एव सर्वस्यवस्तुनो निष्ठेति दृश्यते, अद्ब्रह्मात्मकतया तत्तत्राभिहितानां तत्त्वानां "सर्वं खल्विदं ब्रह्म "विरवं नारायणः "इत्यादिना सर्वस्य ब्रह्मात्मकतामनुसंदधानस्यनारायण एव निष्ठेति प्रतीयत इत्यर्थः।

उक्त आशय को स्पष्टतः कहा भी है—“समस्त ज्ञान शास्त्र में, शास्त्र और युक्ति के अनुसार ज्ञात होता है कि—प्रभुनारायण ही निष्ठा (तत्त्व की परमसीमा) हैं।’ इसमें “यथागमं यथान्यायम्” का तात्पर्य है कि—न्यायानुमोदित, समस्त वस्तुतत्त्व का विचार करने पर ज्ञात होता है कि सारे शास्त्रों के पदार्थ अत्रह्यात्मक हैं, नारायण ही सब वस्तुओं में निष्ठा हैं। यह सब ब्रह्मस्वरूप है। सारा जगत नारायण स्वरूप है “इत्यादि से निश्चित होता है कि—सारीवस्तुएं ब्रह्मात्मक हैं नारायण ही सबकी निष्ठा हैं।

अतोवेदांत वेद्यः परब्रह्मभूतोनारायणः स्वयमेव पंचरात्रस्य-
कृत्नस्य वक्तेति, तत्स्वरूपतदुपासनाभिधायि तत्तंत्रमिति च
तस्मिन्नितर तंत्रसामान्यं न केनचिदुद्भावयितुंशक्यम्।
अतस्तत्रैवेदमुच्यते—“एवमेकं सांख्ययोगं वेदारण्यकमेव च,
परस्परांगान्येतानि पंचरात्रं तु कथ्यते” इति। सांख्यं च योगश्च
सांख्ययोगम्, वेदाश्चारण्यकानि च वेदारण्यकम्, परस्परांगान्येतानि
एकतत्त्वप्रतिपादनपरतयैकीभूतानि एकं पंचरात्रमिति कथ्यते।

वेदांत वेद्य परब्रह्मस्वरूप नारायण ही, स्वयं संपूर्ण पंचरात्र के वक्ता है, उनका प्रणीत शास्त्र उनका ही स्वरूप है और उनकी उपासना का विधायक है, अन्यान्यशास्त्र उसकी समानता नहीं कर सकते। उस महाभारत में वही कहा गया कि—“सांख्य-योग, वेद-आरण्यक सब परस्पर अंगांगीभाव से पांचरात्र शास्त्र में वर्णन किये गए हैं। “सांख्य और योग तथा वेद और आरण्यक, एकही तत्त्व के प्रतिपादक होने से एक हैं, ये शास्त्र ही संगठित होकर पंचरात्र नामक एक शास्त्र कहलाते हैं।

एतदुक्तं भवति—सांख्योक्तानि पंचविशतितत्त्वानि, योगोक्तं च
यमनियमाद्यात्मकं योगं, वेदोदितकर्मस्वरूपाप्यंगीकृत्य तत्त्वानां
ब्रह्मात्मकत्वम्। योगस्य च ब्रह्मोपासन प्रकारत्वं कर्मणां च
तदाराधनरूपतामभिदधति ब्रह्मस्वरूपं प्रतिपादयंत्यारण्यकानि।

एतदेव परेण ब्रह्मणा नारायणेन स्वयमेव पंचरात्रतंत्रे
विशदीकृतम्—इति ।

कथन यह है कि—सांख्योक्त पञ्चीस तत्त्व, योगोक्त यमनियमादि साधन आदि वेदोदित कर्मों को, ब्रह्मात्मभाव से स्वीकारा गया है, आरण्यक भी, योग को ब्रह्मोपासना का विषय, तथा कर्मों को ब्रह्म का ही आराधनात्मक बतलाकर, ब्रह्मात्मक बतलाते हैं। इसी बात को परब्रह्म नारायण ने स्वयं पञ्चरात्र तंत्र में, विस्तृत रूप से बतलाया है।

शारीरके च सांख्योक्त तत्त्वानामब्रह्मात्मकतामात्रं निराकृतं न स्वरूपम् । योगपाशुपतयोश्चेश्वरस्य केवलनिमित्तिकारणता, परावरतएव विपरीत कल्पना, वेदबहिष्कृताचारो निराकृतः न योग स्वरूपं पशुपति स्वरूपं च । अतः “सांख्यं योगः पंचरात्रम् वेदाः पाशुपतंतथा, आत्मप्रमाणान्येतानि न हंतस्थानि हेतुभिः । “इत्यपि तत्तदभिहित तत्तत्स्वरूपमात्रमंगीकार्यम्, जिनसुगताभिहिततत्त्ववत् सर्वं न बहिष्कार्यमित्युच्यते यथागमम्—“यथान्यायंनिष्ठानारायणः प्रभुः “इत्यनेनैकार्थ्यात् ।

शारीरक शास्त्र में—सांख्योक्त तत्त्वों की अब्रह्मात्मकता मात्र का निराकरण किया गया है, उसके स्वरूप का नहीं। योग और पाशुपत मत की, केवल ईश्वरनिमित्तिकारणता, परावर तत्त्व की विपरीत कल्पना, वेद बहिष्कृत आचार प्रणाली का ही निराकरण किया गया है, योग या पाशुपत के स्वरूप का नहीं। “सांख्य, योग, पंचरात्र, वेद, पाशुपत ये सब आत्मप्रमाणक शास्त्र हैं, तर्क द्वारा इनका खंडन करना उचित नहीं है” इत्यादि वाक्य भी, उन शास्त्रों के पदार्थों में से, केवल अस्तित्वांश को ही स्वीकारता है, जैन बौद्ध की तरह संपूर्ण को त्याज्य नहीं मनता। “यथान्यायं निष्ठा नारायणः प्रभु” इत्यादि वाक्य से इन सबकी समानता परिलक्षित होती है।

॥ द्वितीय अध्याय द्वितीयपाद समाप्त ॥

[द्वितीय अध्याय]

[तृतीयपाद]

१ वियदधिकरणः—

न वियद श्रुतेः ।२।३।१॥

सांख्यादिवेदवाह्यतंत्राणां न्यायाभासमूलतया विप्रतिषेधाच्चास-
मंजस्यमुक्तम्, इदानीं स्वपक्षस्य विप्रतिषेधादिदोषाभावख्यापनाय
ब्रह्मकार्यतया अभिमत चिदचिदात्मक प्रपञ्चस्य कार्यता प्रकारो
विशोध्यते ।

वेद वाह्य सांख्य आदि तंत्रों में जो युक्तियाँ दिखलाई गई वे सब
मुक्त्याभास मात्र हैं, विरुद्धार्थ का ही प्रतिपादन करती हैं इसलिये उनकी
असंगति दिखलाई गई । अब अपने मत में, वह सब विरुद्धतायें नहीं हैं,
इस बात को बतलाने के लिये, ब्रह्म के कार्यरूप से अभिप्रेत, जडचेतना-
त्मक जगत की उत्पत्ति प्रणाली की निर्दोषता का प्रतिपादन करेंगे ।

तत्र वियदुत्पद्यते न वा ? इति संशय्यते । किं युक्तम् ? न
वियदुत्पद्यत इति । कुतः ? अश्रुतेः, संभावितस्य हि श्रवणं संभवः,
असंभावितस्य तु गगनकुसुम वियदुत्पत्त्यादेः शब्दाभिधेयत्वं न
संभवति । न खलु निरवयवस्य सर्वगतस्याकारास्य आत्मनः, इवोत्प-
त्तिनिरूपयितुं शक्यते, अत एव उत्पत्त्यसंभवात् छांदोग्ये सृष्टि
प्रकरणे तेजः प्रभृतीनामेवोत्पत्तिरान्मायते "तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति
तत्तेजोऽसृजत्" इति । तैत्तरीयकाथर्वणादिषु "तस्माद् वा एतस्मा-
दात्मन आकाशः संभूतः" एतस्माच्चायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च

संवायुर्ज्योतिरावः" इत्यादिव श्रुयमाणा विषदुत्पत्तिः, अयंविरोधाद्-
वाध्यते—इति ।

सर्वं प्रथम—आकाश की उत्पत्ति है या नहीं? ऐसी शंका करते हैं।
कहें कि उत्पत्ति नहीं होती, तो कैसे ? श्रुति में उसका उल्लेख नहीं
मिलता, जो वस्तु संभावित होती है, श्रुति में उमी का उल्लेख किया
जाता है, असंभावित गगन कुमुम और आकाश की उत्पत्ति आदि कमी
शब्दोल्लेख के योग्य हो नहीं सकते। आत्मा की तरह निरवयव और सर्व
व्यापी आकाश की उत्पत्ति का निरूपण संभव नहीं है, इमोनिए इतकी
उत्पत्ति को असंभव मानकर छांदोग्य के सृष्टि प्रकरण में तेज आदि तीन
तत्वों की ही उत्पत्ति बतलाई गई है—“उन्होंने सोचा अनेक स्रोतों में
जन्म लूं, अतः उन्होंने तेज की उत्पत्ति की।” आयर्वेदिक तैत्तिरीय
निषद में—“उस आत्मा से आकाश हुआ” “इन्हीं से प्राग मन-इन्द्रियां,
आकाश-वायु तेज और जल हुआ” इत्यादि में आकाश की उत्पत्ति बतलाई
भी गई है, जो कि—उक्त मत की बाधक हो रही है।

सिद्धांतः—एवं प्राप्तेऽभिधीयते—उक्त संशय पर कहते हैं—

अस्तितु ॥२॥३॥२॥

अस्तित्वाकाशस्योत्पत्तिः, अतीन्द्रियायंविषया हि श्रुतिः
प्रमाणान्तराप्रतीतामपि विषदुत्पत्तिं प्रतिपादयितुं समर्थैव । न च
श्रुतिं प्रतिपन्नेज्यै तदविरोधनिरवयवत्वादि हेतुकमनुत्पत्त्यनुमानमुदेतु-
मलम्, आत्मनोऽनुत्पत्तिर्न निरवयवत्व प्रयुक्तेति वक्ष्यते ।

आकाश की उत्पत्ति होती है, अतीन्द्रिय विषय बोधिका श्रुतियों,
निश्चित ही, अन्य प्रमाणों से अज्ञेय, आकाश की उत्पत्ति का प्रतिपादन
करने में समर्थ है। अवयव रहित आकाश की उत्पत्ति न होने के विषय
में जो अनुमान है, वह भी श्रुतियों से प्रतिपाद्य अर्थ का विरोधी होकर,
समय उपस्थित नहीं हो सकता। आत्मा की उत्पत्ति न होने का कारण,
एकमात्र निरवयवता ही नहीं है, इसका आगे विवेचन करेंगे।

गौण्यसंभवाच्छब्दाच्च ।२।३।३॥

“तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः” इत्यादि वियदुत्पत्ति श्रुतिगौणीति कल्पयितुं युक्तम् “तत्तेजोऽसृजत्” इति सिसृक्षोः ब्रह्मणः प्रथमं तेज उत्पद्यत इति तेज उत्पत्ति प्राथम्येन वियदुत्पत्ति प्रतिपादनासंभवात्, “वायुरचान्तरिक्षं चैतदमृतम्” इति वियतोऽमृतत्वं शब्दाच्च ।

“उस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ” इत्यादि श्रुति को गौणार्थ बोधिका मानना ही युक्ति संगत होगा “उन्होंने तेज की सृष्टि की” इत्यादि श्रुति बतलाती है कि—सृष्टि के इच्छक ब्रह्म ने सर्व प्रथम तेज की उत्पत्ति की, ऐसी तेज उत्पत्ति की प्राथमिकता से, आकाश की उत्पत्ति का प्रतिपादन करना संभव नहीं है। “वायु और आकाश ये दोनों अमृत (नित्य) हैं” ऐसी आकाश की अमरता भी कही गई है।

कथमेकस्य संभूतशब्दस्य आकाशापेक्षया, गौणत्वम्, अग्न्याद्यपेक्षया मुख्यत्वमिति चेत्—तत्राह—

एक ही संभूत शब्द का आकाश के लिए गौणार्थ तथा अग्नि आदि के लिए मुख्यार्थ होना कैसे संभव है ? इस पर कहते हैं।

स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् ।२।३।४॥

एकस्यैव “तस्माद्वा एकस्मादात्मन आकाशः संभूतः” इत्यादि-
काशे मुख्यत्वासंभवात् गौणतया प्रयुक्तस्य संभूतशब्दस्य “वायो-
रग्निः” इत्यादिष्वनुषक्तस्य मुख्यत्वं स्यादेव, ब्रह्मशब्दवत् यथा ब्रह्म
शब्दः “तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते” इत्यत्र प्रधानै
गौणतया प्रयुक्तस्तस्मिन्नेव प्रकारेण” तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नम-
भिजायते, इति ब्रह्मणि मुख्यतया प्रयुज्यते, तद्वत् । अनुपंगे च
श्रवणावृत्ताविवाभिधानावृत्तिर्विद्यत एवेत्यर्थः ।

“उस आत्मा से आकाश हुआ” इस वाक्य में प्रयुक्त एक ही संभूत शब्द, आकाश में मुख्यार्थ बोधक नहीं हो सकता, क्योंकि—उसी वाक्य में गौणरूप से प्रयुक्त संभूत शब्द का “वायु से अग्नि” इत्यादि में संबंध होने से मुख्यार्थ ही होना निश्चित है। ब्रह्म शब्द की तरह इसकी व्यवस्था है। जैसे कि—ब्रह्म शब्द—“इस ब्रह्म से नाम रूप और अन्न उत्पन्न हुए” इस वाक्य में जैसे गौण रूप से प्रयुक्त होते हुए भी उसी प्रकरण में “तप द्वारा ब्रह्म प्राप्त होता है” उसी से अन्न होता है इस वाक्य में उसका मुख्य रूप से प्रयोग किया गया है, वैसे ही संभूत शब्द की भी व्यवस्था है। अनुपंग में पदानुवृत्ति की तरह, पदायं की अनुवृत्ति भी निश्चित होती है।

परिहरति—उक्त तथ्य का परिहार करते हैं—

प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकात् ।२।३।५॥

छांदोग्य श्रुत्यनुसारेणान्यासां वियदुत्पत्तिवादिनोनांश्रुतीनांगौणत्वं कल्पयितुं न युज्यते, यतः छांदोग्य श्रुत्येव वियदुत्पत्तिरंगीकृता, “येनाश्रुतं श्रुतं” इत्यादिना ब्रह्मविज्ञानेन सर्वविज्ञान प्रतिज्ञानात् । तस्या हि प्रतिज्ञायाः, अहानिराकारास्यापि ब्रह्मकार्यत्वेन तदव्यतिरेकादेव भवति ।

छांदोग्य श्रुति के अनुसार आकाश की उत्पत्ति बतलाने वाली अन्य श्रुतियों की गौणार्थ कल्पना करना उचित नहीं है, क्योंकि—छांदोग्य श्रुति ही आकाश की उत्पत्ति स्वीकारती है। “जिससे अश्रुत भी श्रुत होता है” इत्यादि वाक्य से, ब्रह्म के ज्ञान से समस्त के ज्ञान की प्रतिज्ञा की गई है, इससे निर्णय होता है कि - ब्रह्म से यदि आकाश की उत्पत्ति मानी जावे तो, ब्रह्म का कार्य आकाश, ब्रह्म से अभिन्न सिद्ध होता है, जिससे कि—उक्त प्रतिज्ञा में हानि नहीं होती।

षाट्देभ्यः ।२।३।६॥

इतरच वियदुत्पत्तिः छांदोग्ये प्रतीयते, “सदेव सोम्येदमग्र आसीदे कमेवाद्वितीयम्” इति प्राक्सृष्टेरेकत्वावधारणशब्दात् “ऐतदात्म्यमिदंसर्वम्” इत्येवमादि शब्देभ्यश्च कार्यत्वेन ब्रह्मणोऽव्यति-

रेकप्रतीतेः । न च "तरोजोऽजत्" इति तेजस उत्पत्ति श्रुतिवियदु-
त्पत्तिं वारयति । वियदुत्पत्तिवचनमात्रेण तेजसः प्रतीयमानं प्राथम्यं
श्रुत्यंतरप्रतिपन्नां वियदुत्पत्तिं न निवारयितुमलम् ।

इसलिए भी आकाश की उत्पत्ति द्वांदोग्य में प्रतीत होती है कि-
"हे सौम्यः सृष्टि से पूर्व यह जगत एक अद्वितीय सत् ही था" इस वाक्य
में सृष्टि से पूर्व, एकता को बतलाने वाला शब्द है तथा "यह सब कुछ
आत्म्य ही है" इत्यादि में ब्रह्म से अभिन्न सब कुछ कहा गया है, जिससे
आकाश की भी अभिन्नता सिद्ध होती है । "उन्होंने तेज की सृष्टि की"
तेज की उत्पत्ति बतलाने वाली श्रुति, आकाश की उत्पत्ति का निराकरण
नहीं करती । केवल आकाश की ही उत्पत्ति की बात होती तो हम उक्त
श्रुति को निवारिका मानते पर अन्य तत्त्व भी तो हैं इसलिए तेज की
उत्पत्ति से यहाँ तेज की सृष्टि की प्राथमिकता दिखलाई गई है । अन्य
श्रुतियों में आकाश की उत्पत्ति का भी उल्लेख है यह श्रुति उसका
निवारण तो कर नहीं सकती ।

धावद्विविकारन्तु विभागो लोकवत् । २।३।७।

तु शब्दरघौ "ऐतदम्भ्यमिदंसर्वम्" इत्यादिभिराकाशस्य
विकारत्ववचनेन तस्याकाशस्य ब्रह्मणो विभाग-उत्पत्तिरप्युक्तैव ।
लोकवत् यथा लोके एते सर्वदेवदत्त पुत्रा इत्यभिधाय तेषु केषां
चित्तत् उत्पत्तिवचनेन सर्वेषामुत्पत्तिरुक्तास्यात् तद्वत् । एवं च
सति "वायुरचांतरिक्षंचैतदमृतम्" इति सुराणामिव चिरकाल
स्थायित्वाभिप्रायम् ।

सूत्र में तु शब्द च के अर्थ में प्रयुक्त है । "यह सब कुछ आत्म्य है"
इत्यादि वाक्य में, आकाश भी विकृत रूप से सब में सम्मिलित बतलाया
है, जिससे कि-ब्रह्म से आकाश की अभिन्नता और उत्पत्ति भी कह दी गई ।
जैसे कि लोक में "ये सब देवदत्त के पुत्र हैं" इतना कहकर किसी एक को
उत्पत्ति का उल्लेख कर दिया गया तो, सभी पुत्रों की उत्पत्ति का उल्लेख

हो गया वैसे ही आकाश की बात भी है । “वायु आकाश अमर है” इत्यादि तो केवल, देवताओं की तरह, त्रिकाल स्थिति का ही द्योतक है ।

एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः । २।३।८॥

अनेनैव हेतुना मातरिश्वनो वायोरप्युत्पत्तिर्व्याख्याता ।
वियन्मातरिश्वनोः पूयग्योगकरणं “तेजोऽतस्तथाह्याह “इति
मातरिश्वपरामर्शार्थम् ।

उक्त विवेचन से मातरिश्वा (वायु) की उत्पत्ति की भी व्याख्या हो गई । आकाश और वायु की उत्पत्ति के लिए अलग से निर्देश करने का अभिप्राय यह है कि—“तेजोऽतस्तथा” इत्यादि में एकमात्र मातरिश्वा का ही निर्देश किया गया है ।

असंभवस्तु सतोऽनुपपत्तेः । २।३।९॥

तु शब्दोऽवधारणार्थं, असंभवः—अनुत्पत्तिः । सतः—ब्रह्मण एव,
तद्व्यतिरिक्तस्य कस्यचिदप्यनुत्पत्तिर्नसंभवति, अनुत्पत्तेः एतदुक्तं
भवति—वियन्मातरिश्वनोऽत्पत्ति प्रतिपादनमुदाहरणार्थम्
उत्पत्त्यसंभवस्तु सतः परमकारणस्य परस्यैव ब्रह्मणः ।
तद्व्यतिरिक्तस्य कृत्स्नस्याव्यक्तमहदहकारतन्मात्रेन्द्रियवियत्यवनादि-
कस्य प्रगेचस्यैक विज्ञाने न सर्वं विज्ञान प्रतिज्ञादिभिरवगतकार्य-
भावस्यानुत्पत्तिनेपिपद्यत इति ।

सूत्र में तु शब्द अवधारणार्थं का बोधक है । असंभव शब्द, उत्पत्ति की अमंभावना का बोधक है । सत् ब्रह्म से ही जब उत्पत्ति है तब उनसे अतिरिक्त अन्य किसी की भी अनुत्पत्ति संभव नहीं है, बहने का तात्पर्य यह है, कि—आकाश और वायु की उत्पत्ति का जो प्रतिपादन किया गया है, वह तो उदाहरण मात्र है । जब सत् स्वरूप परमकारण परब्रह्म ही है तब उत्पत्ति असंभव है कही एक की जानकारी से समस्त

को जानकारी होती है, इस प्रतिज्ञा से जब यह निर्णय हो गया कि अव्यक्त-महत्त्व-अहंकार-तन्मात्रा-इन्द्रियां-आकाश-वायु आदि सब ब्रह्म के ही कार्य रूप हैं, तब इन सब प्रपंचों की अनुत्पत्ति को सिद्ध ही नहीं किया जा सकता ।

२ तेजोधिकरणः—

तेजोऽतस्तथाह्याह ।२।३।१०॥

ब्रह्म व्यतिरक्तस्य कृत्स्नस्य ब्रह्मकायत्वमुक्तम्, इदानीं व्यवहित कार्याणां किं केवलात्तत्तदनंतरकारणभूतादवस्तुन उत्पत्तिः, आहोस्वित् तद्रूपाद् ब्रह्मणः? इति चिन्त्यते । किं युक्तम् केवलास्तदवस्तुन इति । कुतः? तेजस्तावत् अतः मातरिश्वन एवोत्पद्यते “वायोरग्निः इतिह्याह ।

पिछले अधिकरण में बतलाया गया कि, ब्रह्म के अतिरिक्त सब कुछ ब्रह्म का ही कार्य है । अब विचार किया जाता है कि-सृष्टि के बाद में जो कार्य होते हैं वे, कार्यों से उत्पन्न होते हैं अथवा परब्रह्म ही उनके भी कारण हैं? कहते हैं कि-बीते हुए कार्यों से ही अग्निम कार्य उत्पन्न होते हैं, “वायु से अग्नि हुआ ’ ऐसा स्पष्ट उल्लेख मिलता है ।

आपः ।२।३।११॥

आपोऽपि अतः—तेजस एवोत्पद्यते, “अग्नेरापः” “तदपोऽसृजत्” इतिह्याह ।

जल भी-तेज से उत्पन्न होता है, “अग्नि से जल हुआ “फिर जल की सृष्टि की “इत्यादि वानियों से ऐसा ही ज्ञात होता है ।

पृथिवी ।२।३।१२॥

पृथिवी अदभ्य उत्पद्यते—“अदभ्यः पृथिवी “ताग्रन्तमसृजन्त” इतिह्याह ।

पृथ्वी जल से होती है, ऐसा—“जल से पृथिवी हुई “उन जलों ने अन्न की सृष्टि की इत्यादि वाक्यों में कहा गया है ।

नन्वन्न शब्देन कथं पृथिव्यभिधीयते? अतआह—

अन्न शब्द से पृथिवी अर्थ कैसे हो सकता है? इस पर कहते हैं—

अधिकार रूपशब्दान्तरैभ्यः ।२।३।१३।।

महाभूतसृष्ट्यधिकारात् पृथिव्येवान्नशब्देनोक्तेति प्रतीयते । अदनीयस्य सर्वस्य पृथिवी विकारत्वात् कारणे कार्यशब्दः । तथा वाक्य शेषे भूतानां रूपसंशब्दने “यदग्नेरोहित रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य “इत्यप्तेजसोः सजातीयमेवान्नशब्द-वाच्यं प्रतीयते । शब्दान्तरं च समानप्रकरणे—“अग्नेरापः अदभ्यः पृथिवी “इति श्रूयते । अतः पृथिव्ययान्नशब्देनोच्यत इत्यदभ्यः एव पृथिवी जायते । उदाहृतास्तेजः प्रभूतयः प्रदर्शनार्थाः । महादादयोऽपि स्वानंतर वस्तुन एवोत्पद्यंते यथाश्रुत्यभ्युपगमाविरोधात् । “एतस्माच्चायते प्राणोमनः सर्वेन्द्रियाणि च, रवंवायुज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी “तस्मादेतत्ब्रह्म तामरूपमन्नं च जायते” तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः “तत्तेजोऽसृजत इत्यादयो ब्रह्मणः परम्परया कारणत्वेऽप्युपपद्यंत इति ।

महाभूतों की सृष्टि के प्रकरण में “अन्न” शब्द से पृथ्वी का उल्लेख ही प्रतीत होता है । सारे भोज्य पदार्थ, पृथ्वी के ही विकार हैं, इसलिए कारण को ही कार्य शब्द से कह दिया गया प्रतीत होता है । उक्त वाक्य के अंत में रूप शब्द से इसी बात की पुष्टि की गई है—“अग्नि का जो --रोहित रूप है वह तेज का ही है, जो शुक्लता है वह जल की है तथा कृष्णता अन्न (पृथ्वी) की है “इसमें जल और तेज के सजातीय रूप से जो अन्न का उल्लेख किया गया है उससे अन्न का अर्थ पृथ्वी ही प्रतीत होता है । इसी के समान दूसरे प्रकरण में—“अग्नि से जल, जल से पृथिवी हुई धर्यादि में पृथ्वी शब्द का स्पष्ट उल्लेख है । इससे ज्ञात होता है कि-अन्न

शब्द पृथ्वी का ही बोधक है। जो जल से अन्न की उत्पत्ति बतलाई गई उसका तात्पर्य पृथिवी की उत्पत्ति से ही है। तेज आदि की उत्पत्ति का जो प्रसंगतः वर्णन किया गया वह केवल उदाहरण मात्र है। श्रुतिसम्मत सिद्धांत के विरोध की निवृत्ति के लिए समझना चाहिए कि—महत् आदि तत्त्व अपनी पूर्ववर्ती वस्तुओं से, उत्पन्न होते हैं। “इस ब्रह्म से—प्राण, मन, इंद्रियाँ, आकाश, वायु, तेज, जल और विश्वाधार पृथ्वी हुई” इस ब्रह्म से नाम, रूप और अन्न हुए “इस परमात्मा से आकाश हुआ “उसने तेज की सृष्टि की “इन वाक्यों में कहे गए तत्त्वों के पारस्परिक संबंधानुसार ब्रह्म की कारणता स्वीकारने से, श्रुतियों की संगति हो जाती है।

तदभिध्यानादेव तु तल्लिगात् सः ।२।३।१४।।

तु शब्दात् पक्षोव्यावृत्तः, महदादिकार्याणामपि तत्तदनंतरवस्तु शरीरकः स एव पुरुषोत्तमः कारणम् । कुतः? तदभिध्यानरूपात् तल्लिगात्, अभिध्यानम्, बहुस्यामिति संकल्पः “तत्तेज ऐक्षत् बहुस्यां प्रजापेयेति” ता माप ऐक्षन्त बह्वयः स्यामः प्रजापेमहि” इत्यात्मनो बहुभवन संकल्परूपेक्षणश्रवणान्महदहंकाराकाशादीनामपि कारणानां तथा विधेक्षापूर्विकैव स्वकार्यसृष्टिरिति गम्यते, तथाविधं चेन्न तत्तच्छरीरस्य परस्यैव ब्रह्मण उपपद्यते । श्रूयते च सर्व शरीरकत्वेन सर्वात्मकत्वं परस्यब्रह्मणोऽन्तर्गमि-ब्राह्मणे “य पृथिव्यां तिष्ठन्” योऽस्मृतिष्ठन्” यस्तेजसि तिष्ठन्” यो वायौ तिष्ठन्” य आकाशे तिष्ठन्” इत्यादि । सुवालोपनिषदि च—“यस्य पृथिवी शरीरम् “इत्यारभ्य—“यस्याहंकारः शरीरम्” “यस्य बुद्धिः शरीरम्” यस्याव्यक्तं शरीरम्” इत्यादि ।

सूत्रस्य तु शब्द से पूर्व पक्ष की व्यावृत्ति होती है। महद् आदि के भी पूर्ववर्ती कार्यों के शरीरी, वह पुरुषोत्तम ही, कारण है, उनका सृष्टित्व जापक अभिध्यान इस बात की पुष्टि करता है। “बहुत हो जाऊं” ऐसा संकल्प ही अभिध्यान है। “उस तेज ने संकल्प किया कि

प्राण" इत्यादि में वर्णित ब्रह्मोत्पत्ति क्रम की, असंगति प्रतीत होती है, उससे ज्ञात होता है कि—उत्पादन भूत वस्तु रूपता को प्राप्त ब्रह्म, से ही, उन पदार्थों की उत्पत्ति हुई है। संपूर्ण सृष्टि ब्रह्मात्मक ही है, इसलिए उत्तरोत्तर जो कार्य होते हैं; वे भी ब्रह्मात्मक हैं, ऐसा सिद्ध होता है। परस्पर कारणता मानने से कारण रूप में वर्णित ब्रह्मानंतर्यं (ब्रह्म ही साक्षात् कारण है) बाधित हो जायेगा। इसलिए समझना चाहिए कि—“एतस्माज्जायते” इत्यादि में, सब की, ब्रह्म से ही साक्षात् उत्पत्ति घतलाई गई है।

अन्तराविज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिगादिति चेन्न'विशेषात्
॥२३१६॥

विज्ञान साधनत्वादिन्द्रियाणि विज्ञानमित्युच्यन्ते; यदुक्तं—
“एतस्माज्जायते” इत्यादिना सर्वस्य ब्रह्मणोऽनंतरकार्यत्वं श्राव्यते,
अतश्चनेन वाक्येन सर्वस्य साक्षाद् ब्रह्मण उत्पत्तिरभिध्यानलिगांव-
गतोत्तम्यत इति, तन्नोपपद्यते, क्रमविशेष परत्वादस्य वाक्यस्य,
अत्रापि सर्वेषां क्रम प्रतीतेः खादिषु तावत् श्रुत्यंतरसिद्धिः क्रमोऽत्रापि
प्रतीयते, तैः सह पाठलिगात् भूत्प्राणयोरन्तराले विज्ञान मनसी
अपि क्रमेणोत्पद्यते इति प्रतीयते। अतः सर्वस्य साक्षाद् ब्रह्मण एव
संभवस्योत्तमभनमिदंवाक्यं न भवतीति चेत् तन्न, अविशेषात्—
“एतस्माज्जायते प्राणः” इत्यनेनाविशेषात्। विज्ञान मनसोः सादीनां
च “एतस्माज्जायते” इत्यनेन साक्षात् भव रूपसंबंधस्याभिधेयस्य
सर्वेषां प्राणादिपृथिव्यंतानामविशिष्टत्वात् स एव विधेयः, नः क्रमः।
श्रुत्यंतरसिद्धक्रमविरोधाच्च नेद क्रमपरम्—‘पृथिव्यप्सु प्रलीयते’
इत्यारभ्य “तमः एकीभवति” इत्यंतेन क्रमांतर प्रतीतेः। अतोऽव्य-
क्तादिशरीरकात् परस्माद् ब्रह्मण एव सर्वकार्याणामुत्पत्तिः तेजः
प्रभृतयश्च शब्दास्तदात्मभूतं ब्रह्मैवाभिदधति।

विज्ञान की साधन होने से इन्द्रियों को विज्ञान शब्द से उल्लेख किया गया है। "एतस्मात्" इत्यादि वाक्य से, सारा जगत्, ब्रह्म के साक्षात् कार्य रूप से हुआ, ऐसा ज्ञात होता है, इसलिए अन्यान्य वाक्यों में समस्त वस्तुओं के साक्षात् संबंध से ही, ब्रह्म से उत्पत्ति कही गई है, उक्त वाक्य में उसी का समर्थन किया गया हो, सो बात नहीं है। अपितु यह वाक्य उत्पत्ति के क्रम विशेष का बोधक है, तथा अन्य वाक्यों में भी संपूर्ण सृज्य पदार्थों का उत्पत्ति क्रम ही प्रतीत होता है, अर्थात् अन्य श्रुतियों में जो आकाशादि का उत्पत्ति क्रम है, उसी की पुनरुक्ति "एतस्मात्" इत्यादि में की गई है। क्रम से उत्पन्न आकाश आदि के साथ उल्लेख होने से ज्ञात होता है कि-इन्द्रिय और मन भी, भूतवर्ग और प्राणों के मध्य में क्रमशः उत्पन्न हुए। इसलिए-सब की ब्रह्म से ही साक्षात् उत्पत्ति हुई, ऐसा नहीं कह सकते अस्तु। तुम्हारा उक्त तर्क असंगत है—"इसी से प्राण हुआ" इस वाक्य में कोई विशेषता परिलक्षित नहीं होती। अर्थात् "एतस्माज्जायते" वाक्य के प्रतिपाद्य—विज्ञान, मन और आकाशादि की जो साक्षात् संबंध से उत्पत्ति है, वह प्राण से लेकर पृथ्वी तक, सभी के लिए समान रूप से अभिधेय है, क्रमशः ही हो, ऐसी कोई विशेष बात नहीं है। इस वाक्य का क्रम अन्य श्रुतियों के क्रम से अविरोध ही हो ऐसा भी कुछ निश्चित नहीं है, "पृथ्वी जल में लीन होती है" से प्रारम्भ करके" अन्धकार में एकीभूत हो जाते हैं" इस अंतिम वाक्य तक, क्रम में अंतर प्रतीत होता है। इसलिए अव्यक्त आदि शरीरी ब्रह्म से ही समस्त कार्यों की उत्पत्ति हुई है, यह मानना पड़ेगा। तेज आदि शब्द तदात्मक होने से, ब्रह्म अर्थ में ही प्रयुक्त हुए हैं।

नन्वेदं सर्वशब्दानां ब्रह्मवाचित्वेसति तैस्तैः शब्दैः तत्तादवस्तुव्य-
पदेशो व्युत्पत्ति सिद्धः उपरूप्येत-तत्राह—

सारे ही शब्द यदि ब्रह्मवाचक हैं, तो शब्द शास्त्रानुयामी नियम सिद्ध जो विशेष अर्थ बोधन की प्रक्रिया है, उसमें बाधा होगी? इस पर कहते हैं—

घराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशोभाक्तस्तद्भाव भावित्वात्

तु शब्दश्चोदिताशंका निवृत्त्यर्थः । निखिलजंगमस्यावश्यपाश्र-
यन्तत्तच्छब्दव्यपदेशः भाक्तः, वाच्यं कदेशे भज्यत इत्यर्थः, समस्तवस्तु
प्रकारिणो ब्रह्मणः प्रकारभूतवस्तुग्राहिप्रत्यक्षादिप्रमाणाविषयत्वाद्
वेदात्तश्रवणात् प्राक् प्रकार्यप्रतीतेः, प्रकारिप्रतीतिभावभावित्वाच्च
तत्पर्यवसानस्य लोके तत्तद्वस्तु मात्रे वाच्यैक देशे ते ते शब्दाः
भक्तवाभक्तवा व्यपदिश्यन्ते ।

सूत्रस्य तु शब्द उठाई गई शंका के समाधान के लिए प्रयुक्त है ।
स्थावरजंगमस्य संपूर्ण वस्तु विषयक जो विशेष विशेष व्यवहार है वह
भाक्त अर्थात् वाच्यार्थ के एक अंश मात्र का ग्राहक है। अभिप्राय यह है
कि—समस्त पदार्थ ब्रह्म के प्रकार हैं और ब्रह्म उनके प्रकारी हैं । प्रकारी
भूत ब्रह्म अने प्रकार भूत पदार्थों में, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से ज्ञेय नहीं
हैं, वेदात्त वाक्यों से ही उनकी प्रकार्य प्रतीति होती है । प्रकारी की
प्रतीति होने से, उसके प्रकार की प्रतीति की, परिसमाप्ति हो जाती है ।
लोक में तो अलग-अलग वस्तुओं के लिए, एक-एक विशेष शब्द नियत हैं ।

अथवा तेजः प्रभृतिभिः शब्दैः तत्तद्वस्तुमात्र वाचितया
व्युत्पन्नैर्ब्रह्मणो व्यपदेशो भाक्तः स्यात्, अमुख्य स्यादित्याशंक्य—
“चराचरव्यपाश्रयस्तु” इत्युच्यते । चराचरव्यपाश्रयः तद्व्यपदेशः
तद्वाचिशब्दः, चराचरवाचिशब्दो ब्रह्मण्यभाक्तः मुख्य एव, कुतः ?
ब्रह्मभाव भावित्वात् सर्वशब्दानां वाचक भावस्य, नामरूपव्याकरण
श्रुत्याभ्यागतम् ।

अलग अलग नामों से निर्दिष्ट तेज आदि शब्दों का ब्रह्मनाम से
निर्देश करना ही भाक्त अर्थात् गौण है, इस आशंका पर सूत्रकार कहते
हैं—“चराचरव्यपाश्रयन्तु” अर्थात् ब्रह्म से जो चराचर का व्यपदेश है
अभाक्त अर्थात् मुख्य है, गौण नहीं । क्यों कि—ब्रह्मभाव से भावित होने से
ही, समस्त शब्दों की वाचकता है, ऐसा, भगवान की नामरूप में व्याकृत
होने वाली श्रुति से ज्ञात होता है ।

३ आत्माधिकरणः—

नात्माश्रुतेः नित्यत्वाच्चताभ्यः । २।३।१८॥

वियदादेः कृत्स्नस्य परस्माद् ब्रह्मण उत्पत्तिरुक्ता । इदानीं जीवस्याप्युत्पत्तिरस्तिनेति संशय्यते, किं युक्तम्? अस्तीति, कुतः? एक विज्ञानेन सर्वविज्ञान प्रतिज्ञोपपत्तेः, प्राक्सृष्टेरेकत्वावधारणाच्च । वियदादेरिव जीवस्याप्युत्पत्तिर्वादिन्यः श्रुतयश्च संति—“यतः प्रसूता जगतः प्रसूती तोयेन जीवान् व्यससर्ज भूम्याम् “प्रजापतिः प्रजा असृजत्”सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः यतोवा इमानि भूतानि जायन्ते” इति, एव सचेतनस्य जगदुत्पत्तिवचनात् जीवस्याप्युत्पत्तिः, प्रतीयते ।

आकाशादि समस्त की उत्पत्तिः ब्रह्म से बतलाई गई । अब, जीव की उत्पत्ति होनी है या नहीं? ऐसा संशय करते हैं । कह सकते हैं कि—होती है, क्योंकि—एक के ज्ञान से सब का ज्ञान होता है, इस नियम से सृष्टि के पूर्व सब कुछ अद्वैत था, इस कथन से सिद्ध होना है कि—जीव की भी उत्पत्ति हुई । आकाश आदि की तरह जीव की उत्पत्ति बतलाने वाली श्रुतियाँ भी हैं । जैसे कि—“जिनसे जगन को प्रसूति हुई एवं जो पृथ्वी में जीवों की सृष्टि करते हैं “प्रजापति ने प्रजा की सृष्टि की” “हे सोम्य! यह सारी प्रजा सत् से ही उत्पन्न, सत् में ही स्थित, सत् आयतन वाली है” ये सारे भूत उन्हीं से उत्पन्न होते हैं । इत्यादि सचेतन जगत् की उत्पत्ति के वर्णन से, जीव की उत्पत्ति भी प्रतीय होनी है ।

न च वाच्यं—ब्रह्मणो नित्यत्वात् तत्त्वमस्यादिभिश्च जीवस्य ब्रह्मत्वावगमात् जीवस्य नित्यत्वम्—इति । “ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् “सर्वं खल्विदं ब्रह्म “इत्येवमादिभिर्वियदादेऽपि ब्रह्मत्वावगमात्तस्यापि नित्यत्व प्रमक्तेः । अतो जीवोऽपि वियदादिवदुत्पद्यत इति ।

यह नहीं कह सकते कि—ब्रह्म नित्य है, इसलिये—तत्त्वमसि आदि जीव ब्रह्म को एकता बतलाने वाले वाक्यों के अनुसार, जीव भी नित्य है । ऐसे तो “यह सब कुछ ब्रह्मात्मक है “यह सब ब्रह्म हैं इत्यादि के

अनुसार ब्रह्मात्मक आकाशादि भी नित्य हो जावेंगे। इसलिए यही मानना चाहिये कि आकाश आदि की तरह जीव की भी उत्पत्ति होती है।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्तेऽभिधीयते—नात्मा श्रुतेः, इति ।
नात्मोत्पद्यते कुतः? श्रुतेः “न जायते म्रियते वा विपश्चित्” ज्ञाज्ञौ
द्वावजौ “इत्यादिभिर्जीवस्योत्पत्ति प्रतिषेधो हि श्रूयते । आत्मनो
नित्यत्वं च ताभ्यः श्रुतिभ्यः एवावगम्यते “नित्यो नित्यानां
चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्” “अजो नित्यः
शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे “इत्यादिभ्यः
अतश्चनात्मोत्पद्यते ।

उक्त संशय पर सिद्धान्त कहते हैं “नात्माश्रुतेः अर्थात् आत्मा की उत्पत्ति नहीं होती, श्रुति से ऐसा ही निश्चित होता है—“विद्वान् का जन्म और मरण नहीं होता “अल्पज्ञ और सर्वज्ञ-दो अजन्मा हैं” इत्यादि से जीव की उत्पत्ति का निषेध ज्ञात होता है। आत्मा की नित्यता भी उन्हीं श्रुतियों से ज्ञात होती है—“जो नित्यों के वित्य, चेतनों के चेतन, तथा एक-होकर भी, अनेक कामनाओं की पूर्ति करते हैं “यह आत्मा, अज, नित्य, शाश्वत और पुराण (चिरन्तन) है जो कि शरीर के मरने पर भी नहीं मरता” इत्यादि। इससे निश्चित हुआ कि—आत्मा अजन्मा है।

कथं तर्हि एक विज्ञानेन सर्वविज्ञान प्रतिज्ञोपपद्यते? इत्थं उपपद्यते—जीवस्यापि कार्यत्वात् कार्यकारणयोरनन्यत्वाच्च । एवं तर्हि वियदादिवदुत्पत्तिमस्वमंगीकृतं स्यात्? नेत्युच्यते—कार्यत्वं हि नामैकस्य द्रव्यस्यावस्थान्तरापत्तिः, तत्रोविस्याप्यस्त्येव । इयांस्तुविशेषः वियदादेरचेतनस्य यादृशोऽन्यथाभावो, न तादृशो जीवस्य, ज्ञान संकोचविकासलक्षणो जीवस्यान्यथाभावः, वियदादेस्तु स्वरूपान्यथा भावलक्षणः । सेयं स्वरूपान्यथाभावलक्षणोत्पत्तिः जीवे प्रतिषिध्यते ।

फिर, एक विज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा कैसे उपपन्न होगी? जीव को भी ब्रह्म का कार्यं तथा कार्य-कारण की एकता मानने से ही

जावेगी । इसका मतलब तो यह हुआ कि आपने आकाश आदि की तरह जीव की उत्पत्ति स्वीकार ली? ऐसा नहीं कह सकते-एक ही द्रव्य की अवस्थान्तर प्राप्ति ही कार्य कहलाती है, वही स्थिति जीव की भी है । आकाश आदि अचेतन द्रव्य भी, अवस्थान्तर प्राप्त कार्य हैं, पर जीव की अवस्थान्तर प्राप्ति, उनसे भिन्न कुछ विशिष्ट है । जीव का जो अन्यथा भाव है वह, ज्ञान संकोचविकास लक्षण वाला है । (अर्थात् ज्ञान के संकोच विकास के कारण ही वह ब्रह्म से भिन्न है तथा आकाश आदि का अन्यथा भाव, स्वरूपान्यथा भाव है (अर्थात् आकाशादि स्वरूप से ही भिन्न है) उक्त स्वरूपान्तरित उत्पत्ति को ही जीव में नही माना गया है ।

एतदुक्तं भवति-भोग्यभोक्तृनियन्तृन् विविक्त स्वभावान् प्रतिपाद्य, भोग्यगतमुत्पत्त्यादिकं, भोक्तरि प्रतिपिष्य, तस्यनित्यतां च प्रतिपाद्य, भोग्यगतमुत्पत्त्यादिकं, भोक्तृगतंचापुष्पार्थाश्रयत्वं नियन्तरि प्रतिपिष्य, तस्य नित्यत्वं-निरवद्यत्वं-सर्वदासर्वज्ञत्वं-सत्यसंकल्पत्वं-करणाधिपाधिपत्वं-विरवस्यपसित्वं च प्रतिपाद्य सर्वावस्ययोश्चिदचिदोस्तं प्रतिरारीत्वं तस्य चात्मत्वम् प्रतिपादितम् ।

कथन यह है कि-विभिन्न स्वभाव वाले, भोग्य (जागतिक पदार्थ) भोक्ता (जीव) और नियन्ता (ब्रह्म) का निरूपण इस प्रकार किया गया है-भोग्यगत उत्पत्ति आदि का भोक्ता में प्रतिषेध करके उसकी नित्यता का प्रतिपादन करके-भोग्यगत उत्पत्ति आदि और भोक्तागत जागतिक आसक्ति का नियन्ता में प्रतिषेध करके उसकी नित्यता निर्दोषता, सर्वज्ञता, सत्यसंकल्पता, करणाधिपाधिपता-विश्वधिपत्यता का प्रतिपादन करके समस्त अवस्था वाले जडचेतन को उनका शरीर तथा उन परमात्मा को सबका अंतर्गामी बतलाया गया है ।

अतः सर्वदा चिदचिद्वस्तुतया तत्प्रकारं ब्रह्म, तत्कदाचित् स्वस्माद् विभक्त्यपदेशानर्हातिसूक्ष्मदशापन्न चिदचिद् वस्तु शरीरे तिष्ठति, तत्कारणावस्यं ब्रह्म । कदाचिच्च विभक्तनामरूपस्यूल चिदचिद्वस्तुशरीरम्, तच्च कार्यावस्यम् । तत्र कारणावस्यस्य

कार्यावस्थापत्तावचिदंशस्य कारणावस्थायां शब्दादिविहीनस्य भोग्यत्वाय शब्दादिमत्तया स्वरूपान्यथाभावरूपविकारो भवति । चिदंशस्य च कर्मफलविशेष भोक्तृत्वाय तदनुरूपज्ञानविकास रूप विकारो भवति । उभय प्रकार विशिष्टे नियंत्रंशे तदवस्थतदुभय विशिष्टतारूप विकारो भवति कारणावस्थायां अवस्थान्तरापत्तिरूपो विकारः प्रकारद्वये प्रकारिणि च समानः ।

इसीलिए-जड़चेतन रूपों में ब्रह्म की निरंतर स्थिति होने से, जागतिक पदार्थों और जीवों को, ब्रह्म का ही प्रकार कहा गया है जब वह ब्रह्म अपने से भिन्न न कहलाने योग्य अति सूक्ष्म दशा को प्राप्त जड़चेतन रूप शरीर में स्थित रहते हैं, उसे कारणावस्था ब्रह्म कहते हैं । वही ब्रह्म जब, विभक्त नाम रूप वाले जड़चेतनमय शरीर में स्थित रहते हैं, उसे कार्यावस्था ब्रह्म कहते हैं । कारणावस्था का जड़ भाग, शब्दादि हीन होने से भोग्य नहीं होता; भोग्यता संपादन के लिए ही-उस जड़ भाग की, कार्यावस्था में भोगने योग्य शब्दादि रूपी, अन्यथाभाव विकृति होती है । कारणावस्था के चेतन भाग की, कर्मफल विशेष मृत्ति के लिए, उसी के अनुरूप तारम्यानुसार, ज्ञान विकास रूपी, विकृति होती है । दोनों प्रकारों से विशिष्ट, नियंत्रंश में, दोनों (कार्य कारण) अवस्थाओं से विशिष्ट, विकार होता है । कारणावस्था में जो अवस्थान्तरापत्ति विकार होता है वह, दोनों प्रकारों और प्रकारों में, समान रूप वाला होता है ।

अत एवैकरयावस्थान्तरापत्तिरूपविकारापेक्षया "येनाश्रुतं श्रुतम् "इत्येक विज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञायमुदादि दृष्टान्तो "यथा सौम्येकेन" इत्यादिना निर्दिशितः । ईदृशज्ञानसंकोचविकास-करतत्तदेह संबंध वियोगाभिप्रायाः जीवस्योत्पत्तिमरणवादिन्यः "प्रजापतिः प्रजाभ्रसृजत" इत्याद्याः श्रुतयः । अचिदंशवत् स्वरूपान्यथात्वाभावाभिप्राया उत्पत्ति प्रतिषेधवादिन्यो नित्यत्ववादिन्यश्च 'न जायतेऽम्रियते' इत्याद्याः "नित्यो नित्यानां" इत्याद्याश्च श्रुतयः । स्वरूपान्यथात्वज्ञानसंकोचविकास रूपोभयविधानिष्ट

किराभावाभिधायाः “सवाएवमहानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतो ब्रह्म
 ‘ नित्यो नित्यानां” इत्याद्याः परविषयाः श्रुतयः । एवं सर्वदाचिदचिद
 वस्तुविराष्टस्य ब्रह्मणः प्राक्सृष्टेरेकत्वावधारणं च नामरूपविभागा
 भावादुपपद्यते । “तद् हि इदं तर्हि अग्याकृतमासीतन्नामरूपाभ्याम्
 व्याक्रियत इति हि नामरूपविभागाभावाभ्यां नानात्वैकत्वे वदति
 इति ।

एक ही की अवस्थान्तरापत्ति रूप विकार स्थिति के विषय में
 “येनाश्रुतं श्रुतम्” इत्यादि से एक विज्ञान से समस्त विज्ञान को प्रतिज्ञा
 का सिद्धान्त बतलाकर, मिट्टी आदि के दृष्टान्त की “यथा सौम्यकेन”
 इत्यादि श्रुति से दिखालाया गया है । ज्ञान के संकोच विकास के साधक
 विशेष विशेष देहों के संबन्ध और वियोग जन्म, जीवो की उत्पत्ति और
 विनाश के बोधक-“प्रजापति ने प्रजाओं की सृष्टि की” इत्यादि वाक्य हैं ।
 उत्पत्ति प्रतिषेधक और नित्यता के बोधक-“न जायते म्रियते” नित्यो नित्या-
 नाम इत्यादि वाक्यों का अभिप्राय यह है कि-अचिदंश की तरह चिदंश की,
 स्वरूपान्यथाभाव स्थिति नहीं होती । पर-तत्त्व विषयक “सवाएव
 महानज” नित्याना नित्यो “इत्यादि श्रुतियों का अभिप्राय यह है कि-संकोच
 विकास रूप चेतन विकास उसमें (परतत्त्वमे) नहीं होते । सदा जड़चेतन-
 मय होते हुए, सृष्टि के पूर्व नाम रूपों की विभक्ति से रहित होने से, ब्रह्म
 का एक त्वावधारण भी उपपन्न हो जाता है । “यह जगत् सृष्टि के पूर्व
 अव्यक्त था, सृष्टि के समय नाम रूप वाला हो गया “इत्यादि श्रुति भी,
 नाम रूप विभाग के सद्भाव और असद्भाव के अनुसार-एकता और
 अनेकता बतलाती है ।

येत्वविद्योपाधिकं जीवत्वं वदन्ति, ये च पारिमाथि होपाधिकृतं,
 ये च सन्मात्रस्वरूपं ब्रह्म स्वयमेव भोक्तृभोग्यनियंत्ररूपेण त्रिधावस्थितं
 वदन्ति, सर्वेऽप्येते अविद्याशक्तैरुपाधिशक्तैर्भोक्तृभोग्यनियंत्रशक्तीनां च
 प्रलयकालेऽवस्थानेऽपितदानीमेकत्वावधारणं नामरूपविभागाभावादि-
 बोधनपादयन्ति ।

जो लोग (शांकर) जीव को अविद्योपाधिक कहते हैं, और जो लोग (भास्कर आदि) पारमार्थिक उपाधिकृत मानते हैं, तथा जो लोग (श्री निवाम आदि) एकमात्र सत् स्वरूप ब्रह्म को ही, स्वयं भोक्ता-भोग्य-और नियंता रूप तीन अवस्थाओं वाला मानते हैं; वे सब अविद्याशक्ति-उपशक्ति-भोक्ता-भोग्य और नियंतृशक्ति संपन्न, नाम रूप विभाग रहित एकत्वावधारण (एकता) का ही, प्रकारान्तर से समर्थन करते हैं ।

“वैषम्यनैघृण्ये च सापेक्षत्वात्” न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वादुपपद्यते चाप्युपलभ्यते च” इति सूत्राभ्यां-जीवभेदस्य तत्कर्मप्रवाहस्यचानादित्वाभ्युपगमाच्च । इयान्विशेषः, एकस्यानाद्य-विद्यया ब्रह्मस्वयमेव मुह्यति, अन्यस्य पारमार्थिकानाद्युपाधिना ब्रह्म स्वरूपमेव बध्यते, उपाधिब्रह्मव्यतिरिक्तवस्त्वंतराभावात् । अपरस्य ब्रह्मैव विचित्राकारेण परिणमते, कर्मफलानिचानिष्टानि भुंक्ते, नियंत्रणस्य भोक्तृत्वाभावेऽपि, सर्वज्ञत्वात्स्वस्मादभिन्नं भोक्तारमनु संदधातीति स्वयमेव भुंक्ते ।

“वैषम्य नैघृण्ये” न कर्माविभागादिति “इत्यादि दोनों सूत्रों से, जीव का भेद और उसका कर्म प्रवाह तथा उन दोनों की अनादिता तो, वे लोग भी स्वीकारते हैं-पर उनके मानने का अपना विशेष ढंग है-एक के मत में,-अज्ञादि अविद्या से ब्रह्म स्वयं ही मोहित होता है । दूसरे के मत में-पारमार्थिक अनादि उपाधि से ब्रह्म का स्वरूप आवद्ध होता है । तीसरे के मत में- ब्रह्म ही स्वयं विचित्र आकारों में परिणत होकर कर्म फल तथा अनिष्टों का भोग करता है, भोक्तृत्व का अभाव होते हुए भी, सर्वज्ञनियंता, भोक्ता को अपने से अभिन्न मानकर-स्वयं ही भोग करते हैं ।

अस्माकं तु स्थूल सूक्ष्मावस्थ्यचिदचिदवस्तु शरीरं ब्रह्म कारणो भयावस्थावस्थितमपि सर्वदा निरस्त निलिल दोषगवं सत्यसंकल्प-त्वाद्यपरिमितोदार गुणसागरभवतिष्ठते । प्रकारभूतचिदचिद् धस्तुगताः, अपुरुषार्थाः, स्वरूपान्यथाभावश्चेति, सर्वं समंजसम् ।

हमारी दृष्टि से तो, स्थूल सूक्ष्म अवस्था वाले, जड़चेतनमय शरीरी ब्रह्म, कार्य कारण दोनों अवस्थाओं में मियन रहते हुए भी, निर्दोषता, सत्य मंकल्पता आदि अपरिमित उदार विशेष गुणों सहित विराजते हैं। ऐसा मानने से ही, ब्रह्म को ही प्रकार, जड़चेतन वस्तुओं की अपुरुषार्थता और स्वरूपान्पयाभाव आदि को संगति हो जाती है।

४ ज्ञाधिकरणः—

ज्ञोऽत एव । २।३।१६॥

वियदादिवज्जीवो नोत्पद्यत इत्युक्तम् । तत्प्रसंगेन जीवस्वरूपं निरूप्यते । किं सुगतकपिलाभिमत चिन्मात्रमेव आत्मनः स्वरूपं, उक्त कणभुगभिमतपापाणकल्प स्वरूपमचित् स्वभावमेवागंतुक चैतन्यगुणकम्, प्रय ज्ञातृत्व मेवास्य स्वरूपमिति । किं युक्तम् ? चिन्मात्रमिति, कुतः ? तथा श्रुतेः । अन्तर्यामि ब्राह्मणे हि—“य आत्मनि तिष्ठन्” इति । माष्यंदिनीयपर्यायस्य स्थाने “यो विज्ञाने तिष्ठन्” इति काण्वाश्रयोयते । तथा—“विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च “इति कर्तुरात्मनो विज्ञानमेव स्वरूपं श्रूयते । स्मृतिषु च—“ज्ञानस्वरूपमत्यंतनिर्मलं परमार्यत.” इत्यादिष्व्वात्मनो ज्ञानस्वरूपत्वं प्रतीयते । अपरस्तु—जीवात्मनो ज्ञानत्वे—ज्ञातृत्वे च स्वाभाविकेऽभ्युपगम्यमाने तस्य सर्वगतस्य सर्वदा सर्वत्रोपलब्धि प्रसंगात् । करणानां च वैपर्यायत्, सुषुप्तिमूर्च्छादिषु सतोऽप्यात्मनश्चैतन्यानुपलब्धेः जाग्रतः सामग्र्यां सत्यां ज्ञानोत्पत्ति दर्शनादस्य न ज्ञान स्वरूपं नापि ज्ञातृत्वं, आगंतुकमेव चैतन्यम्, सर्वगतत्वं चात्मनोऽवश्याभ्युपेत्यम् सर्वत्र कार्योपलब्धेः सर्वत्रात्मनः सन्निधानाभ्युपगमाच्छरोरगमनेनैव कार्यं संभवेसति, गति कल्पनायां प्रमाणाभावाच्च । श्रुतिरपि सुषुप्ति वेनायां ज्ञानाभावं दर्शयति—“नाहं खल्वयमेयं संप्रत्या-

त्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि "इति । तथा मोक्षदशायां ज्ञानाभावं दर्शयति—"न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति" इति । "ज्ञानस्वरूपम्" इत्यादि प्रयोगस्तु ज्ञानस्य तदसाधारण गुणत्वेन लाक्षणिक इति ।

आकाशादि की तरह, जीव की उत्पत्ति नहीं होती यह बतला चुके, अब प्रसंग से, जीव के स्वरूप का निरूपण करेगे । जीवात्मा का स्वरूप बुद्ध और कपिल के मतानुसार चिन्मात्र, ही है ? अथवा कणाद का अभिमत, पत्यर सा जड़ स्वभाव, आग्रंतुक चैतन्यगुण वाला है ? अथवा जातृत्व ही इसका रूप है ? इन तीनों में कौन सा वेदांत अभिमत है ? कहते हैं कि—चिन्मात्र रूप ही है, श्रुतियों से ऐसा ही ज्ञात होता है । अन्तर्यामी ब्राह्मण में—"जो आत्मा में स्थित है" इस वाक्य के ही पर्यायरूप "जो विज्ञान में स्थित है" "काण्व वाक्य से भी ऐसा ही ज्ञात होता है । तथा—"विज्ञान ही यज्ञ करता है तथा कर्मों का भी संपादन करता है", इत्यादि में आत्मा को विज्ञान स्वरूप ही सुना जाता है । स्मृति में—"वस्तुतः आत्मा ज्ञान स्वरूप और अत्यंत निर्मल है" इत्यादि से आत्मा की ज्ञानस्वरूपता प्रतीत होती है । इस पर कणाद का कथन है कि—जीव को यदि ज्ञानस्वरूप और जातृस्वरूप मानेगे तो सर्वगत उस जीव की, सदा सब जगह उपलब्धि संभव होगी तथा भोग साधिका इन्द्रियों की प्रयोजनीयता भी समाप्त हो जायेगी । विशेष रूप से सुषुप्ति और मुर्छावस्था में आत्मा के रहते हुये भी उसकी चैतन्योपलब्धि न हो पावेगी । जागरित अवस्था में तो, ज्ञान के साधन रहते हैं, इसलिए ज्ञानोत्पत्ति देखी जाती है इन सबसे ज्ञात होता है कि, जीव का वास्तविक स्वरूप न ज्ञान है न जातृत्व । अपितु चैतन्य ही उसका गुण है, वह भी आग्रंतुक है । जीव की सर्वव्यापकता अवश्य माननी पड़ेगी, क्योंकि सभी जगह उसका कार्य देखा जाता है, इसलिए उसकी सर्वत्र भवस्थिति भी माननी पड़ेगी । शरीर के जाने पर ही, जीव द्वारा सब जगह कार्य होना संभव हो सकता है, बिना शरीर के तो, जीव के जाने का, प्रमाण कहीं मिलता नहीं (इन्से सिद्ध होता है कि—जीव चैतन्य रूप ही है जब वह जागरित रहता है तभी शरीर के आश्रय से चल फिर कार्य करता है, यदि ज्ञान स्वरूप होता तो बिना चले फिरे भी सब जगह की बात जान लेता) श्रुति भी सुषुप्ति

अवस्था में जानाभाव बतलाती है—“निश्चय ही यह सोया हुआ व्यक्ति, मैं अमुक हूँ ऐसा ज्ञान नहीं रखता तथा इन सब जागतिक वस्तुओं को भी नहीं जानता ।” मोक्षदशा में भी जानाभाव श्रुति ही से ज्ञान होता है—प्रयाण के बाद संज्ञा ज्ञान नहीं रहनी” इत्यादि । जीव के लिए किया गया “ज्ञानस्वरूपम्” प्रयोग तो लाक्षणिक है, जो कि—उसका असाधारण गुण है ।

एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे-ज्ञोऽन एव ङ्ग एव-अयमात्मा ज्ञातृत्व स्वरूप एव, न ज्ञानमात्रम्, नापिजडस्वरूपः, कुतः ? अतएव श्रुतेरेवेत्यर्थः । “नात्माश्रुतेः” इति प्रकृता श्रुतिः, अत इति शब्देन परामृश्यते । तथा छांदोग्ये प्रजापतिवाक्ये मुक्तामुक्तात्मस्वरूपकथने ‘अथ यो वेदेदं जिघ्रामीति स आत्मा” मनसैवेतान् कामान् पश्यन् रमते य एते ब्रह्म लोके “सत्यकायः सत्यसंकल्पः” नोपजनं स्मरन्निदं शरीरम् अन्यत्रापि—“न पश्यो मृत्युं पश्यति” तथावाजसनेयके—“कतम आत्मा इति पृष्ट्वा “योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यंतर्ज्योतिः पूरूपः” तथा—“एष क्षुप्ता, श्रोता, घ्राता, रसयिता, मंता, बोद्धा, कर्ता, विज्ञानात्मापूरुपः” एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः” इति ।

उक्त वचन पर “ज्ञोऽन एव” सूत्र प्रस्तुत करते हैं । यह जीवात्मा ज्ञातृत्व स्वरूप ही है, ज्ञान स्वरूप या जड़ स्वरूप नहीं है । “नात्माश्रुतेः” सूत्र में जो श्रुति उल्लिखित है, इस सूत्र में, अंतः शब्द से उसी या संबंध जानना चाहिए । छांदोग्योपनिषद् के प्रजापति वाक्य में मुक्त और अमुक्त आत्मा का स्वरूप इस प्रकार बतलाया गया है—“मैं इसे सूँघता हूँ, इस तथ्य को जो जानता है वही” आत्मा है ‘ब्रह्मलोक में जो वाग्य धियय है, आत्मा, मन की सहायता से उन सबका अनुभव करके प्रसन्न होता है’ आत्मा सत्काम और सत्यसंकल्प है’ इत्यादि । और गृह भी जैसे—‘आत्म दर्शी कभी मृत्यु को नहीं देखता” बृहदारण्यक में भी जैसे—“आत्मा कीन है? ऐसा प्रश्न करने पर उत्तर दिया गया—“हृदय के भीतर प्राणों में स्थित प्रकाशस्वभाव विज्ञानमय पुरुष ही आत्मा है” और भी जैसे—“अरीमंत्रेयी ।

इस विज्ञाता को और कैसे जानना चाहती है? "यह पुरुष ज्ञाता ही है" यह विज्ञानात्मा पुरुष, निश्चित हो दृष्टा-श्रोता-मंता-भाषाता, आस्वाद कर्ता, बोद्धा और कर्ता है "इस प्रकार इस द्रष्टा को सोलह कलाएँ हैं" इत्यादि ।

यत्कं ज्ञातृत्वे स्वाभाविके सति सर्वगतस्य तस्य सर्वदा सर्वत्रोपलब्धिः प्रसज्यत् इति—तत्रोच्यते—

जो यह कहा कि—आत्मा का ज्ञातृत्व मान लेने से, सर्वगत उस आत्मा की, सदा सर्वत्र उपलब्धि होगी—इसका उत्तर देते हैं—

उत्क्रांतिगत्यागतोनाम् ।२।३।२०॥

नायं सर्वगतः, अपित्वणुरेवायमारमा कुतः ? उत्क्रांतिगत्याग-तीनां श्रुतेः, उत्क्रांतिस्तावच्छ्रुयते—“तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुषो वा मूर्ध्नोवाऽन्येभ्योवा शरीरदेशेभ्यः” इति । गतिरपि—“ये वै केचास्माल्लोकात् प्रयंति चंद्रमसमेव ते सर्वे गच्छंति” इति । आगतिरपि—“तस्माल्लोकात् पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे” इति । विमुक्त्ये हि एता उत्क्रान्त्यादयो नोपपद्येरन् ।

यह आत्मा सर्वगत नहीं है, यह तो अणु है, उत्क्रांति गति और आगति वाली श्रुतियों से ऐसा ही ज्ञान होता है उत्क्रांति जैसे—‘ यह विज्ञानात्मा—उस प्रकाशमान रूप से, चक्षु-मूर्धा अथवा किसी अन्य मार्ग से निष्क्रमण करता है । “गति जैसे—“जो इस लोक से प्रयाण करते हैं वे सब चंद्रमंडल में ही जाते हैं । “आगति जैसे— “उस लोक से पुनः कर्म करने के लिए इस लोक में आते हैं । “इत्यादि जीव को विन्मु मानने से, उत्क्रांति आदि का होना संभव नहीं है ।

स्वात्मना चोत्तरयः ।२।३।२१॥

च शब्दोऽवधारणे । यद्यपि शरीर वियोग रूपत्वेनोत्क्रांतिः स्थितस्याप्यात्मनः कथंचिदुपपद्यते, गत्यागती तु न कथंचिद् उपपद्यते । अतस्ते स्वात्मनैव संपाद्ये ।

सूत्रस्थ च शब्द अवधारण अर्थ में प्रयुक्त है । विभु स्वरूप जो आत्मा की, शरीर वियोग रूप उत्क्रांति, किसी प्रकार हो भी जावे पर गति और अगति तो किसी प्रकार संभव नहीं है । ये दोनो कार्य तो उसके स्वायत्त है । (इसलिए जीवात्मा विभु नहीं हैं)

नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ।२।३।२२॥

“योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु” इति जीवं प्रस्तुत्प, “स वा एष महानज आत्मा” इति महत्त्व श्रुतेः, नाणुर्जीवः, इति चेन्न, इतराधिकारात्—जीवादितरस्य प्राज्ञस्य तत्राधिकारात् यद्यप्युपक्रमे जीवः प्रस्तुतः तथापि “यस्यानुवितः प्रतिबुद्धआत्मा” इति मध्येपरः प्रतिपाद्यत इति, तत्संबंधोदं महत्त्वं न जीवस्य ।

“इन्द्रियो मे जो मह विज्ञानमय हे” इत्यादि में जीवको प्रस्तुत करके “वह महान् अज आत्मा है” इत्यादि में उसकी स्वरूपगत महत्ता दिखलाई गई है, इसलिए जीव, अणु नहीं प्रतीत होता । इत्यादि शंका नहीं करनी चाहिये, इस प्रसंग में तो पर तत्त्व प्राज्ञ परमात्मा का वर्णन है, यद्यपि जीव का नहीं उपक्रम में जीव को प्रस्तुत किया गया है, परंतु उक्त उपक्रम के बाद, मध्य में “प्रतिबुद्ध आत्मा जिससे शांत होता है” इत्यादि में, परमात्मा का प्रतिपादन किया गया है, इसलिए उपसंहार के वाक्यांश में जो महान् शब्द का प्रयोग है, वह परमात्मा के लिए ही है, जीव के लिए नहीं ।

स्वशब्दोन्मानाभ्यां च ।२।३।२३॥

साक्षादणुरात्मा एव श्रूयते—“एपोऽणुरात्माचेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पंचधा संविवेश” इति । उद्धृत्यमानं उन्मानं, अणुसदृशं वस्तूद्धृत्य तन्मानत्वं जीवस्य श्रूयते—“वालाग्र शतभागस्य शतधाकल्पितस्व च भागो जीवस्य विज्ञेयः, इति । आराग्रमात्रो हि भ्रवरोऽपिदृष्टः” इति च । अतोऽणुरेवायमात्मा ।

श्रुति में—साक्षात् अणु शब्द का ही प्रयोग किया गया है—“यह अणु आत्मा चित्त से ही जाना जा सकता है, पांच प्रकार के प्राण जिसमें प्रवेश करते हैं उदाहरण के द्वारा ही जिसका परिमाण घतलाया जा सके उसे उन्मान कहते हैं। अणु के समान वस्तु का उदाहरण दे कर जीव का स्वरूप निरूपण किया गया है—जैसे—’ बाल के अग्रिम भाग के सोंवें के भी सोंवें हिस्से के बराबर ही जीव स्वरूप हो सकता है, आत्मा महान है, पर इसका दूसरा रूप (जीव) आरा की धार के सामान सूक्ष्म हैं। इत्यादि से जीवात्मा को अणुता ही ज्ञात होती है।

अथस्यात्—आत्मनोऽणुत्वे सकल शरीर व्यापिनी वेदना नोपपद्यत इति, तत्रमतांतरेण परिहारमाह—

शका करते हैं कि—यदि आत्मा को अणु मानते हैं तो, सारे शरीर में होने वाली वेदना की जो प्रतीति होती है। वह न होनी चाहिए इसका अन्य उदाहरण से परिहार करते हैं -

अविरोधश्चन्दनवत् ।२।३।२४॥

यथाहरिचन्दनविन्दुर्देहैकदेश वर्त्यपिसकलदेहव्यापित माह्लादं-
जनयति, तद्वदात्मापि देहैकदेशवर्ती सकल देशवर्तीनीं वेदनामनु-
भवति ।

जैसे की—मलयागिरीचंदन की एक विन्दु देह के एक स्थान में स्थित होकर सारे शरीर को आह्लादित करती है, वैसे ही आत्मा, देह के एक स्थान में ही ठहरकर सारे शरीर की वेदना की अनुभूति करता है।

अत्रस्थिति वंशोऽप्यादिति चेन्नान्युपगमाद् हृदिहि ।२।३।२५॥

हरिचन्दनविन्दुवादेदेहदेशविशेषावस्थित विशेषात्तथा भावः
आत्मनस्तु तन्न विद्यत इति, चेन्न आत्मनोऽपिदेहदेश विशेषे
स्थित्यभुगमात्, हृदयदेशस्यहि आत्मनः स्थितिः श्रूयते “हृदि हि
अयमात्मा तत्रैकशत नाडीनाम् “ इति, तथा “कतम आत्मा”
इति प्रकृत्य “ योऽयं विज्ञानमयः प्राणेश्चु ह्यद्यन्तर्ज्योतिः” इति ।

आत्मनो देश विशेषस्थिति स्थापनाय चंदन दृष्टान्तः प्रदर्शिवः,
नतु चंदनस्य देशविशेषापेक्षा ।

मलयागिरी चंदन तो देह के विशेष स्थान में स्थित होकर, शरीर को आह्लादित करता है, यह तो ठीक है, किन्तु जीवात्मा के लिए तो कोई ऐसा निर्देश नहीं है कि-वह देह के अमुक स्थान में ही रहता है, ऐसी शंका करना ठीक नहीं, आत्मा की भी देह के विशेष स्थान में स्थिति बतलाई है गई है । आत्मा की स्थिति हृदय में बतलाई गई है—यह आत्मा हृदय में स्थित रहता है, जहाँकि—एक सौ नाडिया है' "आत्मा कौन है ? "ऐसा प्रश्न करने पर "जो वि-विज्ञानमय इन्द्रियों के मध्य में हृदयान्तर्गत ज्योति है "इत्यादि में, आत्मा की स्थिति विशेष बतलाई गई है । इसी स्थिति विशेष को समझने के लिए ही, चंदन का दृष्टान्त दिया गया है । चंदन के लिए यह कोई आवश्यक नहीं है कि-वह देह के अमुक स्थान विशेष में ही स्थित हो, तभी शरीर को आह्लादित करेगा जीवात्मा के तो स्थान विशेष का ही उल्लेख है ।

एक देश वर्त्तिनः सकलदेहव्यापिकायंकरत्वं प्रकारं स्वमतेनाह-
जीवात्मा की, एक देशवर्ती हा कर सर्वदेह व्यापी कार्यक्षमता को अपने मत से, स्पष्ट करते हैं—

गुणाद्वाऽलोकवत् ॥२॥३॥२६॥

वा शब्दो मतान्तरव्यावृत्त्यर्थः, आत्मा स्वगुणेन ज्ञानेन,
सकलदेह व्याप्यावस्थितः, आलोकवत्-यथा मणिश्चुमणि-
प्रभृतीनामेकदेशवर्त्तिनामालोकोऽनेकदेशव्यापी दृश्यते तद्वदहृदयस्य-
स्यात्मनो ज्ञान सकल देह व्याप्यवर्त्तते, ज्ञातुः प्रभास्यानीयस्य
ज्ञानस्य स्वाश्रयादन्यत्र वृत्तिर्मणिप्रभावदुपपद्यत इति प्रथम सूत्रे
स्थापितम् ।

सूत्र में वा शब्द अन्य मत के परिहार का द्योतक है । जीवात्मा अपने स्वाभाविक गुण ज्ञान के आश्रय से, सपूर्ण शरीर में व्याप्त हो कर स्थित है । जैसे कि-एक देशवर्ती सूर्य कान्त आदि मणि का अलोक चारो

ओर देखा जाता है, वैसे ही हृदयस्थ आत्मा का ज्ञान, समस्तशरीर व्यापी होता है। मणि प्रभा की तरह, ज्ञाता आत्मा का जो प्रमास्थानीय ज्ञान है, वह आश्रय (आत्मा) के अलावा भी रहता है। ऐसा पहिले सूत्र में बतला चुके हैं।

ननूकं ज्ञानमात्रमेवात्मेति, तत्कथं ज्ञानस्य स्वरूप व्यतिरेक-
गुणत्वमुच्यते ? तत्राह—

जब यह कहा गया कि-आत्मा ज्ञान मान ही है तब उस ज्ञान को स्वरूप से भिन्न गुणवाला कैसे कहते हैं ? इसका उत्तर देते हैं।

व्यतिरेको गंधवत्तथाच दर्शयति । २।३।२७॥

यथा पृथिव्याः गंधस्य गुणत्वेनोपलभ्यमानस्य ततो व्यतिरेकः
तथा जानामीति, ज्ञातृगुणत्वेन प्रतीयमानस्य ज्ञानस्यात्मनो
व्यतिरेकः सिद्धः, दर्शयति श्रुतिः “ जानात्येवायं पुरुषः ” इति ।

गुण रूप से प्रतीयमान गंध जैसे-पृथ्वी से भिन्न है वैसे ही “मैं जानता हूँ” ऐसा, गुण से प्रतीयमान ज्ञाता का ज्ञान भी, आत्मा से भिन्न है, श्रुति भी यही कहती है “यह पुरुष निश्चय ही जानता है।

पृथगुपदेशात् । २।३।२८॥

स्वशब्देनैव विज्ञानं, विज्ञातु पृथगुपदिश्यते “न हि
विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते” इति ।

“विज्ञाता (जीव) का विज्ञान कभी विलुप्त नहीं होता” इस श्रुति में विज्ञान और विज्ञाता का स्पष्ट रूप से पृथक् निर्देश किया गया है।

यत्कं “यो विज्ञानेतिष्ठन्” विज्ञानं यज्ञं तनुते” ज्ञानस्यरूप
मत्यंतनिर्मलम्” इत्यादिषु ज्ञानमेवात्मेति व्यपदिश्यत इति-तत्राह-

जो यह कहा कि-जो विज्ञान में अवस्थान करता है “जो विज्ञान और यज्ञ का प्रकाश करता है “जो ज्ञान स्वरूप अत्यंत निर्मल है” इत्यादि में तो आत्मा को ज्ञान स्वरूप ही कहा गया है। इस पर कहते हैं।

तद्गुण सारत्वात् तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् ।२।३।२६॥

तुशब्दश्चोद्यं व्यावर्त्तयति, तद्गुणसारत्वात् विज्ञान गुणसारत्वात्
आत्मनो विज्ञानमिति व्यपदेशः । विज्ञानमेवास्य सारभूतगुणः यथा
प्राज्ञस्यानन्दः सारभूतो गुण इति प्राज्ञ आनन्दशब्देन व्यपदिश्यते" यदेय
आकारा आनन्दो व स्यात्" आनन्दो ब्रह्मेतिव्यजानात्" इति । प्राज्ञ-
स्यहि आनन्दः सारभूतगुणः "स एको ब्रह्मण आनन्दः", आनन्दं-
ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन" इति । यथावा- "सत्यंज्ञान-
मनंतं ब्रह्म" इति विपश्चितः प्राज्ञस्य ज्ञान शब्देन व्यपदेशः ।
"सह ब्रह्मणा विपश्चिता" यः सर्वज्ञः" इत्यादिषु प्राज्ञस्य ज्ञानं
सारभूतो गुण इति विज्ञायते ।

सूत्रस्थतु शब्द पुर्वोक्त आशंका का निराकरण करता है तद्गुणसा-
तत्व का तात्पर्य विज्ञान की गुणसारता से है । आत्मा को ही विज्ञान
शब्द से निर्देश किया गया है, विज्ञान ही आत्मा का सारभूत गुण है. जैसे
कि-प्राज्ञ परमात्मा का, सारभूत गुण आनन्द है इसी से प्राज्ञ का आनन्द-
शब्द से निर्देश किया गया है । "यह अकाश आनन्द नहीं, है, आनन्द को ही
ब्रह्मजनों "इत्यादि । आनन्द प्राज्ञ का ही सारभूत गुण है, ऐसा-ऐसा-एक
मात्र ब्रह्म ही आनन्द है "ब्रह्मानन्द को जानकर विज्ञपुरुष किसी से नहीं
डरता" इत्यादि से निश्चित होता है । तथा "सत्यज्ञानमनंतं ब्रह्म "में
विपश्चित प्राज्ञज्ञान शब्द से भी उल्लेख किया गया है "सह ब्रह्मणा
विपश्चिता" य सर्वज्ञः इत्यादि वाक्यों में, ज्ञान को, प्राज्ञ का सारभूत गुण
कहा गया है ।

यावदात्मभावित्वाच्च न दोषः तद्दर्शनात् ।२।३।३०॥

विज्ञानस्य आत्मभाविधर्मत्वात्तेन तद् व्यपदेशो न दोषः, तथा
च-रवण्डादयोयावत् स्वरूपभाविगोत्वादि धर्म शब्देन 'गौरिति" व्यप
दिश्यमाना दुर्यंते स्वरूपनिरूपण धर्मत्वादित्यर्थः चकारात् ज्ञानवदा-
त्मनोऽपि स्वप्रकाशत्वेन विज्ञानमिति व्यपदेशो न दोष इति समुच्चि-
नोति ।

विज्ञान ही, आत्मा का नियत सहभावी धर्म (गुण) है इसलिए विज्ञान शब्द से उसका उल्लेख दोषावह नहीं है। जैसे कि सांड आदि, गौ के समान स्वरूप वाले होने से ही गौ कहलाते हैं। अर्थात् स्वरूप निरूपक धर्म होने से ही गौ कहलाते हैं। सूत्रस्य च शब्द का तात्पर्य है कि ज्ञान जैसे स्व प्रकाश है आत्मा भी वैसे ही स्व प्रकाश है, इस लिए विज्ञान रूप से आत्मा का निर्देश, दोषावह नहीं है

यच्चोक्तं सुषुप्त्यादिषु ज्ञानाभावात् ज्ञानस्य स्वरूपा-
नुबंधिधर्मत्वं इति-तत्राह-

जो यह कहा कि सुषुप्ति मूर्च्छा आदि में, ज्ञान का अभाव होने से, ज्ञान, कभी अत्मा का स्वाभाविक गुण हो ही नहीं सकता इसी का उतर देते हैं हैं—

पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्ति योगात् ।२।३।३।१।।

तुशब्दश्चोदिताशंका निवृत्यर्थः। अस्य ज्ञानस्य सुषुप्त्या-
दिष्वपि विद्यमानस्य जागर्यादिष्वभिव्यक्ति संभवात् स्वरूपानुबंधि-
धर्मत्वोपपत्तिः पुंस्त्वादिवत्—यथा पुंस्त्वाद्यसाधारणस्य घातोर्वा-
ल्यावस्थायां सतोऽप्यनभिव्यक्तस्य युवत्वेऽभिव्यक्तौ पुंसस्तदवत्ता न
कादाचित्की भवति। सप्तघातुमयत्वं हि शरीरस्य स्वरूपानुबंधि-
“तत् सप्तघातु त्रिमलं द्वियोनि चतुर्विधाहारमयं शरीरम्” इति
शरीर स्वरूप व्यपदेशात्। सुषुप्त्यादिष्वपि अहमर्थः प्रकाशत इति
प्रागेवोक्तम्। तस्य विद्यमानस्य ज्ञानस्य विषय गोचरत्वं जागर्यादावु-
प्रलभ्यते, एते चात्मनो ज्ञातृत्वादयोधर्माः प्रागेवोपादिताः। अतो
ज्ञातृत्वमेव जीवात्मनः स्वरूपम्। सचायमात्माऽणुपरिमाणः।

सूत्र का तु शब्द, की गई शंका का निवारक है। यह ज्ञान सुषुप्ति
आदि अवस्थाओं में भी रहता है, जागरित अवस्था में उसकी अभिव्यक्ति
मात्र होती है। इससे उसकी स्वाभाविक धर्मता सिद्ध होती है, जैसे कि-
मनुष्य पुंसत्व रूप से, यौवन में ही प्रस्फुरित होता है, बाल अवस्था में
वह अनभिव्यक्त रहता है, एकाएक ही उसका विकास नहीं होता। सप्त-

धातुमय शरीर का वर्णन इस प्रकार मिलता है—“सात धातु—तीन मल-
क्षो योनि और चार प्रकार के आहारों के विकार वाला यह शरीर है।
“सुषुप्ति आदि में भी “अहं” की स्थिति रहती है, उस ज्ञान की विद्यमान-
नता से ही, जागरित अवस्था में वह ज्ञान देखा जाता है। आत्मा के
ज्ञातृत्व आदि गुणों का प्रतिपादन तो हो ही चुका। इसलिये यही मानना
चाहिए कि—ज्ञातृत्व ही जीवात्मा का स्वरूप है, और अणु ही आत्मा
का परिमाण है।

“न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति” इत्यपि न मुक्तस्य ज्ञानाभाव उच्यते, अपितु
“एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति” इति संसारादशायां
यद्भूतानुविधायित्वप्रयुक्तं जन्मनाशादि दर्शनम्, तन्मुक्तस्य न विद्यते,
“न पश्यो मृत्युं पश्यति, न रोगं नीत दुःखताम्, सर्वं हि पश्यः
पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वदाः। “नोपजनं स्मरन्निदं शरीरं”
“मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते “इत्यादि श्रुत्यैकार्थ्यात्।

“न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति” वाक्य में भी, मुक्त जीव का ज्ञानाभाव नहीं
दिखलाया गया है, अपितु—“जीव इन समस्त भूतों से उठकर, उनके
अनुसार ही नष्ट माना जाता है” ऐसा जो संसार दशा में, जीव का जन्म
मरण दृष्टि गोचर होता है वह मुक्त जीव का नहीं होता, यही उक्त
वाक्यांश का तात्पर्य है। “मुक्त जीव मृत्यु नहीं देखता, न रोग और दुःख
ही देखता है, बाकी सब कुछ देखता और सब कुछ प्राप्त करता” है उसे
अतिनिकटस्थ इस शरीर का भी स्मरण नहीं रहता है मन से ही समस्त है
‘इत्यादि श्रुतियाँ एक स्वर से उक्त तथ्य की ही पुष्टि करती हैं।

संप्रति ज्ञानात्मवादे तस्य सर्वगतत्वेद्वेषणमाहा—

एव, ज्ञानात्मवादे की दृष्टि से जीव की विभूता का द्वेषण-
वतलाते हैं।

नित्योपलब्ध्यनुपलब्धि प्रसंगोऽन्यतर नियमोवाऽन्यथा ।२।३।३२॥

अन्यथा सर्वगतत्वपक्षे, तस्य ज्ञानमात्रत्व पक्षे च
नित्यनुपलब्ध्यनुपलब्धौ सहैव प्रसज्येयाताम्; अन्यतरनियमो वा
नित्यं स्यात्, अनुपलब्धिरेव वा।

यदि ज्ञपयुक्त सिद्धान्त नहीं मानोगे तो, जीव की विभुता और ज्ञानमात्र स्वरूपता की एक साथ सदा, उपलब्धि और अपलब्धि और अनुपलब्धि होगी अथवा दोनों में से एक ही बात होगी अथवा नित्य उपलब्धि होगी या नित्य अनुपलब्धि होगी ।

एतदुक्तं भवति-लोकेतावद्वर्तमानयोरात्मोपलब्ध्यनुपलब्ध्योरयं ज्ञानात्मा सर्वगतो हेतुः स्यात् उपलब्धेरेव वा, अनुपलब्धेरेव वा, उभय हेतुत्वे, सर्वदा सर्वत्रोभयं प्रसज्येत, यद्यप्युपलब्धेरेव, सर्वस्य सर्वदासर्वत्रानुपलम्भो न स्यात् । अथानुपलब्धेरेव, सर्वदा, सर्वत्रोपलब्धिनं स्यात् इति । अस्माकं शरीरस्यांतरेवावस्थितत्वादात्मनस्तत्रैवोपलब्धिनान्यत्रेति व्यवस्था सिद्धिः करणायत्तोपलब्धेरपि सर्वेषामात्मनां सर्वतत्वेन सदैः करणैः सर्वदाः संयुक्तत्वाददृष्टादेरप्यनियमादुक्तदोषः समानः ।

कथन यह कि-व्यवहार क्षेत्र में साधारण रूप से ज्ञानात्मा, जब स्वयं ही, उपलब्धि और अनुपलब्धि का कारण हो जावेगा तो, या तो उसकी उपलब्धि होगी, अथवा अनुपलब्धि ही होगी । यदि दोनों का ही कारण होगा, तो दोनों ही सदा सर्वत्र साथ साथ रहेंगी । पर जहाँ उपलब्धि रहेगी, वहाँ सबकी, सदा, सर्वत्र अनुपलब्धि नहीं हो सकती, तथा अनुपलब्धि की स्थिति में, सबकी, सदा, सर्वत्र उपलब्धि नहीं हो सकती । हमारे मत से आत्मा जब तक शरीर में रहेगा, तब तक, उसकी शरीर रूप से उपलब्धि होती रहेगी, कोई अड़चन न पड़ेगी सारी बात बन जायगी । विषयोपलब्धि को इंद्रियाधीन मानने से भी, सब आत्मायें जब विभु और इंद्रियों से सदा संयुक्त हैं, उनका व्यवस्थापक कोई है नहीं, तब फिर वही बात उपस्थित होगी जो कि सर्वथा दोष ही है ।

५ कर्त्ताऽधिकरणः—

कर्त्ताशास्त्रार्थवत्वात् । २।३।३३॥

अयमात्मा ज्ञाता, सञ्चाणुपरिमाण इत्युक्तम् । इदानीं किं स एव कर्त्ता, उत स्वयमकर्त्तैव सन्नचेतनानां गुणानां

कर्त्तृत्वमात्मन्यध्यस्य तीति चिन्त्यते । किं युक्तम् ? अकलौवात्मेति, कुतः? आत्मनो हि अकर्त्तृत्वं गुणानामेव च कर्त्तृत्वमध्यात्म शास्त्रेषु श्रुयते । तथाहि कठवल्लीषु जीवस्य "न जायते म्रियते" इत्यादिना जरामरणादिकं सर्वं प्रकृतिधर्मं प्रतिषिध्य हननादिषु क्रियासु कर्त्तृत्वमपि प्रतिषिध्यते—“हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्, उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते” इति । हन्तार आत्मानं जानन्न जानात्यात्मानमित्यर्थः । तथा च भगवता स्वयमेव जीवस्य अकर्त्तृत्वं स्वरूपम्, कर्त्तृत्वाभिमानस्तु व्यामोह इत्युच्यते—“प्रकृतः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः, अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताऽहमिति मन्यते 'नान्यगुणेषु कर्त्तारं यदादृष्टाऽनुपश्यति' कार्यं कारण कर्त्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते, पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते "इति च अतः पुरुषस्य भोक्तृत्वमेव, प्रकृतेरेव तु कर्त्तृत्वम् इति ।

यह आत्मा ज्ञात और अणु परिमाण वाला है यह बतला चुके अब क्या वह कर्त्ता भी है? अथवा स्वयं अकर्त्ता होकर अचेतन गुणों के कर्त्तृत्व की (बुद्धि) से अपने में अध्यास (आरोपित) कर लेता है? इस पर विचार करते हैं, कह सकते हैं कि आत्मा कर्त्ता नहीं है, अध्यात्म शास्त्र में आत्मा का अकर्त्तृत्व और गुणों का कर्त्तृत्व बतलाया गया है । जैसे कि— कठवल्ली में जीव के जन्ममरण आदि समस्त धर्मों का—“न जायते म्रियते” इत्यादि से निषेध करके, हनन आदि क्रियाओं का भी निषेध करते हैं—“मारने वाला यह समझे कि मैंने मारा' तथा मरने वाला समझे कि—मैं मारा गया, ये दोनों ही तथ्य को नहीं जानते' क्योंकि—न वह मारता है, न यह मरता है “अर्थात् जो, अपने को मारने वाला समझते हैं वे, वस्तुतः आत्मा को नहीं जानते । स्वयं भगवान भी जीव का अकर्त्तृत्व तथा कर्त्तृत्वाभिमान को व्यामोह बतलाते हैं—“ प्राकृतिक गुणों द्वारा क्रियमाण संपूर्ण कर्मों को अहंकार से विमूढ़ व्यक्ति “ मैं करता हूँ” ऐसा अभिमान करता है, बुद्धिमान सूक्ष्म दृष्टि वाला, गुणों के अतिरिक्त किसी को कर्त्ता नहीं मानता । कार्य और कारण के कर्त्तृत्व का हेतु, प्रकृति कहा गया है तथा—सुख दुःख आदि भोक्तृत्व पुरुष का बतलाया गया है । इस प्रकार पुरुष की भोक्तृता और प्रकृति की कर्त्ता बतलाई गई है ।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—कर्त्ता शास्त्रार्थवत्वात्” इति
 आत्मैव कर्त्ता न गुणाः, कस्मात्? शास्त्रार्थवत्वात् । शास्त्राणि हि
 “यजेत स्वर्गकामः” “मुमुक्षु ब्रह्मोपासीत्” इत्येवमादीनि
 स्वर्गमोक्षादिफलस्य भोक्तारेमेव कर्त्तृत्वे नियुजते, नहि अचेतनस्य
 कर्त्तृत्वेऽन्यो नियुज्यते । शासनाच्च शास्त्रं शासनं च प्रवर्तनम्,
 शास्त्रस्य च प्रवर्तकत्वं बोधजननद्वारेण, अचेतनं च प्रधानं न
 बोधयितुं शक्यम् । अतः शास्त्राणामर्थवत्त्वं भोक्तुरचेतनस्यैव
 कर्त्तृत्वे भवेत् । तदुक्तं—“शास्त्रफलं प्रयोक्तारि” इति ।

उक्त कथन पर सिद्धान्त रूप से—“कर्त्ता शास्त्रार्थवत्वात्” सूत्र
 प्रस्तुत करते हैं । अर्थात् आत्मा ही कर्त्ता है गुण नहीं है’ शास्त्र से ऐसा
 ही निश्चित होता है । शास्त्रों में “स्वर्णमिलापी यज्ञ करता है” मुमुक्षु
 ब्रह्म की उपासना करता है, इत्यादि में, स्वर्गमोक्ष आदि फल के भोक्ता को
 ही कर्त्ता कहा गया है, अचेतन प्रकृति को कर्त्ता नहीं कहा गया है ।
 शासन करने ही से शास्त्र कहलाता है—कर्त्ताव्य कर्म में प्रवृत्त रहना ही
 शासन का प्रयोजन है शास्त्र, बोधजनक वाक्यों से जीवों को सत्कर्म में
 प्रवृत्त कराते हैं; अचेतन प्रकृति को कर्म प्रवृत्त कराया नहीं जा सकता ।
 शास्त्रों की सार्थकता, चेतन भोक्ता के लिए ही है । ऐसा ही कहा भी गया
 है—“कार्यं कर्त्ता को ही शास्त्रोक्त क्रिया का फल मिलता है”

यदुक्तं—“हन्ताचेन्मन्यते” इत्यादिना हननक्रियायामकर्त्तृत्वमा-
 त्मनः श्रूयत इति, तदात्मनो नित्यत्वेन हन्तव्यत्वाभावादुच्यते
 यच्च “प्रकृतेः क्रियमाणानि” इत्यादिना गुणानामेव कर्त्तृत्वं
 स्मर्यत इति, तत्सांसारिक प्रवृत्तिष्वस्य कर्त्तृता सत्त्वरजस्तमोगुण
 संसर्गकृता, न स्वरूपप्रयुक्तेति प्राप्ताप्राप्ताविवेकेनगुणानामेवकर्त्तृतेत्यु-
 च्यते । तथा च तत्रैवोच्यते—“कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु
 इति । तथा तत्रैवात्मनश्च कर्त्तृत्वमभ्युपेत्योच्यते—“तत्रैवं सति
 कर्त्तारिमात्मानं केवलं तु यः, पश्यत्यकृत् बुद्धित्वान्न स पश्यति
 दुर्मतिः” इति । “अधिष्ठानं तथा कर्त्ताकरणं च पृथग्विधम्,

व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्नर्देशविपर्ययः ।२।३।३५॥

“विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेपि च” इति लौकिक वैदिक क्रियासु कर्तृत्व व्यपदेशाच्च कर्ता । विज्ञानशब्देन नात्मनो व्यपदेशः, अपित्वंतः करणस्य बुद्धेरिति चेत् एवं सति निर्देश विपर्ययः स्यात् बुद्धेः करणत्वाद् विज्ञानेनेति करणविभक्तिनिर्देशः स्यात् ।

“विज्ञान यज्ञ और कर्मों का संपादन करता है” इत्यादि में लौकिक वैदिक क्रियाओं में जीवात्मा का कर्तृत्व स्पष्ट बतलाया गया है, इसलिए उसी का कर्तृत्व निश्चित होता है । यदि कहो कि—विज्ञान शब्द से आत्मा का व्यपदेश नहीं है अपितु अंतःकरण की अंग रूप बुद्धि का व्यपदेश है । यदि इन्द्रियो का व्यपदेश मान लेगे तो कथन का तात्पर्य ही विपरीत हो जायेगा । यदि विज्ञान शब्द से बुद्धि अर्थ सापेक्ष होता तो “विज्ञानं” के स्थान पर ‘विज्ञानेन’ ऐसा करण विभक्ति, का निर्देश किया गया होता ।

उपलब्धिवदनियमः ।२।३।३६॥

आत्मनोऽकर्तृत्वे दोष उच्यते । यथाऽत्मनोविभुत्वे नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसंग इत्यादिनोपलब्धेरनियम उक्तः, तद्वदात्मनोऽकर्तृत्वे प्रकृतेश्चकर्तृत्वे तस्याः सर्वं पुरुषसाधारणत्वात् सर्वाणि कर्माणि सर्वेषां भोगाय स्युः, नैव वा कस्यचित् । आत्मनां विभुत्वाभ्युपगमात् सन्निधानमपि, सर्वेषामविशिष्टम् । अत एव चान्तःकरणादीनामपि नियमो नोपपद्यते, यदायत्ताव्यवस्था स्यात् ।

आत्मा को कर्ता न मानने से दोष बतलाते हैं । जैसे कि—आत्मा की विभुता मानने से “नित्य उपलब्धि और अनुपलब्धि की समस्या उपस्थित होती है” इत्यादि वाक्य से उपलब्धि की अनियमितता कही गई, वैसे ही—आत्मा का अकर्तृत्व और प्रकृति का कर्तृत्व मानने से, सर्वं सुलभ प्रकृति के सारे कर्म, सभी के लिए, भोग के साधन हो जावेगे भोग की विषमता का कोई नियम ही न रह जायेगा । आत्माओं को

विभू मानने से, आत्माओं का प्रकृति सानिध्य भी, समान हो जायेगा, इस प्रकार अंतःकरणों के नियमों की भी कोई विशेषता न रह जायेगी, जिससे कि—कर्म भोग की विलक्षणता घटित होती है ।

शक्तिविपर्ययात् ।२।३।३७॥

बुद्धेः कर्तृत्वे कर्तुंरन्यस्य भोक्तृत्वानुपपत्तेर्भोक्तृत्वशक्तिरपि तस्या एव स्यादित्यात्मनो भोक्तृत्वशक्तिर्हीयते । भोक्तृत्वं च बुद्धेरेव संपद्यत इति घ्रात्म सद्भावे प्रमाणाभावरच स्यात् । “पुरूषोऽस्ति भोक्तृभावात्” इति हितेषामभ्युपगमः।

बुद्धि का कर्तृत्व मानने से; कर्ता से भोक्तृता को भिन्न नहीं किया जा सकता, इसलिए भोक्तृता भी, बुद्धि की ही माननी पड़ेगी इस प्रकार आत्मा की भोक्तृत्व शक्ति समाप्त हो जायेगी तथा बुद्धि की भोक्तृता निश्चित होने से, आत्मा के अस्तित्व के प्रमाणों का ही अभाव हो जायेगा । “भोक्तृभाव से ही वह पुरुष है ” यह वाक्य भी फिर बुद्धि परक ही माना जायेगा ।

समाध्यभावाच्च ।२।३।३८॥

बुद्धेः कर्तृत्वे, मोक्षसाधनभूत समाधावपि सैव कर्ता स्यात् । स च समाधिः “प्रकृतेरन्योऽस्मि” इत्येवं रूपः, न च प्रकृतेरन्योऽस्मीति प्रकृतिः समाधातुमलम् । अतोऽप्यात्मैव कर्ता ।

बुद्धि की कर्तृता होने से, मोक्ष की साधननिका समाधि क्रिया भी बुद्धि की ही होगी । समाधि अवस्था क्रिया में “मैं प्रकृति से भिन्न हूँ” ऐसी अनुभूति होती है । यदि समाधि को बुद्धिकृत मानते हैं तो ‘प्रकृति से अन्य हूँ’ ऐसा समाधान नहीं हो सकेगा, क्योंकि बुद्धि तो प्रकृति का ही स्वरूप है, वह स्वयं तो अपने को निवृत्त कर नहीं सकती इसलिए, आत्मा को ही, कर्ता मानना पड़ेगा ।

नन्वात्मनः कर्तृत्वेऽभ्युपगम्यमाने सर्वदा कर्तृत्वान्नोपरमेतेत्यत्राह—

आत्मा का कर्तृत्व स्वीकारने से, आत्मा की कर्तृता कर्म समाप्त ही न होगी ? इस शंका का समाधान करते हैं—

यथा च तक्षोभयथा ।२।३।३६॥

वागाधिकरण संपन्नोऽप्यात्मा यदेच्छति, तदा करोति, यदा तुनेच्छति, तदा न करोति, यथा तक्षा वाश्याधिकरण सन्निधानेऽपि इच्छाऽनुगुव्ये न करोति, न करोति च । बुद्धेस्त्वचेतनायाः कर्त्तृत्वे तस्याः भोगवाञ्छदिनियमकारणाभावात् सर्वदा कर्त्तृत्वमेव स्यात् ।

वागादि इंद्रियों वाला जीवात्मा, जब इच्छा होती है, तभी कार्य करता है, जब नहीं होती तब नहीं करता, जैसे कि-बढ़ई, वसूला हथोड़े आदि साधनों से अपनी इच्छानुसार ही कार्य करता है और अनिच्छा होने पर नहीं करता । बुद्धि तो अचेतन है, उसमें भोग आदि की इच्छा तो होती नहीं, यदि उसे कर्त्ता मानेंगे तो सदा कार्य चालू ही रहेगा (जैसे कि मशीन चालू कर दी जाय तो सदा चलती ही रहेगी) ।

६ परायत्ताधिकरणः—

परात्तुतच्छ्रुतेः ।२।३।४०॥

इंद जीवस्य कर्त्तृत्वं कि स्वातंत्र्येण? उत्तपरमात्माऽयत्तमिति? कि प्राप्तम्? स्वातंत्र्येणेति । परमात्माऽयत्तत्वे हि विधि निषेध शास्त्रानर्थक्यं प्रसज्येत । यो हि स्वबुद्ध्या प्रवृत्ति निवृत्त्यारंभ शक्तः, स एव नियोज्यो भवति । अतः स्वातंत्र्येणास्य कर्त्तृत्वम् ।

अब विचार होता है कि-जीव का कर्त्तृत्व स्वायत्त है अथवा परमात्मायत्त? कह सकते हैं कि-स्वायत्त है । परमात्मायत्त मानने से तो, विधि निषेध के विधायक शास्त्रीय वाक्यों का कोई अर्थ ही न रह जायगा । परमात्मा सब समर्थ हैं, अपनी बुद्धि के अनुसार प्रवृत्ति निवृत्ति करने की शक्ति रखते हैं, वही नियोजक भी हो सकते हैं, इसलिए कर्त्तृत्व में उनका अधिपत्य संभव नहीं है । इसलिए जीव का तो, स्वतंत्र ही कर्त्तृत्व है [अर्थात्-यदि 'परमात्मायत्त कर्त्तृत्व होता तो शास्त्रों के

उपदेश की क्या आवश्यकता थी, सर्व समर्थ परमात्मा जैसा चाहते बंसा करते, शास्त्र में कर्तव्याकर्तव्य का उपदेश दिया गया है इसलिए जीवात्मा का कर्तृत्व सिद्ध होता है।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्तेऽभिधीयते—“परात्तुतच्छ्रुतेः” इति । तु शब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति, तत्-कर्तृत्वं अस्य-जोवस्य-परात् परमात्मन एव हेतोर्भवति, कुतः? श्रुतेः ‘अतः प्रवृष्टिः शास्ता जनानां सर्वात्मा” “य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मानं वेद यस्यात्माशरीरम् य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः” इति । स्मृतिरपि—“सर्वस्य चाहं हृदिसन्निविष्टो मत्तः स्मृतिः ज्ञानमपोहनं च “ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्ध्येऽजुंन तिष्ठति, भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढानिमायया “इति ।

उक्त कथन पर सिद्धान्त रूप से “परात्तुतच्छ्रुतेः” सूत्र प्रस्तुत करते हैं । सूत्रस्थ तु शब्द पक्ष का व्यावर्त्तिक है । इस जीव का कर्तृत्व परायत्त अर्थात् परमात्मायत्त ही है, ऐसा श्रुति से ज्ञात होता है “जो कि-जीवों का सर्वान्तर्यामी शासक है” जो आत्मा में अन्तर्यामी रूप से स्थित होकर, सयंमन करता है, आत्मा उसे नहीं जानता, आत्मा ही जिसका शरीर है, वह सर्वान्तर्यामी अमृत है । “इत्यादि-स्मृति में भी जैसे-“मैं सबके हृदय में प्रविष्ट हूँ, मुझसे ही, स्मृति, ज्ञान और अपोहन (वितर्क) होता है “ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय में स्थित है और अपनी माया से यंत्र की तरह सभी प्राणियों को घुमाता रहता है ।”

नन्वेवं विधिनिषेध शास्त्रानर्थक्य प्रसज्येतेत्युक्तम्—तत्राह—

ऐसा मानने से-विधिनिषेधात्मक शास्त्र व्यर्थ हो जावेंगे, ऐसा पहिले ही कह चुके हैं । इसका उत्तर देते हैं—

कृत प्रयत्नापेक्षस्तु विहित प्रतिषिद्धार्थयस्यादिभ्यः २।३।४१॥

सर्वासु क्रियासु पूरूपेण कृतं प्रयत्नं उद्योगपेक्षयांतर्यामी परमात्मा तदनुमति दानेन प्रवर्त्तयति । परमात्मानुमति मंतरेणास्य

प्रवृत्तिर्नोपपद्यत इत्यर्थः । कुत एतत्? विहित प्रतिसिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः
 आदिशब्देनानुग्रहनिग्रहादयो गृह्यन्ते । यथा द्वयोः साधारणे घने
 परस्वत्वापादनमन्यतरानुमतिमन्तरेण नोपपद्यते, अथापीतरानुमतेः
 स्वेनैव कृतमिति तत्फलं स्वस्यैव भवति । पापकर्मसु
 निवर्त्तनशक्तस्याप्यनुमन्तृत्व न निर्दयत्वमावहतीति सांख्य समय
 निरूपणे प्रतिपादितम् ।

सभी क्रियाओं में पुरुषकृत प्रयत्न ही होता है, मनुष्य के उद्योगा-
 नुसार, अन्तर्यामी परमात्मा, उसे तद्विषयक बुद्धि प्रदान करके उसमें
 सलग्न करते हैं । अर्थात् परमात्मा की अनुमति के बिना इस जीवात्मा
 की कार्यक्षमता और प्रवृत्ति हो नहीं सकती । ऐसा कैसे समझा? विधि
 और निषेध की अनिवार्यता से ही यह बात प्रतीत होती है । प्रभु का
 निग्रह अनुग्रह आदि भी उसके प्रमाण हैं । जैसे कि-दो व्यक्तियों के साझे
 के घन में, वय आदि कार्यों में परस्पर अनुमति आवश्यक है पर यदि कोई
 व्यक्ति, दूसरे की अनुमति बिना, स्वतः ही दान आदि करे तो, उसके,
 पाप पुण्य आदि का फल उसे स्वयं ही भोगना पड़ेगा, वैसे ही जीवात्मा
 संसार के कार्यों में, परमात्मा की साझेदारी भूलकर स्वयं ही अपने को
 कर्त्ता मान बैठता है, उसी के फलस्वरूप उसे भोग भोगने पड़ते हैं,
 अनुमति दाता परमात्मा चुपचाप, उसकी करतूतों को देखते रहते हैं ।
 पाप कर्मों से वह जीवों को बचा सकते हैं, फिर उसके पाप कर्म की
 अनुमति क्यों देते हैं, यह तो उनकी निर्दयता है, इसका उत्तर हम सांख्यमत
 के निरूपण के समय दे चुके हैं ।

नन्वेवम् "एष हि एव साधु कर्मकारयति तं यमघोनिनीपति"
 इत्युन्नितोषयाऽधोपोनीपमा च स्वयमेव साध्वसाधुनी कर्मणी
 कारयतीत्येतन्नोपपद्यते । उच्यते-एतन्नसर्वसाधारणम्, यस्त्ववतिमात्र
 परमपुरुषानुकूल्ये व्यवस्थितः प्रवर्त्तते, तमनुग्रहणं भगवान् स्वयमेव
 स्वप्राप्त्युपायेष्वतिकल्याणेषु कर्मैस्वेव र्त्तं जनयति ।
 पश्चात्तिमात्रप्रातिकूल्ये व्यवस्थितः प्रवर्त्तते, तं निगृहणम्

स्वप्रसिविरोधिष्वधोगतिसाधनेषु कर्मसुर्लचि जनयति । ययोक्तं
 भगवता स्वयमेव—“महं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तति, इति
 मत्वा भजन्ते मां बुधाभाव समन्विताः” इत्यारभ्य “तेषां
 सततयुक्तानां भजतां प्रीति पूर्वकम्, ददामि बुद्धियोगं तं येन
 मामुपयांतिते “तेषामेवानुक्तं पार्थ अहमज्ञानजन्तमः नाशयाम्यात्म
 भावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता” इति । तथा—“असत्यमप्रतिष्ठं ते
 जगदाहुरनीश्वरम् “इत्यादि “मामात्मपरदेहेषु प्रद्विपंतोऽभ्य सूयकाः
 “इत्यन्तमुक्त्वा “तानहं द्विपतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्,
 क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनियु “इत्युक्तम् ।

“परमात्मा उसी से उत्तम कर्म कराते है, जिसे उठाना चाहते है
 तथा जिसे गिराना चाहते है, उससे नीच कर्म कराते है “इत्यादि से
 भगवान द्वारा ही उत्तम निकृष्ट कर्म कराने की बात सिद्ध होती है,
 जिससे कि उपर्युक्त मत का सामंजस्य नहीं बँटता । इसका उत्तर देते है
 यह बात सर्वसाधारण के लिए नहीं है, अपितु जो लोग एकमात्र
 परमपुरुष परमात्मा के घ्राश्रित होकर उन्ही की अनुमति के धनुसार
 कार्य करने के लिए कठिबद्ध हो जाते हैं. परमात्मा, उन पर कृपा करके
 अपनी प्राप्ति के उपायभूत कल्याणमय कर्मों में उमकी हचि प्रकट करते
 हैं, तथा जो लोग भगवत् प्राप्ति से विपरीत कर्मों में मग्न रहते हैं, उन
 पर वे परमात्मा प्रकृपा करते हुए अपनी प्राप्ति के प्रतिकूल, अधोगति के
 उपायभूत कर्मों में आसक्त कर देते हैं । जँमा कि-भगवान ने स्वयं कहा
 है—“मैं सबकी उत्पत्ति का कारण हूँ सब मृक्षसे ही प्रवृत्त किये जाते हैं
 “ऐसा समझ कर भाव समन्वित ज्ञानी भक्त मृक्षको भजने हैं” उन,
 निरन्तर मृक्षमे लगे हुए भजन करने वाले भक्तों को मैं, प्रीतिपूर्वकं ऐसी
 बुद्धि प्रदान करता हूँ, जिससे वे, मृक्ष प्राप्त कर सकें, “उन्ही पर अनुग्रह
 करके मैं, उनमें आत्मभाव से स्थित होकर, अज्ञान से उत्पन्न उनके
 लंघकार बौ, प्रज्वलित ज्ञान दीप के द्वारा नाश कर देता हूँ “इत्यादि ।
 तथा “जो यह कहते हैं कि-जगत् असत्य, अप्रतिष्ठ और ईश्वर रहित है”
 मेरी निन्दा करने वाले, अपने और दूसरों के शरीर में स्थित मुझ ईश्वर
 की निन्दा करते हैं “इत्यादि से सर्वसाधारण ध्यक्तियों का रूप बतलाकर

“उन द्वेष करने वाले, क्रूर अशुभ नराधमों को मैं, संसार में निरन्तर आसुरी योनियों में ही डालता हूँ” इत्यादि विशिष्ट गति कही है।

७-अंशाधिकरणः—

अंशोनानाव्यपदेशादन्यथापि दाश कितवादित्वमधीयतएके २।३।४२॥

जीवस्य कर्त्तृत्वं परमपुरुषायत्तमित्युक्तम् । इदानीं किमयं जीवः परस्मादत्यंतभिन्नः, उत परमेव ब्रह्म भ्रांतम्, उत ब्रह्मोपाध्यवच्छिन्नम्, अयं ब्रह्मांशः इति संशय्यते, श्रुति विप्रतिपत्तेः संशयः

जीव का कर्त्तृत्व, परमपुरुषायत्त है, यह बतलाया गया अब विचार करते हैं कि-जीव परमात्मा से अत्यंत भिन्न है अथवा अज्ञानाच्छन्न भ्रांत ब्रह्म ही है, अथवा उपाधिपरिच्छिन्न ब्रह्म है, अथवा ब्रह्म का अंश है? ऐसा संशय परस्पर भिन्न श्रुतियों के आधार पर होता है।

ननु “तदन्यत्वमारंभणशब्दादिभ्यः “अधिकं तु भेदनिर्देशात् इत्यत्रैवायमर्थो निर्णोतिः । सत्यम्, स एव नानात्वैकत्वश्रुति विप्रतिपत्त्या आक्षिप्य जीवस्य ब्रह्मांशत्वोपपादनेन विशेषतो निर्णोयते, यावद् हि जीवस्य ब्रह्मांशत्वं न निर्णोतम्, तावच्चीवस्य ब्रह्मणोऽनन्यत्वं ब्रह्मणः—तस्मादधिकत्वं च न प्रतिष्ठति ।

“तदन्यत्वमारंभण” अधिकं भेद “इत्यादि दोनों सूत्रों में ही इस विषय का निर्णय हो चुका था। ठीक है अब परस्पर भिन्न श्रुति वाक्यों के अनुसार संशय उपस्थित करके, जीव को ब्रह्मांशता का समर्थन करके विशेष निर्णय करते हैं। जब तक जीव की ब्रह्मांशता का, निर्णय नहीं किया जाता, तब तक उसकी ब्रह्म की ब्रह्म से अनन्यता या उससे श्रेष्ठता, सिद्ध नहीं हो सकती।

किं तावत् प्राप्तम् ? अत्यंतभिन्न, इति, कुतः ? “ज्ञाज्ञी द्वावजावीशानोशी “इत्यादिभेदनिर्देशात् । ज्ञाज्ञयोरभेदश्रुतयस्तु “भग्निना सिचेत् “इति वद विरुद्ध्यं प्रतिपादनादौपचारिक्यः ।

उक्त प्रकार में से जीव का कौन सा रूप हो सकता है? कहते हैं कि जीव अत्यंत भिन्न है, क्योंकि-“ज्ञात्री द्वावजावीशनीशो” इत्यादि में स्पष्ट भेद निर्देश किया गया है। ज्ञाता और अज्ञाता की अभिन्नता को बतलाने वाले वाक्य तो “अग्नि से सींचता है” के समान विरुद्धार्थ प्रतिपादक औपचारिक मात्र हैं।

ब्रह्मणोऽशो जीव इत्यपि न साधोयः, एकवस्तु एकदेशवाचीहि अंश शब्दः, जीवस्य ब्रह्मैकदेशत्वे, तद्गता दोषा ब्रह्मणि भवेयुः। न च ब्रह्म खंडो जीव इत्यंशत्वोपपत्तिः, खंडनानाहत्वात् ब्रह्मणः प्रागुक्तदोष प्रसंगाच्च। तस्मादत्यंत भिन्नस्य च तदंशत्वं दुरुपपादम्। यद्वा अंशं ब्रह्मैव जीवः, कुतः “तत्त्वमसि” अयमात्मा ब्रह्म” इत्यादि ब्रह्मात्मभावोपदेशात्। नानात्ववादिन्यस्तु प्रत्यक्षादि सिद्धार्थानुवादित्वादनन्यथा। सिद्धाद्वैतोपदेशपराभिः श्रुतिभिः प्रत्यक्षादय इवाविद्यान्तर्गताः ख्याप्यन्ते। अथवा ब्रह्मैवानाशु पाध्वच्छिन्नं जीवः। कुतः तत एव ब्रह्मात्मभावोपदेशात्। न चायमुपाधिभ्रान्तिपरिकल्पित इति वक्तुं शक्यम्, वंधमोक्षादिव्यवस्थानुपपत्तेः, इति।

जीव, ब्रह्म का अंश है, यह बात भी सहज साध्य नहीं है एक वस्तु को, एक स्थानीय वस्तु को ही अंश शब्द से निर्देश किया जाता है इन प्रकार जीव की ब्रह्मैकदेशता सिद्ध होती है, जिससे कि एक दशस्थानीय जीव के दोष, ब्रह्म में भी हो सकते हैं। जीव, ब्रह्म के खंड के रूप में अंश माना गया हो तो बात मही है, ब्रह्म का खंड तो किया ही नहीं जा सकता यह तो अखंड है। खंड मानने से तो निश्चित ही उक्त दोष का प्रसंग होगा ही। ब्रह्म से अत्यंत भिन्न मानकर जीव की प्रकृता का समर्थन भी सहज नहीं है। “तत्त्वमसि” “अयमात्मा” इत्यादि ब्रह्मात्मभाव को बतलाने वाले वाक्यों से, भ्रान्तब्रह्म ही जीव है, ऐसी धारणा वाले द्वैतपरक श्रुति वाक्यों को मानने से यह भ्रान्ति होती है कि-निश्चित ही विरुद्धता होगी और वे “तत्त्वमसि” आदि अद्वैत परक वाक्य ध्वं हो जावेंगे। इनलिए ये प्रत्यक्ष में दीखने वाली विभिन्नता और इसके प्रतिपादक श्रुति वाक्य

मिथ्या हैं। अथवा— ब्रह्मात्मभाव के उपदेश के आधार पर जो "ब्रह्म ही अनादि उपाधियों से अवच्छिन्न जीव है" ऐसा मानने वाले हैं, वे उपाधि को भ्रान्ति कल्पित तो कह नहीं सकते, क्योंकि बंध मोक्ष आदि की व्यवस्था न हो पावेगी।

एवं प्राप्तेऽभिधीयते ब्रह्मांश इति, कुतः? नानाव्यपदेशात् अन्यथा च- एकत्वेन व्यपदेशात्। उभयथा हि व्यपदेशो दृश्यते। नानात्वव्यपदेशः तावत्स्रष्टत्वसृज्यत्वनियंतृत्वनियाम्यत्वसर्वज्ञत्वा-ज्ञात्व स्वाधीनत्वपराधीनत्वाशुद्धत्वकल्याणगुणाकरत्वतद्विपरीतप-तित्वशेष त्वादिभिर्दृश्यते। अन्यथा च अभेदेन व्यपदेशोऽपि "तत्त्वमसि" अयमात्मा ब्रह्म इत्यादिभिर्दृश्यते। अपि दाशकितवादित्वमधीयत एके" ब्रह्मदाशा ब्रह्मदासा ब्रह्मे मे कितवाः " इत्याद्यवर्णिका ब्रह्मणो दाशकितवादित्वमप्यधीयते। ततश्च सर्वजीवव्यापित्वेना-भेदोव्यपदिश्यत् इत्यर्थः। एवमुभय व्यपदेशामुख्यत्वसिद्धये जीवोऽयं-ब्रह्मणोऽंश इत्यभ्युपगंतव्यः।

इस पर स्वमत प्रकट करते हैं कि—जीव, ब्रह्म का अंश ही है, ऐसा उन दोनों की एकता बतलाने वाले वाक्यों से ही ज्ञात होता है। द्वैत और अद्वैत दोनों का ही वर्णन मिलता है। भेद के वर्णन में, सृष्टि कर्तृत्व—सृज्यत्व, नियंतृत्व—नियाम्यत्व, सर्वज्ञत्व—अज्ञत्व, स्वाधीनत्व-पराधीनत्व, शुद्धत्व-अशुद्धत्व, कल्याण गुणाकरत्व-पतित्व और शेषत्व आदि विपरीत भावनायें पाई जाती हैं। "तत्त्वमसि" अयमात्मा, ब्रह्म इत्यादि में अभेद का वर्णन मिलता है। वेद की एक शाखा में—"ब्रह्म ही दाश है, ब्रह्म ही दास है, ब्रह्म ही कितब है" इत्यादि से ब्रह्म का दास कितब आदि भाव भी मिलता है। वह सब जीवों में व्यापक होने से अभिन्न हैं, यह बात इससे ज्ञात होती है।

न च भेदव्यपदेशानां प्रत्यक्षादिप्रसिद्धार्थत्वेनान्यथासिद्धत्वम्, ब्रह्मसृज्यत्वतन्नियाम्यत्वतच्छरीरत्वतच्छेषत्वतदाधारत्वतत्पाल्यत्व-तत्संहार्यत्व तदुपासकत्वतत्प्रसादलभ्यधर्मार्थकाममोक्ष रूप पुरुषार्थ-

भास्त्वदाय स्तत्कृतश्च जीवब्रह्मणोर्भेदः प्रत्यक्षाद्यगोचरत्वेनान्यथा-
सिद्धः । अतो न जगत्सृष्ट्यादिवादिनीनां प्रमाणान्तरसिद्धभेदानु-
वादेन मिथ्यार्योपदेशपरत्वम् ।

यह नहीं कह सकते कि-प्रत्यक्ष में देखने वाले भेद-अकारण हैं-
व्यों कि-ब्रह्म की सृज्यता, ब्रह्म की नियामकता, ब्रह्म की देहता ब्रह्मांगता,
ब्रह्म की पाल्यता, ब्रह्म की संहारकता, तथा ब्रह्मोपासना और ब्रह्मानुग्रह
से प्राप्त धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष रूप पुरुषार्थ और उससे होने वाला जीव ब्रह्म
का भेद तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का विषय नहीं है, इसलिए प्रकारण
नहीं है । जगत् की सृष्टि आदि को बतलाने वाली श्रुतियाँ, अभेद परक
श्रुतियों के समक्ष, केवल कथन मात्र हैं, यह बात, उक्त वर्णन से सिद्ध
नहीं होती ।

न चा खडैकरसचिन्मात्रस्वरूपेण ब्रह्मणाऽत्मनोऽतद्भावानु-
संधानं, बहुभवन संकल्पपूर्वकवियदादिसृष्टि, जीवभावेन तत् प्रवेशं,
विचित्रनामरूपव्याकरणं, सत्कृतानंतविषयानुभवाः मित्त सुखदुःख
भागित्वम्, अभोक्तृत्वेन तत्र स्थित्वा तन्नियमतेनान्तर्यामित्वं, जीव
भूतस्य स्वस्य कारणब्रह्मात्मभावानुसंधानं, संसारमोक्षं, तदुपदेश
शास्त्रं च कुर्वाणेन भ्रमितव्यमित्युपदिश्यते, तथा सत्युन्मत्तप्रलपित
त्वापातात् ।

और न अखंड एक रस चिन्मात्र, स्वरूप ब्रह्म के साथ, जीवात्मा
की अतिसूक्ष्म भिन्नता, अनेक रूपों में अविभूत होने के लिए संकल्प-
पूर्विका आकाश आदि की सृष्टि, जीवभाव से उनमें प्रवेश, विचित्र नाम
रूपों की अभिव्यक्ति, उस अभिव्यक्ति के फलस्वरूप होने वाली विषयानु-
भवजनित सुख दुःख आदि द्विविधार्थ, अभोक्तारूप से जीव में स्थिति और
सर्वान्तर्यामी रूप से उनकी नियामकता, जीव का अपने में कारण रूपी
ब्रह्मात्मभाव का अनुसंधान, संसार का मोक्ष, आदि के उपदेश देने वाले
शास्त्रों के कर्ता को भ्रामक उपदेश देने वाला नहीं कह सकते, ऐसा कहना
तो पागल का प्रलाप मात्र है ।

उपाध्यवच्छिन्नं ब्रह्म, जीव इत्यपि न साधीयः, पूर्वनिर्दिष्ट नियंतृत्व, नियाम्यत्वादि व्यपदेशवाधादेव । नहि देवदत्तादेरेकस्यैव गृहाद्युपाधिभेदान् नियंतृनियाम्यभावादिसिद्धिः । अत उभय व्यपदेशो पपत्तये जीवोऽयं ब्रह्मणोऽंश इत्यभ्युपेत्यम् ।

ब्रह्म ही अनादि उपाधियों से अवच्छिन्न जीव है, इसको सिद्ध करना भी कठिन है । जो नियंतृत्व नियाम्यत्व आदि द्विविधायें बतलाई गईं वह ऐसा मानने में बाधक होगी । एक ही देवदत्त, घर आदि नाम वाला लेकर, नियंता और नियम्य दोनों नहीं हो सकता । इसलिए भेदा-भेद की व्यवहारिकता की सिद्धि के लिए, इस जीव को ब्रह्म का अंश मानना पड़ेगा ।

मंत्रवर्णात् । २।३।४३॥

“पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि” इति मंत्रवर्णाच्च ब्रह्मणोऽंशो जीवः । अंशवाची हि पादशब्दः । ‘विश्वाभूतानि’ इति जीवानां बहुत्वाद् बहुवचन मंत्रे, सूत्रेऽपि अंश इत्येक वचनं जात्यभिप्रायम् । “नात्माश्रुतेः” इत्यत्राप्येक वचनं जात्यभिप्रायम् “नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्” इत्यादि श्रुतिभ्य ईश्वराद्भेदस्यात्मनां बहुत्वे प्रामाणिके सति ज्ञानस्वरूपत्वेन सर्वेषामेकरूपत्वेऽपि भेदकाकारः आत्ममाथात्म्यवेदनक्षमैरवगम्यते “अजंततेश्चा व्यतिकरः इत्यनंतरमेव वचात् बहुत्वं वक्ष्यति ।

“साराभूत समुदाय इनके एक चरण में हैं, इनके तीन चरण अविकृत रूप से प्रकाशमय अमृत हैं” इस वैदिक मंत्र से भी, जीव, ब्रह्म का अंश सिद्ध होता है । मंत्र में वर्णित पाद शब्द, अंशवाची ही है । “विश्वाभूतानि” शब्द जीवों की बहुलता का बोधक बहुवचन है । सूत्र में प्रयुक्त “अंश” शब्द का एक वचन प्रयोग, जीव की जातिगत एकता का बोधक है । “नात्माश्रुतेः” सूत्र में किया गया एक वचन का प्रयोग भी, जातिगत एकता के अभिप्राय से ही है । “जो नित्यों का नित्य, चेतनों का

चेतन, अकेला ही अनेकों की कामनाओं को पूर्ण करता है" इत्यादि में ईश्वर जीव का भेद, अभेद और नित्यता की विज्ञप्ति से भी, जीव की अंशता सिद्ध होती है। इस प्रकार जब नित्य आत्माओं की बहुलता सिद्ध हो जाती है, तब समस्त आत्माओं की ज्ञानस्वरूप एक रूपता होते हुए भी जो परस्पर आकार भेद है, उससे आत्मगत यथार्थ वेदन क्षमता प्राप्त होती है [अर्थात् अपने अपने शुभाशुभकर्मानुसार सबकी अपनी अपनी विभिन्न अनुभूतियाँ और भोग होते हैं, ऐसा ज्ञात होता है] "अंशतः" आदि सूत्र में आत्मा बाहुल्य का वर्णन करेंगे।

अपिस्मर्यते ।२।३।४४॥

"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" इति जीवस्य पुरुषोत्तमांशत्वं स्मर्यते, अतश्चायमंशः ।

"जीवों में मेरा ही सनातन अंश, जीव रूप से रहता है" ऐसी जीव की पुरुषोत्तममांशता स्मरण भी की गई है। इसलिए जीव अंश रूप ही है।

अंशत्वेऽपि जीवस्य ब्रह्मकदेशत्वेन जीवगता दोषा ब्रह्मण ऐवेत्याशंक्याह—

अंश होते हुए भी, ब्रह्मकदेशीय जीव के दोष, ब्रह्म के माने जावेंगे यह आशंका करते हुए उत्तर देते हैं —

प्रकाशादिवत्तु नवंपरः ।२।३।४५॥

तुराब्दारचोद्यम्यावत्तयति, प्रकाशादिवज्जीवः परमात्मनोऽंशः यथा भ्रग्न्यादित्यादेर्भास्वतो भारूपः प्रकाशांप्रोभवति, यथा-गवाश्वशुक्लकृष्णादीनां गोत्वादिविशिष्टानां वस्तूनां गोत्वादीनि विशेषणान्यंशाः, यथा वा देहिनो देवमनुष्यादिर्देहोऽंशाः, तद्वत् । एकवस्त्वेकदेशत्वं हि अंशत्वम्, विशिष्टस्यैकस्य वस्तुनो विशेषणमंश एव । तथा च विवेचकाः विशिष्टे वस्तुनि विशेषण-

शोऽयम् विशेष्यांशोऽयमिति व्यपदिशति । विशेषणविशेष्ययोरंशां-
 शित्वेऽपि स्वभाववैलक्षण्यं दृश्यते । एवं जीवपरयोर्विशेषणविशेष्य-
 योरंशांशित्वं, स्वाभावभेदश्चोपपद्यते । तदिदं भुज्यते नैवं परइति ।
 यथा भूतो जीवः, न तथाभूतः परः । यथैवहिप्रभायाः प्रभावानन्यथा
 भूतः तथा प्रभास्थानीयात् स्वांशाज्जीवांशी परोऽप्यर्थान्तरभूत इत्यर्थः
 एवं जीवपरयोर्विशेषण विशेष्यत्वकृतं स्वभाववैलक्षण्यमाश्रित्य भेद
 निर्देशाः प्रवृत्तान्ते, अभेदनिर्देशास्तु प्रथक्सिद्धयनहंविशेषणानां-
 विशेषणपर्यन्तत्वमाश्रित्य मुख्यत्वेनोपपद्यन्ते । “ तत्त्वमसि ” “अय-
 मात्मा ब्रह्म” इत्यादिषु तच्छब्दब्रह्मशब्दवत् त्वमयमात्मेति शब्दा
 अपि जीवशरीरक ब्रह्मवाचकत्वेनैकार्थ्याभिधायित्वादित्ययमर्थः प्रागेव
 प्रपञ्चितः ।

सूत्रस्य तु शब्द उक्त शंका का निवारक है । प्रकाशादि की तरह,
 जीव, परमात्मा का अंश है, जैसे कि-अग्नि आदित्य आदि का उद्दीप्त
 प्रकाश, उनका ही अंश होता है । विशेषणीभूत गोत्व आदि जाति धर्म,
 विशिष्ट गो अश्व जैसे शुक्ल कृष्ण आदि वस्तु के अंश हैं, वैसे ही जीव
 भी ब्रह्म का अंश है, तथा देह जैसे, देहधारी मनुष्य देवता आदि का
 अंश है, वैसे ही, जीव भी ब्रह्म का अंश है । एक वस्तु का एकदेशीय, अंश
 होता है, अतः, एक विशिष्ट वस्तु का विशेषण, उसका अंश ही
 कहलायेगा । विवेचक जोग भी, विशेषण युक्त पदार्थ का ऐसा ही विवेचन
 करते हैं कि- “यह अंश विशेषण है, यह अंश विशेष्य है” । विशेषण
 विशेष्य का अंशांशी संबंध होते हुए भी, स्वाभाविक भेद भी होता है ।
 इसीलिए सूत्रकार ने कहा “नैवं परः” अर्थात् जैसा जीव है, वैसे ही
 परमात्मा नहीं है । जैसे कि प्रभा से प्रभावान् की भिन्नता होती है, वैसे ही
 अपने अंश जीव से परमात्मा भिन्न है । इसी प्रकार-जीव की विशेषण-
 विशेष्य कृत स्वाभाविकी भिन्नता के आधार पर, भेद का निर्देश किया
 गया है । अभेद का निर्देश तो, स्वतंत्ररूप से स्थित होने में असमर्थ
 विशेषण, विशेष्य पर्यन्तता का द्योतक है, मुख्य रूप से अभेद नहीं
 हो सकता । “ तत्त्वमसि ” “अयमात्मा ब्रह्म” इत्यादि में तत् शब्द के पर्याय-

वाची ब्रह्म शब्द की तरह, त्वम-अयं-आत्मा आदि शब्द भी जीव शरीरी ब्रह्मवाची अनेकार्थं बोधक हैं, ऐसा पहिले भी विवेचन कर चुके हैं।

स्मरन्ति च । २।३।४६॥

एवं प्रभा प्रभावदरूपेण शक्तिशक्तिमद् रूपेण शरीरात्मभावेन चांशांशो भावं जगद्ब्रह्मणोः पराशरादयः स्मरन्ति-“एकदेरास्यित-स्याग्नेर्ज्योत्स्नाविस्तारिणो यया, परस्यत्रह्यणः शक्तिः तपेदमखिलं जगत्” यत्किञ्चित् सृज्यते येन सत्वजातेन वै द्विज, तस्य सृज्यस्य संभूतौ तत्सवं वै हरेस्तनुः इत्यादिना । चकाराच्छ्रुतयोऽपि-“यस्यात्माशरीरम्” इत्यादिना आत्म-शरीरभावेनशांशित्वं वदन्तोत्युच्यते ।

पराशर आदि ऋषि भी प्रभा और प्रभावान्, शक्ति और शक्तिमान शरीर और शरीरी की तरह जगत् और ब्रह्म का अंशांशो भाव मानने हैं जैसेकि “एक स्थान में स्थित अग्नि की ज्योत्स्ना जैसे चारों ओर फैलती है, पर ब्रह्म की शक्ति भी वैसे ही, निखिल जगत् के रूप में विस्तृत है। “प्राणियों द्वारा जो कुछ भी निर्माण कार्य होता है, वह सब हरि का ही शरीर है।” इत्यादि सूत्रस्य च शब्द, श्रुति का भी ऐसा ही कथन है, यह धोतन करता है। श्रुति भी-“यस्यात्मा शरीरम्” इत्यादि से, शरीर शरीरी भाव से, अंशांशो भाव, वतलाती है।

एव ब्रह्मणोऽशत्वे ब्रह्म प्रवत्यंत्वे, जत्वे च सर्वेषां समाने केषांचिद् वेदाध्ययनतदर्थानुष्ठानाद्यनुद्या, केषांचित्तत्परिहारः, केषांचिद्दरानस्पर्शं नाद्यनुज्ञा, केषांचित्तत्परिहारश्च शास्त्रेषु-कथमुपपद्यत इत्यादिवाह —

ऐसे ब्रह्मांशत्व ब्रह्मनियामत्व, एवं ज्ञातृत्वादिषमं यदि जीवमात्र के समान होंगे तो, शास्त्रों में किसीको वेदाध्ययन और वैदिक कर्मों की अनुमति दी गई है और किसीको नहीं दी गई किसीको भूक्ति के दर्शन स्पर्श को आज्ञा दी गई है किसीको नहीं दी गई यह बात कैसे बनेगी ? ऐसी शंका कर के उत्तर देते हैं—

अनुज्ञा परिहारौ देह संबंधात् ज्योतिरादिवत् । २।३।४७॥

सर्वेषां ब्रह्मांशत्वज्ञत्वादिनैकरूपत्वे सत्यपि ब्राह्मणक्षत्रियवैश्य शूद्रादिरूपशुच्यशुचिदेह संबंधनिबंधनानुज्ञापरिहारावुपपद्यते ज्योतिरादिवत् यथाग्नेरग्नित्वेनैकरूपत्वेऽपि श्रोत्रियागारादग्निराह्वियते स्मशानादेस्तु परिह्वियते, यथा चान्नादि श्रोत्रियादेरनुज्ञायते अभिसंतादेस्तु परिह्वियेत ।

सभी जीव ब्रह्म के अंश और जातृत्व धर्म वाले हैं यह बात सही है, उनमें जो भेद हैं वह, ब्राह्मणक्षत्रिय वैश्य शूद्र आदि शरीर संबंध से शुचि अशुचि माना गया है इसी आधार पर शास्त्रों में आज्ञा और निषेध का विधान किया गया है जैसे कि—अग्नि स्वरूपतः एक है पर, पवित्र याज्ञिक की अग्नि लाने की आज्ञा तथा स्मशान आदि अपवित्र स्थानों की अग्नि का निषेध किया गया है। तथा जैसे—याज्ञिक के यहाँ के अन्न लेने की आज्ञा तथा निन्दित व्यक्ति के अन्न का निषेध किया गया है।

असंततेश्चाव्यतिकरः । २।३।४८॥

ब्रह्मांशत्वादिनैकरूपत्वे सत्यपि जीवानामन्योन्यभेदादणुत्वेन प्रतिशरीरं भिन्नत्वाच्च भोगव्यतिकरोऽपि न भवति । भ्रांतब्रह्म जीववादे चोपहित ब्रह्म जीववादेच, जीवपरयोर्जीवानां च भोगव्यतिकरादयः सर्वदोषाः संतीत्यभिप्रायेण स्वपक्षे भोगव्यतिकाराभावः उक्तः ।

ब्रह्मांशता आदि कारणों से जीवों की एकता होते हुए भी, जीवों के पारस्परिक भेद तथा अणुरूप से प्रतिशरीर में भिन्नता होने से भोग व्यतिकर अर्थात् एक दूसरे के भोग में, मिलावट नहीं हो पाती। भ्रांतब्रह्म जीववाद तथा उपहित ब्रह्म जीववाद में तो जीव और परमात्मा एवं जीवों में परस्पर-भोग व्यतिकर की संभावना है, इसीलिए अपने मतानुसार भोग व्यतिकरभाव दिखलाया गया है।

ननु भ्रांतब्रह्म जीववादेऽपि अविद्याकृतोपाधिभेदाद्भोग्य व्यवस्थादयः उपपद्यन्ते-अत आह—

यदि कहें कि-भ्रांतब्रह्मवाद में भी, प्रतिधा कृत्न उपाधि मान कर, भेद स्वीकारने में, भोग्यव्यवस्था हो सकेगी-उनका उत्तर देने हैं-

आभास एव च । २।३।४६॥

अखण्डैकरस प्रकाशमात्र स्वरूपस्य स्वरूपतिरोधानपूर्वकोपाधि-भेदोपपादन हेतुराभास एव । प्रकाशकस्वरूपस्य, प्रकाशतिरोधानं प्रकाशनाश एवेति प्रागेवोपपादितम् । " आभासा एव " इतिवापाठः तथा सति हेतु व आभासाः । चकारात् " पृथगात्मानं प्रेरितारम् च मत्वा " " ज्ञाज्ञी द्वौ " तयोरन्यः पिप्पल स्वादवस्ति " इत्यादि श्रुतिविरोधश्च । अविद्यापरिकल्पितोपाधिभेदेऽपि सर्वापाधिभिर्ह-पहितस्वरूपस्यैकत्वाभ्युपगमात् भोग्यतिकरस्तदवस्थ एव ।

अखण्ड एक रस, एक मात्र प्रकाश स्वरूप ब्रह्म के स्वरूप को डकने वाले उपाधि भेद के समर्थन में जो हेतु उपस्थित किया जाता है, वह हेतुआभास मात्र है । प्रकाशवान् के प्रकाश का तिरोधान होना तो प्रकाश नाश ही है, ऐसा बतला चुके हैं ।

सूत्र में " आभासा एव " ऐसा वाठान्तर भी मिलता है, जिसके अनुसार अर्थ किया जाता है कि-जितने भी हेतु उपस्थित किए जाने हैं, वे सब आभास हैं । पर सूत्र में, च के विशेष योग मानने में " पृथगात्मानं प्रेरितार " ज्ञाज्ञी " तयोरन्यः पिप्पल " इत्यादि भेद निर्देगक श्रुतियों से विरोध उपस्थिति की बात भी निश्चित होती है । अविद्या परिकल्पित उपाधि भेदवाद में भी, उपाधियों से ब्रह्म के स्वरूप के उग्रहित होने पर भी, एकत्व स्वीकारने में जो भोग का व्यतिकर होता है वह भी रहता ही है, यही चकार के प्रयोग का तात्पर्य है ।

परमार्थिको पाध्युपहितब्रह्म जीववादेऽप्युपाधिभेद हेतु भूतानाद्यदृष्टवशाद्व्यवस्था नविध्यतीत्याशङ्क्याह--

पारमार्थिक उपाधि उपहित ब्रह्म जीववाद में भी उपाधि भेद के कारणभूत, अनादि दृष्ट करुं ही व्यवस्थापक होंगे । इनका उत्तर-

अदृष्टानियमात् ।२।३।५०॥

उपाधिपरस्पराहेतुभूतस्यादृष्टस्यापि ब्रह्मस्वरूपाश्रयत्वेन
नियमहेत्वभादव्यवस्थैव उपाधिभिरदृष्टैश्च स्वसंबंधेन
ब्रह्मस्वरूपच्छेदा संभवात् ।

उपाधि उपहितब्रह्म के अंशगत भेद को मानने पर भी, ब्रह्म का जो अंश और उपाधि के साथ संबंध होने के नाते, उपाधिकृत भोग, केवल उस अंश में ही हीगा, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि-सारी उपाधियों का अदृष्ट परमात्मा से आत्मीय संबंध है, इसलिए ब्रह्म के स्वरूप में भी उनका होना संभव है ।

अभिसंध्याविष्वपि चैवम् ।२।३।५१॥

अदृष्ट हेतुभूताभिसंध्यादिष्वप्युक्तादेव हेतोरनियमएव ।
इसी प्रकार अदृष्ट हेतुभूत अभिपन्धि आदि में भी अनियम ही होगा (अर्थात् "एकोऽहं बहुस्या" इत्यादि ब्रह्माभिपन्धि, जीव से संबंधित ही जायगी)

प्रदेशभेदादितिचेन्नान्तभावात् ।२।३।५२॥

यद्यप्येकमेव ब्रह्मस्वरूपम्, तच्छेदानर्हं नानाविधोपाधिभिः
संबध्यते-तथाप्युपाधिसंबन्धिब्रह्मप्रदेशभेदादुपपद्यत एव भोगव्यवस्थे
चेत्-तन्न-उपाधीनां तत्र तत्र गमनात् सर्वं प्रदेशानो
सर्वोपाध्यन्तर्भावात् व्यतिकरस्तदवस्य एव । प्रदेशभेदेन संबन्धेऽग
सर्वस्यब्रह्मप्रदेशात्वात्तत्प्रदेशसंबन्धि दुःखं ब्रह्मण एव स्यात् ।
पूर्वत्र "नित्योपलब्धिअनुपलब्धि प्रसंगोऽन्यतरनियमोवाऽन्यथा"
"उपलब्धिवदनियमः" इत्याभ्यां सूत्राभ्यां वेदवाह्यानां सर्वगत
जीववादिनां दोष उक्तः, अत्र तु "आभास एव च" इत्यादिभिः सूत्रैः
त्रेदाबलविनामात्मैकत्ववादिनां दोष उच्यते ।

यद्यपि ब्रह्म स्वरूपतः एक तथा उपाधि संबंध होते हुए भी अविभक्त ही है, फिर भी उपाधियों के साथ, ब्रह्म के विभिन्नानुशों का संबंध होने से भोग व्यवस्था अवश्य ही होगी । ऐसा नहीं है—कि जो जो उपाधियाँ हैं वे सब परमात्मा की अंश होने से एक ही है ठीक है, ब्रह्माण के दोषों का, इसी नाते ब्रह्म में भी संश्लेष हो ही जायगा अर्थात् के दुःख ब्रह्म के ही दुःख माने जावेंगे । "नित्योपलब्धुपलब्धि" "उपलब्धिबदनियमः" इत्यादि दोनों सूत्रों से वेदवाह्य सर्वगत जीव वादी कपिल आदि मतों का दोष बतला चुके हैं । यहाँ "प्राभात एव च" इत्यादि सूत्रों से वेदावलंबी अद्वैत वादियों का दोष बतलाया गया ।

॥ द्वितीय अध्याय तृतीयपाद समाप्त ॥

[द्वितीय अध्याय]

[चतुर्थ-पाद]

१ प्राणोत्पत्त्यधिकरणः—

तथा प्राणाः ।२।४।१॥

ब्रह्म व्यतिरिक्तस्य कृत्स्नस्य कार्यत्वेनोत्पत्तावुक्तायां जीवस्य कार्यत्वेऽपि स्वरूपान्यथाभावलक्षणोत्पत्तिरपोदिता, तत्प्रसंगेन जीव स्वरूपंशोधितम् । संप्रति जीवोपकरणानामिन्द्रियाणां प्राणस्य चोत्पत्त्यादि प्रकारो विशोध्यते । तत्र किमिन्द्रियाणां कार्यत्वं जीववत् उत वियदादिवदिति चिन्त्यते । किं युक्तम् ?

ब्रह्म से भिन्न समस्त आकाशादि पदार्थों की कार्यरूप से उत्पत्ति बतलाते हुए, जीव की कार्यरूप होते हुए भी, अन्यथा भाव उत्पत्ति का प्रतिपादन किया गया । प्रसंग से ही जीव के स्वरूप का भी विश्लेषण किया गया । अब जीव की उपकरणरूप इंद्रियों तथा प्राण की उत्पत्ति के प्रकार का विश्लेषण करते हैं । विचार करते हैं कि-इंद्रियों की कार्यता जीव की तरह है अथवा आकाश आदि की तरह है?

जीववदेवेत्याह पूर्वपक्षी "तथा प्राणाः" इति । प्राणा इंद्रियाणि यथा जीवो नोत्पद्यते तथा इन्द्रियाण्यपि नोत्पद्यन्ते । कुतः? श्रुतेः यथा जीवस्यानुत्पत्तिः श्रुतेरवगम्यते तथा प्राणानाम्प्यनुत्पत्तिः श्रुतेरेव अवगम्यते । तथा प्राणा इति प्रमाणमप्यतिदिरयते ।

उक्त विचार पर पूर्वपक्ष वाले, "तथा प्राणाः" सूत्र से जीव के समान कार्यता का समर्थन करते हैं । प्राणाः अर्थात् इंद्रियां, जैसे कि-जीव की अनुत्पत्ति है वैसे ही इंद्रियों की भी है । श्रुतियो से ही इसका ज्ञान

होता है, जैसे कि-जीव की अनुत्पत्ति श्रुति से ज्ञान होती है, वैसे ही प्राणों की अनुत्पत्ति भी श्रुतियों से ही ज्ञात होती है। तथा प्राणाः मे, शास्त्रीय प्रमाणों की ओर ही अतिदेश (इशारा) किया गया है।

का पुनरत्र श्रुतिः? 'असद् वा इदमग्रमासीत्तदाहुः किं तदासीदिति श्रुपयो वावते भ्रमे सदासीत् तदाहुः के ते ऋषयः इति प्राणावाव ऋषयः "इति जगदुत्पत्तेः प्राग्निन्द्रियाणां सदभावः श्रूयते। प्राणशब्दे बहुवचनादिन्द्रियाण्येवेति निरक्षीयते। न चेयं श्रुतिः वायुरचान्तरिक्षं चैतदमृतम्" सैषाऽनस्तमिता देवतायद्वायु "इतिवच्चिरकालावस्यापित्वेन परिणेतुंशक्या" असद् वा इदमग्र मासीत्" इति कृत्स्नप्रपंचप्रलयवेलायामप्यवस्थितत्व ध्वषणात्। उत्पत्तिवादिन्यस्तु जीवोत्पत्तिवादिन्य इव नेतव्या इति।

इस विषय की कौन सी श्रुति है? सो बतलाने हे-कि-"मृष्टि के पूर्व यह जगत् अव्यक्त था, जिज्ञासा हुई कि-उस समय था क्या? वे सारे ऋषि थे, वे ऋषि कौन हैं? प्राण ही ऋषि हैं।" इस श्रुति में जगत् उत्पत्ति के पूर्व, इंद्रियों का अस्तित्व सुना जाता है। प्राण शब्द के बहुवचन के प्रयोग से, इंद्रियों का अर्थ निश्चित होता है। "वायु और अंतरिक्ष दोनों अमृत हैं "ज्ञात होता है कि वायु अविनाशी देवता है "इत्यादि श्रुतियों की तरह उक्त श्रुति का चिरस्यापित्व अर्थ नहीं किया जा सकता, क्योंकि-"मृष्टि के पूर्व यह सब अव्यक्त था इत्यादि से समस्त जगत् के प्रलय काल में भी, प्राणों की उपस्थिति इनमें बतलाई गई है। प्राणों की उत्पत्ति बतलाने वाली श्रुतियों को, जीवोत्पत्ति बतलाने वाली श्रुतियों के अनुसार ही मानना चाहिए।

सिद्धान्ता-एवं प्राप्तेऽभिधीयते-विषदादिवदेव प्राणारचोत्पद्यते, कुतः? "तदेव सोम्येदमग्र मासीत्" प्रात्मा वा इदमेक एवाग्रासीत् "इत्यादियु प्राक्स्पष्टेरेकत्वावधारणात्" एतस्मात्प्रापते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" इतीन्द्रियाणामुत्पत्ति ध्वषणाच्च प्रागवस्थानासंभवात्।

नचात्मोत्पत्तिवादवदिन्द्रयोत्पत्तिवादाः परिणेतुं शक्याः,
आत्मवदुत्पत्ति प्रतिषेधश्रुतीनां नित्यत्वे श्रुतीनां चादर्शनात् ।

उक्त पक्ष के उत्तर में सिद्धान्त उपस्थित करते हैं कि-आकाश आदि की तरह प्राणों की भी उत्पत्ति होती है, ऐसा "हे सौम्य । सृष्टि के पूर्व एकमात्र सत् ही का ! आत्मा ही एकमात्र का ! इत्यादि सृष्टि के पूर्व एक ही वस्तु की सरता के वर्णन से ही, निश्चित होता है । तथा "इसी से प्राण, मन और इंद्रियां हुईं" इत्यादि में स्पष्ट रूप से बतलाई गईं श्रुतियों की उत्पत्ति के वर्णन से भी, ऐसा ही निश्चित होता है कि- इंद्रियां सृष्टि के पूर्व नहीं थीं । जीवोत्पत्ति की प्रतिपादक श्रुतियों की तरह, इंद्रियों की उत्पत्ति प्रतिपादिका श्रुतियों का तात्पर्य हो, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि-आत्मा की तरह इंद्रियों की उत्पत्ति और नित्यता को बतलाने वाली, एक भी श्रुति नहीं मिलती ।

"असद् वा इदमग्र आसीत्" इत्यादि वाक्येऽपि प्राणशब्देन परमात्मैव निर्दिश्यते । "सर्वाणि हवा इमानिभूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युच्चिहते" इति प्राणशब्दस्य परमान्यपि प्रसिद्धेः । "प्राणा वा ऋषयः" इति ऋषि शब्दश्च सर्वज्ञ तस्मिन्नेव युज्यते । न त्वचेतनेष्विन्द्रियेषु ।

"असत् वा" इत्यादि उपर्युक्त वाक्य में भी प्राण शब्द से परमात्मा का ही निर्देश किया गया है । "ये सारे नूत समुदाय प्राण में ही प्रवेश करते हैं तथा प्राणों से ही निर्गमन करते हैं" इत्यादि वाक्य में प्राण शब्द का, परमात्मा अर्थ ही प्रसिद्ध है । "प्राणा वा ऋषयः" में कहे ऋषि शब्द से भी, सर्वज्ञ उसपरमात्मा का अर्थ करना ही युक्ति संगत होगा । अचेतन इंद्रिय परक अर्थ करना युक्ति संगत नहीं है ।

ऋषयः प्राणाः, इति बहुवचन श्रुतिः कथमुपपद्यत इति चेत् तत्राह—

ऋषयः प्राणाः इस बहुवचनात् श्रुति की संगति कैसे होगी? इस संशय का उत्तर देते हैं—

गौप्य संभवात्तत्राकच्छुतेश्च ।२।४।२॥

बहुवचन श्रुतिगौणी, बहुवचनसंभवात् तस्यैवपरमात्मनः सृष्टेः प्रागवस्थानुश्रुतेरेव ।

ब्रह्म के लिए बहुवचन का प्रयोग असंभव है, इसलिए बहुवचन का प्रयोग गौण मानना चाहिए, परमात्मा की सृष्टि-पूर्विका स्थिति को बतलाने वाली 'सोम्येदमग्र' इत्यादि श्रुति से ही ऐसा निश्चित होता है। वही प्रधान श्रुति है।

तत्पूर्वकत्वाद्वाचः ।२।४।३॥

इतश्च प्राणशब्दः परमात्मावचनः, वाचः परमात्मव्यतिरिक्त विषयस्य नामधेयस्य वाग्विषय भूतवियदादिसृष्टि पूर्वकत्वात् । "तद् हि इदं तर्हि अव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत" इति नामरूपभाजामभावात्तदानीं वागादीन्द्रिय कार्याभावाच्चतानि न संतीत्यर्थः ।

इसलिए भी प्राण शब्द परमात्मा वाची है कि-परमात्मा से भिन्न आकाश आदि की सृष्टि के बाद ही, उनका नाम करण हुआ है (इससे यह सिद्ध होता है कि-प्राण शब्द का इंद्रिय परक नाम भी बाद में ही पड़ा है) "यद् जगत् सृष्टि के पूर्व अव्यक्त था, वही, नामरूप वाला हुआ" इत्यादि वर्णन से ज्ञात होता है कि-सृष्टि के पूर्व नाम रूप वाला कुछ नहीं था, वागादि इंद्रियों के कार्य का भी अभाव था, इसलिए वो नहीं पों।

२. सप्तगत्याधिकरणः—

सप्तगतेविशेषितत्वाच्च ।२।४।४॥

तानि इंद्रियाणि किं सप्तैव स्युः, उत एकादशेति ? चिन्त्यते । श्रुति विप्रतिपत्तेः संशयः । किं प्राप्तम् ? सप्तेति । कुतः ? गतेविशेषितत्वाच्च । गतिस्तावज्जायमानेन म्रियमाणेन न जीवेन

सह लोकेषु संचरण रूपा सप्तानामेव श्रूयते "सप्त इमे लोका
 येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त इति" । वीप्सा
 पुरुष भेदाभिप्राया विशेषिताश्चते गतिमंतः प्राणाः स्वरूपतः"
 यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह, बुद्धिश्च न विचेष्टेत
 तामाहुः परमां गतिम्" इति । शरीरान्तः संचरणं विहाय मोक्षार्थ-
 गमन परमा गति । एवं जीवेन सह जन्म मरणयोः सप्तानामेव
 गति श्रवणात् योगदशायां ज्ञानानीति विशेषितत्वाच्च जीवस्य कर
 णानि श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वा घ्राणबुद्धिर्मानसि सप्तैवेति गम्यते । यानि
 त्वितराणि विषयाणां ग्राहकत्वेन "अष्टौ ग्रहाः" सप्तवै शीर्षण्याः
 प्राणाः द्वाववांचौ" इत्यादिषु चतुर्दश पर्यन्तानि प्राण प्रतिपादक
 वाक्येषु वाक्याणि पादपायूपस्थाहंकारचित्ताख्यानि इन्द्रियाणि
 प्रतीयन्ते, तेषां जीवेन सह गतिश्रवणाभावज्जीवस्थाल्पापकारकत्व-
 मात्रेणौपचारिकः प्राणव्यपदेशः ।

इन्द्रियां सात है या ग्यारह ? इस पर विचार करते हैं-श्रुतियों
 में दोनों मतों का उल्लेख है इसलिए संशय होता है । गति और
 विशेषोक्ति से तो सात ही प्रतीत होती हैं । जायमान और प्रियमाण जीव
 के साथ लोकों में भ्रमण करने वाली सात का ही वर्णन मिलता है- जैसे
 कि-"ये सात लोक (इन्द्रियों के सात द्वार उसी से उत्पन्न होते हैं) जिनमें
 प्राण विचरते हैं, हृदय की गुहा में शयन करने वाले ये, सात सात के
 समुदाय सभी में स्थित हैं । निम्न निम्न अर्थ के द्योतन के लिए, सप्त पद
 की वीप्सा की गई है । जब, जानेन्द्रियां मन के साथ स्थिर होकर बुद्धि
 को भी स्थिर करती हैं, उसे ही योगी लोग, परमगति कहते हैं । इस
 प्रकार गति शील प्राणों का स्वरूप, विशेष रूप से बतलाया गया है ।
 परम गति का अर्थ है, शरीर के अंदर संचरण का परित्याग करते हुए,
 मोक्ष की ओर अभिमुख होना । ऐसे मुमुक्षु जीव के साथ सातों की गति
 सुनी जाती है । "ज्ञानानि" विशेषण होने से कर्ण' त्वक्, चक्षु- जिह्वा,
 घ्राण, बुद्धि, मन आदि सात की ही, योग दशा में स्थिति रहती है ऐसा

प्रतीत होता है, अर्थात् ये सात ही जीव की क्रिया साधिका हैं। "इसके अतिरिक्त और जो प्राण प्रतिपादक आठ ग्रह हैं, उनमें सात शीर्ष स्थानीय, दो अधो स्थानीय हैं" इत्यादि वाक्यों में चौदह इन्द्रियों का वर्णन मिलता है, जिसमें वाक् पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, अहकार और चित्त इत्यादि सात का भी इन्द्रियत्व ज्ञात होता है, किन्तु इन सब की जीव के साधनगति का उल्लेख नहीं मिलता। जीव की, बहुत अल्प परिमाण में गति का होने से, इन सबका भी गौण रूप में, प्राणशब्द से व्यवहार किया गया है।

सिद्धान्तः— इति प्राप्ते प्रचक्ष्महे—

इस मत पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं—

हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् ।२।४।५॥

न सप्तचेन्द्रियाणि, अपित्वेकादश, हस्तादीनामपि शरीरे स्थिते जीवे, तस्यभोगोपकरत्वात्, कार्यभेदाच्च । दृश्यते हिश्रोत्रादीनामिव हस्तादीनामपि कार्य भेद आदानादिः, अतस्तेऽपि संत्येव । अतो नैवम्-अतो हस्तादयो न संतीत्येवं न मंतव्याभिन्वयः । अव्यवसायाभिमान चिन्तावृत्तिभेदान्मन एव बुद्धयहकार चित्तशब्दैव्यंपदिश्यत, इत्येकादशेन्द्रियाणि । अतः "दशमे पुत्र्ये प्राणाः, आत्मैकादशः "इति आत्मशब्देन मनोऽभिधीयते । इन्द्रियाणिराकं च पंच चेन्द्रिय गोचराः" तैजसानोन्द्रियाण्याहुर्देवावैकारिका दश, एकादशमनश्चात्र "इत्यादिश्रुतिस्मृतिसिद्धेन्द्रिय संख्या स्थिता । अधिक संख्यावादाः, मनोवृत्तिभेदाभिप्राया न्यूनव्यपदेशास्तु तत्र तत्र विवक्षितगमनादिकार्य विशेष प्रयुक्ताः ।

सात ही इन्द्रिया नहीं हैं, अपितु ग्यारह हैं हस्त आदि इन्द्रियां भी शरीर में स्थित जीव के भोग का कार्य संपादन करती हैं, ज्ञान इन्द्रियों से इनके कार्य में भी भेद रहता है। कान आदि इन्द्रियों की तरह हाथ आदि इन्द्रियां भी, पकड़ना आदि कोई न कोई उपयोगी कार्य करती हैं। हाथ आदि नहीं हैं, ऐसा कहना ठीक नहीं है। अव्यवसाय (निश्चय)

अभिमान और चिन्तन आदि वृत्तियों के भेद से, मन ही- बुद्धि, अहंकार और चित्त नाम से व्यवहृत होता है। इसलिए इन्द्रियाँ ग्यारह ही हैं। “जीव में दश प्राण और ग्यारहवाँ आत्मा है “इस वाक्य में आत्मा शब्द मन के लिये प्रयोग किया गया है। “इन्द्रियाँ दस और एक ग्यारह हैं, और इन्द्रियों के पांच विषय हैं” इन्द्रियों को तैजस (राजस) कहा गया है, उनके अधिष्ठाता दस देवताओं को वैकारिक (सात्त्विक) कहा गया है, मन ग्यारहवाँ है” इत्यादि श्रुतिस्मृति वाक्यों से इन्द्रियों की संख्या ग्यारह ही निश्चित होती है अधिक संख्या बतलाने वाले वाक्य, मनोवृत्ति के बोधक हैं तथा कम संख्या बतलाने वाले वाक्य, गमन आदि कार्य भेद के बोधक हैं।

३. प्राणाऽणुत्वाधिकरण—

अणवश्च ।२।४।६॥

“त एते सर्वे एव समाः सर्वेऽनन्ताः” इत्यान्त्य श्रवणाद-
विभुत्वं प्राणानाम् । एवं प्राप्तेऽभिधीयते” प्राणमनूत्क्रांतं सर्वे प्राणा
अनुत्क्रामति “इत्युत्क्रांत्यादि श्रवणात् परिमितत्वे सिद्धे सत्युत्-
क्रान्त्यादिषु पार्श्वस्थैरनुपलभ्यमानत्वादणवश्च प्राणाः । प्रान्त्ये
श्रुतिस्तु” अथ यो हैतानंतानुपास्ते” इत्युपासन श्रवणादुपास्य प्राण
विशेषण भूत कार्ये बाहुल्याभिप्रायाः ।

“ये इन्द्रियाँ सभी समान और अनंत हैं” इत्यादि में इन्द्रियों की अनंतता बतलाई गई है, इसलिए, ये इन्द्रियाँ विभु हैं। इस संशय पर भ्रमना मत बतलाते हैं कि-“ प्राण पर अनुगमन करने पर सारे ही प्राण अनुगमन करते हैं “ऐसे उत्क्रांति के वर्णन से इनकी परिमिति सिद्ध होती है, निकट में उपस्थित व्यक्ति भी इनकी उत्क्रांति आदि को नहीं जान पाते इसलिये ये प्रणु ही हैं अनंतता को बतलाने वाली श्रुति “जो इन अनंत प्राणों की उपासना करते हैं” इत्यादि से उपासना विधान बतलाया है, इसीलिए उपास्य प्राण में भेदता सूचक बहुवचन का प्रयोग किया गया है।

श्रेष्ठश्च ।२।४।७॥

प्राण संवादे शरीरस्थिति हेतुत्वेन श्रेष्ठतया निर्णीतो मुख्य प्राणः "आनीदवातं स्वधया तदेकं "इति महाप्रलय समयेस्वकार्यभूत प्राणतः सद्भाव श्रवणात् "एतस्माज्जायते" इति जन्मश्रवणस्थ जीवजन्मश्रवणवदुपपत्तेर्नोत्पद्यत इत्याशक्य प्राक्सृष्टेरेकत्वावधारणादि विरोधात् "एतस्माज्जायते प्राणः" इति पृथिव्यादितुल्योत्पत्ति श्रवणात्, उत्पत्ति निषेधाभावाच्च, जायत एवश्रेष्ठश्च प्राण इत्युच्यते । "आनीदवातम्" इति तु न जैवं श्रेष्ठम् प्राणमभिप्रेत्योच्यते, अपितु परस्य ब्रह्मण एकस्यैव विद्यमानत्वमुच्यते । "अवातम्" इति तत्रैव श्रवणात् । पुर्वेणैवतुल्यन्यायत्वेऽपि पृथग् योगिकरणमुत्तरचिन्तार्थम् ।

छांदोग्य में प्राण संवाद के प्रस्ताव में, पंचवृत्ति विशिष्ट मुख्य प्राण ही, शरीर स्थिति के श्रेष्ठ कारण बतलाये गए हैं । "वायुहीन स्वधा सहित एक प्राण ही था" इस वाक्य में महा प्रलय के समय भी मुख्य प्राण का अस्तित्व माना गया है । अतः "एतस्माज्जायते" इत्यादि प्राणोत्पत्ति बोधक श्रुति को भी जीवोत्पत्ति श्रुति की तरह गौणार्थ कह सकते हैं-इस पर कहते हैं कि-श्रेष्ठ प्राण निश्चित ही उत्पन्न होता है-ऐसा न मानने से सृष्टि पूर्व की अर्द्धतस्थिति से विरोध होता है । "एतस्माज्जायते" इत्यादि श्रुति पृथ्वी आदि द्रव्यों की तरह, प्राण की उत्पत्ति का भी कथन करती है, उत्पत्ति के निषेधपरक वाक्यों का कहीं अभाव नहीं है, इससे सिद्ध होता है कि-श्रेष्ठ प्राण की उत्पत्ति होती है । "आनीदवातम्" वाक्य श्रेष्ठ जीववाची प्राण का बोधक नहीं है, अपितु-एकमात्र परब्रह्म की विद्यमानता का द्योतक है । इसमें जो "अवातम्" विशेषण दिया गया है, वही उक्त बात की पुष्टि करता है । [क्योंकि-प्राण तो वायुरूप ही है] ।

४ वायुक्रियाधिकारणः—

न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ।२।४।८॥

सोऽयं श्रेष्ठः प्राणः किं महानूतद्वितीयवायुमात्रम्, तस्य

वा स्पंदनरूपक्रिया, अथवा वायुरेव कंचन विशेषमापन्नः, इति विशये वायुरेवेति प्राप्तम् “यः प्राणः स वायुः” इति व्यपदेशात् । यद् वा वायुमात्रे प्राणत्व प्रसिद्धं य भावादुच्छ्वासनिश्वासादि वायुक्रियाया प्राणशब्द प्रसिद्धेश्च तत् क्रियैव ।

वह श्रेष्ठ प्राण, पंचभूतों में द्वितीय स्थानीय वायुमात्र है, अथवा वायु की स्पंदनात्मक क्रियामात्र है, अथवा अन्य किसी प्रकार की वायु की अवस्था विशेष है? इस संशय पर-वायु ही है ऐसा “जो वायु है वही प्राण है” इत्यादि से निश्चित होता है । अथवा-केवल वायु को ही, प्राण कहा नहीं गया है अपितुश्वास-प्रश्वास रूप क्रिया को प्राण कहा गया है, इसलिए प्राण शब्द उक्त क्रिया विशेष का ही वाचक है ।

सिद्धान्तः-इति प्राप्तेन-वायुमात्रम्, न च तत्क्रियेत्युच्यते, कुतः? पृथगुपदेशात्-“एतस्माच्चायते प्राणो मनः सवेन्द्रियाणि च रवं वायुः” इति तत् एव पृथगुपदेशात् वायुक्रियापि न भवति प्राणः, न हि तेजः प्रभृतीनां क्रिया तैः सहप्रथग् द्रव्यतयापदिश्यते “यः प्राणः सः वायुः” इति तु वायुरेवावस्थान्तरमापन्नः प्राणः न तेजः प्रभृतिवत्त्वान्तरमितिज्ञापनार्थम् । उच्छ्वासविश्वासादावपि प्राणः स्पन्दत इति क्रियावति द्रव्य एव प्राण शब्द प्रसिद्धिः, एव न क्रियामात्रे ।

इस पर कहते हैं कि-न वायुमात्र ही है, उसकी न क्रिया ही है, क्योंकि-प्राण और वायु दोनों का पृथक् उल्लेख किया गया है-“इससे प्राण, मन, इन्द्रियां स और आकाश होते हैं” इत्यादि में प्राण और वायु का पृथक् पृथक् स्पष्ट उल्लेख है, इसलिए वायु या वायु की क्रिया रूप प्राण नहीं है । तेज आदि की क्रियाओं का कही पृथक् उल्लेख मिलता भी नहीं । “जो प्राण है, वही वायु है” इत्यादि में दिखलाया गया है कि-वायु ही निम्न अवस्था को प्राप्त प्राण है, तेज आदि की तरह, प्राण कोई निम्न तत्त्व नहीं है, इसी बात के ज्ञापन के लिए ही ऐसा कहा गया है । उच्छ्वास प्रश्वास में भी “प्राण स्पंदन करते हैं” ऐसे क्रियावान् द्रव्य की ही, प्राण शब्द से प्रसिद्धि बतलाई गई है, क्रियामात्र की नहीं । -

किमयं प्राणो वायोश्चिकारः सन्नग्निवदभूतान्तरम्? नेत्याह-

यह प्राण, वायु का विकार रूप से अग्नि की तरह एक स्वतंत्र भूत नहीं हो सकता इसको बतजाते हैं-

चक्षुरादिवत्, तत्सहसृष्ट्यादिभ्यः । २।४।६॥

नायं भूतविशेषः, अपितु चक्षुरादिवच्चोपकरणविशेषः । तच्चोपकरणत्रभुक्करणभूतैरिन्द्रियैः सह शिष्ट्यादिभ्योऽवगम्यते । चक्षुरादिभिस्सहायं प्राणः शिष्यते, प्राणसंवादादिषु तत् सजातीयत्वे हि तैः सहशासनं यज्यते । प्राणशब्द परिगृहीतेषु करणेष्वस्य विशिष्याभिधानमादिशब्दे गृह्यते "अयह य एवायं मुख्य प्राणः" योऽयंमध्यमः प्राणः इत्यादिषु विशिष्याभिधानात् ।

यह प्राण, भूत-विशेष वायु नहीं है । अपितु नेत्र आदि की तरह जीव का उपकरण विशेष है । उपकरण भूत इन्द्रियों के साथ इसकी भी उपकरणता, शास्त्रोपदेशों से ही ज्ञात होती है । प्राण संवाद आदि प्रकरण में, नेत्र आदि के साथ ही, इस प्राण का भी एक साथ उल्लेख किया गया है इन्द्रियों का सजातीय होने से, इसका एक साथ उल्लेख होना उपयुक्त भी है । प्राण शब्द से कही जाने वाली इन्द्रियों में इसका विशिष्ट स्थान है, यही सूत्रस्व आदि शब्द का तात्पर्य है । "यही मुख्य प्राण है" यही मध्यम प्राण है " इत्यादि वाक्यों में, विशिष्ट रूप से इसका उल्लेख मिलता है ।

चक्षुरादितदस्यापि करणत्वे तदवदत्यापि जीवं प्रत्युपकार विशेषरूप क्रियाया भवितव्यम् । सातु न दुरपते, प्रतो नायं चक्षुरादिवद भवितुमर्हतीति चेत्-उवाह-

यदि कही कि- नेत्र आदि की तरह इसे भी कारण नहीं मान सकते, क्यों कि- जीव के लिए, नेत्र आदि से जो विशेष विशेष उपकार रूप क्रियाएँ होती हैं, वो प्राण में तो पाई नहीं जाती, इसलिए प्राण कभी नेत्र आदि की तरह, उपकरण नहीं हो सकता । इस पर कहते हैं

अकरणत्वाच्च न दोषस्तथा हि दर्शयति । २।४।१०॥

अकरणत्वात्-करणं क्रिया, अक्रियत्वात् अस्य प्राणस्य जीवं प्रत्युपकार विशेषरूपक्रिया रहितत्वाच्च यो दोष उदभाष्यते, स नास्ति, यत् उपकारविशेषरूपां शरीरेन्द्रियधारणादिरूपां क्रियां दर्शयति श्रुतिः "यस्मिनुत्क्रान्ते इदं शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्यते सवः श्रेष्ठः" इत्युक्त्वा वागाद्युत्क्रमणेषु शरीरस्वेन्द्रियाणां च स्थितिं दर्शयित्वा प्राणोत्क्रमणे शरीरेन्द्रियशैथिल्याभिधानात् । अतः प्राणापानव्यानोदानसमानाकारेण पंचधाऽवस्थितोऽयं प्राणः शरीरेन्द्रियधारणादिना जीवस्योपकरोतीति चक्षुरादिवत्त्वकरणत्वम् ।

कारण का अर्थ क्रिया है, क्रिया राहित्य ही इसका हेतु है, अर्थात् जीव के प्रति, इस मुख्य प्राण की, किसी प्रकार की उपकरण साधन रूप क्रिया नहीं होती, जो यह दोषारोपण किया जाता है, यह अरोप ठीक नहीं, क्यों कि-श्रुति ही शरीर और इन्द्रियों को धारण करना आदि, प्राणकृत, उपकार विशेषों का उल्लेख करती है - "जिसके निकल जाने पर यह शरीर अतिपापी की तरह दीखने लगता है, वह श्रेष्ठ प्राण ही है "ऐसा कह कर वाक् आदि इन्द्रियों के उत्क्रमण करने पर भी शरीर की अवस्थिति बतलाकर; प्राणोत्क्रमण करने पर ही शरीर और इन्द्रियों की शिथिलता बतलाई गई है । इसलिये, प्राण अपान-उदान-व्यान समान आदि पांच रूपों में विभक्त यह प्राण, शरीर इन्द्रिय आदि को धारण पोषण करने वाला, नेत्र आदि की तरह ही उपकारी साधन है ।

नन्वेवं नामभेदात् कार्यभेदाच्च प्राणापानादयः तत्त्वान्तराणि

स्युः, तत्राह-

नामगत एवं कार्यगत भेद होने से, प्राण आदि पांचों पृथक् पृथक् प्रतीत होते हैं ? इस संयम पर कहते हैं-

पंचैवृत्तिर्भेदोऽन्यपदिश्यते । २।४।११॥

प्रथा कामादि वृत्ति भेदे तत्कार्यभेदेषु न कामादिकं मनसः तत्त्वान्तरं "कामःसंकल्पोविचिकित्साश्रद्धाऽभ्रडाघृतिरधृतिह्रीर्धोभी-

रित्येतत्सर्वं मन एव' इति वचनात् । एवं "प्राणापानोदान-
व्यानसमाना. इत्येतत् सर्वं प्राण एव" इति वचनात् अपानादयोऽपि
प्राणस्यैव वृत्ति विशेषाः न तत्त्वांतरमित्यवगम्यते ।

जैसे कि-कामादिवृत्तियों के भेद होने से, काम आदि, मन से पृथक्
नहीं माने जाते "काम-सरूप-विविकित्सा-श्रद्धा-अश्रद्धा-धृति-प्रवृत्ति
ह्री-धी-भो-आदि सभी मन हैं" इत्यादि से ऐसा ज्ञात होना है । वैसे
ही—"प्राण-अपान-उदान-व्यान-समान आदि सब प्राण ही हैं"
इत्यादि से अपान आदि सभी, प्राण की ही वृत्ति सिद्ध होते हैं, भिन्न नहीं
ज्ञात होते ।

अणुश्च १२।४।१२॥

अणुश्चायम् पूर्ववदुत्क्रांत्यादि श्रवणात् "समत्क्रामंते प्राणोऽनु-
त्क्रामति" इत्यादिषु । अधिकारांशं तु "समएभिस्त्रिभिर्लोकैः समोऽ-
नेन सर्वेण "प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्" सर्वं हीदं प्राणेनावृत्तम् इत्यादि
श्रवणात् महापरिमाण इति ।

ये प्राण भी अणु परिमाण वाला है, पूर्व की तरह इसके भी उत्क्र-
मण का वर्णन मिलता है "उस जीवात्मा के उत्क्रमण करने पर प्राण भी
उत्क्रमण करते हैं" इत्यादि । विशेष शंका ये होती है कि "प्राण, इस
त्रिलोकी के समान हैं, और सबके समान हैं" "प्राणों में ही सब स्थिति" है
ये सब कुछ प्राण से ही आवृत है, इत्यादि श्रुतियों से तो, प्राण, महा
परिमाण का प्रतीत होता है ।

(सिद्धांत) परिहारस्तु- उत्क्रांत्यादिश्रवणात् परिच्छिन्नत्वे
निश्चिते सर्वस्य प्राणिजातस्य प्राणायत्तस्थितित्वेन वैभववादोप-
पत्तिः इति

उक्त शंका का परिहार करते हैं कि-उत्क्रमण आदि से प्राण की
परिमिति निश्चित हो जाती है, प्राणिमात्र की स्थिति प्राणाधीन है, इस
तथ्य को बतलाने के लिए ही प्राण की प्रभुता बतलाई गई है ।

६ ज्योतिराद्यधिष्ठानाधिकरण :-

ज्योतिराद्यधिष्ठानंतु तदामननात्प्राणवता शब्दात् । २।४।१३॥

सर्वश्रेष्ठानां प्राणानां ब्रह्मउत्पत्ति इयता परिमाणं चोक्तम् । तेषां प्राणानामग्न्यादिदेवताधिष्ठितत्वं च पूर्वमेव । “अभिमानव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्” इत्यनेन सूत्रेण प्रसंगादुपपादितम्, जीवस्य च स्वभोगसाधनानामेषामधिष्ठातृत्वं लोकसिद्धम् “एवमेवैष एतान् प्राणान् गृहीत्वा स्वेशरीरे यथाकामपरिवर्त्ति” इत्यादि श्रुति सिद्धञ्च । तदिदं जीवस्य अग्न्यादिदेवतानां च प्राणविषयमधिष्ठानं किं स्वायत्तं उत परमात्मवत्वमिति? विशये नैरपेक्ष्यात्स्वायत्तम् ।

मुख्य प्राण सहित समस्त प्राणों की उत्पत्ति ब्रह्म से बतला कर उनका परिमाण निश्चित किया गया । उन प्राणों की अग्निआदि देवताओं से अधिष्ठातृता भी “अभिमान व्यपदेशस्तु” सूत्र से प्रसंगतः बतलाई गई । इन प्राणों की, जीवाधिष्ठातृता तो, भोग साधन रूप से लोक व्यवहार में प्रसिद्ध ही है तथा “यह जीव इन प्राणों के आश्रय से अपने शरीर में यद्येष्ट भोगों की अनुभूति करता है” इत्यादि श्रुतियों से भी सिद्ध है । इस जीव का अग्निआदि देवताओं का जो प्राणविषयक अधिष्ठान है, वह स्वायत्त है अथवा परमात्मायत्त? इस विषय में कहते हैं कि—जीव को अपने यद्येष्ट भोगों में परमात्मा की अपेक्षा दृष्टिगत नहीं होती, इसलिए स्वायत्त ही है ।

सिद्धान्त.—इति—प्राप्ते—उच्यते—ज्योतिराद्यधिष्ठानमिति । प्राणवता जीवेन सह, ज्योतिरादीनामग्न्यादिदेवतानां प्राणविषयमधिष्ठानं, तदामननात् तस्य परमात्मनः, आमननाद् भवति । आमननं आभिमुख्येन मनन, परमात्मनः संकल्पादेव भवतीत्यर्थः । कुतएतत्? शब्दात्—इन्द्रियाणां साभिमानदेवतानां जीवात्मनश्च स्वकार्येषु परम पुरुषमननायत्तत्वं शास्त्रात् ।

यथान्तर्गामिब्राह्मणादियु "योऽग्नीं तिष्ठन् अग्नेस्तरो यमग्निं वेद
 यस्याग्निः शरीरं योऽग्निमंतरो यमयति सत आत्मान्तर्गाम्यमृतः" "यो
 वायो तिष्ठन्" यो आदित्येतिष्ठन्" यो आत्मनि तिष्ठन्" यश्चक्षुषि
 तिष्ठन्" इत्यादि । यथा च- "भीषास्माद् वातः पवते भीषो देति
 सूर्यः, भीषास्माद् अग्निश्चन्द्रश्च, मृत्युर्धावति पंचमः" इति ।
 तथा- "एतस्य वाऽक्षरस्य प्रशासने गार्गी । सूर्याचंद्रमसी विधृतौः
 तिष्ठतः" "इत्यादि ।

उक्त संशय पर कहते कि- प्राणवान जीव के साथ, ज्योति आदि
 देवताओं का जो प्राण विषयक अधिष्ठान है, वह परमात्मा के आमनन से
 होता है । अभिमुख्य मनन को आमनन कहते हैं, अर्थात् परमात्मा के
 सकल्प से होता है, ऐसा शास्त्र से ही ज्ञात होता है । इंद्रिय और इंद्रिया-
 भिमानी देवताओं तथा जीवात्मा के अपने अपने कार्यों में परमपुरुष
 परमात्मा की, इच्छा शक्ति की ही प्रेरणा रहती है, ऐसा शास्त्र का मत
 है । जैसा कि-अन्तर्गामी ब्राह्मणादि का ध्यान है- "जो अग्नि में स्थित
 होकर भी अग्नि से भिन्न है, अग्नि उन्हें नहीं जानता, अग्नि ही उसका
 शरीर है वे अग्नि का अंतर्गामी रूप से शासन करते हैं वे अंतर्गामी
 परमात्मा अमृत हैं" जो वायु में स्थित "जो सूर्य में स्थित "जो आत्मा में
 स्थित" जो नेत्रों में स्थित" इत्यादि । और भी जैसे- "इनके भय से वायु
 चलता है, इनके भय से सूर्य उदय होता है, इनके भय से अग्नि, चंद्र और
 पांचवा मृत्यु भी दौड़ता है" तथा- "हे गार्गी ! इनके प्रशासन में सूर्य और
 चंद्र स्थिर हैं । इत्यादि ।

तस्य च नित्यत्वात् । २।४।१४॥

सर्वेषां परमात्माधिष्ठितत्वस्य नित्यत्वात् स्वरूपानुबंधित्वेन
 नियतत्वाच्च तत्संकल्पादेवैषामधिष्ठितत्वमवर्जनीयम् । "तत्
 सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् तदनुप्रविश्य सच्चत्यच्चाभवत्" इत्यादिना
 परमपुरुषस्य नियंतृत्वेन सर्वेचिदचिदवस्तुमनुप्रवेशः स्वरूपानुबंधो

ध्रुयते, स्मर्यते च—“विष्टम्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्”
इति ।

सभी का परमात्मा के साथ जो अधिष्ठान है, वह नित्य है, अर्थात् परमात्मा, जीवात्मा आदि के अंतःकरण में निश्चित स्थित हैं, तथा उन्हीं के संकल्प से साग कार्य जीवादि कर पाते हैं, इससे परमात्मा का अधिष्ठान अनिवार्य सिद्ध होता है । “उसकी रचना कर उसी में प्रविष्ट हो गए, उसमें प्रवेश करके सत् और त्यत् हुए” इत्यादि वाक्यों में, परम पुरुष से नियंत्रित समस्त जड़चेतन में अनुप्रवेश स्वरूपानुबंधी (वास्तविक रूप से अभिन्न रूपवाला) कहा गया है । जसा कि— स्मृति में भी—‘में एकांश से सारे जगत में परिव्याप्त हूँ । इत्यादि,

७ इन्द्रियाधिकरणः—

त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् । २।४।१५॥

कि सर्वे प्राण शब्दनिदिष्टा इन्द्रियाणि, उत श्रेष्ठ प्राणव्यतिरिक्ता एवेति विशये प्राणशब्दवाच्यत्वात्, करणत्वाच्च सर्वं एवेन्द्रियाणि ।

एवं प्राप्ते उच्यते—श्रेष्ठ व्यतिरिक्ता एव प्राणा इन्द्रियाणि कुतः? श्रेष्ठादन्येष्वेव प्राणेषु तद्व्यपदेशात्—“इन्द्रियाणि दरीकं च पंचर्चेन्द्रिय गोचराः” इत्यादिभिर्हि चक्षुरादिषु समनस्केष्वेव इन्द्रियशब्दो व्यपदिश्यते ।

शंका की जाती है कि—सारे ही प्राण इन्द्रियवाची हैं अथवा श्रेष्ठ प्राण के अतिरिक्त अन्य प्राण इन्द्रिय वाची है? इस पर कहते हैं कि—सभी प्राण इन्द्रियवाची हैं भोग के साधन होने से ये इन्द्रियवाची हैं ।

इसका समाधान करते हैं कि—श्रेष्ठ प्राण से अतिरिक्त प्राण ही इन्द्रियवाची हैं, श्रेष्ठ से अन्य प्राणों के लिए ही, इन्द्रियरूप से उल्लेख मिलता है—“इन्द्रियाँ ग्यारह हैं तथा पांच उनके विषय हैं” इत्यादि वाक्यों में चक्षु आदि दस और मन को ही इन्द्रिय कहा गया है ।

ब्रह्मणः, इत्युक्तपुरस्तात् । जीवानांवेन्द्रियाधिष्ठानं च परायत्तमितिचानतरं स्थिरीकरणाय स्मारितम् । यातिवयं नामरूपव्याकरणात्मिकाप्रपञ्चव्यष्टिसृष्टिः, सा किं समष्टि जीवरूपस्य हिरण्यगर्भस्यैव कर्म, उत्तेजः प्रभृतिशरीरकस्य परस्यावादिसृष्टिवद् हिरण्यगर्भशरीरकस्य परस्य ब्रह्मणः? इदानीं चिन्त्यते ।

भूतों और इंद्रियों की समष्टि सृष्टि तथा जीवों का कर्तृत्व परमात्मा के अधीन है, ऐसा पहिले ही कह चुके हैं । जीवों की अपनी इंद्रियों की अधिष्ठातृता भी परमात्मायत्त है, इसे बतलाते हुए पुनः उक्त मत को ही दृढ़ किया गया । अब विचार किया जाता है कि—जो यह नामरूपवाली प्रपञ्च व्यष्टि सृष्टि है, वह समष्टि रूप हिरण्यगर्भ की कृति है, अथवा हिरण्यगर्भ के शरीरी परमात्मा की सृष्टि है?

किं युक्तम्? समष्टि जीवस्येति, कुतः? “अनेन जीवेनात्मनाऽनु-प्रविश्य नामरूपेव्याकरवाणि” इति जीवकर्तृत्वश्रवणात्, न हि परादेवता स्वेनरूपेण नामरूपे व्याकरवाणीत्यैक्षत, अपितुस्वांशभूतेन जीवरूपेण “अनेन जीवेनाऽत्मना” इति दघनात् ।

उक्त संशय पर, समष्टि जीव का ही कर्तृत्व समझ में आता है, क्योंकि—“जीव रूप से प्रवेश करके नामरूप को व्यक्त करूंगा” इस श्रुति में जीव कर्तृत्व ही प्रतीत होता है । परमात्मा स्वयं ही नामरूप में व्यक्त होने की इच्छा नहीं कर सकते, अपितु अपने अंश रूप जीव से ही, इच्छा करते हैं, ऐसा “अनेन जीवेनात्मना” पद से परिलक्षित हो रहा है ।

नन्वेवं चारेणानुप्रविश्य परबलं संकलयानीतिवत् “व्याकरवाणि” इत्युक्तमपुरुषः कर्तृत्वस्य क्रियरत्नं प्रविशति साक्षणिकः स्यात् । नैवम्—तत्रराजचारयोः स्वरूपभेदालाक्षणिकत्वं, इह तु जीवस्यापि स्वांशत्वेन स्वरूपस्वात्तेन रूपेण प्रवेशो व्याकरणं चात्मन एवेति न साक्षणिकत्वप्रसंगः । न च सहयोगलक्षण्यं तृतीया,

भिन्नता बतलाई गई है, इसलिए हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) कर्त्ता के ही यह नाम-रूप विक्रिया है ऐसा निश्चित होता है। जैसा कि-स्मृति में-चतुर्मुख कर्त्ता के सृष्टि प्रकरण में-नामरूप के व्याकरण का उल्लेख भी है-“हिरण्यगर्भ ने सृष्टि के प्रथम वैदिक शब्दों के आधार पर देव आदि नूतों के नामरूप तथा कर्त्तव्य विधि सृष्टि की”; इत्यादि।

सिद्धान्तः-एवं प्राप्तेऽभिधीयते-“संज्ञामूर्त्तिकल्पितस्तु” इति तु शब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति, संज्ञामूर्त्तिकल्पितः, नामरूपव्याकरणम् तत् त्रिवृत् कुर्वतः, परस्यैवब्रह्मणः, तस्यैवनामरूपव्याकरणोपदेशात् त्रिवृत्करणं कुर्वत एव हि नामरूपव्याकरणमुपदिश्यते-“सैयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्त्रिलोदेवता अनेन जीवेनाऽऽमनाऽनुप्रविश्य नामरूपेव्याकरवाणि तासां त्रिवृत् त्रिवृत्मेकंकां करवाणि” इति समानकर्त्तृकत्व प्रतीतेः। त्रिवृत् कारणं तु चतुर्मुखस्याण्डान्तर्वन्तिनो न संभवति, त्रिवृत्कृतैः तेजोबन्नेहि षण्डमुत्पाद्यते, चतुर्मुखस्य चाण्डे संभवः स्मर्यते-“तस्मिन्नण्डेऽभवद् ब्रह्मा सर्वलोक पितामहः” इति। अतस्त्रिवृत्करणं परस्यैवब्रह्मणः, तत्समानकर्त्तृकं नामरूप व्याकरणं च तस्यैवेति विज्ञायते।

उक्त कथन पर सूत्र रूप से सिद्धान्त प्रस्तुत किया जाता है-“संज्ञामूर्त्ति” इत्यादि। सूत्र में तु शब्द पूर्व पक्ष के निराकृति का सूचक है। संज्ञामूर्त्तिकल्पित अर्थात् नामरूप का व्याकरण उसको त्रिवृत् करते हुए परब्रह्म से ही संभव है, उसी से नामरूप व्याकरण, त्रिवृत् करते हुए बतलाया गया है-“इस देवता ने संकल्प किया कि-जो यह तीन देवता हैं इनमें जीवात्मरूप से प्रविष्ट होकर नाम रूप की अभिव्यक्ति करें और इन तीनों को तीन-तीन रूपों में व्यक्त करें” इत्यादि में परब्रह्म की ही समान कर्त्ता बतलाई गई है। ब्रह्माण्ड से होने वाले चतुर्मुख ब्रह्मा में त्रिवृत् करण की क्षमता नहीं है, त्रिवृत् कृत पृथ्वी जल और तेज से ही तो ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई है, चतुर्मुख की अण्डोत्पत्ति स्मृति प्रसिद्ध है-“सबके पितामह ब्रह्मा उस ब्रह्माण्ड से हुए” इत्यादि से सिद्ध होता है कि-त्रिवृत् करण परब्रह्म का

पृथ्वी रूप तीन देवता "अनेन जीवेन" -जीवसमष्टि विशिष्ट आत्मा वाले इनमें प्रवेश करके नामरूप की अभिव्यक्ति कहूँगा अर्थात्-देवादि विचित्र सृष्टि और उनका नामकरण कहूँगा। नामरूप की अभिव्यक्ति में, एक दूसरे से संगर्ग हीन, विशिष्ट कार्य रचना में असमर्थ इन तीनों को, पृथक्-पृथक् कार्य सामर्थ्य के लिए तीन तीन कहूँगा। इससे सिद्ध होता है कि-नामरूपाभिव्यक्तीकरण कर्म परब्रह्म परमात्मा का ही है।

अथ स्यात्-नामरूपव्याकरणस्य त्रिवृत्करणेनैककर्तृकत्वात्पर-
मात्मकर्त्तृकमिति न शक्यतेवक्तुम्, त्रिवृत्करणस्यापि
जीवकर्त्तृकत्वसंभवात्। अण्डसृष्ट्युत्तरकालं हि चतुर्मुखसृष्टि
जीवेषु त्रिवृत्करण-प्रकार उपदिश्यते-"यथा तु खलु सोम्येमास्त्रिस्रो
देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत् त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति"
अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो भागस्तत्पुरीषं
भवति योमध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठः तन्मनः" इत्यादिना। तथा
पूर्वस्मिन्नपिवाक्ये "यदग्नेरोहितं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां
यत्कृष्णं तदन्नस्य" इत्यादिना चतुर्मुखसृष्ट्याग्न्यादित्यचंद्रविद्युत्सु
त्रिवृत्करणं प्रदर्शयते नामरूपव्याकरणोत्तरकालं च त्रिवृत्करणं
श्रूयते। "सेयं देवतेमास्त्रिस्रो देवताः, अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य
नामरूपेव्याकरोत्तासां त्रिवृत् त्रिवृत्मेकैकामकरोत् "इति। तत्राह—

(शंका) ऐसा हगने मान लिया कि-नामरूप अभिव्यक्ति और त्रिवृत् करण परमात्मा की कृति है, त्रिवृत् करण, एकमात्र परमात्मा की ही कृति है ऐसा नहीं मान सकते, त्रिवृत्करण, जीव कर्त्तृक भी हो सकता है ब्रह्माण्ड सृष्टि के बाद चतुर्मुख ब्रह्मा ने अपने सृष्टि जीवों में त्रिवृत्करण का इस प्रकार उपदेश दिया-"हे सोम्य ! ये तीनों देवता, पुरुष को प्राप्त कर केने तीन तीन हो जाते हैं, यह मुझसे समझो, खाया हुआ अन्न तीन भागों में विभक्त हो जाना है, उसका स्थूल भाग पुरीष, मध्यम भाग मांस और सूक्ष्म भाग मन बन जाता है।" इत्यादि, इसी के पूर्व के वाक्य में जैसे-"अग्नि में जो रक्तिमा है वह तेज की, जो धवलिमा है वह जल की तथा श्यामता पृथ्वी की है।" इत्यादि में चतुर्मुख से सृष्ट अग्नि चंद्र

और विद्युत् में त्रिवृत् करण दिखलाया गया है : नाम रूप अभिव्यक्ति के बाद भी त्रिवृत् करण का वर्णन मिलता है—“यही देवता, तीनों देवताओं में जीवात्मा रूप के प्रवेश करके, नामरूप को अभिव्यक्त कर त्रिवृत्करण करते हैं।—“इसका उत्तर देते हैं—

मांसादि भीमं यथाशब्दमित्तरयोश्च । २।४।१८॥

यदुक्तमण्डसूट्युत्तरकालं चतुर्मुखसृष्टदेवतादिविशेषोऽयं
 “तासां त्रिवृत्त्रिवृत्मेकैकामकरोत्” इति, त्रिवृत्करणोपदेश, इति
 तन्नोपपद्यते “अन्नमशितं श्रेया विधीयते” इत्यत्र मांसमनसो
 पुरीषादणुत्वेनाणोयस्त्वेन च व्यपदिष्टयोः कारणानुविधायित्वेनाप्य
 तेजसत्वप्रसंगात् “आपः पीताः” इत्यत्रापि मूत्रप्राणयोः
 स्यविष्ठाणीयसोः पार्थिवत्वतैजसत्वप्रसंगात् । न चैवमिष्यते,
 मांसादिभीममिष्यते पुरीषवन्मांसमनसो अपि भीमे पार्थिवे इष्यते
 “अन्नमशितं श्रेया” इति प्रक्रमात् । यथाशब्द-इत्तरयोश्च इतरयोरपि
 “आपः पीताः” “तेजोऽशितम्” इति पर्याययोयथाशब्दं विकारा
 इष्यते । “आपः पीताश्श्रेया विधीयते” इत्यपामेव श्रेया परिणामः
 शब्दात् प्रतीयते तथा—“तेजोऽशितं श्रेया विधीयते” इत्यपि तेजस
 एव श्रेया परिणामः शब्दात् प्रतीयते, अतः पुरीषमांसमनांसि
 पृथिवी विकाराः मूत्रलोहितप्राणाः अश्विकाराः, अस्थिमज्जावाच-
 स्तेजोविकाराः, इति प्रतिपत्तव्यम्, “अन्नमयं हि सोम्यमनः,
 आपोमयः प्राणस्तेजोमयोवाक्” इति वाक्ययोपाविरोधाच्च । अतः
 “तासां त्रिवृत् त्रिवृत्मेकैकामकरोत्” इत्युक्तास्त्रिवृत्करण प्रकारः
 “अन्नमशितम्” इत्यादिना न प्रदर्श्यते, तथा सति मनप्राणवाचां
 व्याणामप्यणोयस्त्वेन तेजसत्वात् “अन्नमयं हि सोम्यमनः”
 इत्यादिर्विदुष्येत प्रागेव त्रिवृत्कृतानां पृथिव्यादीनां पुरुषं प्राणानाम्
 “अन्नमशितम्” इत्यादिनैकैकस्य श्रेया परिणाम उच्यते । अण्ड-

सृष्टेः प्रागेव च तेजोबन्धानां त्रिवृत्करणेन भवितव्यम्, अत्रिवृत्कृतानां तेषां कार्यारम्भासामर्थ्यात् । अन्योन्यसंयुक्तानामेव हि कार्यारम्भमामर्थ्यम् तदेव हि त्रिवृत्करणम् । तथा च स्मर्यते—
 “नानात्रीर्याः पृथग् भूतान्ततस्ते संहतिं बिना, नाशक्नुवन् रजाः
 स्रद्धमसमागम्य कृत्स्नशः, समेत्यान्योन्यसंयोगं परस्पर समाश्रयाः,
 महदाद्या विशेषान्ता अंडमुत्पादयंतिते” इति । अतएव च—“अनेन
 जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपेभ्याकरोत्” तासां त्रिवृतं त्रिवृत्तमेकैकाम-
 करोत् पाठक्रमोऽयंक्रमेण बाध्यते । अंडान्तवर्तिष्वग्न्यादित्यादिषु-
 त्रिवृत् करणप्रदर्शनं श्वेतकेतोः शुश्रूषोरंडान्तवर्तिष्वेन, तस्य वहिष्ठ
 वस्तुषु त्रिवृत्करणप्रदर्शनायोगात् त्रिवृत्कृतानां कार्येषु अग्न्यादित्यादिषु
 क्रियते ।

जो यह कहा कि—ब्रह्माण्ड सृष्टि के बाद चतुर्मुख द्वारा सृष्टि, देवता आदि का “तासां त्रिवृत्” इत्यादि में त्रिवृत् करण का उपदेश किया गया है । यह बात असंगत है, क्योंकि—“भूक्त अन्न तीन भागों में विभक्त हो जाता है” इस वर्णन में मांस और मन को, पुरीष से, अणु और अणीयस कहा गया है, जो कि—कारण के अनुकूल कार्य है, यदि सृष्टि के बाद त्रिवृत् करण मानेंगे तो, जल और तेज भी, इसके कारण माने जावेंगे । ‘पिये हुए जल’ इत्यादि में भी, मूत्र और प्राण, रूप स्थूल और सूक्ष्म में, पृथ्वी और तेज, कारण रूप से उपस्थित हो जावेंगे । इसलिए उक्त बात नहीं कह सकते । मांस आदि भौम ही कहलावेंगे, अर्थात् पुरीष की तरह मांस और मन भी भौम ही कहलावेंगे, “अन्न त्रेधा” से ऐसा ही प्रतीत होता है । ऐसे ही “आपः पीताः तेजोऽशितम्” इत्यादि में कहे गए विकारों को भी उक्त वेदोक्त रीति से ही मानना होगा । “पिया हुआ जल तीन रूप का हो जाता है” इस वेद मंत्र से तीन रूप वाले परिणाम की स्पष्ट प्रतीति होती है । उक्त वैदिक नियम के अनुसार—पुरीष—मांस—मन—पार्थिव विकार, मूत्र—रक्त—प्राण—जलीय विकार, अस्थि—मज्जा—वाणी—तंत्रजस—विकार हैं । ‘हे सौम्य! यह मन अन्नमय है’ जतमय प्राण तथा तेजोमयी वाणी है’ इस प्रकरण के अंतिम वाक्य से यही बात निर्विरोध सिद्ध होती

है। "उनको प्रत्येक को तीन तीन किया" में कहा गया त्रिवृत करण का प्रकार "भुक्त अन्न" के प्रकार की तरह नहीं है, यदि उसी प्रकार का मानेंगे तो, मन, प्राण और वाणी रूप अति सूक्ष्म तैजस रूपों की "हे सौम्य! मन अन्नमय है" इत्यादि से विरुद्धता होगी पहिले से ही तीन रूपों में विभक्त पृथ्वी आदि के पुरुष रूप को प्राप्त होजाने पर "भुक्त अन्न" आदि का ही त्रेधा परिणाम होता है, यही उक्त प्रसंग में कहा गया है। सृष्टि के पूर्व ही, पृथ्वी जल तेज आदि की तीन रूपों में विभक्ति हो सकती है, यदि वे प्रथम से ही तीन रूपों में विभक्त न रहें तो, उनमें कार्यारम्भ की क्षमता नहीं हो सकती। एक-दूसरे से मिलकर ही उनमें कार्य की क्षमता संभव है। इन तीनों का पारस्परिक सम्मेलन ही त्रिवृत करण कहलाता है वैसे ही स्मृति का भी मत है— ये सारे भूत विभिन्न प्रकार की शक्ति वाले पृथक् पृथक् हैं, उन सबकी संहति के बिना, प्रजा की सृष्टि संभव नहीं है, महत्त्व से लेकर विशेष तक, परस्पर सयुक्त होकर पारस्परिक आश्रय से ब्रह्माण्ड का उत्पादन करते हैं। "ब्रह्म, जीवात्मारूप से प्रविष्ट होकर नामरूप में अभिव्यक्त होता है, उसीने, प्रत्येक को तीन तीन किया" ऐसा वेदोक्त पाठ्यक्रम, उक्तस्मार्त्तार्थ-क्रम से याचित होता है। ब्रह्माण्ड मध्यवर्ती अग्नि और आदित्य आदि के त्रिवृत करण का जो उपदेश है, उसका कारण यह है कि-शुश्रुषु श्वेतकेतु के लिए सृष्टि के पूर्ववर्ती त्रिवृत करण का उपदेश सुबोध्य न होगा, इसलिए उसे त्रिवृत कृत भूत कार्य आदि का त्रिवृतकरण बतलाया गया। इस प्रकार समझने से, वेदोक्त पाठ्यक्रम की संगति हो जाती है।

स्यादेत् "अन्नमशितम्" आपः पीताः "तेजोऽजितम्" इति त्रिवृत्कृतानामन्नादीनामेकैकस्य तेजोवन्नात्मकत्वेन त्रिरूपस्य कथमन्नामापस्तेज इत्येकैकरूपेण व्यपदेश उपपद्यत इति—तत्राह—

(शंका) हमने ऐसा मान लिया कि-उपदेश की सुबोधता के लिए ऐसा किया गया, परंतु त्रिवृत कृत अन्न आदि के जो तीन तीन रूप हैं, उनका जो "अन्नमशितम्" आपः पीताः "तेजोऽजितम्" इत्यादि में अन्न-जल और तेज नाम से पृथक् निर्देश है, उनकी कैसे संगति होगी? इसका उत्तर देते हैं—

वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः । २।४।१६॥

वैशेष्या-विशेषभावः । त्रिवृत्करणेन त्रिरूपेऽप्येकैक-
स्मिन्नन्नाद्याधिक्यात्तत्रतत्रानादिवादः । द्विशक्तिरध्याय समाप्तिं
द्योतयति ।

सूत्रस्य वैशेष्य का अर्थ है, विशेष भाव अर्थात् वैशिष्ट्य त्रिवृत्
करण द्वारा, प्रत्येक तीन रूप होते हुए भी, एक-एक में, अन्न जल तेज
आदि भाव की अधिकता है, इसलिए उन्हें अन्न आदि नामों से निर्देश
किया गया है । पद की द्विशक्ति, अध्याय समाप्ति की द्योतिका है ।

॥ द्वितीय अध्याय समाप्त ॥

तृतीय अध्याय

प्रथम-पाद

१ तदन्तर प्रतिपत्त्यधिकरणः—

तदन्तर प्रतिपत्तौ रंहतिसंपरिष्वक्तः प्ररननिरूपणाभ्याम् ।३।१।१॥

अतिक्रान्ताध्यायद्वयेननिखिलजगदेककारणं निरस्तनिखिलदो-
षगंधपरिमितोदारगुणसागरं सकनेतरविलक्षणं परंब्रह्म, मुमुक्षु-
भिरुपास्यतया वेदांता प्रतिपादयंतोत्ययमर्थः स्मृतिन्याय-
विरोध परिहार परपक्षप्रतिक्षेपवेदांतवाक्यपरस्परविरोधपरिहार
रूपकार्यं स्वरूप संशोधनैः तददुर्धर्षणत्वहेतुभिः सह स्थापितः,
अतोऽध्यायद्वयेन ब्रह्मस्वरूपं प्रतिपादितम् । उत्तरेणेदानीं तत्प्राप्त्यु-
पायैः सह प्राप्तिप्रकारश्चिन्तयितुमिष्यते । तत्र तृतीयाध्याये
उपायभूतोपासन विषया चिन्तावत्तंते । उपासनारभाभ्यार्हितोपायश्च
प्राप्यवस्तु व्यतिरिक्तवैतृष्यम्प्राप्यतृष्णाचेति, तत्सिद्धयर्थं जीवस्य
लोकान्तरेषु संचरतो जाग्रतस्वपतःसुषुप्तस्यमूर्च्छंतस्य दोषाः,
परस्यब्रह्मणस्तदरहितता, कल्याणगुणाकरत्वं च प्रथमद्वितीययोः
पादयोः प्रतिपाद्यन्ते ।

पिछले दो अध्यायों में, समस्त जगत के एक मात्र कारण, निर्दोष
असीम उदार गुणों के सागर, सबसे विलक्षण, परब्रह्म ही मुमुक्षुओं के
उपास्य रूप से वेदांत वाक्यों के प्रतिपाद्य हैं, इस सिद्धान्त की स्थापना
के लिए, स्मृति और तर्कों का विरोध करते हुए, विरोधी पक्षों का परि-
हार-तया परस्पर विरोधी वेदांत वाक्यों की संगति दिखलाते हुए उक्त
सिद्धान्त की विशुद्ध रूप से स्थापना की गई। इससे निश्चित होता है

कि उन दो अध्यायों में ब्रह्म का स्वरूप बतलाया गया। इसके बाद अब उन परमात्मा की प्राप्ति के उपायों से, प्राप्ति के प्रकार पर विचार करते हैं। इस तृतीय अध्याय में, उपाय रूप उपासना पर विचार किया गया है। उपासना में सर्वप्रथम, प्राप्तव्य से भिन्न वस्तुओं में वितृष्णा और प्राप्य के प्रति तीव्र आवेग, ये दो हितकर उपाय बतलाए गए हैं, इन दोनों की पुष्टि के लिए, प्रथम और द्वितीय पाद में, लोकान्तर संचरणशील जीव के, जाग्रत-स्वप्न सुषुप्ति और मूर्छा आदि अवस्थाओं से सबधी दोष तथा परमात्मा में दोषों का अभाव तथा कल्याणमय गुणों की स्थिति का प्रतिपादन किया गया है।

तत्र देहात् देहान्तरंगच्छन्नयंजीवो देहान्तरारंभहेतुभिर्भूत-सूक्ष्मैः संपरिष्वक्त एव गच्छति उत न? इति चिन्तायां यत्र यत्र जीवो याति, तत्र तत्र भूतसूक्ष्माणां सुलभत्वादसंपरिष्वक्तो यातीति प्राप्तम् । पश्चादपि पूर्वपक्षबीजान्युपन्यस्य निरसिष्यति ।

यह जीव, एक देह से दूसरे में जाते समय, देहान्तर के आरंभ के कारणभूत सूक्ष्म भूतों से परिवेष्टित रहता है या नहीं? इस पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि-जीव जहाँ-जहाँ जाता है वहाँ-वहाँ उसे, सारे सूक्ष्म भूत सुलभ हो जाते हैं, इसलिए वह इन्हें साथ नहीं ले जाता। इसके बाद उक्त पक्ष की मूल बातों का विश्लेषण करते हुए खंडन करेंगे।

सिद्धान्तः—तत्र सिद्धान्तमाह—तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्त इति । “संज्ञामूर्तिक्लृप्ति” इति मूर्ति शब्देन देहः प्रस्तुतः, स तच्छब्देन परामृश्यते । तदन्तर प्रतिपत्तौ—देहान्तर गमने भूतसूक्ष्मैः संपरिष्वक्तो जीवो रंहति—गच्छतीत्यर्थः । कुतः ? प्रश्ननिरूपणाभ्यां । पंचाग्निविद्यायामेवं प्रश्न प्रतिवचने आम्नायेते—श्वेतकेतुं किलादृष्टेयं पांचालः प्रवाहणः कर्मिणांगन्तव्यदेशं, पुनरावृत्ति प्रकारं देवयानपितृयाणपयव्यावृत्तं ने, अमुष्य लोकस्याप्राप्तारं च वेत्येति पृष्ट्वेदमपि पप्रच्छ—“वेत्थ यथा पंचम्यामाहुतावापः पुरुषवचश्रो

भंवति' इति । तमिमं परिचमं प्रश्नं प्रतिद्रुवंश्च द्यूलोकमग्नि-
 त्वेन रूपयित्वा" तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धांजुहवति, तस्या
 आहुतेः सोमोराजा संभवति" इत्यादिना—देवास्याः जीवस्य प्राणाः
 अग्नित्वेन रूपिते द्युलोके श्रद्धाद्यं वस्तु प्रक्षिपन्ति, सा च श्रद्धा
 सोमराजास्यामृतमयदेहरूपेण परिणमते, तं चामृतमयं देहं त एव
 प्राणाः पजन्येऽग्नित्वेनरूपिते प्रक्षिपन्ति, तच्च तत्र प्रक्षिप्तमन्नं भवति,
 तच्चान्नं त एव पुरुषेऽग्नित्वे रूपिते प्रक्षिपन्ति, तच्च तत्र रेतो
 भवति, तच्चान्नं त एव योपायामग्नित्वे रूपितायां प्रक्षिपन्ति, तच्च
 तत्र प्रक्षिप्तं गर्भो भवतीत्युक्त्वा आह—“इति तु पंचम्यामाहुतौ
 हुतायामापः पुरुषवचसो भंवति ” इति । एव पंचम्यामाहुतौ
 हुतायामापः पुरुषशब्दाभिलष्यां भवन्तीत्यर्थः एवमुक्ते पूर्वाष्वप्या-
 हुतिष्वनुवत्मानानामेवापां सूक्ष्मरूपाणामिदानों पुरुषाकारत्वं
 भवतीत्युक्तं भवति । अत एव प्रश्नप्रतिवचनाभ्यां देह-हेतुभूतैः
 सूक्ष्मैः सह तत्र तत्र यातीति गम्यते ।

उस पर सिद्धांत कहते हैं, “संज्ञामूर्ति” इत्यादि सूत्र में मूर्ति शब्द
 देह का वाचक है, इस प्रस्तुत सूत्र में उसे ही” तत्” शब्द से बतलाया गया
 है । “तदनंतर प्रतिपत्तौ” का अर्थ है कि यह जीव देहान्तर प्राप्त करने
 पर सूक्ष्म भूतों से ससक्त होकर “रंहति” अर्थात् गमन करता है । ऐसा
 निर्णय प्रश्नोत्तरों से हो जाता है । पंचाग्नि विद्या के प्रसंग में, इनसे
 संबंधित प्रश्न—उत्तर किये गए, पंचाल राज प्रवाहण ने आहृतिष्वेकेतु से
 कर्म योगियों का गतिस्थान, पुनः आवृत्ति का प्रकार, देवयान पितृयान
 मार्ग का वर्णन, इत्यादि स्वर्ग आदि लोकों में जाने की इच्छा से पूछा
 “क्या तुम जानते हो कि पांच आहुतियों को प्राप्त कर ही जीव वा पुरुष
 नाम होता है?” इस द्वितीय प्रश्न के पूछने पर द्युलोक को अग्नि रूप
 बतलाते हुए कहा कि—इस अग्नि से देवता लोग श्रद्धा की आहुति देते
 हैं, उस आहुति से सोमराज उत्पन्न होते हैं” इत्यादि से बतलाया गया
 है कि द्युरूप अग्नि में सर्वप्रथम श्रद्धा की आहुति होती है वही श्रद्धा

अमृतरूप में परिणत हो जाती है, वे प्राण उस अग्निरूप से कल्पित पर्जन्य में निक्षिप्त होकर वर्षारूप में परिणत होते हैं। वे ही पृथ्वी रूप अग्नि में निक्षिप्त होकर अन्न रूप में परिणत होते हैं, वह अन्न, जीव के देह रूप अग्नि में प्रक्षिप्त होकर वीर्य रूप से परिणत हो जाता है, उस वीर्य को अग्नि रूप स्त्री योनि मार्ग से धारण कर गर्भाकार में परिणत करती है। “इस प्रकार पांचवी आहुति को प्राप्त कर ही वह पुरुष नाम धारी होता है” अर्थात् इस पांचवी आहुति को प्राप्त जल ही वह पुरुष नाम वाला होता है। इस प्रकार के प्रश्नोत्तर से ज्ञात होता है कि-देह के उपादानरूप भूतसूक्ष्मों के सहयोग से ही जीव उन स्थानों में जा पाता है।

ननु “आपः पुरुषवचसः” इत्युक्ते अपांपुरुषाकारपरिणाम प्रतीतेर्गच्छता जीवेन तासामेव परिष्वंगः प्रतीयते, अतः कथं सर्वेषां भूतसूक्ष्माणां परिष्वंग इति? तत्राह—

“जल ही पुरुष पद वाच्य होता है” इस कथन से तो, जल की ही पुरुषाकार परिणित बतलाकर उसका ही सहचर्य मात्र बतलाया गया है, फिर अन्य सूक्ष्म भूतों के साहचर्य की बात कैसे संगत होगी? इसका उत्तर देते हैं—

ध्यात्मकत्वात् भूयस्त्वात् ।३।१।२।

तु शब्दश्चोद्यं व्यावर्त्तयति, देहारंभकाणामपांकेवलानां न देहारंभसंभवः । देहाद्यारंभाय हि—“तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकाम-करोत्” इति त्रिवृतकरणम् । केवलानामपां श्रवणं तु तासां भूयस्त्वात् । देहे च लोहितादिभूयस्त्वेनारंभकेष्वपां भूयस्त्वं गम्यते ।

सूत्रस्य तु शब्द उक्त तर्क का समाधान करता है। देहारंभ का कारण केवल जल ही देहरचना में समर्थ नहीं हो सकना देहारंभ में तो “उन तीनों में प्रत्येक को तीन तीन करता है” ऐसा त्रिवृत् करण ही, कारण होता है। केवल जल का ही जो वर्णन मिलता है वह, उसकी बहुलता का

ही द्योतक है, देह में रक्तवीर्य आदि, जल रूप में ही, बाह्य से होते हैं, इसलिए जल के बाहुल्य का वर्णन किया गया है ।

प्राणगतेश्च १३।१।३॥

इतश्च भूतसूक्ष्म परिष्वक्तस्य गमनमिति गम्यते उत्क्रामति जीवे प्राणानां तदनुगतिः श्रूयते "तमुत्क्रान्तं प्राणोऽनुत्क्रामति प्राणमनुत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनुत्क्रामन्ति" इति । स्मरन्ते च—"मनः पृष्ठाणोन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानिकर्षति, शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः गृहीत्वैतानि संयाति वायुगन्धानिवाशयात्" इति । न च निराश्रयाणां गतिरुपपद्यत इति तदाश्रयभूतानां भूतसूक्ष्माणामपि गतिरभ्युपगंतव्या ।

इससे भी भूत सूक्ष्मों संसक्त गमन ज्ञात होता है कि उत्क्रमण करते हुए जीव के साथ प्राणों का अनुगमन बतलाया गया है—"उसके उत्क्रमण करने पर प्राण भी अनुत्क्रमण करते हैं ।" स्मृति में भी जैसे—"जीव सुपुष्टि और मृत्यु के समय, मन के सहित पांचों ज्ञानेन्द्रियों को आकृष्ट करके स्थित रहता है । देहाधिपति जीव जिस समय शरीर ग्रहण करता है और जिस समय शरीर छोड़ता है, उस समय इन इन्द्रियों को अपने साथ उसी प्रकार ले जाता है, जैसे कि-वायु गंध को ले जाता है" इत्यादि । निराश्रित इन्द्रियों का कभी स्वतः गमन संभव नहीं है, इसलिए उनके आश्रयभूत भूतसूक्ष्मों को भी उनके साथ गति माननी होगी ।

अग्न्यादिगतिश्रुतिरिति चेन्न भाक्तत्वात् ३।१।४॥

'यत्रास्यपुरुषस्यमृतस्याग्निं वागप्येति, वार्तं प्राणः चक्षुरादित्यम्" इत्यादिना प्राणानां जीवमरणकाले अग्न्यादिष्वस्य श्रवणात् न तेषां जीवेन सह गमनमिति गतिश्रुतिरन्यथा नेयेति चेत् न भाक्तत्वात्-अग्न्यादिष्वप्यश्रवणस्य । कथं भाक्तत्वं? 'ओषधीर्लोमानि वनस्पतीन् केशाः" इत्यनपियद्भिः लोमादिभिः सह श्रवणात् । अतश्चन्नुराद्यप्यश्रुतिरिषिष्ठात्तदेवतोपक्रमणपरा ।

“मृत पुरुष की बाणी अग्नि को, प्राण वायु को, नेत्र सूर्य को प्राप्त होते हैं” इत्यादि में तो, जीव के मरण काल में, अग्नि आदि की प्राप्ति बतलाई गई है, जिससे, जीव के साथ गमन करने वाली श्रुति अन्यथा सिद्ध होती है? ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए यह श्रुति तो गौण है, “लोम ओषधि में, केश वनस्पति में, इत्यादि गौण श्रुति के साथ ही उक्त श्रुति का पाठ है इसलिए यह भी गौण है। चक्षु आदि के लीन होने की बात तो, केवल उनके अधिष्ठाता देवताओं से देह से, बहिर्गमन की ही बोधिका है।

प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव हि उपपत्तेः ।३।१।५॥

यदुक्तमग्निः सूक्ष्माभिभूतान्तरसंसृष्टाभिः परिष्वक्तो जीवो गच्छतीति प्रश्नप्रतिवचनाभ्यामवगम्यत इति, तन्नोपपद्यते, द्युलोकाग्निविषये प्रथमे होमे अपां होम्यत्वाश्रवणात् “तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुहवति” इति श्रद्धैव होम्यत्वेन श्रुता । श्रद्धानाम जीवस्य मनोवृत्तिविशेषत्वेन प्रसिद्धा । अतो नापस्तत्र होम्या इति चेत्, न यतः ताः आप एव श्रद्धाशब्देन तत्राभिधीयते, कुतः? प्रश्न प्रतिवचनोपपत्तेः ।

जो यह कहा कि—प्रश्नोत्तरो से ज्ञात होता है कि—अग्न्याग्न्य भूतो से संसक्त सूक्ष्म जल ही जीव के साथ गमन करता है, सो बात समझ में नहीं आती क्योंकि—द्युलोक रूपी अग्नि में प्रथम हवन के रूप में जल की हवनीयता नहीं सुनी जाती। जीव की मनोवृत्ति विशेष ही श्रद्धानाम से प्रसिद्ध है, इसलिए जल वहाँ पर होम्य नहीं हो सकता। यह शंका उपयुक्त नहीं है, जल ही यहाँ श्रद्धा शब्द से उल्लेख्य है, प्रश्नोत्तरो से ऐसा ही निश्चित होता है।

“वेत्थ यथा पंचम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवति” इति प्रश्न प्रतिवचनोपक्रमेहि श्रद्धाद्युलोकाग्नौ होम्यत्वेन श्रुता, तत्र यदि श्रद्धा शब्देनापो नोध्येरन्, ततोऽप्यया प्रश्नोऽप्यया प्रतिवचनमिति असंगतम् स्यात् । “इति तु पंचम्यामाहुतावापः पुरुषवचसः” इति प्रतिवचन

निगमनं च श्रद्धाया अष्ट्वमेव सूचयति "वेत्य यथा" इति हि प्रश्नगतः प्रकारः "इति तु पंचम्याम्" इतीति शब्देन परिहारे निगम्यते । श्रद्धासोमराजवर्षाश्ररेतीगर्भरूपेणापां परिणाममुक्त्वा हि एवमापः पुरुषवचस इति निगम्यते । श्रद्धाशब्दस्य चाप्सु वैदिकप्रयोगो दृश्यते—"अपः प्रणयति श्रद्धा वा आपः" इति । श्रद्धां जुहवति तस्या आहुतेः सोमोराजा संभवति" इति सोमाकारेण परिणामश्चापामेवोपपद्यते अतो भूतान्तरसंसृष्टाभिरद्भिः संपरिष्वक्तो जीवोरंहतीत्युपपन्नम् ।

क्या तुम जानते हो कि-पांचवीं आहुति को प्राप्त, पुरुषवाची वह कैसे होता है? इस प्रश्न के उत्तर के प्रारंभ में ही धूलोकाग्नि के हवनीय पदार्थ के रूप में श्रद्धा का उल्लेख किया गया है । यदि उक्त प्रसंग में श्रद्धा का अर्थ जल नहीं करेंगे तो अन्यथा प्रश्न का अन्यथा उत्तर होगा, जो कि-असंगति होगी । "पांचवीं आहुति में पुरुषवाची होता है" इस उत्तर के कथन से श्रद्धा ही जल रूप से प्रतीत होती हैं । "वेत्य यथा" इत्यादि प्रश्न के प्रकार का स्वरूप, "इति पंचम्याम्" वाक्य के "इति" शब्द से परिहार किये जाने पर ही स्पष्ट होता है । श्रद्धा-सोमराज-वर्षा-अश्रवीर्य-गर्भ आदि रूपों में जल का क्रमशः परिणाम बतलाकर, उस जल को ही पुरुषवाची बतलाया गया है । श्रद्धा शब्द का जल नाम से वैदिक प्रयोग भी मिलता है "अप का प्रणयन करने वाला श्रद्धा ही जल है" इत्यादि । "श्रद्धा का हवन करते हैं, इस आहुति से सोमराज होते हैं" इसमें जल का सोमाकार परिणाम सिद्ध किया गया है, इसलिए यह मानना चाहिए कि-अन्य भूतों से संसक्त होकर-जल विशिष्ट संसक्त जीव, गमन करता है ।

अश्रुतत्वादितिचेन्नेष्ट. दिकारिणां प्रतीतेः । ३।१।६॥

यत् पुनरुक्तं अद्भिः संपरिष्वक्तो जीवो याति इत्ययमर्थ एतस्माद्वाक्यादवगम्यत इति, तन्नोपपद्यते, अस्मिन् वाक्ये जीवस्या श्रवणात् । अथाहि श्रद्धादय एवाम्बुष्यवस्याविशेषा, होम्यत्वेन

श्रुताः, नतु जीवस्तत्परिष्वक्त इति चेत्, तन्न इष्टादिकारिणो प्रतीतेः, अस्मिन्नेववाक्ये हि उत्तर ब्रह्मज्ञानविधुरेष्टापूर्त्तदत्तकारिणो द्युलोकं प्राप्य सोमराजानोभवन्ति, पुण्यकर्मावसाने च पुनरागत्य गर्भं प्राप्नुवन्तीत्युच्यते” अथ य इमे ग्रामे इष्टापूर्त्तदत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवति “इत्यारभ्य” पितृलोकादाकारामाकारान्चंद्रमस-
मेव सोमोराजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति “तस्मिन्यावत्-
सपातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवत्तन्ते” यो यो ह्यन्नमत्ति यो
रेतः सिचति तदभूय एव भवति “ इति । अत्रापि द्युलोकान्गौ
“श्रद्धांजुह्वति तस्या आहुतेस्सोमोराजा संभवति ” इति तदे-
कार्यत्वात् श्रद्धावस्यदेहविशिष्टः सोमरूपदेहविशिष्टो भवतीत्यु-
क्तमिति गम्यते । देहस्य जीवविशेषणतैक स्वरूपस्य वाचकः शब्दो
विशेष्ये जीव एव पर्यवस्यति, अतः संपरिष्वक्तोजीवो यातोत्युपद्यते ।

पुनः जो यह कहा कि—जसों से संसक्त जीव के गमन का अर्थ ही उक्त वाक्य में प्रतीत होता है, सो यह कथन असंगत है, क्योंकि—इस वाक्य में तो जीव का उल्लेख ही नहीं है । इस प्रसंग में तो, केवल जल ही अवस्था विशेष श्रद्धा आदि, हवनीय द्रव्य के रूप में कहा गया है, उससे समन्वित जीव का ही उल्लेख है नहीं । इत्यादि शंका नहीं करनी चाहिए उक्त प्रसंग में इष्टापूर्त्त करने वालों का वर्णन किया गया है, इस वाक्य के शेषार्थ में ही कहा गया है कि—ब्रह्मज्ञान से रहित, केवल इष्टापूर्त्त करने वाले पुरुष द्युलोक में जाकर सोमराजा होते हैं और पुण्यकर्मों को समाप्ति हो जाने पर, पुनः गर्भ में आते हैं । कहते हैं कि— “जो ब्रह्मस्य, प्रथम इष्टापूर्त्त और दत्ता, इन तीन कर्मों के उपासक हैं, वे धूम दक्षिणायन मार्ग को प्राप्त होते हैं ” पितृलोक से आकाश, से चन्द्र लोक को प्राप्त होते हैं, वे ही सोमराजा, देवताओं के अन्न हैं, इन्हें ही देवता भक्षण करते हैं “ जब तक पुण्यक्षीण नहीं होते तब तक चन्द्र लोक में रुक कर पुनः उसी मार्ग से लौट आते हैं ।” जो जो प्राणी अन्न खाकर शीघ्र सिचन करते हैं, उन्हीं में इनका जन्म होता है ।” इत्यादि यही पर भी द्युलोक रूपी अग्नि में “ श्रद्धा की आहुति देते हैं” इस आहुति

से सोमराजा होते हैं" इस प्रसंग में उक्त अर्थ की ही प्रतीति होने से, श्रद्धावस्थ देह विशिष्ट ही, सोमरूप देह विशिष्ट होता है, ऐसा ज्ञात होता है। यह देह, जीव का ही विशेषण है देहवाचक शब्द भी, अपने विशेष्य जीव में ही पर्यवसित होगा यह स्वाभाविक है। इसलिए जीव भूतसूक्ष्म से संसक्त होकर ही गमन करता है, यह बात संगत ही जाती है।

ननु च " ते देवा भक्षयन्ति" इति देवैर्भक्ष्यमाणत्ववचनात् "सोमोराजा" इति न जीव उच्यते, जीवस्यानदनीयत्वात् । तत्राह-

(श्रुति) "उसे देवता खाते हैं" ऐसे देवत्व के भक्षणत्व से ज्ञात होता है कि-" सोमोराजा" जीव के लिए नहीं कहा गया है, क्योंकि- जीव कोई भक्ष्य पदार्थ नहीं है। इसका उत्तर देते हैं-

भाक्तवान्नात्मवित्वात्तथाहि दर्शयति । ३।१।७॥

वाशब्दश्चोद्यं ध्यावर्त्तयति । इष्टादिकारिणोऽनात्मवित्वात् स देवानां भोगोपकरणत्वेनेहामुत्र च वर्त्ततेइहेष्टादिना तदाराधनं कुर्वन्नुपकरोति, आराधनप्रीतैर्देवैस्तममुंलोकंप्राप्य तत्रतत्समानभोगः तदुपकरणं भवति " यथा पशुरेवं स देवानाम्" इत्यनात्मविदो देवानामुपकरणत्वं दर्शयति श्रुतिः । स्मृतिरप्यात्मविदां श्रद्धाप्राप्तिमनात्मविदां च देवभोग्यत्वं दर्शयति " देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यांति मामपि" इति । अतो जीवस्य देवानां भोगोपकरणत्वाभिप्रायमन्नत्वेन भक्ष्यत्ववचनं अतस्तदभाक्तम्, तेनतृप्तिरेव च देवानां भक्षणमिति श्रूयते "न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्ति एत देवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति" इति । तस्माद्भूतसूक्ष्मैसंपरिष्वक्तं जीवो रंहतीति सिद्धम् ।

सूत्रस्य वा शब्द तर्क का समाधान करता है। यज्ञ करने वालों में आत्मज्ञान का जमाव रहना है, इसलिये वे इस लोक और परलोक में

देवताओं के भोग्य होते हैं। इस लोक में, यज्ञ करके उनकी आराधना करत हुए उनका भाग साधन करते हैं, आराधना से प्रसन्न देवताओं से प्राप्त परलाभ में उनके अनुरूप भोगापकरण होते हैं। जैसे कि— “यह देवताओं का पशु है” इत्यादि श्रुति, अनात्मविद पुरुष को देवताओं का उपकरण बतलाती है। स्मृति भी आत्मविदों की ब्रह्म प्राप्ति तथा अनात्मविदों की देव भोग्यता का वर्णन करती है “देवों की आराधना करने वाले देवताओं को प्राप्त करते है, और मेरे भक्त मुझे प्राप्त होते हैं।” इस प्रकार जीवों को, देवों का भोगोपकरण बतलाने के लिए ही भक्षणीय अन्न बतलाया गया है, जो कि गौण कथन है। देवताओं की तृप्ति ही देवताओं का भोजन है जैसे कि—“वे देवता न खाते हैं न पीते है, वे तो अमृत पदार्थ को देखकर ही तृप्त हो जाते हैं।” इत्यादि से सिद्ध होता है कि—जीवात्मा भूतसूक्ष्मों से संसक्त होकर ही गमन करता है।

२. कृतात्ययाधिकरणः—

कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यां यद्येतमनेवंच । ३।१।८॥

केवलेष्टापूतदत्तकारिणां घृमादिना पितृयानेन यथा गमनं कर्मफलवसानेन पुनरावर्तनं चाप्नातं “यावत् संपातमुपित्वाथैतमे वाध्वानंपुनर्निवर्तन्ते” इति । तत्र प्रत्यवरोहम् जीवः किमनुशयवान् प्रत्यवरोहति उतनेति संशय्यते । किं युक्तम्? कर्मणः कृत्स्नस्योपभुक्त्वात् नानुशयवानिति प्राप्तम् । अनुशयो हि उपभुक्तशिष्टकर्म । तच्च कृत्स्नफलोपभोगे सति नावशिष्यते । “यावत्संपातमुपित्वा” इति वचनात् कृत्स्नोपभोगश्च ज्ञायते । संपतत्यनेन स्वर्गं लोकमिति सम्पातः कर्मोच्यते । श्रुत्यंतरं च “प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत् किंचेह करोत्ययम्, तस्मात्लोकात् पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणो” इति ।

जो केवल इष्टापूत और दत्त कर्मों का अनुष्ठान करते हैं, वे घूम बादि पितृमार्ग से गमन करते हैं, और कर्मफल के समाप्त हो जाने पर पुनः लौट आते हैं ऐसा— “जब तक पुण्यक्षीण नहीं होते तब तक भोगने के बाद उसी मार्ग से लौट आते हैं” कहा गया। इस पर संशय होता कि—लौटने वाला जीव, सानुशय लौटता है अथवा नहीं? विवेचना से ज्ञात होता है कि—जब वह समस्त कर्मों को भोग चुकता है तब सानुशय रहित होकर लौटता है। उपभोग से बचे हुए कर्म को सानुशय कहते हैं वह संपूर्ण फल भोग के बाद तो बच नहीं सकता। “यावत् संपातमुपित्वा से संपूर्ण भोग ही ज्ञात होता है। जिससे स्वर्ग लोक की प्राप्ति होती है ऐसे कर्म को ही संपात कहते हैं। इसी प्रकार की दूसरी धृति भी है— “जीव इस जगह जो कुछ शुभाशुभ कर्म करता है, उस कर्म के शेष हो जाने पर, उन कर्मों से प्राप्त लोकों से पुनः यहीं लौट आता है” इत्यादि।

सिद्धान्तः— एवंप्राप्तेऽभिधीयते-अनुशयवान् प्रत्यवरोहति-
इति। कुतः? दृष्टस्मृतिभ्यां-श्रुतिस्मृतिभ्यामित्ययं। श्रुतिस्तावद्
“तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते, रमणीयां योनिमाप-
घेरन् ब्राह्मणयोनि क्षत्रिययोनि वैश्ययोनि वा, अथ य इह कपूय-
चरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनि आपघेरन् श्वयोनि वा
शूकर योनि वा चाण्डाल योनि वा” इति प्रत्यवरूढान प्रतिश्रूयते।
अमुष्माल्लोकात् प्रत्यवरूढेषु रमणीय कर्माणो रमणीयां ब्राह्मणादि
योनि प्रतिपद्यन्ते; कपूयचरणाः, कुत्सित कर्माणः कुत्सितां श्व-
शूकरचाण्डालादि योनि प्रतिपद्यन्त इति प्रत्यवरूढाना पुण्यपाप-
कर्मयोगं दर्शयति। स्मृतिरपि- “वर्णाश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठा प्रेत्य
कर्मफलमनुभूयतः शेषेण विसिष्टदेराजातिकुलरूपायुः श्रुतवित्त-
सुखमेघसो जन्म प्रतिपद्यन्ते विश्वंचोविपरोता नश्यन्ति हि” इति।
तथा— “तवः परिवृत्तौ कर्मफलशेषेण जातिरूपवर्णबलमेघांप्रज्ञा
द्रव्याणि धर्मानुष्ठानमिति प्रतिपद्यन्ते तच्चक्रवद् उभयोलोकयोः
सुख एव वर्तते” इति।

उक्त संशय पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं कि—जीव सानुशय लौटता है ऐसा श्रुतिस्मृति से निश्चित होता है। श्रुति जैसे “इस लोक में जो शुभ कर्म करते हैं, वे शीघ्र ही शुभ, ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य योनियों को प्राप्त करते हैं। जो अशुभ कर्म करते हैं वे शीघ्र ही, शूकर-कूकर-चांडाल आदि अशुभ योनियों को प्राप्त करते हैं।” ऐसा सानुशय प्रत्यावर्तन का वर्णन करती है। परलोक से रमणीय शुभ कर्मों से युक्त लौटने पर ही शुभ ब्राह्मण आदि शुभ योनियाँ प्राप्त होती हैं तथा अशुभ कर्मों के आचरण से शूकर आदि योनियाँ प्राप्त होती हैं, इत्यादि लौटने वालों को ही पुण्य पाप कर्मों को बतलाया गया है। स्मृति में इसी प्रकार कहते हैं कि—“वर्ण और आश्रम कर्मों का भलीभाँति पालन करने वाले, मरणोपरान्त कर्मफलों का अनुभव करके अंत में विशिष्ट-देश-जाति-कुल-रूप-आयु-विद्या-धन-प्रतिष्ठा-सुख—आदि से युक्त होकर जन्म लेते हैं। इससे विपरीत आचरण करने वाले विपरीत नष्ट फल प्राप्त करते हैं।” तथा—“उसके बाद लौटने पर शेष कर्मफलानुसार जाति-रूप-वर्ण—बल-मेधा—प्रज्ञा—धन-धर्म के अनुष्ठान आदि को प्राप्त करते हैं, ऐसा करते हुए वे दोनों लोकों में सुख प्राप्त करते हैं” इत्यादि।

“यावत्संपातम्” इति फलदानप्रवृत्तकर्मविशेषविषयम्, “यत् किंचेहकरोत्ययम्” इतीदमपि तद्विषयमेव। अभुक्तफलानामकृत-प्रायश्चित्तानां च कर्मणां कर्मान्तरफलानुभवान्नाशोऽप्यनुपपन्नः। अतोऽमुंलोकं गताः सानुशय एव यथेतमनेव च पुनर्निवर्तन्ते-आरोहणप्रकारेण प्रकारान्तरेण च पुनर्निवर्तन्ते इत्यर्थः, आरोहणं हि धूमराद्रिपरपक्षदक्षिणायण्यण्मासपितृलोकाकाशचन्द्रक्रमेण। अवारोहणं तु चंद्रमसस्त्वानादाकाशवायुधूमाभ्रमेघ क्रमेण। तत्राकाशावारोहणाद्येतम्, वाय्वादिप्राप्तेः पितृलोकाद्यप्राप्तेश्चानेवम्

“यावत् संपातम्” श्रुति का तात्पर्य है कि—जो कर्म, फल देने के लिए उन्मुख हैं, उन्हीं का भोग होगा, “यत्किंचित् करोत्ययम्” श्रुति भी यही बात कहती है। जिन कर्मों का फल न भोगा गया हो तथा वे प्रायश्चित्त से भी विनष्ट न हो पाये हों, उनका, अन्य कर्मों के फलभोग से नाश होना असंभव है। इसलिए चन्द्रगत पुरुष का सानुशय आरोहण

और सामुशय अवरोहण होता है, ऐसा ही मानना चाहिए। आरोहण के अनुसार या प्रकारान्तर से भी अवरोहण होता है। आरोहण क्रमशः धूम—रात्रि—कृष्णपक्ष दक्षिणायन—पितृलोक-आकाश-चन्द्रलोक तक होता है। अवरोहण चंद्रलोक से-आकाश-वायु-धूम-मेष क्रम से होता है। आकाश आदि में तो अवरोहण समान होता है, किन्तु वायु आदि में अवरोहण का क्रम बदल जाता है, उसमें पितृलोक आदि की प्राप्ति नहीं होती।

चरणादिति चेन्न तदुपलक्षणार्थेति काष्णार्जिनिः । ३।१।६॥

“रमणीय चरणाः” “कपूयचरणाः” इति न चरणशब्देन पुण्य पापरूपं कर्माभिधीयते, चरणशब्दस्य लोकवेदयोराचारे प्रसिद्धेः, लौकिकाः खलु चरणमाचारः शीलंवृत्तामिति पर्यायानभिमान्यते, वेदे च- “यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि” यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि “ इति चरणकर्मणी भेदेन व्यपदिश्येते, अतः चरणात्शोलात् योनिविशेषप्राप्तिः, नानुरायादिति चेत्, तत्र, चरणश्रुतिः कर्मोपलक्षणार्थेति काष्णार्जिनिराचार्यो मन्यते, केवलादाचारात् सुखदुःखप्राप्त्यसंभवात् । सुखदुःखेहि पुण्यपापरूप कर्मफले ।

“रमणीय चरणाः” कपूय चरणाः” इत्यादि में चरण शब्द से पाप पुण्यरूप कर्म अभिधेय नहीं हैं, चरण शब्द की तो लोक और वेद में आचार रूप से ही प्रसिद्धि है। लोग, प्रायः चरण शब्द को, आचार-शील-कुल आदि का पर्यायवाची मानते हैं। वेद में जैसे-“जो निर्दोष कर्म हैं वे ही आचरणीय हैं” “जो मेरे सुचरित हैं, वे ही तेरे लिए आचरणीय हैं” इत्यादि में चरण और कर्म दोनों का भिन्न रूप से उल्लेख है। यह नहीं कह सकते कि-चरण से ही योनि विशेष की प्राप्ति होती है। चरणविषयक श्रुति, कर्मोपलक्षणार्थक है। ऐसी आचार्य काष्णार्जिनि की मान्यता है कि केवल आचार से ही सुख-दुःख की प्राप्ति संभव नहीं है। सुख-दुःख तो, पाप-पुण्य रूप कर्म के ही फल होते हैं। -

आनर्थक्यमिति चेन्नतदपेक्षत्वात् ।३।१।१०॥

एवं तर्हि अफलत्वादाचारस्य स्मृतिविहितस्यानर्थक्यमेवेति चेत्-तन्न-तदपेक्षत्वात् पुण्यस्यकर्मणः । आचारवत् एवं पुण्यकर्मस्व-
धिकारः “संध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनहंः सर्वकर्मसु” “आचारहीनं न
पुनति वेदाः” इत्यादि वचनेभ्य अतश्चरणश्रुतिः कर्मोपलक्ष-
णार्थेति काष्णार्जिने भिप्रायः ।

यदि कहें कि-ऐसा मानने से तो, निष्फलत्व हेतु स्मृति शास्त्रोक्त
आचार निरर्थक हो जावेंगे? सो बात नहीं है, क्योंकि-सारे पुण्यकर्म
सदाचार सापेक्ष ही होते हैं । जैसे कि-“संध्याहीन अपवित्र व्यक्ति सभी
कर्मों में अयोग्य माना गया है” आचारहीन को वेद भी पवित्र नहीं
करपाते” इत्यादि वचनों से ऐसा ही निश्चत होता है । इसलिए चरण
श्रुति कर्मफलक्षणार्थक—ही है, ऐसा काष्णार्जिनि का अभिप्राय है ।

सुकृतदुष्कृते एवेति तु वादरिः ।३।१।११॥

“पुण्यं कर्माचरति” पापं “कर्माचरति” इति कर्मणि चरतेः
प्रयोगात् प्रथङनिर्देशस्य च प्रत्यक्षश्रुतिसिद्धाचारानुमितश्रुतिसिद्ध-
विषयत्वेन गोवलीवदंन्यायेनोपपत्तेः । मुख्ये संभवति न लक्षणा
न्याय्येति सुकृतदुष्कृते एव चरणशब्दाभिधेये, इति वादरिराचार्यो
मन्यते । अत्र वादरिमतमेव स्वमतम्, आचारानुमितश्रुतिविहित
संध्यावदनादेः कर्मान्तराधिकारसंपादनं फलमिति तु स्वोक्तम् ।
अतः सानुराया एव प्रत्यवरोहंति ।

“पुण्य कर्म का आचरण करता है,, पाप कर्म का आचरण करता
है” इत्यादि कर्माचरण के प्रयोग से, कर्म के अर्थ में “चर” घातु का
प्रयोग-गोवलीवदं न्याय (सांड जैसे गो से भिन्न होते हुए भी गो जाति
का होने से गो शब्द से पुकारा जाता है) के अनुसार-उचित ही प्रतीत
होता है मूल्यायं से ही जब कार्य चल जाय, तो लक्षणार्थ करना न्याय्य
नही है, इसलिए जब पाप और पुण्य में ही जब चरण शब्द अभिधेय है

तव लक्षणा से अर्थ करना उचित नहीं है, ऐसा बादरि आचार्य का मत है । यह बादरि का मत ही अपना मत है । आचारानुमित श्रुतिविहित-संध्यावन्दन आदि कर्म का जो, अन्याय्य कर्मों में अधिकार संपादन रूप-फल स्वीकारा गया है, वही उचित है । इससे सानुशय अवरोहण ही निश्चित होता है ।

अनिष्टादिकार्याधिकरणः—

अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् । ३।१।१२।।

केवलेष्टापूतदत्तकारिणश्चन्द्रमसं गत्वा सानुशया एव निवर्तन्ति इत्युक्तम्, इदानीमनिष्टादिकारिणोऽपि चन्द्रमसं गच्छन्ति, नेति चिन्त्यते, ये विहितं न कुर्वन्ति, निषिद्धं च कुर्वन्ति, त उभयेऽपि पापकर्मणोऽनिष्टादिकारिणः । किं युक्तम्? तेऽपि चंद्रमसं गच्छन्तीति, कुतः? तेषामपि हि तद्गमनं श्रुतं “ये वैकेचास्माल्लोकात्प्रयन्ति चंद्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति” इत्यविशेषेण सर्वेषामेव गति श्रवणात् ।

केवल इष्टापूत और दत्त कर्म करने वाले ही चान्द्रमसी गति को प्राप्त कर सानुशय लौटते हैं, यह बतलाया गया । अब अनिष्ट आदि के करने वाले की चान्द्रमसी गति होती है या नहीं? इस पर विचारते हैं । जो शास्त्र विहित कर्म नहीं करते और जो शास्त्र निषिद्ध कर्म करते हैं, वे दोनों ही पापकर्म करने वाले, अनिष्टकर्मों हैं । कह सकते हैं कि वे भी चान्द्रमसी गति को प्राप्त होते हैं उनकी भी वंसी ही गति मुनी जाती है जो भी इस लोक से जाते हैं, वे सभी चन्द्रमस को प्राप्त होने हैं”, इत्यादि में सभी की गति का वर्णन है ।

एवं तर्हि सुकृतदुष्कृतकारिणोरुभयोरप्यविशिष्टैव गतिः स्यात् नेत्याह ।

ऐसा मानने से तो पाप और पुण्यकारी दोनों की ही एक ही गति होगी ? ऐसा नहीं होता, यही बतलाते हैं—

संयमने त्वनुभूयेतरैषामारोहावरोहीतद्गतिदर्शनात् ।३।१।१३।।

तु शब्दः शंकां व्यावर्त्तयति, इतरेषाम्-अनिष्टादिकारिणां चन्द्रावरोहावरोही संयमने-यम शासने तत्प्रयुक्त यातना अनुभूयैव, नान्यथा । कुतः ? तद्गतिदर्शनात्-दृश्यते हि पापकर्मणां यमवश्य-तया तद्गमनम् “अथं लोको नास्ति न पर इति मानी पुनः पुनर्वंशमापद्यते मे” वैवस्वतं संगमनम् जनानां यमं राजानम्” इत्यादिषु ।

तु शब्द शंका का समाधान करता है, अनिष्ट कर्म करने वाले लोगों का, चन्द्रमा में आरोहण तभी होता है, जब कि वे यम के शासन में नारकीय यातनाओं की अनुभूति कर चुकते हैं । अन्यथा उनकी चान्द्रमसी गति संभव नहीं है । उनकी गति का ऐसा ही वर्णन मिलता है “जो ऐसा सोचते हैं कि-दृश्य लोक ही सब कुछ है, परलोक कुछ भी नहीं है, वे लोग बार बार मेरी अधीनता प्राप्त करते हैं ” लोगों को यम का दर्शन और यमालय में जाना पड़ता है ।” इत्यादि ।

स्मरंति च ।३।१।१४॥

स्मरति च सर्वेषां यमवश्यतां पराशरादयः “सर्वे चैते वरां यांति यमस्य भगवन् किल्” इत्यादिषु ।

पराशर आदि, सभी की यमवश्यता बतलाते हैं- “वे सभी यम की वश्यता प्राप्त करते हैं” इत्यादि ।

अपि सप्त ।३।१।१५॥

पापकर्मणां गंतव्यत्वेन रौरवादीन् सप्त नरकानपि स्मरंति ।

पापकर्म करने वालों के लिए, रौरव आदि सात नरकों का भी, गंतव्यस्थान के रूप से वर्णन करते हैं ।

तत्रापि तद्द्व्यापारादविरोधः ।३।१।१६॥

तेष्वपि सप्तसु यमाज्ञयैव गमनादविरोधः । अतोऽनिष्टादि-

कारिणामपि यमलोकं प्राप्य स्वकर्मनिरूपं यातनाश्चानुभूय पश्चात्
चंद्रावरोहावरोहौ स्तः ।

उन सात रौरवादि नरकों में भी यम की आज्ञा से ही गमन होता है। इससे निश्चित होता है कि-अनिष्टकारी भी यम लोक को प्राप्त कर अपने कर्मनिरूप यातनाओं को भोगकर बाद में चन्द्र पर आरोहण अवरोहण करते हैं।

सिद्धान्तः—इति प्राप्ते उच्यते—

इस मत पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं—

विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् । ३।१७।।

तु शब्द. पक्षव्यावृत्त्यर्थः अनिष्टादिकारिणामपि चंद्रप्राप्तिरस्ती-
त्येतन्नोपपद्यते। कुतः?विद्याकर्मणोरिति विद्याकर्मणो. फलभोगार्थत्वाद्
देवयान पितृयाणयोः । एतदुक्तं भवति-अनिष्टादिकारिणां यथा विद्या
विधुरत्वात् देवयानेन यथा गमनं न संभवति, तद्वदेव इष्टापूर्त्तदत्त-
विधुरत्वात् पितृयानेन चंद्रगमनमपि न संभवति, इति । देवयान
पितृयाणयोः विद्याविषयत्वं पुण्यकर्मविषयत्वं च कथमवगम्यत इति
चेत्—प्रकृतत्वात्तयोः । प्रकृता हि देवयाने विद्या, पितृयाणे च कर्म
“यद्यइत्थं विदुर्यं चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते” इत्युक्त्वा
“तेऽर्चिषमभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहः” इत्यादिना देवयानवचनात् ।
“अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्त्तमित्युपासते” इत्युक्तवा-
“ते धूममभिसंभवन्ति” इत्यादिना पितृयान वचनाच्च “ये वै के
चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चद्रमसेव ते सर्वे गच्छन्ति” इत्येदपि वचनं “य
इष्टादिकारिणः ते सर्वे” इति परिशेषम् ।

सूत्रस्य तु शब्द उक्त मत का व्यावर्तिक है। अनिष्ट कारियों की भी चांद्रमसी गति होती है, है ऐसा कथन उक्त नहीं है, विद्या और कर्म के फलस्वरूप ही देवयान और पितृयान मार्ग से गति होती है।

कथन यह है कि-जैसे कि-अनिष्टकारी, अध्यात्मविद्या की उपासना के बिना देवयान में नहीं जा सकते, धंसे ही-ईष्टापूर्वदत्त कर्म के बिना, पितृयान मार्ग से भी चांद्रमसी गति असंभव है। यदि कहे कि- देवयान और पितृयान की विद्या विषयता और पुण्यकर्म विषयता कैसे ज्ञात हुई? दोनों शास्त्रों में ही वर्णन किया गया है। देवयान के लिए उपासना और पितृयान के लिए कर्म का ही उल्लेख है। "जो उन्हें इस प्रकार जानते हैं, अरण्य में जो श्रद्धा पूर्वक तप करके उपासना करते हैं" वे अचिरादिति को प्राप्त कर, दिवसाभिमानी देवता को प्राप्त करते हैं" इत्यादि से देवयान का तथा "जो ग्राम में इष्टापूर्वदान से इनकी उपासना करते हैं" वह धूममार्ग को प्राप्त करते हैं" इत्यादि से पितृयान का उल्लेख किया गया है। "जो कोई इस लोक से जाते हैं, वे सब चांद्रमसी गति ही प्राप्त करते हैं" इस वचन को भी "जो इष्टादिकारी हैं वे सब" इत्यादि की तरह ही समझना चाहिए।

ननु पापकर्मणां चंद्रगमनाभावे पंचमाहुत्यसंभवात् शरीरारंभ एव नोपपद्यते, "पंचम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति" इति हि शरीरारंभ. श्रूयते, सा चाहुतिश्चंद्र प्राप्तिपूर्विकेति दर्शितम्, अतः शरीरारंभायैव तेषामपि चंद्रारोहादरोहादवश्याभ्युपेत्याविश्यत् आह-

तर्क-यदि पाप करने वालों की चांद्रमसी गति न होगी तो वे पांच आहुतियों को भी न प्राप्त होंगे, फिर उनका शरीरारंभ भी न होगा क्योंकि-"पांचवीं आहुति प्राप्त कर पुरुष नाम वाला होता है" ऐसा शरीरारंभ का वर्णन मिलता है, इसमें चंद्र प्राप्तिपूर्विका आहुति ही दिसलाई। गई है इसलिए शरीरारंभ के लिए, उनका भी चंद्रारोहण अवरोहण स्वीकारना होगा। इस तर्क का परिहार करते हैं-

न तृतीयोपलब्धेः ।३।१।१८॥

तृतीयस्थानस्य शरीरारंभाय न पंचम्याहुत्यपेक्षा, कुतः? तयोपलब्धेः, तृतीयस्थानशब्देन केवलपापकर्माण उच्यन्ते, तेषां देहारंभे पंचमाहुत्यमपेक्षत्वमुपलभ्यते "वेत्थ यथा केनासौ लोको न संपूर्णते" इत्यस्य प्ररनस्य प्रतिवचने "अथैतयोः पयोर्नक्तरेण च

तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावतोनिभूतानि भवन्ति जायस्वन्नियस्वेत्येतत्
 तृतीयं स्थानं तेनासौ लोको न संपूयन्ते" इति तृतीय स्थानस्य
 द्युलोकारोहावरोहाभावेन द्युलोका संपूर्तिवचनादस्य तृतीय
 स्थानस्य शरीराम्भाय न पंचमाहुत्यपेक्षा । "पंचम्याहुती" इति
 चापां पंचमाग्निसंबन्धस्य पुरुषवचस्त्वहेतुत्वमात्रं प्रतिपादयति,
 नान्यग्निवारयति, श्रवधारणाश्रवणात् ।

तृतीय स्थानीय पापी के लिए पांच आहुतियों की अपेक्षा नहीं
 होती ऐसा ही शास्त्र में पाया जाता है । तृतीय स्थान शब्द से केवल पाप
 करने वालों का ही उल्लेख है, उनके लिए पंच आहुतियों की अनपेक्षा का
 इस प्रकार वर्णन किया गया है—"क्या तुम जानते हो कि—यह द्युलोक
 भर वगैरे नहीं जाना? "इस प्रश्न के उत्तर में—' बार बार आने जाने वाले
 क्षुद्र-व्यक्तियों का इन दोनों में से किसी भी मार्ग से घाना जाना नहीं
 होता उनकी तो यहीं मरने जीने की तीसरी गति होती, है इसलिए द्युलोक
 नहीं भरता ' ऐसे तृतीय स्थान का उल्लेख किया गया है, जिसमें द्युलोक
 के भग्नागमन का अभाव रहता है इस वचन ने तृतीय स्थानीय की
 शरीरारम्भ में, पंचाहुति अनपेक्षा जाय होती है । "पंचम्याहुतावापः"
 इत्यादि श्रुति तो केवल पंचाग्नि संबंधी जल को ही, पुरुष के स्वरूप का
 समुत्पादक सिद्ध करती है, अन्य कारणों का प्रतिषेध भी नहीं करती ।
 श्रुति में ऐसा कोई निश्चयात्मक शब्द भी नहीं है ।

स्मर्यन्तेऽपि च लोके । ३।१।१६॥

पुण्यकर्मणामपि केषांचित्पंचमाहुत्यनपेक्षया देहारंभोलोके
 स्मर्यन्ते द्रौपदीवृष्टद्युत्सप्रभृतीनाम् ।

स्मृतियों में—पुण्य करने वालों में भी, किसी किसी का देहारंभ,
 पांचआहुतियों के बिना उजलाया गया है, द्रौपदी वृष्टद्युत्सप्रभृति का
 इसी प्रकार का है ।

वर्शनाद्य । ३।१।२०॥

श्रुतावपि हर्यते केषांचित् पंचमाहुत्यनपेक्षया देहारंभः 'तिया

खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्ति आडजंजीवजमुद्भिजम्” इति, एवमुद्भिजस्वेदजयोः भूतयोः पंचमाहुतिमंतरेणोत्पत्तिर्दृश्यते ।

श्रुति में भी किसी किसी का पंचआहुति के बिना देहारंभ दिखलाया गया है—“इन भूतों में तीन ही प्रकार के बीज होते हैं अंडज, जीवज और उद्भिज” उद्भिज स्वेदज की उत्पत्ति, पांच आहुतियों के बिना ही दिखलाई गई है ।

ननुस्वेदजानामथ न संकीर्तनमस्ति “त्रीण्येव बीजानि” इति वचनात् तत्राह—

यहां स्वेदजों का तो उल्लेख ही नहीं है “त्रीण्येवबीजानि” ऐसा ही उल्लेख है? इसका समाधान करते हैं—

तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य ।३।१।२१॥

संशोकजस्य-स्वेदजस्यापि “आडजंजीवजमुद्भिजम्” इत्यत्र तृतीयेनोद्भिजशब्देनावरोधः संग्रहो विद्यत इत्यर्थः । अतः केवल पापकर्मणां चंद्रप्राप्तिसंभवति ।

“अण्डजंजीवजमुद्भिजम्” में कही गई तीसरी उद्भिज मृष्टि में ही स्वेदज का भी, उल्लेख हो जाता है । इस विवेचन से निश्चित होता है कि—केवल पाप करने वालों की, चान्द्रमसी गति नहीं होती ।

४—तत्स्वाभाव्यापत्यधिकरणः—

तत्स्वाभाव्यापत्तिरुपपद्यतेः ।३।१।२२॥

इष्टादिकारिणोभूतसूक्ष्मपरिष्क्वाः सानुशयाश्चन्द्रमसोऽवरोहं-
तीत्युक्तम्, भवरोहप्रकारश्च “अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते
यथेतमेकाशम् आकाशाद्वायुं, वायुभूत्वा घूमो भवति, घूमोभूत्वा
अभ्रंभवति, अभ्रंभूत्वा मेघोभवति, मेघोभूत्वा प्रवर्षति” इति
वचनात् । “यथैतमनेवं च” इत्युक्तम् तत्रास्याकाशादि प्रतिपत्ती

देवमनुष्यादिभाववदाकाशादिभावः, उत तत्सादृश्यापत्तिमात्रमिति
विशये श्रद्धावस्थस्यसोमभाववदविशेषादाकाशादिभावः

इष्टाधिकारी, भूतसूक्ष्म से परिव्यक्त होकर सानुशय चंद्रमार्ग से
अवरोहण करते हैं, तथा अवरोहण का प्रकार "उसी मार्ग से लौटते
हैं-आकाश से वायु-वायु से घूम-घूम से अन्न-अन्न से मेघ होकर वर्षते हैं
इस प्रकार बतलाया गया। इस पर संशय होना है कि-जीव, मनुष्यादि
देह की तरह होकर आकाश आदि से होकर आता है अथवा, आकाश
आदि सद्गुरूप बनकर आता है? इस पर समझ में आता है कि
श्रद्धावस्था में जैसी सोमभाव की प्रप्ति होती है, वंसा ही आकाशादि
भाव भी होता है।

सिद्धान्तः- इति प्राप्ते तत्स्वाभाव्यापत्तिरेवेत्युच्यते।
तत्स्वाभाव्यापत्तिः, तत्साहृदृश्यापत्तिरित्यर्थः। कुत एतत्? उपपत्तेः
सोमभावमनुष्यभावदौ हि सुखदुःखोपभोगाय तदभावः,
अत्रत्वाकाशादौ सुखदुःखोपभोगाभावात् तदभावानुपपत्तेस्तदापत्ति
वचनं तत्संसर्गकृततत्सादृश्यापत्यभिप्रायम्।

उक्त संशय पर सिद्धान्त बतलाते हैं कि-उमकी स्वाभाव्यापत्ति
का उल्लेख है, स्वाभाव्यापत्ति का तात्पर्य है तत्सदृशता प्राप्ति। सोमभाव
मनुष्यभावादि की प्राप्ति सुखदुःख के उपभोग के लिए ही होती है,
आकाशादि में सुखदुःख के भोग का अभाव रहता है, इसलिए तदापत्ति
या आकाश आदि कहने का अभिप्राय यह है कि-आकाश के साथ मिलकर
आकाश आदि का सा रूपधारण करता है।

५ नातिचिराधिकारः-

नातिचिरेण विशेषात् ३।१।२३॥

आकाश प्राप्ति प्रभृति यावद् ग्रीष्मादि प्राप्ति कि तत्र तत्र
नातिचिरं तिष्ठति, उतानियम इति विशये, नियमहेत्व-
भावादनियमः।

सिद्धान्तः—इति प्राप्यते उच्यते—नातिचिरेण—इति । कुतः? विशेषात् उत्तरत्र ब्रीह्यादि प्राप्ती “अतोवैखलु दुर्निष्प्रपतरम्” इति विशिष्यकृच्छ्र निष्क्रमणत्वाभिधानात् पूर्वत्रह्याकारादिप्राप्तावचिर-निष्क्रमणं गम्यते । दुर्निष्प्रपतरमिति छान्दसः त शब्दलोपः दुर्निष्प्रपतरं—दुःखनिष्क्रमणतरमित्यर्थः ।

आकाश आदि प्राप्ति से लेकर धान्य आदि की प्राप्ति तक जीव, थोड़ा ही समय व्यतीत करना है, अथवा उसके समय का कोई नियम नहीं है? इस शका पर विचार करने पर नियम का कोई हेतु तो समझ में आता नहीं इसलिए अनियम ही होगा ।

इस पर सिद्धान्त रूप से “नातिचिरेण” सूत्र प्रस्तुत करते हैं । इसका तात्पर्य है कि—अधिक समय नहीं लगा, ब्रीहि आदि रूप प्राप्ति का जो बल्लेख है, उससे ऐसा ही शात होता है । “बड़े कष्ट से निकलना होता है” ऐसे विशेष कष्टपूर्ण निष्क्रमण से शात होता है कि—इसके पूर्व के आकाश आदि रूप का, बहुत थोड़े समय में, निष्क्रमण हो जाता है । “दुर्निष्प्रपतरम्” इस शब्द में वैदिक व्याकरण के अनुसार द्वितीय “त” शब्द का शोष हो गया है, जिससे अर्थ होता है, दुःखपूर्णनिष्क्रमण वाला ।

६ अन्याधिष्ठिताधिकरणाः—

अन्याधिष्ठितैर्पूर्ववदमिलापात् । ३।१।२४॥

प्रथरोहन्तो जीवाः ब्रीह्यादिभावेन जायंत इति श्रूयते—“मेषो भूत्वा प्रवर्षति त इह ब्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाया जायते” इति । ते किमन्येभ्योऽम्ब्रिब्रीह्यादिशरीरैरधिष्ठितान् ब्रीह्यादीनां श्लिष्यंति उत ते भोकारो ब्रीह्यादिशरीरा जायंत इति विशये-“नायते” इति वचनात् देवो जायते मनुष्यो जायते इतिवद् ब्रीह्या-दिसारीरा एव—

सौटने वाले जीव, धान्य आदि भाव से उत्पन्न होते हैं— “मेष होकर वर्षते हैं, वे ही जो-बावल-ओषधि-वनस्पति-तिल-उर्द होकर

होते हैं " इस श्रुति से ज्ञात होता है। इस पर शंका होती है कि-ब्रीहि आदि शरीरधारी अन्य जीवों से अधिष्ठित ब्रीहि आदि के साथ संश्लेष मात्र होता है, अथवा वे स्वयं ही ब्रीहि आदि शरीर में उपभोग करते हैं। इस संशय पर चिन्तारने पर "जायन्ते" पद के अनुसार तो, "देवो जायते मनुष्यो जायते" इत्यादि की तरह, ब्रीहि आदि शरीरों में ही जन्म लेते हैं ऐसा निर्णय होता है।

सिद्धान्तः—इति प्राप्ते उच्यते—अन्याधिष्ठिते— इति। जीवा-
न्तरेणाधिष्ठिते ब्रीह्यादि शरीरे तेषां संश्लेषमात्रमेव। कुतः? पूर्वव-
दभिलापात्—आकाशादिभेदपर्यन्तवस्केवलतद्भावभिलापात्। यत्र
हि भोक्तृत्वमभिप्रेतम्, तत्र तत्साधन भूतं कर्माभिलप्यते "रमणीय-
चरणाः" "कपूयचरणाः" इति इह चाकाशादिवन्नाभिलप्यते
कर्म, फलप्रदाने प्रवृत्तस्य स्वर्गोपभोग्यफलस्फेडादेः कर्मणः स्वर्गो-
पभोगादेव समाप्तत्वात्, अनारब्धस्य "रमणीयचरणाः—" कपूय-
चरणाः" वक्ष्यमाणत्वात् मध्येकर्मान्तराभावाच्च। अत
आकाशादि भावचनवद् ब्रीह्यादि भावे तज्जन्म वचनमौपचारिकम्।

उक्त मत पर सिद्धान्त बतलाते हैं कि-जीव, अन्याधिष्ठित होकर ही लौटता है। ब्रीहि आदि के शरीर में उनका संश्लेष मात्र होता है आकाश से लेकर मेघ तक, उनका केवल तद्भाव मात्र बतलाया गया है, जहाँ उनका केवल भोक्तृत्व ही अभिप्रेत है, वहाँ उनके साधन मूल कर्म भी बतलाये हैं "रमणीयचरणाः, कपूयचरणाः" आदि। यहाँ आकाश आदि की तरह साधन रूप कर्म का तो उल्लेख है नहीं। वस्तुतः फलान्मुख स्वर्गोपभोग्य, शुभ कर्मों की भुक्ति तो, स्वर्गोपभोग से ही समाप्त हो आती है जिनकर्मों के फल आरंभ ही नहीं होते, "रमणीय चरणाः कपूय चरणाः" श्रुति में, उन्हीं की चर्चा की गई है। इसलिए कोई ऐसा कर्म समझ में नहीं आता कि जिसके फलस्वरूप, जीवों का ब्रीहि आदि शरीरों होना माना जाय। आकाश आदि भाव के वचन की तरह, ब्रीहि आदि भाव के वचन को भी, औपचारिक समझना चाहिए।

अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् । ३।१।२५॥

नैतदस्ति-यदन्याधिष्ठते ब्रीह्यादिसरीरे संश्लेषमात्रम्, भोक्तृत्व हेत्वभावान्न ब्रीह्यादि भावेन जन्म-इति भोक्तृत्वहेतुसम्भवात् स्वर्गोपभोग्यफलमिष्टादिकर्मैवाशुद्धम्-पापमिश्रम्, अग्नीषोमीयादि-हिंसायुक्तत्वात् । हिंसा च "हिंस्यात् सर्वभूतानि" इति निषिद्धत्वात् पापमेव । न चान्न पदाहवनीयादिवदुत्सर्गापवादभावः संभवति भिन्न विषयत्वात् । अग्नीषोमीयहिंसाविधिर्हिंसायाः क्रतूपकारकत्वं बोधयति "न हिंस्यात् " इति तु हिंसायाः प्रत्यघाप फलत्वम् ।

ब्रीहि आदि में अधिष्ठित जीव का संश्लेष मात्र ही होता है भोक्तृत्व के कारण का अभाव होने से, ब्रीहि आदि जन्म नहीं होता । यह कथन ठीक नहीं है । वहाँ पर भोग का कारण रहता है-, स्वर्ग में जिनका फलभोग होता है, वे यज्ञ आदि कर्म ही, अशुद्ध और पापमिश्रित रहते हैं, अग्निषोमीय यज्ञ हिंसायुक्त होते हैं, "प्राणिमात्र की हिंसा मत करो" इत्यादि में हिंसा का निषेध किया है, अतः हिंसा करना पाप ही है । यहाँ पर पदाहवनीयादि की तरह, उत्सर्गापवाद भाव भी नहीं हो सकता, क्योंकि यह विषय ही भिन्न है । अग्निषोमीय हिंसा विधि तो, हिंसा की यज्ञोपकारकता की ही बोधक है, "न हिंस्यात्" इत्यादि में तो सामान्यतः हिंसा की पाप जनकता बतलाई गई है ।

अथोच्येत-अग्नीषोमीयादिषु धिधितः प्रवृत्तेन तद्विषयं निषेधविधिरास्कन्दति, राग प्राप्तविषयत्वात्तस्येति । नैवम-इहापि रागप्राप्तेरविशिष्टत्वात् । "स्वर्गकामो यजेत्" इत्येवमादौ हि कामिनः कर्त्तव्यतया यागाद्युपदेशाद्यागादेः स्वर्गादिसाधनत्व-मधगम्य फलरागत एव यागादौ प्रवृत्ते अग्नीषोमीयादिष्वपि तैर्वाकनसाधनभूतस्य यागादेरुपकारकत्वं शास्त्रादवगम्य रागादेव । प्रवृत्तं लौकिक्यामपि हिंसायां केनचित् प्रमाणेन हिंसायाः स्व

समीहित साधनत्वमवगम्य रागात् प्रवृत्तं इति न कश्चन् विशेषः
 तथा नित्येष्वपिकर्मसु "सर्ववर्णानां स्वधर्मानुष्ठाने परम परि-
 मितं सुखम्" इत्यादि वचनात् फलसाधनत्वमवगम्य रागादेव
 प्रवृत्तिरिति तेषामप्यशुद्धि युक्तत्वम् । अत इष्टादीनां पापमिश्रत्वेना-
 शुद्धियुक्तानां स्वर्गेऽनुभाष्यफलं स्वर्गेऽनुभूयहिंसास्यफलं ब्रह्मादिस्था-
 वरभावेनानुभूयते स्यावरभावं च पापफलं स्मरन्ति-" शरीर
 जै कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः" इति । अतो ब्रह्मादिभावेन
 भोगायानुशयिनो जायन्त इति चेत् ।

यदि कहें कि अग्नीषोमीय आदि हिंसा कार्य में, जो लोगों की
 प्रवृत्ति होती है वह शास्त्र विधि मम्मत् है, अतः " न हिंस्यात्" वाक्य
 उस बंध प्रवृत्ति का बाधक नहीं हो सकता, इस वाक्य में तो, रागवश या
 स्वाभाविक हिंसा का ही विरोध किया है । सो ऐसी बात नहीं है— यहाँ
 भी राग के आंतरिक कोई विशेष बात नहीं है । "स्वर्गं कामोयजेत्"
 इत्यादि वाक्यों में, सकाम व्यक्तियों के लिए जो कर्तव्य रूप से याग
 का उपदेश दिया गया है, जिससे कि लोग, स्वर्ग प्राप्ति की कामना से
 ही, याग आदि कर्मों में प्रवृत्त होते हैं । अग्नि सोमीयआदि में भी, फल
 प्राप्ति की ही कामना रहती है । लौकिकी हिंसा में भी, किसी न किसी
 अंश में, अपनी अभीष्ट फलसिद्धि मानकर ही, रागपूर्वक हिंसा प्रवृत्ति
 है, वैदिक हिंसा में, इससे विशेष कोई बात नहीं समझ में आती । वैसे
 ही नित्यकर्मों में भी "अपने धर्मानुष्ठान में सभी वर्णों को अपरिमित
 सुख होता है " इत्यादि से फल साधनता की अवगति होने पर ही, राग
 वश लोगो की स्वकर्म में प्रवृत्ति होती है । नित्यकर्म भी, सकाम होने से
 अशुद्ध ही समझे जावेंगे । दण आदि, अनुष्ठान तो, सकाम होने से, पाप-
 अशुद्ध हैं ही, उनका फल स्वर्ग में अनुभूत हो जाने पर, अवशिष्ट हिंसा
 के फल को भोगने के लिए, ब्रह्मादि स्थावर शरीरों की प्राप्ति
 होती है । जिनमें उस फल का भोग हो जाता है स्यावर भाव, पाप के फल
 स्वरूप ही होता है, ऐसा स्मृति का प्रमाण भी है—"शारीरिक कर्म के दोषों
 से मनुष्य स्यावर होता है" इत्यादि इससे सिद्ध होता है कि— जीव,

चन्द्रलोक से, भोगानुशायी होकर लौटते समय, ब्रौहि आदि स्यावर योनियो में, उत्पन्न होता हुआ आता है ।

तन्न, कुतः? शब्दात्— अग्नीसोमीयादेः संज्ञपनस्य स्वर्गलोक प्राप्ति हेतुतया हिंसास्वाभावः, शब्दात् । पशोर्हि संज्ञपन निमित्तां स्वर्गलोक प्राप्तिवदंतं शब्दमामन्ति "हिरण्यशरीर ऊर्ध्वः स्वर्गं लोकमेति" इत्यादिकम् । अतिशयिताभ्युदयसाधनभूतोऽध्यापारोऽप्य दुःखदोऽपि न हिंसा, प्रत्युत् रक्षणमेव । तथा च मंत्रवर्णः— "न वा उ एतस्मिन्नियसे न रिष्यसि देवान इदेपि पथिभिः सुगेभिः । यत्र यति सुकृतो नापि दुष्कृतस्तत्रत्वा देवः सविता दधातु" इति । चिकित्सकं च तादात्विकाल्पदुःखकारिणमपि रक्षकमेव वदति, पूजयति च तज्ज्ञाः ।

जैसा तकं उपस्थित किया गया, यात वैसी नहीं है-उक्त मत शास्त्र सम्मत नहीं है । अग्नीसोमीय आदि जो हिंसा की विधि है, वह स्वर्ग लोक की प्राप्ति का हेतु है, इसीलिए उसे अहिंसा शब्द से प्रयोग किया गया है । पशु के विधिपूर्वक वध करने पर स्वर्गलोक की प्राप्ति का स्पष्ट उल्लेख, श्रुति में है "हिरण्य (स्वर्णमय) शरीर धारण करके, ऊर्ध्वगामी स्वर्गलोक प्राप्त करता "इत्यादि । अत्यंत अभ्युदय की साधन रूपा क्रिया, थोड़ी दुःखदायी भी हो तो उसे हिंसा नहीं कहते अपितु वह रक्षण ही है । बंदिकमंत्र में भी जैसे— "हे पशु । इस प्रकार के वध से तुम मरते नहीं, जोर न हिंसित हो होते हो, तुम सरल रीति से देवमार्ग की प्राप्त हो रहे हो । जहाँ पुण्यवान् ही जाते हैं, पापी नहीं जाते, उस स्थान में सवितादेव तुम्हें पहुँचावें । "इत्यादि चिकित्सक भी, चिकित्सा के समय रोगी को थोड़ा बहुत दुःख देते ही हैं फिर भी, समझदार लोग उन्हें रक्षक कहकर पूजते हैं ।

कामिनः कता ।३।१।२६॥

मधगम्य फलराग, श्रीह्यादिजन्मवचनं, श्रीह्यादिभाववचनानंतरं
तेषां कत्रसाधनभूतस्य सिधति तदभूय एव भवति" इति रेतः
प्रवर्तते सांक्षिप्यमपि -

सिग्भावोऽनुशयिनां श्रूयमाणो यथा तद्योगमात्रं प्रतिपादयति,
तद्वद् श्रीह्यादिभावोऽपीत्यर्थः ।

श्रीहि आदि के जन्म की बात तो औपचारिक ही है, श्रीहि आदि भाव के बोधक वाक्यों के दाद 'जो जो मन्त्र खाते है जो रेत सिचन करते हैं बहुलांश में वही होते है' इत्यादि श्रुति में, दिखलाया गया है कि- शुक्र सिचनभाव से जीव का, रेत सिचक के साथ जैसा संबंध होता है, श्रीहि आदि भाव में भी वंसा ही संश्लेष होता है ।

योनिः शरीरम् ३।१।२७॥

योनि प्राप्तैः पंचादेवानुशयिनां शरीरं प्रति, तत्त्वं सुखदुःखो-
पभोगं सद्भावात् । ततः प्रागाकाशादि प्राप्ति प्रभृति तद्योग-
मात्रमेवेत्यर्थः ।

कर्मभोगानुशामी जीवों को, योनि से ही शरीर प्राप्ति होती है, सभी सुखःदुःख उपभोग होते हैं उसके प्रथम आकाश आदि में तो केवल जीव का योग मात्र होता है ।

॥ प्रथम पाद समाप्त ॥

द्वितीय पाद

१ संध्याधिकरणः—

संध्ये सृष्टिराह हि ।३।२।१॥

एवं कर्मानुरूपगमनागमनजन्मादियोगेन जाग्रतो जीवस्य दुःखित्वं स्थापितं इदानीमस्य स्वप्नावस्था परोक्ष्यते । स्वप्नमधिकृत्य श्रूयते—“न तत्र रथा न रथयोगा न पथानो भवन्ति, अथारथान् रथयोगान् पथः सृजते न तत्रानंदा मुदः प्रमुदो भवन्ति, अथानंदान् मुदः प्रमुदः सृजते न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्ति, अथ वेशान्ता पुष्करिण्यः स्रवन्त्यः सृजते स हि कर्ता” इति तत्र संशयः, किमयं रथादिसृष्टिर्जीवेनैव क्रियते, आहोस्विदीश्वरेण? इति किं युक्तम्? संध्येसृष्टिर्जीवेनेति । कुतः? संध्यं स्वप्नस्थानमुच्यते “संध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानमिति वचनात् । सा तु जीवेनैव क्रियते “सृजते स हि कर्ता” इत्यादि हि । स्वप्नदृग्जीव एव तत्र प्रतीयते ।

कर्मानुरूप आवागमन जन्म आदि योग से जाग्रत जीव को, दुःख प्राप्ति बतला दी गई । अब जीव को स्वप्नावस्था का विश्लेषण करते हैं । स्वप्न के विषय में श्रुति में कहा गया है कि—“न वहाँ रथ, न रथ का संसर्ग, न मार्ग होते हैं, अपितु, रथ, अश्व, मार्ग आदि की सृष्टि करता है । न वहाँ आनंद, मोद और प्रमोद ही रहते हैं, अपितु आनंद-मोद-प्रमोद की सृष्टि करता है । वहाँ छोटे जलाशय, पुष्करिणी और नदियाँ भी नहीं होती, अपितु वेसांत, पुष्करिणी और नदियाँ की सृष्टि करता है । वहाँ उसका कर्ता है ।” इस पर संग्रह होता है कि—यह सृष्टि जीव कृत है भयंकर ईश्वर कृत? विचार करने पर सन्म हृद्य सृष्टि जीव कृत ही मान्य होती है । संधि स्वप्न स्थिति को ही कहते हैं—“संध्या तीसरा स्वप्नस्थान

है "इत्यादि । ' जो रचे सो कर्ता" इस वाक्य से स्वप्न को देखने वाला जीव ही, स्वप्न सृष्टि का कर्ता प्रतीत होता है ।

निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ।३।२।२॥

किञ्च—एनं जीवं स्वप्नेकामानां निर्मातारमेके शाखिनोऽधीयते
 "य एषु सुक्षेपु जागतिं कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः" इति,
 पुत्रादयश्च तत्र काम्यमानतया कामशब्देन निर्दिश्यते, नेच्छामात्रम्,
 पुत्रं हि "सर्वान् कामान् छंदतः प्राययस्व" "शतायुषः पुत्रपौत्रान्
 वृणीष्व" इति पुत्रादय एव कामाः प्रकृताः । अतोरयादीन् जीवः
 स्वप्ने सृजति जीवस्य च सत्यसंकल्पत्वं प्रजापति वाक्ये श्रुतम्,
 अतः उपकरणाद्यभावेऽपि सृष्टिरूपपद्यते ।

किसी किसी वेद की शाखा में जीव को स्वप्नदृश्य "कामों" का निर्माता भी कहा गया है—"नाना प्रकार के भोगों का निर्माण करने वाला पुरुष सोता हुआ भी जागता है" । पुत्र आदि ही वहाँ पर काम्य वस्तुओं के रूप में निर्देश किये गये हैं, केवल इच्छा मात्र ही, उसका अभिप्राय नहीं है । उक्त वाक्य के पूर्व के वाक्य में कहा गया है कि—"सभी कामों को इच्छानुसार मांग लो "सकड़ों वर्षों की आयु वाले पुत्र पौत्रों को मांग लो" इनमें पुत्रादि को ही काम रूप से बतलाया गया है । इससे निश्चित होता है कि-रथ आदि की स्वप्न रचना जीव ही करता है । जीव की सत्यसंकल्पता भी, श्रुति के प्रजापतिवाक्य में कही गई है । इसलिए बिना साधन के भी जीव में सृष्टि रचना की क्षमता है ।

सिद्धान्तः—इति प्राप्तेऽभिधीयते

मायामात्रं तु कात्स्न्येनानभिव्यक्त स्वरूपत्वात् ।३।२।३॥

तु शब्दः पक्षंभ्यावत्तयति, स्वप्नरथपुपकिरिष्याद्ययंजातं
 मायामात्रं परं पुरुषसृष्टमित्ययं । मायाशब्दोहि आरचयंवाची
 "जनकस्य कुलेजातादेवमायेवनिर्मिता" इत्यादिषु तथा दर्शनात् ।
 अत्रापि—"न तत्र रथा, न रथयोगा न पंथानः" सकलेतरपुरुषानु-

देहयोगाद्वा सोऽपि ।३।२।५॥

सोऽपि तिरोभावो देहयोगद्वारेण वा भवति, सूक्ष्माचिच्छक्ति योगद्वारेण वा, सृष्टिकाले देहावस्थेनाचिद्वस्तुना संयोगाद् भवति प्रलयकाले नामरूपविभागानर्हातिसूक्ष्माचिद् न वस्तुयोगात् । अतोऽनभिव्यक्तस्य रूपत्वात् स्वप्ने जीबोरथादीन् संकल्पमात्रेण स्रष्टुं शक्नोति । “तस्मात्लोकाः श्रिताः सर्वे तदुनात्येति करचन् “इति सर्वेषु सुप्तेषु जागरणं सर्वलोकाश्रयत्वमित्यादयो हि परमपुरुषस्यैव संभवन्ति । अतो जीवानामल्पाल्पकर्मानुगुणफलानुभवार्थं तावन्मात्रकालावसानान् तदेकानुभाव्यानर्थानुत्पादयति ।

जीव का स्वरूप तिरोभाव, देहयोग और सूक्ष्मजडशक्ति द्वारा होता है । सृष्टि के समय, देह में स्थित जड़ वस्तु के संयोग से होता है, और प्रलय काल में नामरूप से अविभक्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म जड़ वस्तु के योग से होता है । इसलिए निर्दोषता आदि अनभिव्यक्त स्वरूप वाला जीव, स्वप्न में, संकल्प मात्र से रथ आदि सृष्टि कर ले ऐसा संभव नहीं है । “उमी में संपूर्ण लोक आश्रय पाते हैं, उसे कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता” इत्यादि में जो विशेषतायें बतलाई गई हैं, वह परमपुरुष परमात्मा में ही संभव हैं । सूक्ष्मातिसूक्ष्म कर्मों के अनुसार, फलों का भोग कराने के लिए उतने ही समय में समाप्त होने वाले, एकमात्र जीव के अनुभव में आने वाले स्वापिक पदार्थों, कौ, परमात्मा सृष्टि करते हैं; ऐसा ही निश्चित होता है ।

सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ।३।२।६॥

इतरचस्वा प्राअर्चानि जीवसंकल्पपूर्वकाः, यतः स्वप्नोऽभ्युदयानभ्युदयोः सूचकः श्रुतेरवगम्यते “यदाकर्मसुकांभ्येषु स्थित्यं स्वप्नेषु पश्यति समृद्धिं तत्र जानीयात् तरिमन्स्वप्ननिदर्शने” इति “अथस्वप्ने पुरुषं कृष्णं कृष्णदंतं पश्यति स एनं हंति “इत्यादेश्च । स्वप्नाध्यायविदश्च स्वप्नं शुभाशुभयोः सूचकमाचक्षते । सूचकत्वं च स्वसंकल्पायत्तस्य

नोपपद्यते, तथाचाशुभस्यानिष्टत्वाच्छुभस्यसूचकमेव सृष्ट्वा पश्येत्
अतः स्वप्ने सृष्टिरीश्वरेणैव कृता ।

इसलिए भी स्वप्न विषय, जीव के संकल्पित नहीं हो सकते—कि
श्रुतियों में— अभ्युदय और पतन के सूचक स्वप्नों का उल्लेख है जैसे कि—
“जब किसी अनुष्ठान में संलग्नव्यक्ति, स्वप्न में स्त्री का दर्शन करता है
तो उससे उसकी समृद्धि समझनी चाहिए” तथा “स्वप्न में यदि, काले
दांत वाले काले पुरुष का दर्शन होता है तो वही पुरुष स्वप्न दृष्टा को
मारता है” इत्यादि । स्वप्नाध्याय के ज्ञाताओं ने, स्वप्न को शुभाशुभ सूचक
कहा है । यह वस्तु अपने संकल्प के अधीन नहीं होती, अशुभता तो किसी
को अभीष्ट होती नहीं, इसलिए शुभ सूचक स्वप्न की ही सृष्टि करके स्वयं
देखने की बात समझ में नहीं आती । इससे स्वप्न सृष्टि परमात्मा की
सिद्ध होती है ।

२ तदभावाधिकरणः—

तदभावोनाडीपु तच्छ्रुतेरात्मनि च ।३।२।७॥

इदानीं सुषुप्ति स्थानं परीक्ष्यते । इदमाम्नायते—“यत्रैतत्सुप्तः
समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानाति आसु तदानाडीपु सुप्तो भवति”
इति तथा—“अथ यदा सुषुप्तो भवति यदा न कस्यचन वेद हिता
नाम नाड्यो द्वासप्तति सहस्राणि हृदयात् पुरोततमभिप्रतिष्ठते
ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते” इति तथा—“यत्रैतत् पुरुषः
स्वपिति नाम सता सोम्य तदा सपन्नो भवति” इति । एवं नाड्यः
पुरीतत् ब्रह्म च सुषुप्तिस्थानत्वेन श्रूयंतं, किमेपा विकल्पः
समुच्चयोवेति विशये निरपेक्षत्वप्रतीतेः युगपदनेकस्थानवृत्त्य-
संभवाच्च विकल्पः ।

अब सुषुप्ति अवस्था पर विचार करते हैं । ऐसी श्रुति है कि—“ये
जीव, जित्त, ममय इन्द्रिय संबंध से रहित होकर एवं पूर्ण प्रमग्नता प्राप्तकर,
किसी प्रकार का स्वप्न नहीं देखता तब इन नाडियों में सोता है” “जब
वह सोता है तब उस समय वह किसी के विषय में कुछ नहीं जानता,

वह पुरह्वार हिता नाडियाँ जो कि-हृदय के पुरीतत स्थान से निकलती हैं उन्हीं के द्वारा चलकर वह पुरीतत में जाकर विश्राम करता है "पुरुष जिस समय सोया समझा जाता है, उस समय वह सद्ब्रह्म से संसक्त रहना है" इत्यादि वाक्यों में-नाडियाँ, पुरीतत और ब्रह्म को सृष्टि स्थान बतलाया गया है। अब संशय होता है कि-तीनों ही सृष्टि स्थल हैं अथवा इसमें से कोई एक है? विचार करने पर ऐसा समझ में आता है कि-एक ही समय में अनेक स्थानों में रहना तो संभव है नहीं, तीनों एक दूसरे से सापेक्ष भी नहीं प्रतीत होते, इसलिए इनमें से किसी एक ही में स्थिति हो सकती है।

सिद्धान्त.—इति प्राप्ते उच्यते-तदभावः, इति । तदभाव-स्वप्नाभावः सुषुप्तिः, नाडीपुपुरीतन्यात्मनि च भवति, एषां स्थानानां समुच्चय इत्यर्थः । कुतः? तच्छ्रुतेः त्रयाणां स्थानत्व श्रुतेः । न च कार्यभेदेन समुच्चये संभवति, पाक्षिकवाचगर्भविकल्पोन्याय्यः । संभवति च प्रासादखट्वापर्यंकवन्नाड्यादीनां कार्यभेदः । तत्रनाडीपुरीतनी प्रासादखट्वास्थानीयौ, ब्रह्म तु पर्यंकस्थानीयम् । अतोब्रह्मैव साक्षात् सुषुप्तिस्थानम् ।

उक्त मंशय पर सिद्धान्त कहते हैं कि-स्वप्न का अभाव ही निद्राहै-सृष्टि तीनों स्थानों में होती है, ऐसी श्रुति की विज्ञप्ति है। कार्य में भेद होने से ही समुच्चय नहीं होता, एककार्यता होने से ही समुच्चय संभव है, किसी एक की कल्पना करना उचित नहीं है। ऐसा करने में पाक्षिक बाध होगा। इन तीनों में महल, खाट, गोद का सा भेद है। नाडी और पुरीतत को महल और साट समझना चाहिए तथा ब्रह्म की गोद में ही शयन समझना चाहिए। ब्रह्म ही साक्षात् सुषुप्ति स्थान है।

अतः प्रबोधोऽस्नात् ।३।२।॥

यतो ब्रह्मैव साक्षात्सुषुप्तिस्थानम्, अतः-अस्मात् ब्रह्मणः एषां जीवानां प्रबोधः श्रूयमाण उपपद्यते—"स त आगम्य न विदुः सत प्रागच्छामहे" इत्यादिपु ।

जैसे कि- ब्रह्म को ही साक्षात् सुषुप्ति स्थान कहा गया है वैसे, ब्रह्म से ही, जीवों के जागरण की बात भी कही गई है। "सत् ब्रह्म के निकट से लौटने पर, जीव नहीं समझ पाता कि मैं सत् के पास से आ रहा हूँ" इत्यादि।

३ कर्मानुस्मृतिशब्दविध्याधिकरणः-

स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ।३।२।६॥

कि सुषुप्त एव प्रबोध समये उत्तिष्ठति उत्तान्यः? इति संशये अस्य सकलोपाधिविनिर्मुक्तस्यब्रह्मणि संपन्नस्य मुक्तादविलक्षणत्वेन प्राचीनशरीरेन्द्रियादिबन्धवाभावादन्वयः ।

क्या सोने वाला ही, जागता है, या कोई और जागता है? इस पर विचारने से, समझ में आता है कि-मुषुप्न व्यक्ति जब संपूर्ण उपाधियों से रहित ब्रह्म से संसक्त रहना है तो वह मुक्त पुरुष से तो किसी प्रकार कम है नहीं, क्योंकि-वह प्राक्तन शरीर इन्द्रिय आदि से रहित हो जाता है। इसलिए जागने वाला कोई अन्य ही हो सकता है।

सिद्धान्तः—इति प्राप्ते उच्यते—"स एव तु" इति । तुशब्द पक्षं व्यावर्त्तयति, एवोत्तिष्ठति, कुतः ? कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः । कर्म-तावत्सुषुप्तेन पूर्वकृतं पुण्यपापरूप तत्त्वजानात्प्राक्तेन नैव भोक्तव्यम् । अनुस्मृतिरपि—"य एताह सुप्तः स एव प्रबुद्धोऽस्मि" इति । शब्दोऽपि सुषुप्तप्रबुद्ध-स एवेति दशयति—"त इह व्याघ्रो वा, सिंहो वा, वृको वा वराहो वा, कीटो वा, पतंगो वा, दंशो वा, मशको वा यद्यद् भवति तेषा भवन्ति" इति । विषयश्च मोक्षार्थः सुषुप्तस्य मुक्त्त्वेऽनर्थकाः स्युः । न चासौ सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं प्राविभूतं स्वरूपः "तद् यत्रैतत् सुषुप्तः" इति सुषुप्तं प्रकृत्य" नाहं खल्वयमेवं सप्रत्यात्मानं जानात्ययमहम-स्मोति नो एवेमानि भूतानि विनाश मे वाणोतो भवति नाहमत्रं भोग्यं पश्यामि" इति वचनात् । मुक्तस्य च—"परं ज्योतिरुपसंपद्यत्वेन स्फे-

शाभिनिष्पद्यते" स तत्र पर्येति जक्षत् क्रीडन् रममाणः "स स्वरा-
 ड्भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" "सर्वं हि परयः
 परयति सर्वमाप्नोति सर्वशः" इति सर्वज्ञत्वादि श्रूयते । अतः सुपुप्तः
 संसरन्नेव आयस्तसर्वकरणो ज्ञानभोगाद्यराक्तो विश्रामस्थानं परमा-
 त्मानमुपसंपद्याश्वस्तः पुनर्भोगायोत्तिष्ठति ।

उक्त संशय पर सिद्धान्त बतलाते हैं कि-वही उठता है । तु शब्द
 उक्त तर्क का निवारक है । कर्म-अनुस्मृति-शब्द और विधि से, उसी को
 उठने की बात सिद्ध होती है । सुपुप्त व्यक्ति को जब तक तत्त्व ज्ञान नहीं
 होता, तब तक, पुण्यपापरूप पूर्वकृत कर्म, उसे भोगने ही पड़ेंगे, ऐसी
 कर्मसंबन्धी व्यवस्था है । " जो मैं सोया था, वही मैं उठ आया " ऐसी
 जगने वाले व्यक्ति की पुर्वानुस्मृति होती है । सोना और जागना एक ही
 व्यक्ति का होता है, ऐसा श्रुति शब्दों से भी ज्ञात होता है, जैसे कि-" जो
 जो सोने के पूर्व, व्याघ्र-सिंह-बृक-वाराह-कीट-पतंग-मच्छर आदि देखे
 जाते हैं, जागने बाद उनकी वैसे ही अनुभूति होती है ।" इत्यादि सुपुप्ति
 से ही यदि मुक्ति होजाती तो, भोक्षविधायक शास्त्रों की सार्थकता ही
 समाप्त हो जाती है । यह जीव सुपुप्ति के समय, उपाधियों से रहित
 आविर्भूत स्वरूप नहीं रहता । "जीव जिस समय सोता है" ऐसी उसकी
 सुपुप्ति बतलाकर-" उस समय वह जीव " मैं ऐसा हूँ " ऐसी अनुभूति
 नहीं कर पाता दृश्य मान पदार्थों को भी नहीं जानता, विनष्ट पदार्थों को
 भी नहीं जानता, मेरी लिए भोग्य क्या है, उसे ऐसा मान भी नहीं रहता"
 इत्यादि में उसकी तात्कालिक परिस्थिति का विश्लेषण किया गया है । मुक्त
 रूप का वर्णन इस प्रकार किया गया है-" परम ज्योति को प्राप्त कर
 अपने ज्योतिर्मय रूप में अभिव्यक्तहोता है ।" वह मुक्त पुरुष उस
 अवस्था में भक्षण-क्रीडा-और रमण करता हुआ विचरण करता है "वह
 स्वच्छंद हो जाता है, उसकी सभी लोकों में अप्रतिहत गति हो जाती
 है ।" 'तत्त्वदर्शी सब कुछ देखता है और सब कुछ प्राप्त कर लेता है"
 इत्यादि में मुक्त पुरुष की ही सर्वज्ञता का उल्लेख किया गया है । इतसे
 स्पष्ट होता है कि-सुपुप्त व्यक्ति संसारी होते हुए भी, समस्त इन्द्रियों
 की चेष्टाओं से रहित, विषयों की उपलब्धि और भोग आदि से असक्त

होकर विश्रामस्थल परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर, आश्वस्त होता है, और पुनः भोग के लिए उठ बैठता है ।

गुग्धाधिकरण :—

४ मुग्धेऽर्धं संपत्तिः परिशेषात् । ३।२।१०॥

मुग्धमधिकृत्य चिंत्यते, किमियं मूर्च्छां सुषुप्त्यादिष्वन्यतमावस्था, उतावस्थान्तरमिति विशये सुषुप्त्यादीनां अन्यतमावस्थायामेव मूर्च्छां प्रसिद्धि उपपत्तेरवस्थान्तरकल्पने प्रमाणाभावादन्यतमावस्था ।

अब मूर्च्छा पर विचार करते हैं, विचार होता कि यह मूर्च्छा क्या सुषुप्ति आदि अवस्थाओं का ही कोई प्रकार है अथवा, कोई स्वतंत्र अवस्था है? इस पर समझ में तो ऐसा आता है कि— सुषुप्ति आदि किसी एक में ही, इसका अन्तर्भाव हो सकता है, इसकी पृथक् कल्पना करने का कोई कारण समझ में नहीं आता, यह उन्हीं में कोई एक अवस्था है ।

सिद्धान्तः—इति प्राप्ते उच्यते—“मुग्धेऽर्धसंपत्तिः” इति । मुग्धे पुरुषे यातस्यावस्था सा मरणायार्धसंपत्तिः । कुतः ? परिशेषात् न तावत् स्वप्नजागरी, ज्ञानाभावात् । निमित्तवैरूप्यादाकारवैरूप्याच्चे न सुषुप्तिमरणे निमित्तं हि मूर्च्छाया अभिधातादिः । परिशेष्यात् मरणायार्धसंपत्ति मूर्च्छा, मरणं हि, सर्वप्राणदेहसंबंधोपरतिः, सूक्ष्म प्राणदेह संबंधावस्थिति मूर्च्छा ।

उक्त मत पर सिद्धान्त कहते हैं कि—मूर्च्छा आधी मृत्यु है । मुग्ध पुरुष की जो अवस्था होती है वह मरण की आधी अवस्था होती है । स्वप्न और जागृति में तो उसका अन्तर्भाव कर नहीं सकते, क्योंकि—इसमें ज्ञान का अभाव रहता है । कारण की विभिन्नता और आकृति की विभिन्नता से इसे सुषुप्ति और मरण में भी अंतर्भाव नहीं कर सकते । सांघातिक चोट आदि मूर्च्छा के कारण होते हैं । इसलिये मूर्च्छा को सबसे भिन्न ही मानना चाहिए, वह मरण की अर्ध अवस्था है । मरणावस्था में

सुवीर्यशक्त्यादि गुणैकराशिः, परः पराणां सकलान् यत्र क्लेशादयः सति परावरेणे "समस्त रहितं विष्णवाख्यं परमंपदम्" इत्यादि-श्रुतिस्मृतिभ्यः, उभयलक्षणं हि ब्रह्मावगतम् ।

उक्त मत पर सिद्धान्त बतलाते है कि पृथिवी आदि में स्थित रहने हुए भी, परब्रह्म परमात्मा में अपुरुषार्थ की गंध तक नहीं आती । श्रुति और स्मृतियों में, परब्रह्म को उभयलक्षणों वाला बतलाया गया है । अर्थात् उनमें, दोषहीनता और कल्याणगुणाकरता दोनों विशेषताएँ हैं । जैसे कि—“वह, निर्दोष, अजर, अमर, शोक-भूख-प्यास रहित, सत्य काम और सत्य संकल्प है” वह समस्त कल्याणमय गुणों से युक्त, अपनी अंश रूप शक्ति से संपूर्ण जगत को धारण किये हुए है, तेज-बल-ऐश्वर्य-विशुद्ध ज्ञान उत्कृष्ट वीर्य और शक्ति आदि गुणों के एक मात्र पात्र, श्रेष्ठों के श्रेष्ठ हैं, उनमें बड़े छोटे किसी प्रकार के दोष नहीं हैं “समस्त हीनताओं से रहित, विष्णु नामक परदेव हैं ।” इत्यादि श्रुति स्मृतियों में उभयगुणवाले ब्रह्म का उल्लेख है ।

भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ।३।२।१२॥

यथा जीवस्य प्रजापतिवाक्यादगतापहतपाप्मत्वाद्युभयलिगस्यापि देवादिदेहयोगरूपावस्थाभेदादपुरुषार्थयोगः, तथान्तर्यामिणः परस्यापि सतोऽपहतपाप्मत्वाद्युभयलिगस्यतत्तदेवादि शरीरयोगरूपावस्थाभेदादपुरुषार्थयोगोऽवर्जनीय इति चेत्, तत्र, प्रत्येकमतद्वचनात्—“यः पृथिव्यां तिष्ठन् “य आत्मनि तिष्ठन्” इत्यादिषु प्रतिपर्यायं “सत आत्मान्तर्यामीतः” इत्यन्तर्यामिणोऽस्मृतत्ववचनेन तत्र तत्र स्वेच्छाया-नियमनं कुर्वन्तस्तत्संबंधप्रयुक्ता पुरुषार्थप्रतिषेधात् । जीवस्य तु तत्स्वरूपं तिरोहितमिति “पराभिध्यानात् तिरोहितम्” इत्यत्रोक्तम् ।

यदि कहें कि-प्रजापति वाक्य में बतलाया गया है कि-जीव में भी निर्दोषता आदि उभय विध गुण विद्यमान हैं, पर उसमें देव मनुष्य आदि देहयोग की अवस्थाओं के भेद से, अपुरुषार्थ मतिवायं होता है । वैसे ही अन्तर्यामी परब्रह्म के भी, उभयविध गुण होते हुए भी अपुरुषार्थ होगा

ही। सो बात नहीं है क्योंकि परमात्मा की प्रत्येक में स्थित और अनासक्ति बतलाई गई है। “जो पृथ्वी में स्थित होकर” “जो आत्मा में स्थित होकर” “इत्यादि में निर्दिष्ट पर्यायों में “वही तुम्हारे अन्तर्यामी अमृत स्वरूप आत्मा है” ऐसे अमृतत्व निर्देश द्वारा, स्वेच्छा से नियमन करने वाले परमेश्वर के, विशेष-विशेष दोषों का प्रतिषेध किया गया है। जीव का उभयविध गुणों वाला स्वरूप तो तिरोहित रहता है “पराभिधानात्तु तिरोहितम्” सूत्र से यह बतला चुके हैं।

ननु स्वेच्छया कुर्वतोऽपि तत्तद्वस्तुस्वभावायत्तापुरुषार्थ संबंधो अवर्जनीय इत्युक्तम्। नैतद्युक्तम्, नहि अचिद्वस्वस्त्वपि स्वभावतोऽपुरुषार्थस्वरूपम्, कर्मवश्यानां तु कर्मस्वभावानुगुण्येन परमपुरुषसंकल्पादेवामेववस्तु कालभेदेनपुरुषभेदेन च सुखाय दुःखाय च भवति, वस्तुस्वरूपप्रयुक्ते तु तादरूप्ये सर्वं सर्वदा सर्वस्य सुखायैव दुःखायैव वा स्यात्, न चैवं दृश्यते, तथाचोक्तं “नकंस्वर्गसंज्ञे वै पापपुण्ये द्विजोत्तम, यस्त्वेकमेव दुःखाय सुखायेष्यगिमाम च। कोपाय च यतस्तस्माद्वस्तुवस्त्वात्मकं कुतः, तदेव प्रीतये भूत्वा न दुःखाय जायते। तदेव कोपाय यतः प्रसादाय च जायते, तस्माद् दुःखात्मकं नास्ति न च कंचित् सुखात्मकम्” इति। अतो जीवस्य कर्मवशयत्वात्तत्तद् कर्मानुगुण्येन तत्तद्वस्तु संबंध एवापुरुषार्थः स्यात् परस्य। तु ब्रह्मणः स्वाधीनस्य स एव संबंधस्तत्तद् विचित्रनियमनरूपलीला रसयैव स्यात्।

परमेश्वर स्वेच्छा से कार्य करते हुए भी, वस्तुओं के स्वभाव से आयत्त होने के कारण उनका अपुरुषार्थ अनिवाय हो जाता है, ऐसा कथन भी उपयुक्त नहीं है। जब वस्तु भी स्वभाव से अपुरुषार्थ स्वरूप नहीं होती अपितु कर्माधीन होने से अपने ही स्वभावानुसार एक ही वस्तु परमेश्वर के संकल्प से बाल भेद और पुरुष भेद से सुखकर और दुःखकर होती है। वस्तुओं में यदि सुख और दुःख स्वाभाविक होते तो, सभी वस्तुएं तद्रूप होने से या तो सुखी रहती या दुःखी ही रहतीं। ऐसा तो

होना नहीं। जैसा कि-कहा भी गया है कि-“हे द्विजोत्तम। पाप और पुण्य ही, नरक और स्वर्ग नाम से कहे जाते हैं। एक ही वस्तु सुखकर दुःखकर, ईर्ष्याजनक और कोपजनक होती है, इसलिए उसका वास्तविक स्वरूप कैसे जाना जाय? जो वस्तु प्रीतिजनक होकर पुनः दुःखदायी हो जाय और वही कोप और प्रसन्नता की भी कारण हो जाय तो उससे पता चलता है कि-न कोई वस्तु दुःखात्मक है न सुखात्मक।” इत्यादि वाक्य से ज्ञान होना है कि-कर्माधीन होने से, कर्मानुसार वस्तुओं का संबंध ही, जीव के लिए अपुरुषार्थ होता है तथा स्वाधीन परब्रह्म के वे ही संबंध, विचित्र नियमन रूप लीला रस के कारण होते हैं।

अपिचंचमेके ।३।२।१३॥

अपि च एके शाखिनः एकस्मिन्नेव देहसंयोगे जीवस्यापुरुषार्थं परस्य तु तदभावं नियमनरूपैश्वर्यायत्त दोसिप्रयोगं च स्वशब्देनाभिधीयते-“द्वासुपर्णा सधुजा सखाया समानं वृक्षं परिपस्वजाते, तयोरन्नं पिप्पलं स्वादवत्प्यनश्न्नन्यो अभिचाकशीति” इति ।

श्रुति की एक शाखा में भी, एक ही देह संयोग में, जीव के अपुरुषार्थ और परमेश्वर में उसके अभाव और नियमन रूप ऐश्वर्य से अधीन स्वप्रकाश का विवेचन किया गया है “सहयोगी, समान स्वभाव वाले दो पक्षी, एक ही वृक्ष पर बैठे हैं, उनमें से एक पक्षी हुए कर्मफल का भोग करता है, दूसरा साक्षी रूप से देखता मात्र है।”

अथ स्यात्-“अनेन जीवेनात्माऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि” इति ब्रह्मात्मकं जीवानुप्रवेशपूर्वकं नामरूपव्याकरणमिति ब्रह्मणोऽपि ब्रह्मात्मभूतस्य देवमनुष्यादिरूपत्वं तन्नामभाक्तत्वं चास्ति तत्तरच “ब्राह्मणो यजेत्” इत्यादि विधिनिषेधशास्त्रगोचरत्वेन कर्मवश्यत्वमवर्जनीयमिति तत्राह—

(शंका) ऐसा होते हुए भी “मैं इस जीवात्मा में प्रवेश करके नामरूप को व्यक्त करूँगा” ऐसी ब्रह्मात्मक अभिव्यक्ति तदारमक होने से

परब्रह्म के-समस्तदोष राहित्य और कल्याण गुणाकरत्व, रूप दोनों लक्षण सिद्ध होते हैं ।

ननु च “सत्यंज्ञानमनंतं ब्रह्म” इत्यादिभिर्निर्विशेषप्रकाशैक-स्वरूपं ब्रह्मावगम्यते, अन्यत्तु सर्वज्ञत्वसत्यसंकल्पत्वजगत्कारणत्व-सर्वान्तरात्मत्वसत्यकामत्वादिकं “नेति नेति” इत्यादिभिः प्रतिषिध्यमानत्वे न मिथ्याभूतमित्यवगंतव्यम्, तत्कथं कल्याणगुणा-करत्वनिरस्तनिखिलदोषत्वरूपोभयलिगत्वम् ब्रह्मण इति, अत आह-

(प्रश्न) “ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनंतस्वरूप है” इत्यादि वाक्यों से, निर्विशेष एकमात्र प्रकाशस्वरूप, ब्रह्म का ज्ञान होता है, उसी प्रकार अन्यत्र-सत्यसंकल्पता, सर्वज्ञता, जगत्कारणता, सर्वात्मकता, आदि का “नेति नेति” इत्यादि से प्रतिषेध किया गया है, जिससे ये सारे गुण मिथ्या से ज्ञात होते हैं, तब कल्याण गुणाकरत्व और निर्दोषत्व आदि दोनों रूपों वाला कैसे कह सकते हैं? इस पर कहते हैं

प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् । ३।२।१५॥

यथा “सत्यंज्ञानमनंतं ब्रह्म” इत्यादिवाक्यै वैयर्थ्यात् प्रकाशस्वरूपत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपगम्यते, तथा सत्यसंकल्पत्वसर्वज्ञत्व-जगत्कारणत्व सर्वात्मकत्वनिरस्तनिखिलाविद्यादिदोषत्वाद्यभिधा-पिवाक्यवैयर्थ्यादुभयलिगमेव ब्रह्म ।

“ब्रह्म-सत्य ज्ञान और अनंतस्वरूप है” इत्यादि वाक्यों की सार्थकता के लिए जैसे-ब्रह्म की प्रकाशरूपता स्वीकारी जाती है, वैसे ही सत्यसंकल्पता, सर्वज्ञता, जगत्कारणता सर्वात्मकता, अविद्या आदि दोष राहित्य आदि के बोधक वाक्यों की सार्थकता के लिए, उभय विषय लिग वाला ब्रह्म मानना होगा ।

आह च तन्मात्रम् । ३।२।१६॥

किं च “सत्यंज्ञानमनंतं” इत्यादि वाक्यं ब्रह्मणः प्रकारं स्वरूपतामात्रं प्रतिपादयति, नान्यत्सत्यसंकल्पत्वादिकं वाक्यान्तरा-

स्मर्यते च—“यो मामजमनादि च वेत्ति लोक महेश्वरं । विष्ट-
भ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् । मयाऽव्यक्षेण प्रकृतिः
सूयते सचराचरम् । हेतुनानेन कौन्तेय जगद् हि विपरिवर्तते ।
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः यो लोकत्रयमाविश्य
विभर्तव्यय ईश्वरः । सर्वज्ञः सर्वकृत् सर्वशक्तिज्ञानबलधिमान् ।
अन्यूनश्चाप्यवृद्धिश्च स्वाधीनो नाधिमान् वशी । क्लमतंद्राभयक्रोध
कामादिभिरसंयुतः । निरवद्यः परः प्राप्तेर्निर्दिष्टोऽक्षरः क्रमः” ।
इत्यादि, अतः सर्वत्रावस्थितस्यापि ब्रह्मण उभयलिङ्गत्वात्तत्तस्थान
प्रयुक्ता दोषा न परंब्रह्म स्पृशन्ति ।

स्मृतियाँ भी उक्त तथ्य की पुष्टि करती हैं—“जो मुझे अज,
अनादि और लोकाधिपति जानते हैं मैं एक अंश से सारे जगत् में व्याप्त
हूँ । मेरी ही अव्यक्षता में प्रकृति इस अहचेतनमय जगत् का प्रसव करती
है, इसी से जगत् का चक्र चलता रहता है । उत्तमपुरुष परमात्मा,
जीवात्मा से भिन्न विशेष है । वह ईश्वर त्रिलोकी का अन्तर्यामी रूप से
भरण करता है । वह सर्वज्ञ सर्वकर्ता, सर्वशक्ति, ज्ञान और बल ऐश्वर्य
वान्, ह्यस और वृद्धिरहित, स्वाधीन अजन्मा, वशी बलेश, आलस्य, भय
क्रोध और कामादि रहित निर्दोष, अप्राप्य, अनाश्रित और नित्य है ।”
इत्यादि, इन सभी प्रमाणों से सिद्ध होता कि ब्रह्म व्यापक होते हुए भी,
दोनों प्रकार के गुणों से युक्त होने के कारण, उन उन स्वानीय दोषों से
अनस्पृष्ट हो रहता है ।

अतएव चोपमा सूर्यकादिवत् ।३।२।१८॥

यतो नानाविधेषु स्थानेषु स्थितस्यापि परस्य ब्रह्मणो न तत्
प्रयुक्त दोषभाक्त्वम्, अतएव जलदर्पणादिप्रतिविम्बितसूर्यादिवत्
परमात्मा तत्रतत्राऽवस्थितोऽपि निर्दोष इति शास्त्रेषूपमा क्रियते—
“भाकारामेकं हि यथा घटादिषूपपुष्पम् भवेत्, तथात्मैको ह्यनेकस्यो

जलाघारेष्विवांशुमान् । एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः
दृश्यते जल चंद्रवत् ।" इत्यादिषु ।

परब्रह्म, अनेक स्थानों में स्थित होकर भी, उन स्थानों के दोष से
अस्पृष्ट रहते हैं, इनको शास्त्रों में, जलदर्पण आदि में प्रतिबिम्बित सूर्य
आदि की उपमा से समझाया गया है—“एक ही आकाश जैसे घट
आदि में भिन्न हो जाता है तथा एक ही सूर्य जैसे विभिन्न जलाशयों में
अनेक रूपों में प्रतिबिम्बित होता है, वैसे ही एव ही परमात्मा सर्वान्तर्यामी
रूप से हरेक भूनों में, जलाशयों में स्थित चंद्र की तरह है ।” इत्यादि ।

अत्र चोदयति—इस दृष्टान्त को दूषित बतलाते हैं—

अंबुवदप्रहृशात् न तथात्वम् ।३।२।१६॥

तु शब्दश्चोद्योत्तयति । अंबुवदिति सप्तम्यन्तात् वतिः ।
अंबुदर्पणादिषु यथा सूर्यमुख्यादयो गृह्यन्ते, न तथा पृथिव्यादिषु
स्थानेषु परमात्मा गृह्यते । अम्बुवादिषुहि सूर्यादयोभ्रान्त्या तत्रस्था
इव गृह्यन्ते न परमार्थतः तत्रस्थाः इहतु “यः पृथिव्यां तिष्ठन्”
“योऽप्सु तिष्ठन्” “य आत्मनि तिष्ठन्” इत्येवमादिना परमार्थत एव
परमात्मा पृथिव्यादिषु स्थितो गृह्यते । यतः सूर्यादिरम्बुदर्पणादि-
प्रयुक्तदोषाननुपगमस्तत्र तत्र स्थित्यभावादेव । अतो न तथात्वं-
दाष्टान्तिकस्य न दृष्टान्ततुल्यत्वमित्यर्थः ।

सूत्रस्य तु शब्द उक्त मत पर तर्क प्रस्तुत करना है । अंबुवद्
पद में सप्तम्यन्त वत् प्रत्यय है । उक्त वाक्य का अर्थ होना है कि जल
दर्पण आदि में जैसे, सूर्य मुख आदि का प्रतिबिम्ब देखा जाता है, पृथ्वी
आदि में, परमात्मा का वैसे प्रतिबिम्ब तो दृष्टिगत होता नहीं । प्रतिबिम्ब
ही जल आदि में सूर्य आदि की उपस्थिति मान ली जाती, है वास्तव में तो
वे वहाँ रहते नहीं । “जो पृथ्वी में स्थित है” “जो जल में स्थित है”
इत्यादि वर्णनों में तो परमात्मा की वास्तविक स्थिति बतलाई गई है ।
सूर्य आदि की जो जल आदि से अनस्पृष्टता है, वह तो स्थिति के अभाव से

है। परमात्मा की तो वंसी है नहीं। इसलिए उपमा उपमेय की तुल्यता न होने से उक्त द्रष्टान्त स्वीकार नहीं है।

परिहरति—उक्त वक्तव्य का परिहार करते हैं—

वृद्धिह्लासभाक्त्वमन्तर्भावाद्दुभयसामंजस्यादेवं दर्शनाच्चा३।२।२०॥

पृथिव्यादिस्थानोन्तर्भावात् स्थानिनः परस्यब्रह्मणः स्वरूपतो गुणतश्च पृथिव्यादि स्थानगतवृद्धिह्लासादि दोषभाक्त्वमात्रं सूर्यादि दृष्टान्तेन निवर्त्यन्ते। कथमिदमवगम्यते? उभयसामंजस्यादेवम- उभयदृष्टान्तं सामंजस्यादेवमिति निश्चीयते। “आकारामेकं हि यथा घटादिपुपृथग् भवेत्”-“जलाघारेष्विवांशुमान्” इति दोषवत् स्वनेकेषु वस्तुषु वस्तुतोऽवस्थितस्याकाशस्य, वस्तुतोऽनवस्थितस्यांशुमतश्चो- भयस्य दृष्टान्तस्योपादानं हि परमात्मनः पृथिव्यादिगतदोषभाक्त्व- निवर्तनमात्रे प्रतिपाद्ये सामंजसं भवति।

पृथिव्यादि स्थानों में अन्तर्यामी होते हुए भी, परब्रह्म स्वरूप और गुण से, पृथ्वी आदि स्थानगत वृद्धि ह्लास दोषों से, कहने मात्र को ही संलग्न हैं, यही सूर्य आदि के दृष्टान्त से बतलाया गया है। “एक ही सूर्य भिन्न जलाधारों में भिन्न दीखता है” एक ही आकाश भिन्न घटों में भिन्न भिन्न हो जाता है “ये दोनों दृष्टान्त, केवल परब्रह्म के, पृथिव्यादिगत दोष संस्पर्श रहित्य मात्र के लिए प्रस्तुत किए गए हैं। इस प्रकार इन दृष्टान्तों का सामंजस्य हो जाता है।

घटकरकादिषु यथा वृद्धिह्लासभाक्त्वं पृथक् पृथक् संयुज्यमानं अप्याकारां वृद्धिह्लासादिदोषैर्न स्पृश्यते, यथा च जलाघारेषु विषमेषु दृश्यमानोऽंशुमान् तदगत् वृद्धिह्लासादिभिर्न स्पृश्यते, तथाऽयम् परमात्मा पृथिव्यादिषु नानाकारेष्वचेतनेषुचेतनेषु च स्थितः तदगत् वृद्धिह्लासादिदोषैरसंस्पृष्टः सर्वत्रवर्त्तमानोऽप्येकएवास्पृष्ट दोषगंधः कल्याणगुणाकर एव। एतदुक्तं भवति-यथा जलादिषु

वस्तुतोऽनवस्थितस्यांशुमतो हेत्वभावाज्जलादिदोषानभिष्वंगः
 तथापृथिव्यादिष्ववस्थितस्यापि परमात्मनो दोषप्रत्यनीकाकारतया
 दोषहेत्वाभावान्न दोषसंबन्ध, इति । दर्शनाच्च-इश्यते चैवं सर्वात्मना
 साधर्म्याभावेऽपि विवक्षितारासाधर्म्यात् दृष्टान्तोपादानं "सिंहइव
 माणवकः" इत्यादी । अतः स्वभावतो निरस्तनिखिलाज्ञानादि-
 दोषगंधस्य समस्तकल्याणगुणाकरस्य पृथिव्यादिस्थानतोऽपि
 न दोषसंभवः ।

घट करवा इत्यादि बड़े छोटे पात्रों में पृथक्-पृथक् स्थित आकाश
 जैसे वृद्धि ह्रास आदि दोषों से रहित होता है तथा-विभिन्न जलाधारों में
 प्रतिविवृतं सूर्यं जैसे-उनके वृद्धि ह्रास आदि दोषों से रहित होता है,
 वैसे ही यह परमात्मा, पृथिव्यादि विभिन्न आकार वाले अचेतनों और
 चेतनों में स्थित रहते हुए भी उनके वृद्धि ह्रास आदि दोषों से रहित है,
 सर्वत्र व्याप्त होकर भी एक और निर्दोष और कल्याण गुणों के भंडार
 है । कहने का तात्पर्य है कि-जैसे-जलादि में अवस्थित सूर्य कारण के
 अभाव से जलादिगत दोषों से अत्रासक्त रहता है, वैसे ही पृथिव्यादि में
 स्थित परमात्मा तदाकार न होने से, दोषों से अनस्पृष्ट रहते हैं । ऐना
 व्यवहार भी किया जाता है । हर प्रकार की समानता न होते हुए भी,
 केवल अभिप्रेत अंशमात्र समानता के आधार पर दृष्टान्त दिया जाना
 है-"यह बालक सिंह के समान है" इसलिये यह निश्चिन्त होता है
 कि-स्वभाव से निर्दोष समस्त कल्याणमय गुणों के भंडार परमात्मा,
 पृथिव्यादि स्थानों में स्थित होकर भी उनके दोषों से रहित है ।

अथस्यात-"द्वे वावब्रह्मणोऽहमेतृचामूत्तमिव च" इति प्रकृत्य
 समस्तं स्थूलसूक्ष्मरूपं प्रपंचब्रह्मणो रूपत्वेन परामृश्य तत्सर्वं
 प्रतिपिब्य "तस्य ह वा एतस्य पुरुषस्यरूपं यथा महारजनं वासः"
 इत्यादिना आकारविशेषंचाभिधाय "अथात आदेशो नेति नेति न
 ह्येतस्मादितिनेत्यग्यत् परमस्ति" इति सर्वं प्रकृतं ब्रह्मणः
 प्रकारमिति शब्देन परामृश्य तत्सर्वं प्रतिपिब्य सर्वविशेषाधिष्ठानं

सन् मात्रमेव ब्रह्म, विशेषास्त्वेवंविधं स्वस्वरूपमजानता ब्रह्मणा कल्पिता इति दर्शयति, अतः कथमुभयलिगत्वं ब्रह्मण इति-प्रत्राह-

आपत्ति की जाती है कि-“ब्रह्म के मूर्त्त और अमूर्त्त दो रूप प्रसिद्ध हैं” इत्यादि भूमिका में, स्थूल सूक्ष्म सारे जगत को, ब्रह्म का रूप बतलाकर “उस परमात्मा का रूप हरिद्रारंजित वस्त्र के समान है” इत्यादि से आकार विशेष बतलाकर-“कहा गया कि-वह ऐसा नहीं, ऐसा नहीं, इससे कोई उत्कृष्ट नहीं, इससे पृथक् कुछ और नहीं” इत्यादि से ब्रह्म के सारे प्रकारों को इति शब्द से बतलाकर, उन सबका प्रतिषेध कर यह दिखलाया गया है कि-समस्त विषयों का आश्रयभूत केवल मत् स्वरूप ब्रह्म ही है तथा सारी विशेषतायें अपने स्वरूप को न जानने वाले ब्रह्म से कल्पित हैं। इसलिए ब्रह्म की उभयलिगता संभव नहीं है। इसका उत्तर देते हैं—

प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततोब्रवीति च भूयः ।३।२।२१॥

नैतदुत्पपद्यते-यद् ब्रह्मणः प्रकृतविशेषवत्त्वं “नैति नैति” इति प्रतिषिध्यते इति, तथासति भ्रांतजल्पितायमानत्वात् । न हि ब्रह्मणो विशेषणतया प्रमाणान्तराप्रज्ञातं सर्वं तद्विशेषणत्वेनोपदिश्य पुनस्तदेवानुन्मत्तः प्रतिषेधति । यद्यपि निर्दिश्यमानेषु केचन पदार्थाः प्रमाणान्तर प्रसिद्धाः, तथापि तेषां ब्रह्मणः प्रकारत्वमप्रज्ञातमेव, इतरेषां तु स्वरूपं ब्रह्मणः प्रकारत्वं च अज्ञातम् । अतस्तेषामनुवादा-संभवादत्रैवोपदिश्यते । अतस्तन्निषेधो नोपपद्यते । यस्मादेवं, तस्मात् प्रकृतैतावत्त्वं ब्रह्मणः प्रतिषेधतीदं वाक्यम् । ये ब्रह्मणोः विशेषाः प्रकृताः, तद् विशिष्टतया ब्रह्मणः प्रतीयमानेयत्ता “नैति नैति” इति प्रतिषिध्यते । “नैति नैति” नैवं नैव उक्त प्रकारमात्र-विशिष्टं न भवति ब्रह्म, उक्त प्रकार विशिष्टतया ब्रह्मण इयत्ता प्रकृता, साऽत्र इति शब्देन परामृश्यते इत्यर्थः ।

ऐसा नहीं हो सकता-“नैति नैति” श्रुति से तो ब्रह्म की वास्तविक विशेषता का निषेध किया गया है। यदि उक्त तात्पर्य मानेंगे तो शास्त्रों

की भ्रान्तजरूपता होगी। जिन विशेषणों से ब्रह्म की विशेषता बतलाई गई, उनके अतिरिक्त किन्हीं अन्य प्रामाणों से तो उनकी विशेषता ज्ञात होती नहीं, विशेषता बतलाकर उसी का निषेध करना तो पागलों का ही कार्य हो सकता है। यद्यपि निर्दिष्ट विशिष्टताओं में, कुछ अन्य प्रामाणों में भी प्रसिद्ध हैं तथापि अन्य वाक्यों से ब्रह्म की प्रकारता ज्ञात नहीं होती। और न अन्य पदार्थों के स्वरूप को ही, ब्रह्म के प्रकार रूप से बतलाया गया है। इसलिए “द्वेवाव ब्रह्मणो रूपं” इत्यादि वाक्य को, ब्रह्म की विशेषता बतलाने वाले वाक्यों का अनुवाद मात्र नहीं कहा जा सकता। यही मानना होगा कि—इस वाक्य में ब्रह्म की प्रकारता का विशेषोल्लेख है। “नेति नेति” से उसका निषेध नहीं हो सकता। जैसी इसकी विशेषता बतलाई गई है उस पर विचारने से तो यही ज्ञात होता है कि—“नेति नेति” वाक्य, परब्रह्म की इयत्ता का ही प्रतिषेध करता है। जो ब्रह्म की स्वाभाविक विशेषतायें हैं उससे ब्रह्म की तो विशिष्ट रूप से प्रतीत होने वाली इयत्ता है “नेति नेति” में उसी का प्रतिषेध किया गया है। अर्थात्—ब्रह्म जैसा विशिष्ट प्रकार का बतलाया गया है उतना मात्र ही नहीं है “नेति नेति” से उसी का प्रतिषेध किया है उक्त प्रकार से प्रस्तुत ब्रह्म की विशिष्ट इयत्ता को इति शब्द से बतलाया गया है।

यदश्च निषेधानंतरं ब्रह्मणो भूयो गुणजातं ब्रवीति, अतश्च प्रकृतविशेषणयोगित्वमात्रं प्रतिषेधति। ब्रवीति हि भूयो गुणजातं “न ह्येतस्मादितिनेत्मन्यत् परमस्त्ययनामधेयं सत्यस्यसत्यमिति प्राणा वै सत्यम् तेषामेव सत्यम्” इति। अयमर्थः इति नेति यदब्रह्म प्रतिपादितम् तस्मादेतस्मादन्यद्वस्तु परं नह्यस्ति, ब्रह्मणोऽन्यत स्वरूपतो गुणतरचोत्कृष्टं नास्तीत्यर्थः। तस्य ब्रह्मणः सत्यस्य सत्यमिति नामधेयं। तस्य च निर्वचनं—“प्राणा वै सत्यम् तेषामेव सत्यम्” इति। प्राणशब्देन प्राणसाहचर्यात् जीवाः परामृश्यन्ते, तेतावत्सत्यम्, वियदादिवत्स्वरूपान्यथाभावरूप परिणामाभावात्-तेषामेव सत्यम्-तेभ्योऽप्येव परमपुरुषः सत्यम्। जीवानां कर्मानुगुण्येन ज्ञानसंकोचविकासो विद्येते। परमपुरुषस्य त्वपहतपाप्म-

नस्ती न विद्योते, अतस्तेभ्योऽप्येव सत्यम् । अतरचैवं वाक्यशेषोदित-
गुणजातयोगात् "नेति नेति" इति ब्रह्मणः सविशेषत्वं न प्रतिपिद्यते,
अपितु पूर्वप्रकृतेयत्तामात्रम् । अत उभयलिगमेव परंब्रह्म ।

निषेध के बाद भी, ब्रह्म के अधिक गुणों का वर्णन किया गया है जिससे निश्चित होता है कि- ब्रह्म की प्रस्तुत, विशिष्ट इयत्तामात्र का ही प्रतिषेध किया गया है । पुनः विशेष गुणों का वर्णन इस प्रकार का है- "नेति से जो ब्रह्म का निरूपण किया गया है उसका तात्पर्य है कि- उस ब्रह्म से कुछ अतिरिक्त भिन्न नहीं है, उस ब्रह्म का नाम सत्त्यों का सत्य है अर्थात् सत्यस्वरूप प्राणों में वही सत्य है "इत्यादि । इस वाक्य का तात्पर्य है कि "नेति नेति" से जो ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है, उससे कुछ परे नहीं है अर्थात् परमात्मा से कोई गुणों में उत्कृष्ट नहीं है । इसीलिए वह सत्त्यों का सत्य है । प्राण शब्द से प्राणों के सहचारी जीवों का उल्लेख है अर्थात् वे भी सत्य हैं । उनका आकाश आदि की तरह स्वरूप का अन्यथाभाव परिणाम नहीं होता इसलिए वे सब सत्य हैं उनमें भी यह ब्रह्म सत्य हैं । इससे निश्चित होता है कि- "नेति नेति" ब्रह्म की सविशेषता का प्रतिषेध नहीं करता अपितु प्रस्तुत इयत्तामात्र का प्रतिषेधक है । इसलिए वह ब्रह्म दोनों प्रकार की विशेषता वाला सिद्ध होता है ।

ब्रह्मणः प्रमाणान्तरगोचरत्वेन तत्संबंधितया मूर्त्तमूर्त्तादि रूपानु-
वादेन तन्निषेधासंभवात् प्रकृतेयत्ताप्रतिषेध उक्तः, तदेव प्रमाणान्तरा
गोचरत्वं दृढयति ।

ब्रह्म जब अन्य किन्हीं प्रमाणों से ज्ञेय नहीं है तब उन्हें मूर्त्तिमूर्त्त बतलाकर प्रतिषेध करना भी संभव नहीं है, इसलिए उक्त प्रसंग में इयत्ता का प्रतिषेध ही निश्चित होता, इस बात को अन्य प्रमाणों से सिद्ध करते हैं ।

तदव्यक्तमाह हि ।३।२।२२।।

तत्-ब्रह्म प्रमाणान्तरेण न व्यज्यते आह हि शास्त्रं "न संदृशे

तिष्ठतिरूपमस्य न चक्षुषा पश्यति करचनैनम्" न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा "इत्यादि ।

वह ब्रह्म किन्हीं अन्य प्रमाणों से वाच्य नहीं है, जैसा कि-शास्त्र का वचन है—"इसका स्वरूप दृष्टि पथ पर आरूढ़ नहीं होता, कोई इसे इन नेत्रों से देख नहीं सकता "वह नेत्र और वाणी से ग्राह्य नहीं है" इत्यादि ।

हेत्वन्तरं चाह-श्रीर कारण भी वतलाते हैं-

अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ।३।२।२३॥

अपि च संराधने-सम्यक् प्रीणने भक्तिरूपापन्ने निदिध्यासन एवास्य साक्षात्कारः । नान्यथेति श्रुतिस्मृतिभ्यामवगम्यते- "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन, यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैव आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्" ज्ञानप्रसादेन विशुद्ध सत्त्वः ततस्तु तं पश्यति निष्कलंध्यायमानः" इति श्रुतिः ।

स्मृतिरपि—"नाहं वेदैर्नतपसा न दानेन न चेज्यया" भक्त्या त्वनन्यया शक्य ग्रहमेवं विधोऽर्जुन, ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप" । इति,

भक्तिरूपापन्नमेवोपासनं संराधनं तस्य प्रीणनमिति पूर्वमेवोक्तम् अतो निदिध्यासनाय ब्रह्मस्वरूपमुपदिशत् "द्वेवाव ब्रह्मणः" इत्यादि शास्त्रं ब्रह्मणो मूर्त्तिमूर्त्तिरूपद्वयादिविशिष्टतां प्रागसिद्धां नानुवदितुं क्षमम् ।

संराधन अर्थात् प्रेमाभक्ति रूप निदिध्यासन से ही साक्षात्कार होता है, अन्य उपायों से नहीं ऐसा श्रुति स्मृतियों से ही निश्चित होता है । जैसे कि—"यह परमात्मा, प्रवचन-बुद्धि या अधिक शास्त्राभ्यास से लभ्य नहीं है, जिसे वह स्वयं धरण करते हैं, उसे ही वह मिलते हैं, वे अपने को उसके समक्ष प्रकट कर देते हैं "पहिले ज्ञान प्रसाद द्वारा चित्त

शुद्ध होता है, बाद में ध्यान करते-करते उस अखंड स्वरूप का दर्शन होता है "इत्यादि श्रुति प्रमाण हैं ।

स्मृति में भी जैसे--"मैं वेद-तप-दान-यज्ञ आदि किसी से भी दृष्ट नहीं हूँ एकमात्र अनन्य भक्ति से ही मुझे इस प्रकार देखा जा सकता है' एकमात्र भक्ति से ही मुझे देखा या समझा जा सकता ।" इत्यादि

उक्त प्रकार की भक्तिरूपता को प्राप्त उपासना को ही संराधन कहते हैं । उस परमात्मा की प्रियता ही महत्व रखती है ऐसा हम प्रथम ही बतला चुके हैं । इस प्रकार के निदिध्यासन के लिए-ब्रह्म के स्वरूप का "द्वेवाव ब्रह्मणः" इत्यादि से उपदेश दिया गया है । यह शास्त्रवचन निदिध्यासन के लिए मूर्त्ता अमूर्त्ता दो रूपों का वर्णन करता है, इसे अनुवाद मात्र नहीं कह सकते ।

प्रकाशादिवच्चाद्यैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात् ।३।२।२४।।

इतश्च प्रकृतैतावत्त्वमेव प्रतिषेधति, न मूर्त्तामूर्त्तादिविशिष्टत्वम्, यतः साक्षात्कृतपरब्रह्मस्वरूपाणां वामदेवादीनां दर्शने प्रकाशादिवत्, जानानंदादिस्वरूपवन्मूर्त्तादिप्रपञ्चविशिष्टताया अपि ब्रह्मगुणत्वा-वैशेष्यं प्रतीयते "तद्धेतपश्यन्नृषिर्वाग्देवः प्रतिषेदे ग्रहंमनुरभवं, सूर्यंरच" इत्यादि । ब्रह्मस्वरूपभूतप्रकाशानंदादिश्च तेषां वामदेवादीनां संराधनात्मके कर्मण्यभ्यासादुपलभ्यते । तद्वच्चान्य-स्तत्संराधनानां तेषां मूर्त्तामूर्त्तादिविशिष्टत्वमप्यविद्येपेण प्रतीयत इत्यर्थः ।

इसलिए भी इयत्ता का प्रतिषेध किया गया प्रतीत होता है कि-वामदेव आदि ऋषियों के साक्षात्कार में अनुभूत प्रकाशादि अर्थात् ज्ञान आनंद आदि स्वरूप की तरह, मूर्त्ता अमूर्त्ता आदि की विशिष्टता भी, जो कि ब्रह्म की गुणरूप है, उसको कोई विशेषता नहीं प्रतीत होती--वामदेव ने ब्रह्म का दर्शन कर विचार किया कि-मैं ही मनु हुआ था, एवं मैं ही सूर्य हुआ था । "इस प्रसंग से ज्ञात होता है कि-ब्रह्म के स्वरूपभूत प्रकाश आनंद आदि, वामदेव आदि के साधनात्मक कर्म में, अभ्यास से ही प्राप्त

हुए । उसी प्रकार संराधन में अभ्यस्त. उन लोगों के समक्ष मूर्त्त अमूर्त्त आदि जगतात्मभाव समानरूप से अनुभूत होता है ।

उक्तं ब्रह्मण उभयलिगत्वमुपसंहरति—

उक्तं ब्रह्म की उभयलिगता का उपसंहार करते हैं—

अतोऽनन्तेन तथाहि लिगम् ।३।२।२५॥

अतः, उक्तं हेतुभिर्ब्रह्मणः, अनन्तेन कल्याणगुणगणेन विशिष्टत्वं सिद्धम् । तथाहि सत्युभयलिगम् ब्रह्मोपपन्नं भवति ।

ऊपर कहे गए हेतुओं से, ब्रह्म की अनन्त कल्याणगुणों की विशिष्टता सिद्ध होती है और इसी से ब्रह्म की उभयलिगता भी सिद्ध होती है ।

६ अहिकुंडलाधिकरणः—

उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ।३।२।२६॥

मूर्त्तमूर्त्तात्मकस्य अचित् प्रपंचस्य ब्रह्मणोरूपत्वं “द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे” इत्यादिनोपदिश्यते “अथात आदेशो नेति नेति” इति मूर्त्तामूर्त्ताचिद्वस्तुरूपतया ब्रह्मण इयत्ता प्रतिषिध्यते । “न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्ति” इति ब्रह्मणोऽज्यदुत्कृष्टं न ह्यस्तीति प्रतिपादितम् । तदुपपादनाय “अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्” इति प्राणराधनिर्दिष्टेभ्यश्चेत्त-
नेभ्योऽप्येष सत्यमिति कदाचिदपि ज्ञानादि संकोचाभावाद्दुक्तम्” ।
तथा—“प्रधानक्षेत्रज्ञ पतिगुणेशः” “पति विश्वेश्वरस्यात्मेश्वरम्,
“नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्” इत्यादि श्रुतेरचायमयोऽवगम्यते ।
तस्याचिद्वस्तुनो ब्रह्मरूपत्वप्रकार इदानीं चिन्त्यते, ब्रह्मणो
निर्दोषत्वसिद्ध्यर्थम्—किमस्याचिद्वस्तुनो ब्रह्मरूपत्वमहिकुंडलन्यायेन,
उत प्रभाप्रभावतोरिवैकजातियोंगेन, उत जीवस्यैव विशेषणविराप्यत-
यांसांशिभावेन इति । इह स्याप्यमानं विशेषणविरोध्यभावमंगोहृत्पर्य

“प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्” तदन्यत्वमारंभणशब्दादिभ्यः
इत्यत्र सूक्ष्मचिदचिद्वस्तुविशिष्टाद्ब्रह्मणः स्थूलचिदचिद
वस्तुविशिष्टस्योत्पत्तिरनन्यत्वं चोक्तम् ।

मूर्त अमूर्त जगत् प्रपञ्च को, ब्रह्म का रूप “देवाव ब्रह्मणो” में
बतलाया गया है। “अर्थात् आदेशो नेति नेति” श्रुति से मूर्त अमूर्त
बड़वस्तुरूप ब्रह्म की इयता का निषेध किया गया है। तथा-“नहि
एतस्मात्” श्रुति से कहा गया है कि-बस ब्रह्म से उत्कृष्ट कुछ भी
नहीं है। उसके समर्थन के लिए “अथनामधेयं सत्यस्य सत्यमिति”
इत्यादि श्रुति से प्राण शब्द वाच्य चेतन जीवों की अपेक्षा, परमात्मा को
सत्यता का प्रतिपादन किया गया है। परमात्मा को परम सत्य इसलिए
बतलाया गया है कि उसकी ज्ञान शक्ति का कभी संकोच नहीं होता।
“प्रकृति पुरुष का भी वह ईश्वर और गुणाधिपति है “उस अगत के पति
और आत्मा के स्वामी को” उस नित्यों के नित्य चेतनों के चेतन को”
इत्यादि श्रुतियाँ भी उक्त तात्पर्य की बोधिका हैं। ब्रह्म की निर्दोषता
सिद्ध करने के लिए यहाँ, उसी अचित् वस्तु की ब्रह्मरूपता के प्रकार का
विचार करते हैं कि-इसकी ब्रह्मरूपता अहिकुंडल की तरह, प्रमा और
प्रभादान की तरह एक जातीय है? अथवा-जीव की तरह विशेषण
विशेष्यभूत अंशांशी भाववाली है? विशेषण विशेष्य भाव ही यहाँ
स्थापित करना होगा, इस पक्ष को स्वीकार करके-प्रकृतिश्चप्रतिज्ञादृष्टान्ता
नुपरोधात्” और “तदन्यत्वमारंभणशब्दादिभ्यः” इन दो सूत्रों में,
सूक्ष्म चेतनअचेतन विशिष्ट ब्रह्म से, स्थूल चेतन अचेतन यस्तु विशेष की
उत्पत्ति और अनन्यता का प्रतिपादन कर चुके हैं।

किं युक्तम्? अहिकुंडलवदिति, कुतः? उभयव्यपदेशात्-“ब्रह्मैवेदं
सर्वम्” इति तादात्म्यव्यपदेशात् “हंताहमिमास्त्रिलोदेवताः” अनेन
जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य” इत्यादि भेदव्यपदेशाच्च अहेः कुंडलभाव-
श्चजुभाववत् तस्यैव ब्रह्मणः संस्थान विशेष एवाचिद्वस्तुनि ।

ऊपर का कौन सा पक्ष युक्तिपूर्ण है? इस पर विचारने से अहिकुंडल
की तरह ही, ब्रह्म और मूर्त अमूर्त जगत् का संबंध प्रतीत होता है।
“यह सब कुछ ब्रह्म ही है” ऐसे तादात्म्यपरक अमेद के उल्लेख से तथा

“इन तीनों देवताओं में आत्मा रूप से प्रवेश करके” इत्यादि भेद के उल्लेख से, सर्प के कुंडलभाव और सीधेसपाट भाव की तरह सारी जड़ वस्तुएं, ब्रह्म की संस्थान विशेष रूप सिद्ध होती हैं।

प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ।३।२।२७॥

वा शब्दः पक्षव्यावृत्त्यर्थः, ब्रह्मस्वरूपस्यैवाचिद्रूपेणावस्थाने भेदश्रुतयो ब्रह्मणोऽपरिणामित्ववादिन्योऽपि वाचिताभवेयुः, अतो यथा तेजस्त्वेन प्रभातदाश्रयोरपित्तादात्म्यम्, एवमचित्प्रपंचस्य ब्रह्मणोरूपत्वमित्यर्थः ।

पूर्व पक्ष के सिद्धान्त का निवारक सूत्रस्थ वा शब्द है। स्वरूपतः ब्रह्म ही यदि अचेतन पदार्थों के रूप में स्थित माने जावेंगे तो भेद और अपरिणामता की प्रतिपादिका श्रुतियाँ निरर्थक हो जावेंगी, इसलिए तेजस्वितारूप से, प्रभा और उसके आश्रय का जैसा तादात्म्य होता है, वैसी ही अचेतन प्रपंच को भी, ब्रह्मरूपता है।

पूर्ववद् वा ।३।२।२८॥

वा शब्दः पक्षद्वयव्यावृत्त्यर्थः । एकस्यैव द्रव्यस्यावस्था विशेषयोगे ब्रह्मस्वरूपस्यैवाचिद्रव्यरूपत्वात् उक्तदोषादनिर्दोषः । अथप्रभातदाश्रयोरिवाचिद्रह्मणोर्वृंहत्वजातियोगमात्रम्, एवंतर्हि अश्वत्वगोत्वत् ब्रह्मापीश्वरे चिदचिद्वस्तुनोरचानुवर्त्तमानं सामान्यमिति सकलश्रुतिस्मृतिव्यवहारविरोधः ।

सूत्रस्थ वा शब्द उक्त दोनों पक्षों का निवारक है। यदि एक ही द्रव्य की अवस्था विशेष योगिता मानी जाय तो ब्रह्म स्वरूप की ही अचिद् वस्तु रूपता सिद्ध हो जावेगी, जिससे कि पूर्वोक्त दोष से छटकारा नहीं मिल सकेगा। यदि प्रभा और उसके आश्रय की तरह, अचेतन और ब्रह्म में केवल, ब्रह्मत्व जातिमात्र का ही संबंध मानते हैं तो अश्वत्व और गोत्व आदि जातियों की तरह, ईश्वर एवं चेतन अचेतन वस्तु से अनुगत ब्रह्म भी एक सामान्य जाति मात्र रह जायगा, जो कि-सभी श्रुति-स्मृति शास्त्रीय मत के विरुद्ध है।

पूर्ववदेव "अंशोनानाव्यपदेशात्" प्रकाशादिवत्तुनैवंपरः" इति जीववत् पृथक् सिद्ध्यनर्हविशेषणत्वेनाचित्वस्तुनो ब्रह्मांशत्वम् विशिष्टवस्त्वेकदेशत्वेनाभेदव्यवहारो मुख्यः, विशेषणविशेष्ययोः स्वरूपस्वभावभेदेन भेदव्यवहारो मुख्यः, ब्रह्मणो निर्दोषत्वं च रक्षितम् । तदेवं प्रकाशजाति गुणशरोराणां मणिव्यक्तिगुण्यात्मनः-प्रत्यपृथक्सिद्धिलक्षणविशेषणतया यथांशत्वम्, तथेह जीवस्याचिद्वस्तुनश्च ब्रह्म प्रत्यंशत्वम् ।

इसलिए पूर्व मत के अनुसार "अंशोनानाव्यपदेशात्" प्रकाशादिवत्तु नैवं परः" इन दो सूत्रों में जीव की जैसी ब्रह्मांशता बतलाई गई है वैसी ही यहाँ भी, ब्रह्म से भिन्न न कहलाने योग्य अचित् वस्तु की भी ब्रह्मांशता सिद्ध होती है । विशिष्ट वस्तु के एकदेशीय होने से, मुख्य रूप से अभेद व्यवहार होता है, तथा विशेषण विशेष्य में स्वरूप का भेद होने से, मुख्यरूप से भेद का व्यवहार होता है, इस प्रकार ब्रह्म की निर्दोषता सुरक्षित हो जाती है । इससे निश्चित होता है कि-जैसे-प्रकाश-ज्योति-गुण और शरीर जैसे मणि-व्यक्ति-और गुणी आत्मा को छोड़ कर अलग टिक नहीं सकते, यही उनकी अपृथक् सिद्ध विशेषता है, इसीसे वे, मणि आदि अंश हैं, वैसे ही, जीव और जड़ वस्तु की, ब्रह्मांशता है ।

प्रतिषेधाच्च ।३।२।२६॥

"स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरः "नास्यजरयैतत् जीर्यति इत्यादिभिः ब्रह्मणोऽचिदधर्मप्रतिषेधाच्चः विशेषणविशेष्यत्वेनैवांशां-शिभाव इत्यर्थः । अतः सूक्ष्मचिदचिद्वस्तुविशिष्टं कारण भूतं ब्रह्म, स्थूलचिदचिद्वस्तुविशिष्टं कार्यभूतं ब्रह्मेति, कारणात्कार्यस्या-नन्यत्वम् । कारणभूतब्रह्मविज्ञानेन कार्यस्यशाततेत्यादि सर्वमुपपन्नं, ब्रह्मणो निर्दोषत्वं च रक्षितम् । ब्रह्मणो निर्दोषत्वेन कल्याण-गुणाकरत्वेन । चोभयलिगत्वमपि सिद्धम् ।

“यह आत्मा महान् अज और जरा मरण रहित है” इसका शरीर जरा से जीर्ण नहीं होता “इत्यादि वाक्यों से, ब्रह्म के अचित् धर्मों का प्रतिषेध किया गया है, जिससे अचित् और ब्रह्म का विशेषण विशेष्य भावरूप अंशान्वितभाव निश्चित होता है। सूक्ष्म चेतन अचेतन विशिष्ट ब्रह्म कारण स्वरूप है तथा स्थूल चेतन अचेतन विशिष्ट ब्रह्म कार्य स्वरूप है, इसलिए कारण से कार्य की अनन्यता है। कारण ब्रह्म के जान लेने से कार्य की जानकारी आदि सभी बातों का समाधान हो जाता है तथा निर्दोषता भी सुरक्षित हो जाती है इस प्रकार ब्रह्म की निर्दोषता और कल्याण गुणाकरता ये दोनों सिद्ध हो जाती है।

७ पराधिकरणः—

परमतः सेतुन्मान्संबंधभेदव्यपदेशेभ्यः ।३।२।३०।।

- इदानीमस्मात्परस्मात्जगन्निमित्तोपादानरूपपरमकारणात् पर-
ब्रह्मणः परमपि किञ्चित्त्वमस्तीति कैश्चित् हेत्वाभासैराशंक्य
निराक्रियते । अस्योपास्यस्य निर्दोषत्वानवधिकातिरायासंख्येयकल्याण-
गुणाकरत्वस्येते । तत्रेयमारांका यदिदं परं ब्रह्मोभयलिङ्गं,
एतस्मान्निखिलजगत्कारणात् परमपि किञ्चित्त्वमस्ति । कथम् ?
“अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिः” इत्यस्यपरस्य सेतुव्यपदेशात् । सेतु
शब्दस्य च लोके कूलान्तर प्राप्तिहेतौ प्रसिद्धेरितोज्यधनेन
प्राप्त्यमस्तीति गम्यते । तथा—एतं सेतुं तीर्त्वाग्न्धः सन्नंधो भवति”
इति तरितव्यतया चास्याभिधीयते अतश्चान्यत्प्राप्यमस्ति ।
उन्मानव्यपदेशाच्च—उन्मितं परिमितम् इदं परंब्रह्म “अनुष्णाद ब्रह्म”
घोडशकलम्” इत्युन्मानव्यपदेशात् । स घायमुन्मानव्यपदेशः देन सेतुना
प्राप्यस्यानुन्मितस्यास्तित्वां द्योतयति । तथा संबन्धव्यपदेशाच्च सेतु
सेतुमतोः प्रापकत्वप्राप्यत्वलक्षणोद्दृश्यते “अमृतस्य परं सेतुं
दग्धेभ्वनमिवानलं “अमृतस्यैव सेतुः” इति । अतश्च परात्परमस्ति ।

भेदेन च परात्परं व्यपदिश्यते—“परात्परं पुरुषमुपैति” परात्परं यन्महतो महान्तम्” इति च । तथा—तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्” ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम्” इति । अत एभ्यो हेतुभ्यः परस्माद् ब्रह्माणः परमपि किञ्चिदस्तीति गम्यत इति ।

अब जगत के निमित्तोपादान परम कारण इस परब्रह्म से अतिरिक्त कोई तत्त्व अवश्य है, ऐसी हेतुवाभास की दृष्टि से शंका करके उसका निराकरण करते हुए, ब्रह्म के उपास्य रूप की निर्दोषता और प्रतिशय कल्याणगुणाकरता की सिद्धि करते हैं ।

आशका यह है कि—यदि यह ब्रह्म दोनों प्रकार का है, तो संपूर्ण जगत का कारण कोई और ही तत्त्व निश्चित होता है । “यह जो आत्मा है, वही सब लोको का विधारक सेतु है” इत्यादि से किसी दूसरे की सेतुता का ही निर्देश प्रतीत होता है, क्योंकि—लोक में सेतु शब्द इस पार से उस पार तक पहुँचाने वाले, आधार रूप पुल के अर्थ में प्रयुक्त होता है, इसलिए कोई अन्य प्राप्तव्य ही प्रतीत होता है तथा—“इस सेतु को पार कर अन्वा भी अनन्धा हो जाता है” ऐसी पार करने वाली बात स्पष्ट कही गई है । उन्मान के व्यपदेश से भी यही बात निश्चित होती है उन्मित अर्थात् ब्रह्म परिमित है अंसा कि—“ब्रह्म चतुष्पद है” सोलह कला वाला है” इत्यादि उन्मान बोधक वाक्यों से ज्ञात होता है । ऐसा उन्मान का व्यपदेश सेतु द्वारा प्राप्य अगुन्मित के अस्तित्व का द्योतन करता है । इन वाक्यों में प्राप्य प्रापक तथा सेतु—सेतुमान का संबंध दिखलाया गया है । “जलो हुई सकड़ी के समान अमृत के सेतु को” तथा “यह अमृत का सेतु है” इत्यादि से ज्ञात होता है कि—परब्रह्म से भी कोई पर है । पर से पर की भिन्नता भी—“पर को अपेक्षा भी पर को प्राप्त करता है “वह पर से भी पर और महान् से महान् है” इत्यादि वाक्यों में बतलाई गई है । तथा—“उस पुरुष द्वारा ही सब परिपूर्ण है, जो कि—अतिशय परवर्त्ता, गौरव, निरामय है” इत्यादि से भी, परब्रह्म से भी कोई पर है ऐसी प्रतीति होती है ।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्तोऽभिधीयते—

इस शंका पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं—

सामान्यात् १३।२।३१॥

तु शब्दः पक्षं व्यावर्तयति, यत्तावदुक्तं सेतुव्यपदेशात् परात्परमस्तीति तन्नोपपद्यते । न ह्ययमत्र किञ्चित्प्राप्यं प्रति सेतु रूच्यते “एषां लोकानामसंभेदाय” इति सेतु सामान्येन सर्वलोका-संकरकरत्वश्रुतेः । सिनोतिवध्रातिस्वस्मिन् सर्वं त्रिदचिद् वस्तुजातं असंकीर्णमिति सेतुरुच्यते । “एतं सेतुं तीर्त्वा” इति तरतिश्च प्राप्तिवचनः । यथा “वेदान्तं तरति” इति ।

तु शब्दे उक्त पक्ष का निवारक है । जो लोग यह कहते हैं कि-सेतु के उल्लेख से पर से भी किसी अन्य पर तत्व का बोध होता है, वह उनकी मिथ्या धारणा है । इस प्रसंग में किसी प्राप्य के लिए, सेतु का साधन रूप से उल्लेख नहीं किया गया है । “इस सम्पत्त जगत के असंभेद (असांकर्य) के लिए” इत्यादि वाक्य में सेतु के समान परब्रह्म की भी, सांकर्य निवारकता बतलाई गई है । जो अपने में चेतन अचेतन समस्त को असंकीर्ण भाव से बन्धन करे उसे ही सेतु कहते हैं [पिघातु से सेतु शब्द बना है, यह धातु बंधन अर्थ का द्योतन करती है] “इस सेतु की पार करके “इत्यादि तृ धातु प्राप्ति बोधक है, जैसे कि-“वेदात् तरति” का अर्थ-“वेदांत को प्राप्त करता है” किया जाता है ।

बुद्ध् यर्थः पादवत् १३।२।३२॥

योऽयं “चतुष्पाद ब्रह्म” षोडशकलम्” पादोऽस्यविश्वानृतानि” इत्युन्मानव्यपदेशः स बुद्ध्यर्थः-उपासनार्थः । “सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म “इत्यादिभिर्जगत्कारणस्य ब्रह्माणोऽपरिच्छिन्नत्वावगमात् स्वत उन्मितत्वासंभवात् । जगत्कारणत्वं हि तस्यैव श्रूयते । “तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाराः संभूतः” “सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयति” इति । श्रुतो मया-“वाक्पादः प्राणः-पादः चक्षुः पादो मनः पादः” “इत्यादिना ब्रह्माणो वागादिपादव्यपदेश उपासनार्थः एवमयमपि ।

जो यह "चारपादवालान्ब्रह्म "षोडशकलावाला" इसके एक पाद में संपूर्ण विश्व है" इत्यादि में उन्मान का व्यपदेश है वह बुद्धि अर्थात् उपासना के लिए है। "सत्यंजानमनंतं ब्रह्म" इत्यादि से जगत के कारण ब्रह्म की अपरिच्छिन्नता प्रतीत होने से, उसका वास्तविक उन्मान संभव नहीं है। ब्रह्म की जगत कारणता का भी उक्त प्रसंग में स्पष्ट उल्लेख है— "उस ब्रह्म से आकाश हुआ "उसने कामना की अनेक होकर जन्म लूँ" इत्यादि। "वाणीरूपपाद, चक्षुरूपपाद, प्राणरूपपाद मनरूपपाद "इत्यादि में वाणी आदि को ब्रह्म का चरण कहा गया है, वह केवल उपासना के लिए है; यही उक्त उन्मान का भी तात्पर्य है।

स्वयमनुन्मितस्यकथमुपासनार्थतयाऽप्युन्मान संभवः? तत्राह—

जब यह स्वयं अनुन्मित है तो उपासना के लिए उनकी उन्मान कैसे संभव है? इसका उत्तर देते हैं—

स्थान विशेषात् प्रकाशादिवत् ।३।२।३३॥

प्रतिपन्नवागादिस्थानविशेषरूपोपाधिभेदात्तत्संबन्धितयोन्मितत्वानुसंधानं संभवति । यथा प्रकाशादेवित्ततस्य वातायनघटादिस्थानभेदैः परिच्छिन्नानुसंधानसंभव इत्यर्थः ।

जैसे कि-व्यापक प्रकाश, सिड़की घट आदि विभिन्न स्थानों में प्रविष्ट होकर, उन उन स्थानों वाला कहलाता है, उसकी उनमें खोज की जाती है, वैसे ही अनुन्मित विभु परमात्मा भी, वागादि इन्द्रियों में अनुस्यूत होने से, उन इन्द्रियों में खोजा जाता है।

उपपत्तोश्च ।३।२।३४॥

यदुक्तम्—“अमृतस्यैव सेतुः” इति प्राप्यप्रापकसंबन्धव्यपदेशात् प्रापकात् परं प्राप्यमस्तीति, तन्न, प्राप्यस्यपरंपुरुषस्य स्वप्राप्तौ स्वस्यैवोपायत्वोपपत्तेः । “नायमात्माप्रवचनेनलभ्यो न मेघया न बहुना श्रुतेन, यमैवेषवृणुतेतेनलभ्यस्तस्यैव आत्मा विवृणुते तन्नं स्वाम्” इत्यनन्योपायत्वश्रवणात् ।

जो यह कहा कि—“अमृतस्यंपसेतुः” श्रुति से प्राप्य प्रायक संबंध बतलाया गया है जिससे प्रायक सेतु भिन्न, किसी अन्य प्राप्य की प्रतीति होती है। सो बात नहीं है, प्राप्य परं पुरुष स्वयं ही, प्राप्ति का उपाय बतलाया गया है, जैसा कि—“यह परमात्मा, प्रवचन-मेधा या विशेष शास्त्राभ्यास से लब्ध नहीं है, जिसे यह स्वयं वरण करता है, उमे ही प्राप्त होता है, उसके समक्ष स्वयं अपने को व्यक्त कर देता है।” इस वाक्य में परमात्मा को प्राप्ति का अनन्य उपाय बतलाया गया है।

तथाऽन्यप्रतिषेधात् ।३।२।३५।।

यत्पुनरुक्तं—“ततो यदुत्तरतरं” परात्परं पुरुषम् “अक्षरात्परतः परः” इत्यादि भेदव्यपदेशात् परात्परमस्तीति—तन्नोऽपद्यते-तत्रैव ततोऽन्यस्य परस्य प्रतिषेधात्—“यस्मात्परं नामरमस्ति निचिद् यस्मान्नाशीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चिद्” इति । यस्मादपरं परं नास्ति किञ्चित्—न केनापि प्रकारेणपरमस्तीत्यर्थः । तथा-अन्यत्रापि “नह्येतस्मादितिनेत्यन्यत्परमस्ति “इति । इति नेति निर्दिष्टादे-तस्माद् ब्रह्मणोऽन्यत्परं न ह्यस्तीत्यर्थः । तथा—“न तत्देशे करचन् तस्य नाममहद्व्यशः” इति । तत् हि जगदुपादानकारणनयाऽनन्तरमुक्तं—“सर्वे निमेषाज्जिरे विद्युतः पुरुषादधि “स आपः प्रदुधे उभे इमे” इत्यादिना । “अद्भ्यः संभूतो हिरण्यगर्भ इत्यष्टौ” इति च जगत् कारणं पुरुषमेतं प्रत्यभिज्ञापयति ।

और जो यह कहा कि—“ततो यदुत्तरतरं” परात्परं पुरुषम् “अक्षरात्परतः परः” इत्यादि भेद परक वाक्यो से, परब्रह्म से पर किसी अन्य तत्त्व की प्रतीति होती है, सो यह कवन भी भ्रामक है, क्योंकि उमी प्रमंग में, परमात्मा से अन्य किसी श्रेष्ठ परतत्त्व का स्पष्ट निषेध किया गया है—“जिनसे श्रेष्ठ कोई दूसरा नहीं है तथा जिनमें सूक्ष्म और बृहत् भी कोई दूसरा नहीं है” इत्यादि, इसमें जिनसे श्रेष्ठ कोई दूसरा नहीं है का तात्पर्य है कि—किसी प्रकार श्रेष्ठ नहीं है। इसके अतिरिक्त अन्य प्रसंग में

भी "जैसे—"न हि एतस्मादिति नेति अन्यत परमस्ति" कहा गया, जिसका तात्पर्य है कि—इस ब्रह्म की अपेक्षा, कुछ और श्रेष्ठ नहीं है। इसी प्रकार अन्यत्र भी जैसे—"कोई भी उसका शासक नहीं है, उसका नाम ही महद्दयश है" इत्यादि के बाद ही उसे जगत् का उपादान कारण बतलाया गया है—"उस पुरुष से ही समस्त काल और विद्युत् उत्पन्न होते हैं "उस परमात्मा ने इन स्वर्ग और अंतरिक्ष दोनों से जल का दोहन किया "जल से हिरण्यगर्भ हुआ" इत्यादि। सभी श्रुतियां परं पुरुष के ही जगत् का पर कारण बतलाती हैं।

"ततो यदुत्तरतरं" इति किमुच्यत इति चेत्? पूर्वत्र—"वेदाहमेतं-पुरुषं महान्तं आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्, तमेव विदिस्त्राऽति-मृत्युमेतिनान्यः पन्था विद्यतेऽनाय" इति परस्यब्रह्मणो महापुरुषस्य वेदनमेवामृतत्वसाधनं, नान्योऽमृतत्वस्य पन्था इत्युपदिश्य तदुपपादनाय "यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति किञ्चित् "वृक्ष इव स्तब्धोदिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पुष्पं पुरुषेणसर्वम् "इति पुरुषस्य परत्वं, तद् व्यतिरिक्तस्य परत्वासंभवं-च प्रतिपाद्य—"ततोयदुत्तरतरं तदरूपमनामयम् य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियंति" इति पूर्वोक्तमर्थं हेतुतो निगमयति "यदुत्तरतरं पुरुषतत्त्वम्, तदेवारूपमनामयं मतः, ततो य एतत् पुरुषतत्त्वं विदुः, त एवामृता भवन्ति, अथेतरे दुःखमेवापियंति इति। अन्ययोपक्रमविरोधोऽनस्तरोक्ति विरोधश्च। "परात्परं पुरुषमुपैति दिश्यम्" इति पूर्वत्र "अक्षरात् परतः परः" इति अक्षरात्-अव्याकृतात् यः परः, समष्टिपुरुषः तस्मात् परो योऽदृश्यत्वादिगुणकः सर्वज्ञः परमपुरुषः, स एवेहापि" परात्परः" इति समष्टिपुरुषात् परत्वेनोच्यते।

यदि कही कि—"ततोयदुत्तरतरं" का क्या उत्तर देने? तो मुनो-उक्त प्रसंग के पूर्व में ही—"अंधकार से रहित आदित्य की तरह ज्योतिर्मय इस महापुरुष को मैं जानता हूँ, जोव उसे जानकर मृत्यु का भतिक्रमण

करता है, मोक्षधर्म में जाने के लिए इसके अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं है" इत्यादि में, महापुरुष परब्रह्म संबंधी वेदन को ही, अमृतत्व प्राप्ति का साधन रूप, अन्यतम मार्ग बतलाकर उसके समर्थन के लिए "जिसकी अपेक्षा उत्कृष्ट या अपकृष्ट कुछ और नहीं है तथा जिससे अतिसूक्ष्म या महान् भी कुछ और नहीं है वह वृक्ष की तरह स्तम्भ अकेला ही स्वर्ग में स्थित है, उस पुरुष से ही यह सारा जगत् परिपूर्ण है" इस प्रकार पुरुष की परता और उससे भिन्न किसी अन्य की परता को असंभव बतलाकर "ततो यदुत्तरतरं" इत्यादि वाक्य में उसी पूर्वोक्त कथन के लिए पुनरुल्लेख करते हुए कहते हैं कि—"ब्रह्म परब्रह्म परमात्मा आकार रहित और सब प्रकार के दोषों से रहित है, जो इस परब्रह्म परमात्मा को जानते हैं वे अमर हो-जाते हैं, इस रहस्य को न जानने वाले अन्य लोग दुःख कोही प्राप्त होते हैं" इत्यादि । उक्त प्रसंग की ऐसी संगति करने से उपक्रम से विरुद्धता होगी तथा परवर्ती वाक्य से भी विपरीतता होगी । "अक्षरात् परतः परः में" अर्थात् अव्याकृत प्रकृति से पर जो समष्टि पुरुष है, उससे भी पर या उत्कृष्ट अदृश्यता आदि गुणों से विशिष्ट सर्वज्ञ परंपुरुष को ही "परात् परं" इत्यादि वाक्य में, परात् अर्थात् समष्टि पुरुष से पर अर्थात् श्रेष्ठ बतलाया गया है ।

अनेन सर्वगतत्वभायामशब्दादिभ्यः ।३।२।३६॥

अनेन ब्रह्मणा सर्वगतत्वम्-सर्वस्यजगतोव्याप्तत्वम्, आयाम-शब्दादिभ्यः-सर्वव्याप्तिवाचिशब्देभ्योऽवगम्यमानमस्मात्परं नास्तीत्य-वगमयति । आयामशब्दरतावत् "सेनेदं पूर्णं पुरूपेण सर्वम् "यच्च किञ्चिज्जगत्पस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपि वा, अन्तर्वहिरच तत्सर्वं व्याप्यनारायणः स्थितः" नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं, यद् भूतयोनि परिपश्यति घीराः "प्रादिशब्दात्" ब्रह्मैवेदं सर्वम्" आत्मीवेदं सर्वम्" इत्यादयो गृह्यन्ते । अत इदं परं ब्रह्मैव सर्वास्मात्परम् ।

सर्वव्यापकता के बोधक आयाम आदि शब्दों से ज्ञात होता है कि—सारा जगत् ब्रह्म से परिव्याप्त है । ऐसी सर्वगतत्व की प्रतीति ही, ब्रह्म से भिन्न अन्य वस्तु के अभाव का प्रतिपादन करती है । आयाम शब्द

का व्याख्यान जैसे—“सारा जगत उस पुरुष से ही पूर्ण है” इस जगत में जो कुछ भी दृष्ट श्रुत है, नारायण उन सभी में बाहर भीतर व्याप्त हैं ‘धीरलोग-नित्य, विभु, सर्वगत, अतिसूक्ष्म, उस भूतयोनि को भलीभांति देखते हैं।’ इत्यादि “यह सब कुछ ब्रह्म है” यह सब कुछ आत्म्य है” इत्यादि वाक्य ही, सूत्रस्थ आदि पद से अभिप्रेत हैं। इस विवेचन से निश्चित होता है कि—परब्रह्म ही सबसे श्रेष्ठ है।

८ फलाधिकरणः—

फलमत उपपत्तेः ।३।२।३७।।

उक्तमुपासिसिषोपजननाथं जीवस्य सर्वावस्थासु सदोपत्वं, प्राप्यस्य च परं पुरुषस्य निर्दोषत्वं, कल्याणगुणाकरत्वं, सर्वस्मात् परत्वं च, अतः परमुपासनं विवक्षन्मुपासीनानां परस्मादेवास्मात् पुरुषात्तत्प्राप्तिरूपमपवर्गारव्यं फलमिति संप्रति ब्रूते ।

उपासना में उत्साह बढ़ाने के लिए, जीवों की असदोषता और प्राप्य परंपुरुष की निर्दोषता-कल्याणगुणाकरता तथा सर्वश्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है अब उपासना के प्रतिपादन के उद्देश्य से बतलाते हैं कि-उपासकों को परंपुरुष की कृपा से ही, ब्रह्म प्राप्ति रूप मोक्ष भी प्राप्त होता है।

तुल्यन्यायतया शास्त्रीयमैहिकामुष्मिकमपि फलम्, अतएव परस्मात् पुरुषात् भवतीति सामान्येन “फलमतः” इत्युच्यते । कुत एतत्? उपपत्तेः, स एव हि सर्वज्ञः सर्वशक्तिमंहोदारो यागदानहोमादि-भिरुपासनेन चाराधित ऐहिकामुष्मिक भोगजातं, स्वस्वरूपावाप्ति-रूपमपवर्गं च दातुमीष्टे; नहि अचेतनं कर्म क्षणध्वंसिकालान्तर भाविफलसाधनं भवितुमर्हति ।

शास्त्रीय ऐहिक और आमुष्मिक दोनों ही फल, परंपुरुष परमेश्वर से ही प्राप्त होते हैं, ऐसा ‘फलमत’ शब्द से बतला रहे हैं। यह बात उपपत्तेः अर्थात् विवेचन से ही ज्ञात होती है। सर्वज्ञ, सर्वशक्ति निरतिशय,

उदार प्रकृति वे परमात्मा ही-दानयज्ञ आदि क्रियाओं और उपासना द्वारा आराधित होकर, ऐहिक और पारलौकिक अनेक प्रकार के भोगों और सारूप्य मुक्ति प्रदान करने में, समर्थ हैं। अचेतन क्षणध्वंसी कर्म, कभी भी कालान्तरभावी फल प्रदान करने में समर्थ नहीं हो सकता।

श्रुतत्वाच्च ।३।२।३८॥

“स वा एष महानज आत्माऽन्नाद्देवसुदानः” “एष एव हि आनन्दयाति” इति भोगापवर्गरूपं फलमयमेव दृष्ट्वातीति हि श्रूयते ।

“ऐसा यह महान् अजन्मा परमात्मा ही अन्न और धन का दाता है “यही सबको आनंदित करता है” इत्यादि श्रुतियों में भी परमात्मा को ही, भोग और अपवर्ग का दाता बतलाया गया है।

धर्मं जैमिनिरत एव ।३।२।३९॥

अत एव उपपत्तेः, शास्त्राच्च, यागदानहोमोपासनरूपधर्ममेव फलप्रदं जैमिनिराचार्यो मन्यते । लोके हि कृष्यादि कर्म, दानादिकं च कर्म, साक्षाद् वा, परम्परया वा स्वयमेवफल साधनं दृष्टम्, एवं वेदेऽपि यागदानहोमादीनां साक्षात्फलसाधनत्वाभावेऽपि परम्परया अपूर्वं द्वारेण फलसाधनत्वमुपपद्यते । तथा—“यजेत् स्वर्गकामः” इत्यादि शास्त्रमपि सिपाघमिपित स्वर्गस्यकर्तव्यतया यागाद्यभिदधदन्यथानुपपत्त्या अपूर्वंद्वारेण फलसाधनत्वमवगमयति ।

आचार्यं जैमिनि, पूर्वोक्त प्रकार की युक्ति और शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर, दान-यज्ञ और उपासना रूप धर्म-कर्म को ही फलप्रद मानते हैं। जगत में कृषि आदि और दान आदि कर्मों को ही, साक्षात् या परंपरा से स्वयं ही, फल साधन करते देखा जाता है। वेद में भी, यज्ञ दान होम आदि कर्म साक्षात् फल साधक न होते हुए भी, परम्परया वा पुण्य रूप अपूर्वं समुत्पादन द्वारा, फल साधक कहे गए हैं। “स्वर्ग की कामना से यज्ञ करना चाहिए” इत्यादि विधि परक शास्त्र वाक्य भी, स्वर्ग की कामना के लिए कर्तव्य रूप से सिद्धे जाने वाले यागादि कर्मों की अज-हेलना नहोने पावे, इसलिए अपूर्वं द्वारा ही फलसाधनता बतलाते हैं।

पूर्वं तु वादरायणो हेतु व्यपदेशात् । ३।२।४०॥

तु शब्दः पक्षव्यावृत्त्यर्थः, पूर्वोक्तं परंपुरुषस्यैव फलप्रदत्वं भगवान्वादरायणो मन्यते । कुतः? हेतुव्यपदेशात्-“यज्देवपूजायाम्” “इति देवताराधनभूतयागाधाराध्यभूताग्निवाय्वादि देवतानामेव तत्तत्फलहेतुतया तस्मिन् तस्मिन्नपि वाक्ये व्यपदेशात् । “वायुव्यं श्वेतमालभेत भूतिका मोवायुर्वैक्षेपिष्ठा देवता वायुमेवस्वेनभागधेयो-नोपधावति स एवैनं भूति गमयति” इत्यादिषु कामिनः सिप घयिषितफलसाधनत्व प्रकारोपदेशोऽपि विध्यपेक्षित एवेति नातत्परत्वशंकायुक्ता । एवमपेक्षितेऽपि फलसाधनत्वप्रकारे शब्दादेवावगते सति तत्परित्यागमश्रुतापूर्वादिपरिकल्पनं च प्रामाणिका न सहते ।

इस सूत्र में तु शब्द पक्ष का निवारक है । पूर्वोक्त परं पुरुष की ही फल प्रदानता भगवान् वादरायण को मान्य है । वे ऐसा, हेतु के उल्लेख के आधार पर मानते हैं । “यज्” धातु देव पूजा के अर्थ में प्रयोग की जाती है । देवता के आराधन रूप यागादि कर्मों के आराध्य, अग्नि वायु आदि देवताओं को ही, फलों के हेतु रूप से, वाक्यों में उल्लेख किया गया है । “वायु देवता को श्वेत बकरा की बलि प्रदान करो वायु क्षिप्रगामी देवता बहे गए हैं, वायु अपने भाग्य से ही दौड़ सकते हैं, वायु उसे ऐश्वर्य प्रदान करते हैं” इत्यादि में-फलाभिलाषी व्यक्ति को, अभीक्षित फल की साधना प्रणाली को बतलाने के लिए, विधि की अपेक्षा बतलाई गई है । इसमें इससे अतिरिक्त कोई और तात्पर्याय की, कल्पना नहीं की जा सकती। इस प्रकार अपेक्षित फल साधनता के प्रकार को, शास्त्रावगति हो जाने के बाद भी उसको न मानना अथवा अश्रुत अपूर्व की कल्पना करना, विवेचकों को कदापि सह्य नहीं हो सकता ।

लिगादयोऽपि देवताराधनभूतयागादेः प्रकृत्यर्थस्य कर्तृव्यापार साध्यतां व्युत्पत्तिसिद्धां शब्दानुशासनानुमतामभिदधति, नान्यद लौकिकमिति प्रागेवोक्तम् । तदेवं “वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता” इत्यादि

शब्दात्वाद्यवादीनां फलप्रदत्वमवगम्यते । वाय्वाद्यात्मना च परमपुरुषएवाराध्यतया फलप्रदायित्वेन चावतिष्ठत इति श्रूयते—“इष्टापूर्त्ता बहुधाजातं जायमानं विश्वं विभर्ति भुवनस्य नाभिः तदेवाग्निस्तद्वायुस्तत्सूर्यस्तद् चन्द्रमा.” इति । अन्तर्यामि ब्राह्मणे च “यो वायौ तिष्ठन् यस्यवायुः शरीरम्” योजनौ तिष्ठन्” य आदित्ये तिष्ठन्” इत्यादि श्रूयते ।

विचित्रलिङ्ग के प्रत्यय और यज् आदि धातु के सहयोग से ही विधि परक वाक्यों का विवेचन किया जा सकता है । लिङ्ग आदि भी, देवताराधन के साधन भूत याग आदि, यज् धातु के अर्थ की, शास्त्र सम्मत योगिक अर्थ के अनुसार, कर्तृव्यापार संपादनीयता का ही समर्थन करते हैं । किसी अलौकिकता का प्रतिपादन नहीं करते, ऐसा कह भी चुके हैं । इसी प्रकार “वायु शीघ्रगामी देवता है” इत्यादि से वायु की फलप्रदानना प्रतीत होती है । वायु आदि के रूप से ही, परम् पुरुष आराध्य होकर-फलप्रदान करने के लिए उपस्थित होते हैं, ऐसा श्रुति प्रमाण है—“जगत् के नाभिस्वरूप इष्टापूर्त्ता आदि कर्म के फलस्वरूप, जाय और जायमान इम विश्व को धारण करते हैं, वही वायु अग्नि, वही सूर्य और चंद्र हैं । इसी प्रकार अन्तर्यामी ब्राह्मण में भी जैसे—“जो वायु में स्थित है वायु जिनका शरीर है “जो अग्नि में स्थित है” जो आदित्य में स्थित है” इत्यादि ।

स्मर्यंते च—“यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयाऽर्चितुमिच्छति तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेवविदधाम्यहम्” सा तथा श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमोहते, लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्” इति “अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च “इति । प्रभुः फलप्रदायोऽयं । “देवान् देवयज्ञोयान्ति मद्मत्कायान्ति मामपि” यान्तिमदयाजिनोऽपिभाम् “इति च ।

स्मृति में भी इसी प्रकार—“जो जोमत्त श्रद्धापूर्वक जिस जिस मूर्ति की अर्चना करते हैं, मैं उन भक्तों को तदनुसार ही श्रद्धा प्रदान करता हूँ । वे लोग वंसी ही श्रद्धावाले होकर उन रूपों की आराधना का प्रयास करते हैं और मेरे द्वारा प्रदत्त अभीष्ट कामनायें प्राप्त करते हैं ।

मैं ही सब यज्ञों का भोक्ता और प्रभु हूँ "प्रभु का तात्पर्य है फल प्रदायी ।
 "देवताओं के उपासक देवताओं को और मेरे भक्त मुझे प्राप्त होते हैं"
 "मेरे उपासक मुझे ही प्राप्त होते हैं ।" इत्यादि ।

लोके च कृप्यादिभिर्विचित्ररूपान् द्रव्यविशेषान् संपाद्यतैः
 राजानं भृत्य द्वारेण साक्षाद्वाऽच्यन्ति, अर्चितश्च राजा तत्तदचंना-
 नुगुणं फलं प्रयच्छन् दृश्यते । वेदांतास्त्वतिपतितसकलेतरप्रमाण
 संभावनाभूमि निरस्तसमस्ताविद्यादिदोषगंधं स्वाभाविकानवधिका-
 तिशयापरिमितोदारगुणसागरं पुरुषोत्तमं प्रतिपाद्य, तादाराधन-
 रूपाणि च यागदानहोमात्मकानि, स्तुतिनमस्कारकीर्त्तनार्चनध्यानानि
 च तदाराधनानि, आराधितात्परस्मात्पुरुषाद् भोगापवर्गरूपं
 फल च, वदंतीति सर्वं समंजसम् ।

लोक में भी देखा जाता है कि—कृपि आदि द्वारा अनेक प्रकार के
 धर्मों का उत्पादन करके, स्वयं या भृत्य द्वारा उस अर्जित उत्पादन से
 राजा की अर्चना की जाती है, अर्चित होकर राजा अर्चना के अनुरूप फल
 प्रदान करते हैं । वेदांत शास्त्र जो कि-शब्द के अतिरिक्त किसी अन्य से
 जेय नहीं है, ऐसे अविद्यादि दोषों से शून्य स्वाभाविक सर्वातिशायी,
 निरवधि अपार कल्याणमय गुणों के सागर उन पुरुषोत्तम को ही—उनके
 आराधनात्मक याग-दान होम आदि क्रियाओं तथा—स्तुति नमस्कार
 कीर्त्तन, अर्चना, ध्यान रूप आराधना के अनुसार, भोग मोक्ष रूप फल
 प्रदाता बतलाते हैं । यही सुसंगत सिद्धान्त है ।

द्वितीय अध्याय द्वितीय पाद समाप्त

तृतीय अध्याय

तृतीय पाद

१ सर्व वेदांत प्रत्ययाधिकरणः—

सर्व वेदांत प्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ।३।३।१॥

उक्त ब्रह्मोपासिसिधोपजननाय वक्तव्यं ब्रह्मणः फलदायित्वपर्यन्तम् इदानीं ब्रह्मोपासनानां गुणोपसंहार विकल्पनिर्णयाय विद्याभेद चिन्ताप्रस्तूयते । प्रथमं तावदेकस्या वैश्वानर विद्यादिकाया अनेक शाखासु श्रूयमाणायाः किमेक विद्यात्वम्, उत विद्याभेद इति । चिन्त्यते । अविशेष पुनः श्रवणस्य प्रकरणांतरस्य च भेदकत्वाच्छाखांतरे चोभयोरवर्जनीयत्वाद्द्विद्याभेद इति प्राप्तम् । अतएव “तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत् शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चोणम्” इति शिरोव्रतवतामायर्वणिकानामेव विद्योपदेश नियमुपपद्यते । विद्यैक्यै हि विद्यांगस्य शिरोव्रतस्यान्येषामपि शाखिनां प्राप्तेर्नियमो नोपपद्यते ।

ब्रह्मोपासना में अभीप्सा बढ़ाने के लिए, ब्रह्म को फलदातृता तक का वर्णन कर दिया गया । अब अनेक प्रकार की ब्रह्मोपासना संबंधी, गुण-संबंधी उपसंहार और विषय के निर्णय के लिए विद्या के भेदों पर विचार प्रस्तुत करते हैं । विभिन्न शाखाओं में वर्णित वैश्वानर आदि विद्यायें, एक ही हैं अथवा भिन्न इस संशय पर विचारने से जात होता है कि-विभिन्न प्रकरणों में एकही विद्या का जो एकसा ही वर्णन मिलता है, वह निश्चित ही किसी विशेष अभिप्राय से होगा, वैसे विद्या में भेद है । 'उसे ही ब्रह्मविद्या बतलानी चाहिए जो विधिवत शिरोव्रत का पालन करने वाला हो "इत्यादि में शिरोव्रत करने वाले आयर्वणिकों के लिए ही, विद्योपदेश का नियम बतलाया गया है । यदि विद्यायें एक होती तो

विद्याओं के अंगभूत शिरोव्रत का सभी विद्याओं में, सामान्य रूप से नियम कहा जाता, उक्त वाक्य तो विद्याविशेष के लिए उक्त व्रत के उपदेश का नियम बतलाता है। इससे विद्याओं में भेद है, ऐसा निश्चित होता है।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्त उच्यते-सर्ववेदांतप्रत्ययमेकमुपासनामिति ।

कुतः ? चोदनाद्यविशेषात् चोदनात्तावत् “उपासीत्” “विद्यात्” इत्येवं ज तीयको धात्वर्थं विशेष विधिः। आदिशब्देन “एकं वा संयोगरूपचोदनाख्या विशेषात्” इति कर्मकाण्डशाखान्तराधिकरण-सूत्रोक्ताः संयोगरूपाख्या गृह्यन्ते। एषां चोदनादीनामविशेषात् सैवेयं विद्येति शाखान्तरे प्रत्यभिज्ञायते तथाहि-छांदोग्यवाजसनेयकयोः “वैश्वानरमुपास्ते” इति चोदनातावदेकरूपा, वेद्यैकनिरूपणीय-स्वरूपस्य विदिपर्यायस्योपासेर्वेद्यभूतवैश्वानरैक्याद्रूपमप्यविशिष्टम्, आख्या च वैश्वानरविद्येत्यविशिष्टाः फलसंयोगोऽप्युभयत्रापि ब्रह्मप्राप्तिरूपोऽविशिष्टः। अतएभिः प्रत्यभिज्ञानात्शाखान्तरेऽपि विद्यं यमम् ।

उक्त मत पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं कि-सभी वेदांतों में एकही उपासना प्रतीत होती है। ऐसा प्रेरणादायक आदि वाक्यों के वर्णन से शक्त होता है। “उपासना करनी चाहिए “जानने से” इत्यादि क्रिया विशेष के बोधक विधि वाक्य ही प्रेरणादायक वाक्य हैं। आदि शब्द से यहाँ-“फल संयोग, रूप, विधि और नाम में कोई भेद नहीं है” इत्यादि कर्मकाण्डीय शाखान्तराधिकरण सूत्र में उल्लेख्य संयोग-स्वरूप-और नाम, अभिप्रेत हैं। इन प्रेरणा दायक वाक्यों और संयोग आदि के सामान्यवर्णन से, शाखान्तरों में वर्णित “यह वही विद्या है” ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है।

छांदोग्य और वाजसनेयक में-“वैश्वानर को उपासना करो” ऐसी एक ही प्रकार की प्रेरणा की गई है, दोनों में जो, वेद्य का स्वरूपनिरूपण ब्रिज्या गया है, उससे भी वेद्य तत्त्व की एकता प्रतीत होती है। समानार्थक उपासना में जब, वेद्य वैश्वानर एक ही तत्त्व है तो उसकी उपासना भी, एक ही रूप की होगी, नाम भी उसका वैश्वानर ही है, फल और संयोग

भी, दोनों स्थानों में ब्रह्म प्राप्तिकरूप ही बतलाया गया है । इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञाओं से, शाखान्तरीय विद्या एक ही प्रतीत होती है ।

यत्तूक्तमविशेषपुनः श्रवणात् प्रकरणान्तराच्च विधेयभेदान्न विद्यैक्यमिति-तदनुभाष्य परिहरति—

जो यह कहा कि-एक ही प्रकार का दो स्थलों पर पुनः उल्लेख किया गया है, इससे विद्या भेद की प्रतीति होती है, इसलिए विद्या की एकता नहीं है; उसे ही उपस्थित कर परिहार करते हैं—

भेदान्नेति चेदेकस्यामपि ।३।३।२॥

अविशेष पुनः श्रुत्या प्रकरणान्तराच्च विधेयभेदान्न, विद्यैक्यमिति चेत्—एकस्यामपि विद्यायां प्रतिपत्तुभेदात्पुनः श्रुतिः प्रकरणान्तरं चोपपद्यते । यत्रह्येकस्मिन् प्रतिपत्तिरि पुनः श्रुतिप्रकरणान्तरं च विद्यते, तत्रान्यथानुपपत्त्या विधेयभेदान् विद्याभेदः, प्रतिपत्तुभेदे तु तत्प्रतिपत्त्यर्थतया पुनः श्रुत्याद्युपपत्तेस्तत्र न विधेयान्तर संभवः ।

यदि कही कि-एक से पुनरुल्लेख और प्रकरण भेद से विधेय का भेद प्रतीत होता है, इसलिए विद्या एक नहीं है । तो एकही विद्या में, प्रतिपादन के भेद से, पुनरुल्लेख और प्रकरणान्तर का होना असंभव नहीं है । जहाँ श्रोता एक होते हुए भी, पुनरुल्लेख और प्रकरण भेद है, वहाँ उपदेष्टा के भेद होने से विधेय (विद्या) का भेद हो गया है । श्रोता के भेद में तो समझाने के लिए पुनरुल्लेख हो जाना स्वाभाविक ही है । विधेय में भेद होना संभव नहीं है ।

यच्चोक्तं शिरोव्रतवतामाष्वर्णिकानामैव विद्योपदेश नियम-दर्शनात् विद्याभेदः प्रतीयत इति तत्राह—

और जो यह कहा कि-शिरोव्रत करने वाले आष्वर्णिकों के लिए ही विद्योपदेश का नियम किया गया है, इससे विद्या भेद प्रतीत होता है । इस पर कहते हैं—

स्वाध्यायस्य तथात्वे हि समाचारेऽधिकाराच्चसववच्च तान्नयमः

।३।३।३॥

नैतदस्ति-शिरोव्रतोपदेशनियमदर्शनं विद्याभेदं द्योतयति-इति शिरोव्रतस्य विद्यांगत्वाभावात् । स्वाध्यायस्यतथात्वे हि तन्नियमः स्वाध्यायस्य तथात्वसिद्धयर्थं, तन्नियमसंस्कारभाक्त्वसिद्धयर्थं हि शिरोव्रतोपदेशनियमः, न विद्यायाः । कुन एतत्? "नैतदचीर्णव्रतोऽधीयोत् "इति तस्याध्ययन संयोगात् समाचारेऽधिकाराच्च-समाचाराख्येग्रन्थे-"इदमपिवेद व्रतेनव्याख्यातम्" इत्यतिदेशात् । "तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यायां वदेत्" वेदविद्यामित्यर्थः । सववच्च तन्नियमः, यथाहि-सवहोमाः सप्तसूर्यादयः शतोदनपर्यन्ता आद्यर्वणि-कैकाग्नि संबंधिनस्तत्रैव भवन्ति न त्रेताग्निषु ।

शिरोव्रत के आधार पर जो विद्या का भेद बतलाते हो वह भी निराधार है, शिरोव्रत की विद्यांगता का कहीं भी उल्लेख नहीं है । विद्या सिद्धि के लिए स्वाध्याय का वैसा प्रकार बतलाया गया है अर्थात् स्वाध्याय को तत्त्वार्थ सिद्धि के लिए शिरोव्रत संस्कार से संपन्न होना आवश्यक है, इसलिए शिरोव्रत की अनिवार्यता बतलाई गई है, विद्या के लिए नहीं । "प्रतानुष्ठान रहित व्यक्ति इसका अध्ययन न करे "इस श्रुति में शिरोव्रत के साथ अध्ययन का संयोग दिखलाया गया है तथा-सदाचार को बतलाने वाले ग्रन्थों में, सदाचार के अधिकार की बात का स्पष्ट उल्लेख है कि-"उन लोगों को ही इसविद्या का उपदेश दो" अर्थात् इस ब्रह्मविद्या का उपदेश दो । इससे भी उक्त मत पुष्ट होता है । जैसे कि-आद्यर्वणिक एकाग्नि संबंधी, सूर्य आदि शतोदन पर्यन्त सात, सवहोम उसी में संपन्न होते हैं, त्रेताग्नि संपूर्ण में नहीं होते वैसे ही इस शिरोव्रत का पालन अपर्ववेदाध्ययन के लिए ही आवश्यक है, संपूर्ण विद्या के लिए नहीं है ।

दशयति च ।३।३।४॥

दशयति च श्रुतिरूपासनस्य सर्ववेदात् प्रत्ययत्वम्-तथाहि-

छांदोग्ये—“तस्मिन्वदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्” इत्युक्त्वा—“किं तद्वत्
विद्यते यदन्वेष्टव्यम्” इति प्रश्नपूर्वकं अपहृतपाप्मत्वादिगुणाष्टक-
विशिष्टः परमात्मा तस्मिन्नुपास्य इत्युक्तम् । तैत्तरीयके तु
छांदोग्यस्थं प्रतिनिर्देशमुपजीव्य “तत्रापि दहरं गगनं विशोकस्त-
स्मिन्वदन्तस्तदुपासितव्यम्” इति गुणाष्टक विशिष्टस्य परमात्मन
उपासनमुच्यते, तदुभयत्र विद्यैकत्वेन गुणोपसंहारादेवोपद्यते ।

स्वयं श्रुतिभो-उपासना की दृष्टि से, विभिन्न वेदांतों में उल्लेख्य
विद्या की एकता बतलाती है । जैसा कि—“उसमें जो निहित है वही
अन्वेषणीय है ‘ऐसा कहकर—“इसमें ऐसा क्या है जिगका अन्वेषण
किया जाय’ ऐसा प्रश्न करते हुए, निर्दोषता आदि आठगुणों वाले
परमात्मा को उपास्य बतलाया गया है । तैत्तरीयक में इन्हीं छांदोग्योक्त
गुणों का प्रतिनिर्देश किया गया है—“वहाँ जो दहराकाश है उसके अंदर
निहित तत्त्व की उपासना-करनी चाहिए” इसमें भी आठगुणों वाले
परमात्मा की ही उपासना बतलाई गई है इस प्रकार के गुणोपसंहार से,
दोनों शाखाओं में एक ही विद्या का समर्थन प्रतीत होता है ।

तदेवशाखान्तराधिकरणन्यायसिद्धं विद्यैक्यं स्थिरीकृत्य
तत्प्रयोजनमाह—

इस प्रकार विभिन्न शाखाओं के अधिकरणों में उल्लेख्य विद्या की
एकता का निर्णय करके उसका प्रयोजन बतलाते हैं—

उपसंहारोऽप्यभिवात् विधिशेषवस्तमाने च । ३।३।५॥

एवं सर्ववेदांतेषु समाने सत्युपासने वेदांतांतराभातानां गुणानां
वेदांतांतर उपसंहार कर्तव्यः, कुतः? विधिशेषवदप्यभिवात्-यथे-
कस्मिन्वेदांते श्रुतो वैश्वानरदहरादिविधिशेषो गुणस्तद्विद्यासंबंधात्
तदुपकाररूपप्रयोजनसिद्धयर्थमनुष्ठीयते, तथा वेदांतांतरोदितोऽपि
तद् विद्यासंबंधित्वेन तदुपकाराविशेषादुपसंहर्तव्य इत्यर्थः ।
च शब्दोऽवधारणे ।

इस प्रकार जब सभी वेदांतों में एक ही उपासना है, तो विभिन्न वेदांतों में कहे गए उपास्य के गुणों का भी उपसंहार करना चाहिए। विधि विशेष की तरह अर्थ का भी, प्रयोजन से अभेद होता है। जैसे कि—एक वेदांत में श्रुत, वैश्वानरोपासना विधि के अनुरूप गुण, उसविद्या से संबद्ध होने के कारण उसके उपकार रूप प्रयोजन की सिद्धि के लिए, अनुष्ठित होते हैं, वैसे ही विभिन्न वेदांतों में कहे गए गुण भी, उसी विद्या के उपकारक हैं, ऐसा मान कर ही उनका उपसंहार करना चाहिए। सूत्रस्थ च शब्द, अवधारण अर्थ में प्रयुक्त है।

२ अन्यथात्वाधिकरणः—

अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नविशेषात् ।३।३।६॥

एवं चोदनाद्य विशेषात् विद्यैकत्वं, एकत्वे च गुणोपसंहारः कर्तव्य इत्युक्तम् अतः परं काश्चन् विद्याग्रधिकृत्य प्रत्यभिज्ञाहेतुभूत-चोदनाद्यविशेषोऽस्ति नेति निरूप्यनिर्णयते ।

ऊपर प्रेरणा आदि की सामान्यता के आधार पर विद्यैकता और एकता में गुणोपसंहार कर्तव्यता का प्रतिपादन किया गया। इसके बाद अम कुछ विद्याओं के उदाहरण प्रस्तुत कर, प्रत्यभिज्ञा के हेतु प्रेरणा आदि की, सामान्यता, उनमें है या नहीं? इसका निरूपण कर, सिद्धान्त प्रस्तुत करेंगे।

अस्त्युद्गीथविद्या वाजिनां छंदोगानां च । वाजिनां तावत्
—“द्वयाह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च” इत्यारभ्य—“तेह देवा ऊचुः
हंतासुरान्यज्ञ उद्गीथेनात्ययामः” इत्युद्गीथेनासुरविध्वंसनं
प्रतिज्ञायोद्गीथे वागादिमनः पर्यन्तदृष्टौ असुरैरभिभवमुक्त्वा
“अथ हेममासन्यं प्राणमूचुः” इत्यादिना उद्गीथे प्राणदृष्ट्या
असुरपराभवमुक्त्वा—“भवत्यात्मना परास्य द्विषन् भ्रातृभ्यो भवति
य एवं वेद” इति शत्रुपराजयफलायोद्गीथे प्राणदृष्टिर्विहिता । एवं
छंदोगानामपि—“देवासुरा ह वं यत्र संयेतिरे” इत्यारभ्य—“तद् द्व

देवा उदगीथमाजह्नु रनेनैनानभिहनिष्यामः "इत्युदगीथेनासुरपराभवं प्रतिज्ञाय तदश्वदेवोदगीथे वागादिदृष्टौ दोषमभिधाय—'अथ ह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुदगीथमुपासांचक्रिरे"—इत्यादिना उदगीथे प्राण दृष्ट्या असुरपराभवमूक्त्वा "यथाऽश्मानमाखणमृत्वा विध्वंसते एवं हैव स विध्वंसते य एवं विदि पापं कामयते" इति शत्रुपराभवाय उदगीथे प्राणदृष्टिविहिता । वेदनविषयविधिप्रत्ययाश्रवणेऽपि फलसाधनत्व श्रवणात् वेदनविषयोविधिः कल्प्यते । उदगीथ विद्यायाः क्रत्वर्थत्वेन क्रतु साद्गुण्यफलत्वेऽप्यार्थवादिकमपि फलं तदविरुद्धं ग्राह्यमेवेति देवताधिकरणे प्रतिपादितम् ।

उदगीथ विद्या वाजसनेयी और छांदोग्य दोनों में है । वाजसनेयी में जैसे—'प्रजापति के दो प्रकार के पुत्र थे देव और असुर "यहाँ से प्रारंभ करके—'उनमें से देवताओं ने कहा हम यज्ञ में उदगीथ द्वारा असुरों का अतिक्रमण करेंगे" इत्यादि से असुरों के ध्वंस की प्रतिज्ञा दिखलाकर, वाक् से मन पर्यन्त प्राणों की उदगीथ दृष्टि करने पर भी-असुरों ने, उन देवों को पराभूत कर दिया, ऐसा बतलाकर "फिर अपने निकटस्थ प्राण से कहा" इत्यादि में, उदगीथ में प्राण दृष्टि से असुरों का पराभव बतलाकर "जो इस प्रचार जानता है, वह प्रजापति रूप से स्थित होता है, और उससे द्वेष करने वाले भ्रातृव्य का पराभव होता है" इस प्रकार शत्रु पराजय फलवाली उदगीथ में प्राण दृष्टि दिखलाई गई है । इसी प्रकार छांदोग्य में भी—'देवता और असुर जब आपस में लड़ रहे थे "यहाँ से प्रारंभ करके—'उन देवताओं ने उदगीथ को लक्ष्य बनाकर यज्ञ किया, इसके द्वारा हम इन्हे हरा देंगे" इस प्रकार उदगीथ द्वारा असुरों के पराभव की प्रतिज्ञा दिखलाकर, पूर्व की तरह उदगीथ में वागादि दोषों को दिखलाकर—' जो यह मुख्य प्राण है, उदगीथ रूप से उसी की उपासना की" इत्यादि से उदगीथ में, प्राण दृष्टि द्वारा असुरों का पराभव बतलाकर 'खनित्र (छेनी) जैसे पत्थर से टक्कर खाकर टूट जाती है, ठीक उसी प्रकार जो उदगीथस्व पुरय के मंत्र में पापाचार करता है वह भी नष्ट हो जाता है" ऐसी शत्रु पराभवरूप फलसिद्धि के लिए उदगीथ में प्राणदृष्टि का विधान किया गया । उदगीथ

प्रकरण में उपासना विषयक विधि वाक्य के न होते हुए भी, उपासना की फलोत्पादकता कही गई है, जिससे उपासना विधि की स्वनः कल्पना हो जाती है। उद्गीथ विद्या यज्ञ की उपकारिका है, यज्ञोत्कर्ष करना ही उसका फल है, फिर भी जो अर्थवाद फल कहा गया है वह विरुद्ध नहीं है वह भी ग्राह्य है, ऐसा देवताधिकरण में बतला भी चुके हैं।

तत्र संशयते—किमत्र विद्यैक्यम्, उत नेति? किं युक्तं? विद्यैक्यमिति कुतः? उभयत्रोद्गीथस्यैवाध्यस्तप्राणभावस्योपास्यत्व-श्रवणाच्चोदनाद्य विशेषात्। फलसंयोगस्तावच्छत्रु परिभवरूपो न विशिष्यते। रूपमप्यध्यस्त प्राणभावोद्गीथारव्योपास्यैक्यादि-विशिष्टम्। चोदना च विदिघात्वयंगताऽविशिष्टा। आख्या चोद्गीथविद्येत्यविशिष्टा! अत्र राद्धान्तिच्छायया परिचोद्य परिहरति। “अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात्” इति।

अब संशय होता है कि—दो शाखाओं में वर्णित ये उद्गीथ विद्या एक है अथवा भिन्न है? विचारने पर ज्ञान होता है कि-एक है क्योंकि-दोनों शाखाओं में प्राणभाव आरोपण पूर्वक उद्गीथ को ही उपास्य बतलाया गया है, दोनों में—विधि आदि में भी एक्य है। शत्रु पराभव रूप फल संबन्ध में भी प्रथकता नहीं है। प्राणभाव से आरोपित उपास्य उद्गीथ में पृथकता न होने से, विद्या में पृथकता नहीं है। विदि घातु का अर्थ भी दोनों जगह सामान्यतः वेदन ही है तथा दोनों जगह “उद्गीथ” नाम भी एकमा है। इस सिद्धान्त पर आपत्ति पूर्वक परिहार करते हैं—“अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात्”

यदुक्तं विद्यैक्यमिति, तन्नोपपद्यते, रूपभेदात्, रूपान्यथात्वं शब्दादेव हि प्रतीयते। वाजसनेयकेहि—“अथ हेममासन्त्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्य एष प्राण उद्गायत्” इत्युगानस्य कर्त्तरि प्राणदृष्ट्याऽसुरपराभवमुक्त्वा “य एवं वेद” इतिकर्त्तव्येय प्राणदृष्टिरेवंशब्दादवगम्यते। छांदोग्ये—“अथह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासांचक्रिरे” इत्युद्गानस्य कर्म-

व्युद्गीथे प्राणदृष्ट्या असुर पराभवमुक्त्वा—“य एवं विदिपापं कामयते” इत्येवं शब्दात् कर्मण्येवोद्गीथे प्राणदृष्टिर्विहिता । अथ एकस्य कर्त्तरि प्राणदृष्टिशब्दादन्यत्र कर्मणि प्राणदृष्टिशब्दाच्च रूपान्यथात्वं स्पष्टम् । रूपान्यथात्वेच विधेय भेदे सति केवल चोदनाद्यविशेषोऽकिञ्चित्कर इति विद्याभेद इति चेत्—तन्न अविशेष-
-पात्—अविशेषेण हि उभयत्र उद्गीथ साधनकपरपरिभव उपक्रमे प्रतीयते । वाजसनेयके—“ते ह देवा ऊचुर्हन्तासुरान्यज्ञ उद्गीथे-
नात्याम” इत्युपक्रमे श्रूयते, छांदोग्येऽपि—“तद्दह देवा उद्गीथ माजह्नु रनेनैनानभिहनिष्याम.” इति । अथ उपक्रमाविरोधाय—
“तेभ्य एष प्राण उद्गायत्” इत्यध्यस्त प्राणभाव उद्गीथ उद्गान कर्मभूत एव पाकादिष्वोदनादिवत् सौकर्यातिशयविवक्षया कर्त्तृत्वेनोच्यते, अन्यथो पक्रमगत उद्गीथ शब्दः कर्त्तरिलाक्षणिकः स्यात् प्रतोविद्यैवम् ।

विद्या की जो एकता बतलाते हो, वह सिद्ध नहीं होती क्योंकि-दोनों स्वरूपगत में पार्यवय है । स्वरूपगत पृथक्ता शब्दों से ही प्रतीत होती है । जैसे कि वाजसनेयी में—“अथ हेममासग्यं” इत्यादि, से उद्गाता कर्त्ता में प्राण दृष्टि से असुरों का पराभव बतलाकर—“य एवं वेद” वाक्य कहा, इस वाक्य के एवं शब्द से प्राण दृष्टि से उद्गाता की ही प्रतीति होती है । छांदोग्य में—“अथ ह य एवाय” इत्यादि में उद्गाता के कर्मभूत उद्गीथ में प्राणदृष्टि द्वारा असुरों का पराभव बतलाकर “य एव विदि-
पापं” इत्यादि में—एवं शब्द से कर्मभूत उद्गीथ में ही प्राण दृष्टि का निर्देश है । इस प्रकार एक जगह कर्त्ता में तथा दूसरी जगह कर्म में, प्राण दृष्टि का निर्देश है । जिससे विद्या का स्वरूपगत भेद स्पष्ट हो जाता है । स्वरूप भेद और विधेय भेद होने से तथा केवल विधि आदि के अविशेष और अकिञ्चित्कर होने से—विद्या भेद निश्चिन होता है [विद्याद] उक्त कथन युक्ति संगत नहीं है—क्योंकि-दोनों में कोई विशेष बात नहीं है, जिसके आधार पर भेद माना जा सके, दोनों ही जगह प्रारंभ में, उद्गीथ साधना का, शत्रु पराभवरूप फल बतलाया गया ।

बृहदारण्यक के उपक्रम में जैसे—“ते ह देवा ऊचुः” इत्यादि तथा-
छांयोग्य में—“तद्देवा” इत्यादि कहा गया तथा उपक्रम के अविरोध के
लिए—“तेभ्य एष प्राण उद्गायत्” इत्यादि में प्राणभाव का अध्यास
दिखलाया गया उद्गीथ का उद्गान ही उसका कर्म होता है जैसे कि
पके हुए भात को सुविधावश चावल कह देते हैं, वैसे ही—रुहने की
सरलता से, उद्गीथ का कर्तृत्व बतला दिया गया। उपक्रम में उल्लेख्य
उद्गीथ शब्द कर्त्ता में लाक्षणिक है। इसलिए विद्या एक ही है।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—

इस पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं—

न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत् । ३।३।७॥

नवेति पक्षं व्यावर्त्तयति, नचैतदस्ति, तद्विद्यैक्यमिति कुतः ?
प्रकरण भेदात् “ओमित्येनदक्षरं उद्गीथमुपासीत्” इति प्रकृतं
उद्गीथावयवभूतं प्रणवं प्रस्तुत्य “एतस्य याक्षरस्योपव्याख्यानं
भवति” “देवासुरा ह वै यत्र संयेतिरे” इत्यारभ्य—“अथ ह य एवायं
मुख्यः—प्राणस्तमुद्गीथमुपासांचक्रिरे” इत्युद्गीथावयवभूतप्रणव-
विषयमुपासनं छंदोगा अधीयते, वाजिनस्तु तादृशप्राचीन प्रकरणा-
भावात् हंतासुरान्यज्ञ उद्गीथेनात्ययाम” इति कृत्स्नमुद्गीथं प्रस्तुत्य
“अथ हेममासन्न्यं प्राणमूवुस्त्वं न उद्गाय” इत्यादिकृत्स्नोद्गीथ-
विषयमधीयते अतः प्रकरणभेदेन विधेय भेदः, विधेयभेदे च
रूपभेद इति न विद्यैक्यम्।

नवा शब्द उक्त पक्ष का व्यावर्त्तक है। विद्या में भेद नहीं है।
विद्या एक है, क्योंकि दोनों में प्रकरण का भेद है। “जें इस उद्गीथाक्षर
की उपासना करो” इत्यादि में प्रस्तावित उद्गीथ के अंग विशेष प्रणव
का उल्लेख करके “इस अक्षर का उपव्याख्यान होता है” देवता और
अमृत जहाँ संग्राम करते थे” इत्यादि से प्रारंभ करके “इसके बाद जो
मुख्य प्राण है, उसकी उद्गीथ रूप से उपासना की।” इत्यादि में उद्गीथ

की अद्वयवर्ण प्रणवोपासना छांदोग्य में बतलाई गई है। वाजसनेयी में उक्त प्रकार के प्राचीन प्रकरण का अभाव है इसलिए "हम लोग उद्गीथ असुरों का अतिक्रमण करेंगे" इत्यादि में ममस्त उद्गीथोपासना का ही उपक्रम करके मुख्य प्राण के लिए कहा गया कि—“तुम हमारे लिए उद्गान करो” इत्यादि, इससे निश्चित होता है कि—इसमें संपूर्ण उद्गीथोपासना का ही निर्देश है प्रकरण में भेद होने से, विषय में भी भेद होता है तथा विषय भेद से स्वरूप भेद होता है। इसलिए विभिन्न प्रकरणों की उद्गीथ विद्या एक नहीं है।

किंच—‘अथह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासांचक्रिरे’ इति पूर्वप्रकृत उद्गीथावयवभूतः प्रणव एवाध्यस्त प्राणभावः छंदोगानामुपास्यः । वाजिनांतु कृत्स्नस्योद्गीथस्यकर्तोद्गाथा प्राणदृष्टयोपास्य इति । “अथ हेममासन्नं प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति तयेति तेभ्य एष प्राण उद्गायत” इत्युद्गातरि प्राणाध्यास निर्दिश्य “य एवं वेद” इत्युद्गातैवाध्यस्त प्राणभाव उपास्यो विधीयते । अतश्च रूपभेदः । न चोद्गातमुपास्ये विहित “उद्गीथेनायवाम” इत्याख्यायिकोपक्रमविरोधः शंकनीयः, उद्गातुरुपासने उद्गीत-स्योद्गानकर्मभूतस्यावश्यापेक्षितत्वात्तत्त्वापि परपरिभवाद्यं फलं प्रति हेतुत्वात् । अतोरूपभेदात् विद्याभेद इति चोदनाद्यविशेषेऽपि न विद्यैक्यम् । परोवरीयस्त्वादियत्—ययैकस्यामपि शाखायामु-द्गीथावयवभूते प्रणवे परमात्मदृष्टि विधानसाम्येऽपि हिरण्यमय-पुरुषदृष्टिविधानात् परोवरीयस्त्वादि गुणविशिष्टदृष्टिविधान-मर्थान्तरभूतम् ।

तथा—“इमं मुख्य प्राण की उद्गीथ रूप ने उपासना की” इत्यादि में, पूर्ण प्रस्तावित उद्गीथाज्ञ प्रणव में प्राणात्मभाव का आरोप किया गया है। वही छांदोग्य का उपास्य है। बृहदारण्यक में—संपूर्ण उद्गीथ का कर्ता उद्गाता [ही प्राण रूप से उपास्य माना गया है। “इत्येके वाद निकटवर्ती मुख्यस्य प्राण से कहा कि तुम हमारे लिए उद्गान

करो, उसने तथास्तु कहकर उनके लिए उद्गात किया" इत्यादि से, उद्गाता कर्त्ता में ही प्राण भाव का आरोप करके "जो इस प्रकार जानते हैं इत्यादि में-आरोपित प्राणस्वरूप उद्गाता को ही उपास्य बतलाया गया है। इस प्रकार भी उद्गाता में स्वरूपगत भेद है। उद्गाता के उपास्य रूप से विहित होने से, उसका कर्मभूत उद्गीथ भी अपेक्षित हो जाता है, जिससे शत्रु पराभवरूप फलसिद्ध में, उसकी भी कारणता हो जाती है। स्वरूप भेद से जब विद्या भेद हो जाता है तब विधि आदि की एकता होते हुए भी, विद्या का अभेद नहीं हो सकता—जैसे कि-छांदोग्य की एक ही शाखा में उद्गीथ प्रकरण के मध्य में उद्गीथांश रूप प्रणव के परमात्म दृष्टि से साम्य होते हुए भी, हिरण्मय पुरुष परक दृष्टि का विधान होने से, परोक्षरीय आदि गुणों से विशिष्ट दृष्टि का विधान, भिन्नता का द्योतक है।

संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि ।३।३।८॥

उद्गीथविद्येति संज्ञक्यात् तत्-विद्यैक्यभूक्तं त्रैत्-तत् संज्ञक्यंविधेयभेदेऽप्यस्त्येव, यथा अग्निहोत्रसंज्ञा नित्याग्निहोत्रे, कुण्डपायिनामयनाग्निहोत्रे च, यथाचोद्गीथविद्येति छांदोग्ये प्रथम प्रपाठकोदितामुबह्वेषु विद्यासु ।

"उद्गीथ विद्या" ऐसी नाम की एकता है, ऐसा कथन भी संगत नहीं है, प्रायः विधेय के भेद में भी एक नाम होता है जैसे कि-नित्य अग्निहोत्र और कुण्डपायी अग्निहोत्र, दोनों ही अग्निहोत्र नाम वाले हैं। छांदोग्य के प्रथम प्रपाठक की अनेक विद्यायें, उद्गीथ नामवली हैं।

व्याप्तेश्च समंजसम् ३।३।९॥

छांदोग्ये प्रथमप्रपाठके उत्तरांस्वपिविद्यासूद्गीथावयवस्य प्रणवस्य प्रथमप्रस्तुतस्योपास्यत्वेन व्याप्तेश्च तन्मध्यगतस्य "तद्देव उद्गीथमाजह्नुः" इत्युद्गीथशब्दस्य प्रणवविषयत्वमेव समंजसम्। अत्रयवे च समुदाय शब्दः पटोदग्धः" इत्यादिषु दृश्यते ।

अतश्चोद्गीयावयवभूतः प्रणव एवोद्गीय शब्द निर्दिष्ट इति स एव प्राणदृष्ट्योपास्यरद्धान्दोग्ये प्रतिपत्तव्यः । वाजसनेयके तु कृत्स्नोद्गीय विषय उद्गीय शब्द इति कृत्स्नोद्गीयस्य कर्त्तोद्गाता प्राण दृष्ट्योपास्य इति विद्यानानात्वं सिद्धम् ।

छांदोग्य के प्रथम प्रपाठक में, प्रथमवर्णित-उद्गीयावयव प्रणव की उपासना, परवर्ती विद्याओं में भी अनुगत है इसलिए मध्यवर्ती—“देवताओं ने उस उद्गीय का आहरण कर लिया” इत्यादि में उल्नेस्य “उद्गीय” शब्द का प्रणवार्थ मानना ही संगत होगा । “जला-कपड़ा” इत्यादि उदाहरणों में जैसे—समुदाय वाचक शब्द का उसके अवयव में भी प्रयोग किया जाता है [अर्थात् कपड़े का ढेर जले या एक जले प्रयोग “पटो दग्धः” ही किया जाता है] वैसे ही—उद्गीय के अग प्रणव का भी, उद्गीय शब्द से ही निर्देश किया गया है । उसे ही छांदोग्य में—प्राणदृष्टि से उपास्य कहा गया है । बृहदारण्यक में तो—संपूर्ण उद्गीय का बोधक उद्गीय शब्द है, संपूर्ण उद्गीय के कर्त्ता उद्गाता को ही प्राणदृष्टि से उपास्य कहा गया है । इनसे विद्या का भेद ही सिद्ध होता है ।

सर्वभिदाधिकरणः—

सर्वाभिदाहन्यत्रेमे ।३।३।१०॥

छांदोग्यवाजसनेयकयोः प्राणविद्या श्राप्तायते “योऽहं वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च हवै श्रेष्ठश्च भवति, प्राणोवाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च” इत्यादि तत्र ज्यैष्ठ्यश्रेष्ठ्यगुणकं प्राणमुपास्यं प्रतिपाद्य वाकचक्षुः श्रोत्रमनः सुवसिष्ठत्वप्रतिष्ठात्वसंपत्स्वायतनत्वाख्यान् गुणान् प्रतिपाद्य वागादीनां देहस्य च प्राणायत्तस्यितित्वेन तदायत्ततत्तकार्यत्वेन च प्राणस्य श्रेष्ठ्यं प्रतिपाद्य वागादि संबंधितया श्रुतान्वसिष्ठत्वादीन् गुणांश्च प्राणसंबंधितया प्रतिपादयति । एवं छांदोग्यवाजसनेयकयोज्यैष्ठ्यश्रेष्ठ्यगुणको

वसिष्ठत्वादिगुणकरच प्राण उपास्यः प्रतिपाद्यते । कौपीतिकिनां तु प्राणविद्यायां तथैव ज्यैष्ठ्यश्रैष्ठ्यगुणकः प्राण उपास्यः प्रतिपादितः, न पुनर्वसिष्ठत्वादयो वागादि संबंधिनो गुणः प्राण संबंधितया प्रतिपादिताः । तत्र संशयः, किमत्र विद्याभिद्यते, उतनेति ? किमुक्तम् ? भिद्यत इति । कुतः ? रूपभेदात् । यद्यप्युभयत्र प्राण एव ज्यैष्ठ्य श्रैष्ठ्यगुणक उपास्यः, तथाप्येकत्र वसिष्ठत्वादिभिरपि गुणैर्युक्तः प्राणउपास्यः प्रतीयते, इतरत्र तु तद्विधुर इत्युपास्य रूपभेदादविद्याभेदः ।

छादोग्य और बृहदारण्यक दोनों में प्राणविद्या का उपदेश है 'जो लोग ज्येष्ठ और श्रेष्ठ को जानते हैं, वे स्वयं ज्येष्ठ श्रेष्ठ हो जाते हैं, प्राण ही ज्येष्ठ है' इत्यादि । इसमें ज्येष्ठ श्रेष्ठ गुण संपन्न प्राण की उपास्यता का प्रतिपादन करके-वाक्-वक्षु-श्रोत्र और मन को क्रम से वसिष्ठता, प्रतिष्ठता, समपद रूपता और आयतनता गुणों वाला बतलाया गया है । इसके बाद-वाक् आदि इंद्रियों और देह में स्थित विशेष कार्यों से अधीन प्राण की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करके-वागादि संबंधी वसिष्ठता आदि गुणों का भी, प्राण संबंधी रूप से ही प्रतिपादन किया गया है । जैसी छादोग्य बृहदारण्य में ज्येष्ठ श्रेष्ठ-वसिष्ठ आदि गुण विशिष्ट प्राण की उपास्यता बतलाई गई है, वैसी ही कौपीतिकि प्राण विद्या में भी ज्येष्ठता श्रेष्ठता गुण विशिष्ट प्राण की उपास्यता बतलाई गई है, उसमें प्राण संबंधी वागादि इंद्रिय संपर्कित वसिष्ठता आदि गुणों का उल्लेख नहीं किया गया है । इस पर संशय होता है कि उक्त विद्या एक है या भिन्न ? कह सकते हैं कि-भिन्न, क्योंकि-रूप का स्पष्ट भेद है । यद्यपि दोनों जगह ज्येष्ठ श्रेष्ठ गुण वाले प्राण को ही उपास्य कहा गया है, पर एक जगह वसिष्ठता आदि गुणों से युक्त प्राण की उपास्यता का उपदेश है, दूसरी जगह, उनगुणों से हीन प्राण उपास्य है । इस प्रकार रूप में भेद है । अतः विद्या भिन्न है ।

सिद्धान्तः-इति प्राप्ते वृमः-सर्वाभेदादन्यत्रेभे-नात्रविद्या भेदः, अन्यत्र कौपीतिकिनां प्राणविद्यायामपि इमे-वसिष्ठत्वादयो

गुणा उपास्या. संति कुतः ? सर्वाभेदात्-प्रतिज्ञात प्राण ज्यैष्ठ्य-
 श्रेष्ठयोपपादनप्रकारस्य सर्वस्य तत्राप्यभेदात् । तथाहि-
 छांदोग्यवाजसनेयिनां प्राणविद्यायाम् "एताहवै देवता अह श्रेयसे
 व्यूदिरे "अहंश्रेयसे विवदमानाः" इति चोपक्रम्य वागाद्ये कैको-
 पक्रमणे अन्येषां स प्राणानामिन्द्रियाणां शरीरस्य च स्थिति
 तत्तत्कार्यं चाविकूलं प्रतिपाद्य प्राणोत्क्रमणं सर्वेषां विशरणमकार्य-
 करत्वं चाभिधाय सर्वेषां प्राणाधीनस्थितित्वतदधीनकार्यत्वाभ्यां
 प्राणस्य ज्यैष्ठ्यमुपपादितम् । एवमुपपादितं वागादिकार्यस्य
 प्राणाधीनत्व-"अथ हैनंवागुवाच यदहं वसिष्ठोऽस्मि त्वं तद्वद
 वसिष्ठोऽसि" इत्यादिना वागादिभिरनूयते ।

उक्त संशय पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं कि-विद्या का भेद नहीं
 है, कौपनिक में भी वसिष्ठता आदि गुणों का उपास्य रूप से उल्लेख है ।
 प्राण के ज्येष्ठ श्रेष्ठ गुणों के उपपादन से ही, उन सबकी अभिन्नता
 प्रतीत होती है । छांदोग्य और बृहदारण्यकीय प्राण विद्या में-"वे देवता
 (इन्द्रियां) अपनी-अपनी प्रधानता बतलाने के लिए विवाद करने लगे ।
 "अपनी-अपनी प्रतिष्ठा के लिए विवाद करते-करते" इत्यादि से प्रारंभ
 करके-वागादि आदि एक-एक इन्द्रियों का वहिर्गमन तथा प्राणयुक्त
 इन्द्रियों का शरीर में अवस्थान एवं कार्यकारिता का प्रतिपादन किया
 गया और अंत में-प्राणों के उत्क्रमण से समस्त इन्द्रियों की शिथिलता
 और अकर्मण्यता का प्रतिपादन करके, प्राण की अधीनता में सबकी
 अवस्थिति और कार्यकारिता के कारण प्राण की ज्येष्ठता आदि का
 समर्थन किया गया है । इसी प्रकार वागादि इन्द्रियों की प्राणाधीनता
 का भी समर्थन करते हुए "वाक्ने कहा जो मेरी वसिष्ठता है वही
 तुम्हारी भी वसिष्ठता है ।" इत्यादि में वागादि से अनुदिन किया
 गया है ।

वागी किरा प्राणविद्यायामपि प्राणज्यैष्ठ्यश्रेष्ठ्य प्रति-
 पादनाय वागादिषु वसिष्ठात्वादयः प्रतिपादिताः । "अथ हेमा
 देवताः प्रजापतिपितरमेत्याद्युवनू को वै न श्रेष्ठः" इत्यादिना

वागादि गतागुणा वागादयश्च देहश्च प्राणाधीना इति प्राणस्य ज्येष्ठ्यमुपपादितम् । वागादिभिः स्वस्वगुणा वसिष्ठत्वादीनां प्राणाधीनत्वानुवादमात्रं तु न कृतम् । नैतावता रूपभेदः, वागादीनां वसिष्ठत्वादि गुणान्वितानां प्राणाधीनकार्यत्वोपपादनेनैव प्राणस्य वागादि वसिष्ठत्वादि गुणहेतुत्वस्य सिद्धत्वात् । तदेव हि प्राणस्य वसिष्ठत्वादि गुणयोगित्वं, यद्वागादिवसिष्ठत्वादि हेतुत्वम् । अतोऽत्रापि वसिष्ठत्वादिगुणयोगात् प्राणो ज्येष्ठः प्रतिपन्न इति नास्ति विद्या भेदः ।

कौपीतिकि प्राण विद्या में भी, प्राण की ज्येष्ठता श्रेष्ठता के प्रतिपादन के लिए, वागादि की वसिष्ठता आदि का प्रतिपादन किया गया है । "इन देवताओं ने प्रजापति के पास जाकर कहा—हममें कौन श्रेष्ठ है ?" इत्यादि में वाक् आदि के गुण, वागादि इन्द्रियों और शरीर इत्यादि सबको प्राणाधीन बतलाकर—प्राण की ज्येष्ठता का समर्थन किया गया है । वागादि की एक मात्र गुणों के कारण ही प्राणाधीनता नहीं बतलाई गई अपितु उनको स्वरूपतः भी अभिन्न कहा गया है, क्योंकि जब एक मात्र प्राण ही, इन्द्रियों की वसिष्ठता आदि का कारण है, तब वसिष्ठता आदि गुणों से सपन्न इन्द्रियों की कार्यकारिता स्वतः ही प्राणाधीन सिद्ध होती है । वस्तुतः प्राण की जो, वागादि इन्द्रियगत वसिष्ठता आदि गुण संपादकता है, वह उसकी अपनी ही, वसिष्ठता आदि गुण योगिता है । इस विवेचन से निश्चित होता है कि—कौपीतिकि में भी वसिष्ठता आदि गुणों से संबंध प्राण की ज्येष्ठता बतलाई गई है । इस प्रकार विद्या में स्वरूपतः कोई भेद नहीं है ।

४ आनंदाद्याधिकरणः—

प्राणविद्यांगविषयमन्यदपि निरूपणमन्तरमेव करिष्यते । यथा प्राणस्य वसिष्ठत्वाद्यनुसंधानेन विना ज्येष्ठ्यश्रेष्ठ्यानुसंधानामुपपत्तेरनुक्तानामपि वसिष्ठत्वादीनां कौपीतिकि प्राणविद्यायां प्राप्तिः तथा ब्रह्मस्वरूपानुसंधानं यैगुणैर्विनानोपपद्यते, ते ब्रह्मविद्यासु सर्वास्वप्नसंधेया इत्ययमर्थं प्रतिपाद्यते ।

प्राण विद्या के अन्य अंगों का भी प्रतिपादन करना होगा, जैसे कि प्राण की वसिष्ठता आदि के अनुसंधान के बिना ज्येष्ठता श्रेष्ठता आदि की प्रतीति नहीं होती इस बात को बतलाये बिना ही, वसिष्ठता आदि गुणों का, कौपीतिक प्राणविद्या में जो उल्लेख है तथा—बिना समस्त गुणों की जानकारी के ब्रह्म का स्वरूप ज्ञान सम्भव नहीं है, ब्रह्म विद्याओं में उन गुणों का अनुसंधान आवश्यक है। इत्यादि बातों का प्रतिपादन करते हैं।

आनंदादयः प्रधानस्य ।३।३।११।।

अत्रब्रह्मस्वरूपगुणानां सर्वासु परविद्यासूपसंहारोऽस्ति, नेति विचार्यते । अप्रकरणाधीतानामुपसंहारे प्रमाणाभावात् प्रकरणश्रुतानामेवोपसंहार इति ।

ब्रह्म के स्वरूपगत गुणों का सभी विद्याओं में उपसंहार है या नहीं इस पर विचार करते हैं। भिन्न प्रकरणों में कहे गये गुणों के उपसंहार का कोई प्रमाण नहीं मिलता, इसलिए ज्ञात होता है कि—प्रस्तुत प्रकरण में कहे गए गुणों का स्वतः में ही उपसंहार है।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्ते ब्रूमः—आनंदादयः प्रधानस्य, अभेदादिति वक्तंते प्रधानस्यगुणिनोब्रह्मणः सर्वेषामसनेष्वभेदात् गुण्यपृथग्भावाद्गुणानां सर्वत्रनिंदादयस्तद्गुणा उपसंहर्त्तव्या ।

उक्त श्लोक पर सिद्धान्त बतलाते हैं कि—पूर्व सूत्र से “अभेदात्” पद की इस सूत्र में भी अनुवृत्ति है, जिससे अर्थ होता है कि—आनंदादि प्रधान गुणों वाले ब्रह्म का सभी उपासनाओं में अभेद संबंध होने से तथा—गुण और गुणी को अपृथक्ता होने से, आनंदादि गुणों का सभी विद्याओं में उपसंहार करना चाहिए।

एवं तर्हि—गुण्यपृथक्भावादेवानंदादिवत् प्रियशिरस्त्वादयोऽपि “तस्य प्रियमेवशिरः” इत्यादी ब्रह्मगुणत्वेन श्रुताः सर्वत प्रसज्येरन्नेत्याह—

(संका) ऐसा मानने से तो-गुणी से अभिन्न आनंदादि की तरह आनंद के अंग प्रियशिर आदि जो कि-“तस्यप्रियमेवशिरः” इत्यादि में ब्रह्म के गुण रूप ही कहे गए हैं, उनका भी सब जगह उपसंहार करना होगा इसका निराकरण करते हैं :-

प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्त्युपचयापचयौहि भेदे । ३।३।१२॥

ब्रह्मस्वरूपगुणानां प्राप्तावुच्यमानायां प्रियशिरस्त्वादीनाम-
प्राप्तिः, तेषामब्रह्मगुणत्वात्, ब्रह्मणः पुष्ट्यविधत्वरूपणमात्रान्तर्गत-
त्वात्प्रियशिरस्त्वादीनाम् । अन्यथा शिरः पक्षपुच्छाद्यवयव भेदेसति
ब्रह्मणोऽप्युपचयापचयौ प्रसज्येयाताम् । तथाच सति-“सत्यंज्ञान-
मनंतं ब्रह्म” इत्यादि विरुध्यते ।

ब्रह्म के स्वरूप भूत गुणों की गणना करने में, प्रियशिरस्त्व आदि गुणों की गणना नहीं हो सकती, क्योंकि-वे ब्रह्म के गुण नहीं हैं अपितु वे प्रियशिरता आदि, ब्रह्म के अवतार रूप के निरूपण करने वाले अचान्तर गुण मात्र हैं । यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो शिर-पक्ष-पुच्छ आदि अवयव भेद, ब्रह्म के उपचय अपचय के परिचायक देहगत विकार हो जावेंगे । जो कि-“सत्यंज्ञानमनंतं ब्रह्म” इत्यादि ब्रह्मस्वरूप के विरुद्ध बात होगी ।

नन्वेवमेव

ब्रह्मसंबन्धिनामेवैश्वर्यं गांभीर्यं औदार्यं कारुण्यं आदि
गुणानामनंतानां गुण्यपृथक् स्थित्वमात्रेण तत्राश्रुतानामप्युपसंहारे
सर्वे सर्वत्र प्रसज्येरन्, ध्यानंत्यादुपसंहाराशक्तिश्च । तत्राह—

इस प्रकार तो ब्रह्म संबन्धी, ऐश्वर्य-गांभीर्य-औदार्य-कारुण्य आदि अनंतगुणों की, गुणी से अपृथक्ता होने से, जहाँ गुणों का कथन नहीं है, वहाँ भी समस्त गुणों की उपस्थिति अनिवार्य हो जायेगी? ब्रह्म के अनंत गुणों का उपसंहार संभव भी नहीं है? इसका उत्तर देते हैं—

इतरेत्यर्थ सामान्यात् । ३।३।१३॥

तु शब्दरचोद्यं व्यावर्त्तयति, इतरेतु आनंदादयः, अर्थसामान्यात्
सर्वत्रानुवर्त्तन्ते । ये त्वर्थसमानाः, अर्थस्वरूपनिरूपणधर्मत्वेनापं

प्रतीत्यनुबंधिनः, तेष्वंस्वरूपवत् सर्वत्रानुवर्तन्ते । ते च गुणाः सत्यज्ञानानंदानलत्पानंतानि । “यतो वा इमानि” इत्यादिना जगत्-कारणतयोपलक्षितं ब्रह्म “सत्यंज्ञानमनंतं ब्रह्म” “आनंदो ब्रह्म” इत्यानंदादिभिर्हि स्वरूपतो निरूप्यते अत उपास्य ब्रह्म स्वरूपाव-गमाय सर्वासु विद्यास्त्रानंदादयोऽनुवर्तन्ते । ये तु निरूपित स्वरूपस्य ब्रह्मणः कारुण्यादयोगुणाः प्रतिपन्नाः तेषां गुण्यपृथक् स्थितत्वेऽपि प्रतीत्यनुबंधित्वाभावात्-ये यत्र श्रुताः ते तत्रोपसंहार्याः, इति निरवद्यम् ।

सूत्रस्य तु शब्द उक्त तर्क का समाधान करता है । आनंद आदि सामान्य अर्थ बोधक होने से सभी विद्याओं में अनुवृत्त हो सकते हैं, जो कि-गुणी के समानार्थक गुण हैं, अर्थात् जो अर्थ स्वरूप के निरूपक होने से एकमात्र अर्थ प्रतीति के कारण ही गुण वाच्य हैं, वे जिस गुणी की अर्थ प्रतीति कराते हैं, उस गुणी की तरह ही, समस्त विद्याओं में अनुवृत्त हो सकते हैं । वे गुण-सत्य-ज्ञान-आनंद अनंतता आदि ही हैं । “यतो वा इमानि” इत्यादि से, जगत् कारणरूप से उपलक्षित ब्रह्म ही “सत्यंज्ञान-मनंतं ब्रह्म” “आनंदो ब्रह्म” इत्यादि वाक्यों में आनंद आदि रूपवाले निरूपण किये गए हैं । उपास्य ब्रह्म स्वरूप की प्रतीति के लिए ही सभी विद्याओं में बार-बार अनुवर्तन किया गया है । उक्त प्रकार से निरूपित ब्रह्म के कारुण्य आदि प्रसिद्ध गुणों की गुणी से अपृथक् स्थिति होते हुए भी, उन गुणों से एकमात्र ब्रह्म की ही प्रतीति होती हो, अन्य की नहीं, ऐसा कोई अनुबंधन होने के कारण वे कारुण्य आदि गुण जहाँ कहे गए हैं, उनका वही उपसंहार होगा, अन्यत्र नहीं ।

यत्तूपचयापचयप्रसंगात् प्रियशिरस्त्वादयो ब्रह्मणः पुरुषं विद्यत्वरूपणमात्रार्थाः न तु ब्रह्म गुणाः । तर्हि अतथारूपस्य ब्रह्मण-स्तथात्वेन रूपणं किमर्थं, क्रियते अतथाभूतस्य हि तथात्वरूपणे केनचित् प्रयोजनेन भवितव्यम्, यथा-“आत्मानं रयिनंविद्धि” इत्यादिनोपासकस्य तदुपकरणानां च रयिदधादित्वरूपणम्

उपासनोपकरणरूप शरीरेन्द्रियादिवशीकरणार्थं क्रियते इत्युक्तम् ।
नवेह तथाविधम् किञ्चित्प्रयोजनं दृश्यते । इति बलात् ब्रह्मगुणत्वं
प्रियशिरस्त्वादीनामभ्युपेत्यम् । तत्राह—

जो यह कहा कि— ब्रह्म के अवतार की ही पक्षिरूप से कल्पना की गई है उसी के लिए प्रियशिरस्त्र आदि कल्पित है. वस्तुतः वे परमात्मा के गुण नहीं हैं । यदि ऐसा ही है तो, ब्रह्म के पक्षिरूप कल्पना का प्रयोजन क्या होगा ? असंभव वस्तु की संभवकल्पना का कोई न कोई प्रयोजन अवश्य होता है । जैसे कि—“आत्मा को रथी जानो ”इत्यादि कल्पना में उपासक जीव और उसकी साधना के उपकरण इन्द्रिय आदि का, रथीरथ, आदि रूपों से जो निरूपण किया गया है, वह उपासना के साधनभूत शरीरेन्द्रियादि के वशीकरण के लिए है, वही उसका प्रयोजन है । इस प्रकार या कोई भी प्रयोजन, पक्षिरूप की कल्पना में तो दीखता नहीं, इसलिए भगवत्या प्रिय शिरसा आदि को परमात्मा का ही गुण मानना पड़ेगा । इसका उत्तर देते हैं ।

आध्यानाय प्रयोजनाभावात् । ३।३।१४॥

प्रयोजनान्तराभावात् आध्यानाय अयं रूपणोपदेशः क्रियते ।
आध्यानं अनुचिन्तनम्, उपासनमुच्यते । “ब्रह्मविदाप्नोति परम्”
इत्यश्रोपदिष्टाध्यानरूपवेदेन सिद्धये हि आनन्दमयब्रह्मप्रतिपत्यर्थ-
मानन्दमयं ब्रह्म प्रियमोदादिरूपेण विभज्य शिराः पक्षादित्वेन
रूपयित्वोपदिश्यते । यथाऽन्नमयः पुरुषः अयं देहः शिरः पक्षादिभिः
“सस्येदमेवशिरः” इत्यादिना बुद्धावारोप्यते, यथा च
प्राणमय मनोमयविज्ञानमयाः तस्य प्राण एव शिरः” इत्यादिना
प्राणाद्यवयवैर्बुद्धावारोप्यन्ते, एवमेभ्योऽप्यन्ति रभूतस्तदन्तरात्मा
आनन्दमयोऽपि प्रियमोदादिभिरेकदेशैः शिरःप्रभृतित्वेन
रूपितैराध्यानाय बुद्धावारोप्यते । एवमानन्दमयोपलक्षणत्वात्
प्रियशिरस्त्वादीनां न सर्वदाआनन्दमय प्रतीतावनुवर्तन्ते ।

उक्त कल्पना का कोई अन्य प्रयोजन नहीं है, केवल आध्यान के लिए ही उक्त कल्पना की गई है आध्यान अर्थात् अनुचितन, उपासना को कहते हैं। "ब्रह्मवेत्ता परमात्मा को प्राप्त करता है" इसवाक्य में आध्यान रूप वेदन का उपदेश दिया गया है, उसकी सिद्धि के लिए ही, आनंदमय ब्रह्म का विवेचन, प्रियमोद आदि रूपों से विभक्त करके, शिर पंख आदि रूपों से किया गया है जैसे कि-पुरुष पदवाच्य, अन्नमय म्यूल देह को "यही उसका शिर है" इत्यादि से-शिरपक्षादियुक्त विशिष्ट रूप, से बुद्धि में आरोपित करने के लिए कल्पना की गई है तथा प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय इत्यादि को तस्य प्राणमयः शिरः" इत्यादि से प्राण आदि की बुद्धि में आरोपित करने के लिए कल्पना की गई वैसे ही-अन्नमय आदि से स्वतंत्र, उनके ही अंतर्गत्मा आनंदमय की, प्रियमोद आदि एक देशीय विशेषताओं की शिर आदि रूपों में आध्यान करने के लिए कल्पना की गई है। आनंदमय के उपलक्षण होने के कारण प्रियशिर आदि, सब जगह आनंदमय की ही प्रतीति कराते हैं ऐसा नहीं है, यह ऊपर के विवेचन से निश्चित हो जाता है। वे तो एक मात्र उपासना के लिए ही हैं।

आत्मशब्दाच्च १३।१।१५॥

"अन्योऽन्तर आत्माऽनंदमयः", इत्यात्मशब्देन निर्देशादात्मनश्च शिरःपक्षपुच्छासंभवात् प्रियशिरस्त्वादपस्तस्य मुखप्रतिपत्यर्थं रूपणमात्ममिति गम्यते ।

"इमते भिन्न अन्तस्य आत्मा आनंदमय है" इत्यादि वाक्य में आनंदमय का आत्मा शब्द से निर्देश किया गया है, आत्मा में शिर-पंख पूंख आदि संभन नहीं हैं इमनि ए उनके प्रियशिरत्व आदि की कल्पना मुख प्राप्ति के लिए, एक मात्र ही प्रतीत होते हैं।

ननु 'अन्योऽन्तर आत्माप्राणमयाः' अन्योऽन्तरआत्मा मनोमयः "इत्यात्मशब्दस्यनात्मस्वपि पूर्वं प्रयुक्तत्वात् "अन्योऽन्तरआत्मा आनंदमयः" इत्यात्मशब्दस्य परमात्मविषयत्वं कथं निरचोयते? तत्राह—

(शंका) "इससे भिन्न अन्तरस्थ आत्मा प्राणमय है" इससे भिन्न अन्तरस्थ आत्मा मनोमय है" इत्यादि वाक्यों में आत्मा शब्द का प्रयोग अनात्म-प्राण, मन आदि के लिए भी किया गया है, फिर इन वाक्यों के परवर्ती "इससे भिन्न अन्तरस्थ आत्मा आनंदमय है" इस वाक्य में प्रयुक्त आत्मा शब्द को परमात्मा विषयक ही कैसे निश्चय किया जा सकता है? इसका उत्तर देते हैं—

आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् । ३।३।१६॥

"अन्योऽन्तरात्माऽनंदमयः इत्यत्रात्मशब्देन परमात्मन एव ग्रहणम्, इतरवत्-यथेरत्र-"आत्मावाइदमेक एवाग्र आसीत् स ईक्षत् लोकान्नु सृजे" इत्यादिवात्मशब्देन परमात्मन् एव ग्रहणम् । तदवत् । कुत एतत्? उत्तरात्-"सोऽकामयत्बहुस्यां प्रजायेय" इत्यानंदमयविषयात् उत्तराद्वाक्यात् ।

"इससे भिन्न अन्तरात्मा आनंदमय है" इस वाक्य में प्रयुक्त आत्म शब्द परमात्मावाची ही माना जायगा जैसे कि "श्रुष्टि से पूर्व एक मात्र आत्मा ही था । उसने इच्छा की कि-लोकों की सृष्टि करूँ" इत्यादि अन्य वाक्यों में आत्मा शब्द परमात्मावाची ही है । उक्त आनंदमय विषयक वाक्य के बाद के "उसने कामना की कि अनेक हो कर जन्म लूँ" इत्यादि वाक्य से उस बात का स्पष्टीकरण हो जाता है ।

अन्धकारादिति चेत्स्यादवधारणात् । ३।३।१७॥

पूर्वत्र प्राणमयादिष्वनात्मशब्दान्वयदर्शान्नोतरान्निश्चेतुं शक्यत् इति चेत्-स्यादवधारणात्-स्यादेव निश्चयः, कुतः? अवधारणात् पूर्वत्रापि-"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः" इति परमात्मन एव बुद्ध्याऽवधारितत्वात् अन्तमयादनन्तरे प्राणमये प्रथमं परमात्मबुद्धिरवतीर्णातदनंतरं च प्राणमयादनन्तरे मनोमये, ततोविज्ञानमये नत आनंदमये प्रक्रान्ता परमात्मबुद्धिस्तदन्तराभावादुत्तराच्च "सोऽकामयत्" इति वाक्यात् प्रतिष्ठितेत्युपक्रमेऽध्यपरमात्मनिपरमात्मबुद्ध्या आत्मशब्दान्वयः, इति निरवद्यम् ।

यदि कहें कि—पूर्वोक्त प्राणमय आदि अनात्म शब्दों में संबद्ध आनन्द-मय को परवर्ती वाक्य से निश्चित नहीं किया जा सकता तो यान नहीं है, अवधारण से निश्चित किया जा सकता है। अन्नमय प्राणमय आदि अवधारण से पूर्व भी “इस आत्मा से आकाश हुआ” इस आत्मा में परमात्मा ही बुद्धि में सरलतापूर्वक समझा जा सके इसलिए अन्नमय से भिन्न प्राणमय को सर्वप्रथम परमात्मा बुद्धि से प्रस्तुत किया गया; उनके बाद प्राणमय से भिन्न मनोमय में और फिर मानसमय में परमात्म बुद्धि की गई। इसके बाद अन्त में कुछ कथ्य ही नहीं है यही एवमात्र मिदानी है इस लिए “उसने कामना की” इत्यादि वाक्य से-आत्म शब्द का परमात्मा अर्थ निश्चित हो जाने पर उपक्रम वाक्य में भी सपरमात्म (अन्नमय आदि) में परमात्म बुद्धि के लिए आत्म शब्द का संबंध दिसलाया गया है इसलिए उक्त मत निर्दोष है।

५ कार्याख्यानाधिकरणः

कार्याख्यानादपूर्वम् ।३।३।१८॥

पूर्वप्रस्तुत प्राणविद्यारोपभूतमिदानीं चिन्त्यते । छांदोग्यवाज-सनेयकयोः ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च प्राणमुपास्यमुक्त्वा प्राणस्य वासस्त्वेनापोऽभिधीयते । छांदोग्ये तावत्-“स होवाच कि मे वासो भविष्यतीत्याप इति होचुः तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चादभिः परिदधति लम्भुकोह्वासो भवत्यनग्नो भवति” इति । वाजसनेयके—“कि मे वास ? ” इति प्राणेनपृष्ट्वा वागादय ऊचुः” आपो वास इति तद् विद्वासः श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचामन्त्यशित्वा चाचामन्त्येतमेव तदनमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते “तस्मादेव विदशिष्य-नाचामेदशित्वा चानामेदेतमेव तदनमनग्नं कुरुते” इति । तत्र संशयः, कि अत्राचमनं विधीयते उत अत्र प्राणवासस्त्वानुसंधानमिति? “अशिष्यन्नाचामेदशित्वा चाचामेत् ” इत्याचमने विधिप्रत्ययश्रवणात् “एतमेव तदनमनग्नं कुरुते” इति वेदने विधिप्रत्ययाभावादनग्नता संकीर्तनस्य स्तुत्यर्थतयाऽन्वयोपपत्तेश्च भोजनागस्याचमनस्य

स्मृत्याचार प्राप्तत्वेन विधि प्रत्ययबलात् प्राणविद्यांगमाचमनान्तरं विधीयते ।

पूर्वप्रस्तुत प्राणविद्या के अंगों पर यहाँ विचार करते हैं । छांदोग्य और बृहदारण्यक में ज्येष्ठ श्रेष्ठ प्राण की उपस्थिता बतलाकर प्राण के वस्त्र के रूप से, जल का उल्लेख किया गया है । छांदोग्य में जैसे—“उस प्राण ने कहा कोई मेरा वस्त्र होगा? इन्द्रियों ने कहा “जल” होगा । इसीलिए भोजन करने वाले, भोजन के बाद जल द्वारा परिवेष्टन करते हैं इसी से प्राण वस्त्र धारण करने वाला अनग्न रहता है “बृहदारण्यक में—“मेरा वस्त्र क्या है?” प्राण द्वारा ऐसा पूछने पर वागादि ने कहा—जल ही वस्त्र है । इसलिए शास्त्रमर्मज्ञ भोजन के पूर्व और पश्चात् आचमन करके अपने प्राण को अनग्न करते हैं ।”

इस पर संशय होता है कि-उक्त प्रसंग में आचमन का विधान किया गया है, अथवा जल का, प्राण के वस्त्र रूप से अनुसंधान किया गया है? “भोजन के पूर्व और बाद में आचमन करना चाहिए” इस वाक्य में आचमन में विधि प्रत्यय के उल्लेख से, तथा “इसे अनग्न करते हैं” इत्यादि में उपासनापरक विधिप्रत्यय न होने से, एवं अनग्नता दिखलाने के लिए स्तुतिवाद की उपपत्ति से, और स्मृतिशास्त्र के मोजनांग रूप आचमन के सदाचार उपदेश से निश्चित होता है कि-प्राणविद्या के अंगभूत स्वतंत्र आचमन का ही विधान किया गया है ।

सिद्धान्तः— इति प्राप्तेब्रूमः, आचमनीयानामपां प्राणस्य वासस्त्वानुसंधानमेवेह-अपूर्वम्-अप्राप्तं विधीयते, कार्याख्यानात्-अप्राप्ताख्यानात् अप्राख्यानेशब्दस्यार्थवत्त्वादित्यर्थः । एतदुक्तं भवति—“किं मेवासः” “आपोवासः” “अग्निः परिदधति” “एतमेव तदनमनग्नं कुर्वते” इत्युपक्रमोपसंहारयोर्वक्यापां प्राणवासा दृष्टिपरत्वप्रतीतेराचमनस्य स्मृत्याचारप्राप्तत्वादाचमननूद्याचमनीयास्वप्सु प्राणवासस्त्वानुसंधानं विधीयते इति । अतएव छांदोग्ये—“तस्माद्वा एतदग्निष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्ठाच्चाग्निः—परिदधति” इत्यग्निः परिधानमेवोक्तम् नाचमनम् ।

इस पर सिद्धान्त कहते हैं कि-प्राण के वस्त्ररूप के आचमनीय जल का विधान किया गया है। इसके पूर्व कहीं भी ऐसा विधान नहीं मिलता कहीं भी ऐसा आख्यान अर्थात् शब्दायं नहीं मिलता। कथन यह है कि-
 "मेरा वस्त्र क्या है? 'जल वस्त्र है "जल को धारण करता है "इसमें ही अनन्य करना है' इत्यादि उपमत्त और उपमत्तर के वाक्यों में, जल में प्राण की वस्त्ररूप प्रतीति होने से ज्ञान होता है कि-स्मृति जाम्ब भी, सदाचार रूप आचमनीय जल का उल्लेख करके उस जल में प्राण प्रकृता के चिन्तन का विधान करता है। "इसीलिए भोजन करने वाले भोजन के प्रथम और बाद में जल को धारण करते हैं इस आदोग्य वाक्य में जल को केवल परिधान मात्र कहा गया है आचमन नहीं।

६ समानाधिकरणः—

समान एवं चाभेदात् ।३।३।१६॥

वाजसनेयके अग्निरहस्ये शाण्डिल्यविद्याऽम्नाता—“सत्यं—ब्रह्मे-
 त्युपासीत अथखलु क्रतुमयोऽयं पुरुषः “इत्यारभ्य “स आत्मान-
 मुपासीत मनोमयप्राण शरीरं भारूपं सत्यमंकल्पमाकाशात्मानं”
 इति । तथा तस्मिन्नेव बृहदारण्यके पुनरपि शाण्डिल्यविद्याऽम्नायते”
 मनोमयोऽयंपुरुषोभाः सत्यं तस्मिन्नत्तर्हृदये यथा ग्रीहिर्वा यवो वा
 स एव सर्वस्यवशी सर्वस्ये शानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति
 यदिदं किं च” इति । तत्र संशयः किमत्र विद्या भिद्यते उन नेति?
 सयोगचोदनाख्यानामविरोपेऽपि वशित्वाद्युपास्यगुणभेदेन रूपभेदात्
 विद्याभेदः ।

शुक्लयजुर्वेदीय बृहदारण्यक में अग्निरहस्य के प्रकरण में शाण्डिल्य
 विद्या का उपदेश है—“सत्यग्रह्य की उपासना करो, यह पुरुष (जीव)
 निषिद्ध ही क्रतुमय है “इत्यादि से प्रारंभ करके” मनोमय प्राणस्वरूप
 ज्योतिर्मय, सत्यसंकल्प आकाशात्मक उस आत्मा की उपासना करो ।
 “उनी बृहदारण्यक में पुनः शाण्डिल्य विद्या का उपदेश इस प्रकार है”अंतः-
 -करण मे ज्योति और सत्यस्वरूप मनोमय पुरुष (जीव) स्थित है जैसे कि
 -ग्रीहि या यव होते है, वैसे ही वह है, वही सर्वश-वशी-सर्वेश्वर-सर्वाधिपति

तथा मारे विश्व का प्रज्ञासक है" इत्यादि, अब संशय होता है कि-यहाँ विद्या में भेद है या नहीं? फल संयोग, विधिवाक्य और नाम विषयक पृथक्ता न होते हुए भी उपास्यगत वशित्व आदि गुणों का भेद होने से, विद्या निम्न ही प्रतीत होती है ।

सिद्धान्तः— इति प्राप्त उच्यते-समान एवमिति । यथाऽन्निरहस्ये मनोमयप्राणशरीरभारूपसत्यसंकल्पत्वगुणगणः श्रुतः, एवं बृहदारण्यकेऽपि मनोमयत्वादिके समाने सत्यधिकस्य वशित्वादेश्च सत्यसंकल्पत्वगुणाभेदान्न रूपभेदः, अतो विद्यैक्यम् ।

उक्त मत पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं-जैसे कि अग्निरहस्य में मनोमय प्राणशरीर भारूप सत्यसंकल्पता आदि गुणों का उल्लेख है, वैसे ही बृहदारण्यक में भी मनोमयता आदि तो समान हैं ही, वशित्व आदि गुण, सत्यसंकल्पता आदि गुणों की अपेक्षा, समानरूप से अधिक ही हैं । उनमें कोई भेद न होने से रूपभेद नहीं है, इसलिए विद्या एक ही है ।

७ संबंधाधिकरणः—

संबंधादेवमन्यत्रापि ।३।३।२०॥

बृहदारण्यके श्रूयते "सत्यं ब्रह्म "इत्युपक्रम्य" तद् यत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन् मंडले पुरुषो यश्चाऽयं दक्षिणेऽक्षिन् "इत्युपक्रम्य-आदित्य मंडलेऽक्षिणि च सत्यस्य ब्रह्मणो व्याहृति शरीरत्वेनोपास्यत्वमुक्त्वा "तस्योपनिषदहमित्यध्यात्मम्" इति द्वे उपनिषदौ-रहस्यनामनी उपासन रोपतयाऽन्नायेते, ते किं यथा श्रुतस्थानविशेषनियतत्वेन व्यवस्थिते, उतोभयत्रोभे अनियमेनेति संशये सत्यस्य व्याहृति शरीरस्यैवोपास्यस्य ब्रह्मणो द्वयोः स्थानयोः संबंधात् उपास्यैक्येन रूपाभेदात् संयोगाद्यभेदाच्च विद्यैक्यादनियमेनेति प्राप्तम् । तदिमुच्यते— "संबंधादेवमन्यत्रापि" इति यथा मनोमयत्वादि गुणविशिष्टस्यैकत्वादुपास्यैक्येन रूपाभेदात् विद्यैक्याद्गुणोपसंहारः,

एवमन्यत्राक्ष्यादित्यसंबन्धिनो ब्रह्मणः सत्यस्यैकत्वेन विद्यैक्यादुभयो-
रुभयत्रोपसंहारः ।

बृहदारण्यक में "सत्यं ब्रह्म" इत्यादि उपक्रम करके-"जो यह सत्य है वही प्रसिद्ध आदित्य है जो कि आदित्य मंडल और नेत्र में स्थित पुरुष है "इत्यादि में आदित्य मंडल और नेत्रों में, सत्यब्रह्म की व्याहृति को शरीर विशिष्ट रूप से उपास्य बतलाकर-"उसका उपनिषद् में अहः ऐसा अधिदैवत नाम है "उसका उपनिषद् में अहम् ऐसा अघ्यात्म नाम है" इन दो रहस्यमयी उपनिषदों को, उपर्युक्त उपासना के अंगरूप में वर्णन किया गया है । इस पर संशय होता है कि-उक्त दोनों नामों में जिनका जहाँ उल्लेख है, वहीं वह व्यवहार्य हैं, जयवा उनका कोई नियम नहीं है ? इसलिए दोनों जगह व्यवहार होता है? व्याहृति शरीर विशिष्ट सत्य नामक उपास्य ब्रह्म के साथ दोनों ही जगह संबन्ध होने से, उपास्य की एकता प्रतीत होती है, विद्या की एकता से दोनों नामों का भी, दोनों जगह प्रयोग संबन्ध होगा । इस पर "संबन्धादेवमन्यत्रादि" सूत्र, पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत करते हैं । जैसे कि-मनोमयत्व आदि गुण विशिष्ट का, एक उपास्य होने से, रूप में अभेद तथा एक विद्या होने से गुणोपसंहार होता है । ऐसे ही भिन्न, भिन्न, नेत्र आदित्य संबन्धी ब्रह्म के एक होने से, एक विद्या निश्चित होती है । विद्या एक होने से दोनों नामों का दोनों जगह उपसंहार होगा, यह भी निश्चित है ।

सिद्धान्तः- एव प्राप्ते प्रचक्षमहे-

इस पर सिद्धान्त रूप से सूत्र प्रस्तुत करते हैं-

न वा विशेषात् ।३।३।२१॥

न वैतदस्ति-यद्विद्यैक्यादुपसंहारः, इति । कुतः? विशेषात् उपास्यरूपविशेषात् । ब्रह्मण एकत्वेऽप्येकत्रादित्यमंडलस्यतया उपास्यत्वम्, इतरत्राक्ष्याधारतयोपास्यत्वमिति स्थानसंबन्धित्व-भेदेन रूपभेदात् विद्याभेदः । नैवं शांडिल्यविद्यायाः उपास्यस्थानं भिद्यते, उभयत्र हृदयाधारत्वेनोपास्यत्वात् । अतोऽन्यवस्थित इति

ऐसी बात नहीं है जैसा कि आप अनुमान कर रहे हैं कि-विद्या की एकता के आधार पर गुणोपसंहार होगा। उपास्य ब्रह्म की स्वरूपगत एकता होते हुए भी स्थान का भेद है, एक जगह आदित्य मंडल में उपास्य की स्थिति बतलाई गई है, दूसरी जगह नेत्रों में। इस प्रकार स्थान भेद से रूप भेद और विद्याभेद है। शांडिल्यविद्या में उपास्यस्थान का भेद नहीं है, दोनों जगह ही हृदयाधार उपासना का उपदेश है। इसलिए जो नाम जहाँ व्यवस्थित हैं, वहीं उसका व्यवहार होगा।

दर्शयति च ।३।३।२२॥

दर्शयति चाक्षयाधारादित्याधारयोगुणानुपसंहारं—“तस्येतस्य तदेवरूपं यदमुष्यरूपम्” इत्यादिना रूपाद्यतिदेशेन । स्वतो हि अप्राप्तावति देशेन प्राप्त्यपेक्षा ।

“यह अक्षिपुरुष उसी रूप का है, जो पूर्ववर्ती आदित्यपुरुष का रूप था” इत्यादि में रूपादि के उल्लेख द्वारा श्रुति भी, नेत्राधार और आदित्याधार में गुणों का अनुपसंहार बतला रही है। जहाँ स्वतः दिपयावगति नहीं होती वहाँ अतिदेश अपेक्षित होता है।

८ संभृत्याधिकरणः—

संभृतिद्युभ्याप्त्यपि चातः ।३।३।२३॥

तैत्तरीयके नारायणीयानां खिलेषु च “ब्रह्म ज्येष्ठावीर्यां संभृतानि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमाततान, ब्रह्मभूतानां प्रथमोऽतजने ते नहिति ब्रह्मणास्पर्धितुं कः” इति ब्रह्मणि ज्येष्ठानां वीर्याणां संभृतिः, द्युव्याप्तिश्चेत्यादिगुणजातमाघातम् । तेषामुपासनविशेष-मनारभ्याधीतानां गुणानां सर्वांमु विद्यासूपसंहारे प्राप्त उच्यते—

तैत्तरीय और नागयणीय के खिल कांड में—“ब्रह्म ही सर्वोत्कृष्ट वीर्यों के रूप में संचित थे, तथा आदिभूतब्रह्म ही पहिले द्युलोक में व्याप्त थे, ब्रह्म ही नव भूतों में सर्वप्रथम जन्मे थे, इसलिए ब्रह्म के माय स्पर्धा करने में कौन नमर्थ है ?” इस प्रकार उत्कृष्ट वीर्यों का संचय और

द्युलोक व्याप्ति आदि गुणों का उल्लेख है, किसी उपासना विशेष का प्रसंग क्रम नहीं है, इसलिए सभी विद्याओं में उक्त गुणों का उपसंहार हो सकता है। इस पर कहते हैं—

सिद्धान्तः—“संभृतिद्युव्याप्त्यपि” इति । संभृतिद्युव्याप्तीति समाहार द्वन्द्वत्वादेकवद्भावः । संभृत्यादिकमनारभ्याधीतमपि अतएवस्थानभेदात् व्यवस्थाप्यम्, न सर्वत्रोपसंहृतं व्यम् । कथमनारभ्याधीतानां स्थानविशेष नियतत्वम्? स्व सामर्थ्यात् इति ब्रूमः । द्युव्याप्तिस्तावद् हृदयाद्यल्पस्थानगोचरासु विद्यासु नोपसंहृतुं शक्या, संभृत्यादयोऽपि तत् सहचारिणः तत्सुल्यदेशा इत्यल्पस्थानविषयासु विद्यास्वनुपसंहार्याः । शांडिल्यदहरादिविद्यास्वल्पस्थानविषयासु “ज्यामान् पृथिव्याः” यावान्वाऽयमाकाशस्तापानेपोऽन्तर्हृदयाकाशः इत्यादयस्तत्रतत्राशक्योपसंहाराः मनोमयत्वापहतपाप्मत्वादि विशिष्टस्योपास्यस्य माहात्म्य प्रतिपादनपराः ।

सिद्धान्तः—“संभृतिद्युव्याप्ति” पद में समाहार द्वन्द्व समास होने से एक वचन है। जिससे यह तात्पर्य होता है कि—संभृति आदि गुण, प्रकरण विषय नहीं है, इसलिए स्थान भेद के अनुसार उनकी व्यवस्था करनी होगी, सर्वत्र उपसंहार नहीं किया जा सकता। यदि कहें कि जो सर्वत्र उपसंहृत नहीं हो सकते वे स्थान विशेष में ही कैसे होंगे? (उत्तर) वे अपनी सामर्थ्य से हो सकते हैं। द्युव्याप्ति हृदय आदि अति सूक्ष्म अलक्ष्य विद्याओं में तो उपसंहृत नहीं किये जा सकते। संभृति आदि भी, उनके सहचारी होने से, अति सूक्ष्म स्थानीय विद्याओं की तरह स्थानों में, उपसंहार्य नहीं हैं। शांडिल्य दहर आदि अल्प स्थानीय विद्याओं में—“पृथ्वी से श्रेष्ठ” बाह्याकाश के परिमाण की तरह हृदयाकाश का भी, परिमाण है” इत्यादि उपदेश यद्यपि अशक्य हैं, फिर भी उनका जो बड़ा उपसंहार बतलाया गया है, वह मनोमयता, निर्दोषता आदि गुणों में विशिष्ट उपास्य की महिमा का, प्रतिपादक है।

६पुरुष विद्याधिकरणः—

पुरुष विद्यायामपि चेतरेषामनाम्नानात् । ३।३।२४॥

तैत्तरीयके पुरुषविद्याऽज्ञायते “तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यऽत्मायज-
मानः श्रद्धा पत्नी शरीरमिध्ममुरो वेदिलोमानि वहिः” इत्यादिका ।
छांदोग्येऽपि पुरुषविद्याऽज्ञायते—“पुरुषो वाव यज्ञस्य यानि
चतुर्विंशति वर्षाणि” इत्यादिका । तत्र संशयः किमत्र विद्याभिद्यते
उत न ? इति । पुरुषविद्येति नाम्यैक्यात् पुरुषावयवेषु यज्ञावयव
कल्पनसाम्येन रूपैवयात् तैत्तरीयके फलसंयोगाश्रवणात्” प्रह षोडश
वर्षंशतं जीवति” इति छांदोग्ये श्रुतस्यैव पुरुषविद्याफलत्वात्
फलसंयोगस्याप्यविशेषात् विद्यैक्यम् ।

कीर्तितकि मे पुरुष विद्या का उपदेश इस प्रकार दिया गया है—
“ज्ञान सपन्न उस यज्ञ पुरुष का आत्मा ही यजमान है, श्रद्धा उनकी पत्नी
है, काष्ठ उसका शरीर है कुश उसके लोम है” । छांदोग्य में पुरुष विद्या
का उपदेश इस प्रकार है—“प्रसिद्ध पुरुष ही यज्ञ है उम्मी चौबीस वर्ष की
आयु है ।” संशय होता है कि—ये दोनों विद्या एक है या भिन्न ? पुरुष
विद्या ऐसी नाम एकता से, पुरुष के अंगों में, यज्ञांगों की कल्पना से रूप
एकता से, तैत्तरीय में विद्या के फल का उल्लेख न होने से तथा—
छांदोग्योक्त—“जो सोलह सौ वर्ष जीवित रहता है” ऐसे फल निर्देश से
विशेष भेद न होने से विद्या—एक ही प्रतीत होती है ।

सिद्धान्तः—इति प्राप्त उच्यते—उभयत्राभ्यातयोविद्ययोः पुरुष
विद्यात्वेऽपि विद्याभेदोऽस्त्येव कुतः ? इतरैपामनाम्नानात् एकरयां
शाखायां आभ्यातानां गुणानामन्यत्रानाम्नात् । तथा हि—
“यत्साय प्रातर्मध्यन्दिन च तानि सवनानि” इत्यादयस्तैत्तरीयके
आज्ञाताः छांदोग्ये सवनत्वेन नाम्नायन्ते, त्रेधा विभक्तं पुरुषायुषं
छांदोग्ये सवनत्वेनकल्प्यते छांदोग्ये श्रुतानां आशिशिषादीनां
दीक्षादित्त्व कल्पनं तैत्तरीयके न कृतम् यजमान पत्न्यादि परिकल्पनं
चान्यथा । अतो रूपमुभयत्र भिद्यते । तथा फलसंयोगोऽपि भिद्यते
तैत्तरीयके हि पूर्वानुवाके—“ब्राह्मणेत्वामहम ओमित्यात्मानं युंजीत्”
इति ब्रह्मविद्यामभिधाय तत्फलत्वेन “ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति”

इत्युक्त्वा "तस्यैवंविदुषः" इत्यादिना आम्नाता पुरुषविद्याऽस्येव ब्रह्म
विदुषो यज्ञत्वकल्पनमिति गम्यते ।

उक्त मशय पर सिद्धांत प्रस्तुत करते हैं—दोनों जगह कही गई
विद्या में नामैक्य होने हुए भी, विद्या भेद है । एक शाखा के उल्लेख
गुणों का दूसरी शाखा में उल्लेख न होने से ही उक्त मत स्थिर होना है ।
"जो साय प्रातः और मध्माह्न कालिक है वही त्रिसवन है" इत्यादि
तैत्तरीय का वचन है, छांदोग्य में सवन रूप का उल्लेख नहीं है, अपितु
दोषा विभक्त पुरुष की आयु सवन रूप से कल्पित है । छांदोग्य में—
भोजनेच्छा आदि की, दीक्षा रूप से कल्पना की गई है, जो कि तैत्तरीय में
नहीं है; यज्ञमान पत्नी आदि की कल्पना भी भिन्न प्रकार से की गई है,
इस प्रकार दोनों के रूप में भेद है । इसी प्रकार फल संयोग में भी भेद
है, तैत्तरीय के पूर्वानुवाक में—"ज्योतिर्मय ब्रह्म प्राप्ति के उद्देश्य से,
ऊँकार से आत्मा को संयोजित करो" इत्यादि से ब्रह्म विद्या का उपदेश
देकर फल बतलाते हैं—"ब्रह्म की महिमा को प्राप्त करता है" तस्यैवं
पुरुषः से ब्रह्म विद्या का उल्लेख करते हैं । इसी ब्रह्मविद्या के ज्ञाता की
यज्ञरूप कल्पना प्रतीत होती है ।

अतो ब्रह्मविद्यांगत्वाद् ब्रह्मप्राप्तिरेवात्र फलम्, "फलवत्
सन्निधावफलं तदंगम्" इति न्यायात् तैत्तरीयकाम्नातापुरुषविद्या
ब्रह्मविद्यांगमिति गम्यते । छांदोग्ये त्वायुः प्राप्तिफला पुरुषविद्यस्युक्तम् ।
अतो रूपसंयोगयोर्भेदाद्विद्याभेद इत्येकत्राम्नातार्था गुणानामितर-
प्रानुपसंहारः .

इस . ब्रह्म विद्या के अंग होने से, ब्रह्म प्राप्ति ही इसका फल है
ऐसा समझना चाहिए । "सफल विद्या के सन्निधान में उक्त फल रहित
क्रिया, उस सफल कार्य का ही अंग होती है" इस नियम से ज्ञात होता है
कि—तैत्तरीय में पठित पुरुष विद्या ब्रह्म विद्या का ही अंग है । छांदोग्य में
दीर्घ जीवन प्राप्ति को ही पुरुष विद्या का फल बतलाया गया है । इस
प्रकार स्वरूप और फल संयोग भिन्न होने से, विद्या में भी भेद है;
इसलिए एक स्थान के उल्लेख्य गुणों का दूसरी जगह उपसंहार नहीं हो
सकता ।

१० वेधाद्यधिकरणः—

वेधाद्यर्थभेदात् ।३।३।२५॥

आथर्वणिका उपनिषदारम्भे “शुक्रं प्रविध्य हृदयं प्रविध्य” इत्यादीन्मंत्रानधीयते; सामगाश्च रहस्यब्राह्मणारम्भे—“देवः सवितः प्रसुव यज्ञं प्रसुव” इत्याद्यामनन्ति, काठकास्तैत्तरीयकाश्च “शन्नोमित्रः शंवरुणः” इत्यादिकम्; शाट्यायनिनश्च “श्वेतोऽश्वो हरिनीलोऽसि” इत्यादिकम्; ऐतरेयिणस्तु महाव्रतब्राह्मणमधीयते “इन्द्रो हवै वृत्रं हत्वा महानभवत्” इत्यादि; कौषीतकिनोऽपि महाव्रतब्राह्मणेव “प्रजापतिवैसंवत्सरः नस्यैप आत्मा यन्महाव्रतम्” इति; वाजसनेयिनस्तु प्रवर्ग्यब्राह्मं “देवा हवै सत्रं निषेदु.” इत्यादि । तत्र संशयः किमुपनिषदारम्भेष्वधीताः “शुक्रं प्रविध्य “शन्नोमित्रः” इत्यादयो मंत्राः प्रवर्ग्यादीनि च कर्माणि विद्यांगं उत न ? इति; किं युक्तम्? विद्यांगमिति । कुतः ? सन्निधिसमाप्तानात् विद्यांगत्व प्रतीतेः । यद्यपि “शुक्रं प्रविध्य” इत्यादीनां मंत्राणां प्रवर्ग्यदिश्च कर्मणः श्रुतिलिगवावयैर्बलं बद्भिर्मथायथं कर्मसु विनियोगोऽवगम्यते । तथापि—“शन्नोमित्रः” सह नाववतु “इत्यादेमंत्रस्यान्यत्र विनियोगा भावात् विद्याधिकाराच्च विद्यांगत्वमवर्णनीयमिति सर्वासु विद्यासु इमे मंत्रा उपसंहर्त्विष्याः ।

आथर्वणिक उपनिषद के प्रारम्भ में—“शुक्र को वेधकर हृदय को वेधकर” इत्यादि मंत्र का पाठ है, सामवेदीय रहस्य ब्राह्मण के प्रारम्भ में “हे प्रकाशमान सूर्यदेव, यज्ञ का प्रसव करो” इत्यादि पाठ है । तैत्तरीय काठक में—“सूर्य हमारा मंगल करें, वरुण हमारा कल्याण करें” एवं शाट्यायन शाखा में—“हे हरि ! तुम्हों नील श्वेत अश्व हो” तथा ऐतरेय महाव्रत ब्राह्मण में “इन्द्रवृत्र को मारकर महान हो गये” और कौषीतकि महाव्रत ब्राह्मण में—“प्रजापति ही संवत्सर है”, वही उसकी आत्मा है, जिसका नाम महाव्रत है इसी प्रकार वाजसनेय प्रवर्ग्यब्राह्मण

में—“देवता मंत्र में निमग्न ये” इत्यादि पाठ मिलता है। अब संशय होता है कि—उपनिषदों के आरम्भ में पढ़े गये “शुक्रं प्रविष्य” शंत्रो मित्र” इत्यादि मन्त्र और प्रवर्ग्य आदि कर्म-विद्यांग हैं या नहीं? कह सकते हैं, कि क्योंकि—विद्याओं के साथ ही इनका पाठ है। यद्यपि “शुक्र प्रविष्य” इत्यादि मंत्र और प्रवर्ग्य आदि कर्म-श्रुति-लिङ्ग-वाक्य आदि पूर्व बलवान् प्रमाणों के अनुसार यज्ञादि कर्मों में ही विनियोग प्रतीत होते हैं, फिर भी “शंत्रो मित्र” सहनावब्रतु” इत्यादि मंत्रों का कहीं अन्यत्र विनियोग नहीं पाया जाता विद्याधिकार में ही इनका पाठ है इसलिए इनकी विद्यागता अनिवार्य हो जाती है, सभी विद्याओं में इनका उपसहार हो सकता है।

सिद्धान्तः - एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—वेदाद्यर्थभेदात्—“शुक्रं प्रविष्य हृदय प्रविष्य” ऋतं वदिष्यामि “सत्यं वदिष्यामि” क्रूतमवादिपं सत्यमवादिपं ‘तेजस्विनाऽवधीतमस्तु मा विद्विषावहै” इत्यादि-भिलिगैरभिचाराध्ययनादिष्वेषां विनियोगावगमान्न विद्यांगत्वम्। एतदुक्तं भवति—यथा—“हृदयं प्रविष्य” इत्यादि मंत्रसामर्थ्यात् “शुक्रं प्रविष्य” इत्यादीनामभिचारादिशेषत्वमवगम्यते, एवमेव “ऋतं वदिष्यामि” तेजस्विनामधीतमस्तु” इत्यादि मंत्र सामर्थ्यादेव स्वाध्याय शेषत्वम् ‘शंत्रो मित्रः” इत्यादि मन्त्राणामवगम्यते, अतो-न तेषां विद्यांगत्वम् इति, “शुक्रं प्रविष्य” इत्यादीनां प्रवर्ग्यादि-ब्राह्मणानां चेह पाठो दिवाकोत्यैत्वारण्येनुवाक्यत्वकृतः।

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से “वेदाद्यर्थ भेदात्” सूत्र प्रस्तुत करते हैं। ‘शुक्रं प्रविष्य” ऋतं वदिष्यामि” सत्यं वदिष्यामि “तेजस्विनामधीतमस्तु मा विद्विषावहै” इत्यादि स्वर्तों में कहे गए अभिचार, अध्ययन आदि के लिङ्ग से ज्ञात होता है कि इनका विनियोग अभिचार आदि में हो है ये विद्या के अंग नहीं हो सकते। कथन यह है कि “हृदयं प्रविष्य” इत्यादि मंत्र के सामर्थ्य से ही “शुक्रं प्रविष्य” इत्यादि की अभिचारादि में ही पूति प्रतीत होती है इसी प्रकार “ऋतं वदिष्यामि” तेजस्विनामधीतमस्तु “इत्यादि मंत्रों के सामर्थ्य से ही स्वाध्याय की पूति ‘शंत्रो मित्रः”

इत्यादि मंत्रों में प्रतीत होती है । इससे स्पष्ट हो जाता है कि ये विद्यांग नहीं हैं । “शुक्रं प्रविध्य” इत्यादि मंत्र और प्रवर्ग्य आदिब्राह्मण का जो उल्लेख किया गया है, उसका उद्देश्य है कि दिन में इनका पाठ नहीं होता तथा जंगल में ही इनका पाठ होता है ।

११ हान्याधिकरणाः

हानौतूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाच्छंदः स्तुत्युपगानवत्तदुक्तम्

।३।३।२६।।

छंदोगा आगनति “अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चंद्र इव राहोमुंखात् प्रमृच्य, धृत्वाशरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोक-मभिसंभवानि” इति, आयवंगिकाश्च-“तदाविद्वान् पुष्यपापे विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैति” इति, शाट्यायनिनस्तु-“तस्यपुत्रा दायमुपर्यन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्” इत्यादि । कौषीतकिनस्तु “तत्सुकृतदुष्कृते धनुते तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपर्यन्ति अप्रिया दुष्कृतम्” इति । एवं क्वचिद् पुण्यपापयोहिनिः क्वचिद्प्रियाप्रियेषु तत्प्राप्तिः क्वचिदुभयं च श्रुतम् । तदुभय-मेकैकविद्यायां श्रुतमपि सर्वविद्यांगमास्थेयम्, सर्वब्रह्मविद्या-निष्ठस्यापि ब्रह्म प्राप्नुवतः पुण्यपापप्रहाणस्यावश्यम् भावित्वात् प्रहीणविषयत्वाच्चोपासनस्य । तच्चित्तं च विधीयमानं सर्वविद्यांगं भवितुमर्हति ।

छांदोग्य में पाठ है कि-“घोड़े के रींघों की तरह पापों को झाड़कर राहू से छटे हुए चन्द्र की तरह निष्पाप निष्कर्म कृतार्थ आत्मा में निर्मल शरीर धारण कर ब्रह्मलोक को प्राप्त करूँगा” इसी प्रकार आयवंगिक में भी “वह विद्वान् पाप-पुण्य को धोकर निरतिशय ब्रह्म की समता प्राप्त करता है” तथा शाट्यायन में भी ऐसे ही “उसके पुत्र तंभ्यति पाते हैं, मित्र उसका पुण्य पाते हैं और शत्रु उसका पाप प्राप्त करते हैं

“कौपीतिकि में भी जैसे—“तव ज्ञानी पुण्य पाप का परित्याग करते हैं उसके प्रिय दो मित्रगण तथा अप्रिय को शत्रुगण प्राप्त करते हैं। “इस प्रकार वहीं पुण्य पाप की हानि, कही प्रिय अप्रिय की प्राप्ति, वहीं दोनों की प्राप्ति बतलाई गई है। विद्या विशेष में ही त्याग और ग्रहण का उल्लेख होते हुए भी सभी विद्याओं में प्रकारांतर से उन्हें स्वीकारा गया है, क्योंकि—सभी विद्याओं में निष्ठाप्राप्त पुरुष की ही ब्रह्म प्राप्ति बतलाई गई है, उसका पुण्य पाप से हीन होना अवश्यम्भावी है। विषयों की हीनता ही एक मात्र ब्रह्मप्राप्ति का उपाय है। उक्त वाक्यों में जो चिन्तन की शैली है, उससे ये सब विद्याग ही हो सकते हैं।

तथेदं विचार्यते—हानिचिन्तनमुपायनचिन्तनमुभयचिन्तनं च विकल्पेरन्, उपसंहियेरन्वा ? किं युक्तम् ? विकल्पेरन्निति । कुतः ? पृथगात्मनसामर्थात् । समुच्चये हि सर्वत्रोभयानुसधानं स्यात्, तच्च कौपीतिकि वाक्येनैव सिद्धमित्यन्यत्राज्ञानमनर्थकेमेव स्यात् । अतो अनेकत्राज्ञानस्य विकल्प एव प्रयोजनम् । नचाध्येतु-भेदेन परिहर्तुं शक्यमनेकत्रात्मनस्य, अविशेष पुनः श्रवणं हि अध्येतुभेद परिहार्यम्, अथतु हानिरेवद्वयोः शाखायोः उपायनमेव वैकस्याम् । न च विद्याभेदेन व्यवस्थापयितुं शक्यम् सर्वशेषभूत-मिदमनुसंधानमित्युक्तत्वात् ।

इस पर विचार होता है कि-हानि के चिन्तन, उपायन के चिन्तन और दोनों के चिन्तन, इनमें से एक का ही विकल्प होगा अथवा मरका उपसंहार होगा ? कह सकते हैं कि—विकल्प होगा क्योंकि अलग-अलग इनका उल्लेख है। विषय का चिन्तन यदि समुच्चय बोधक होता तो सभी जगह पापमोक्ष और उनका ग्रहण दोनों का ही उल्लेख होता, ऐसा होने से कौपीतिकी वाक्य ही सिद्ध होगा अन्य पाठ विरुद्ध हो जावेंगे। इसलिए भिन्न-भिन्न पाठों के अनुसार विकल्प ही प्रयोजनीय प्रतीत होता है। अध्याता के भेद से इन सबका खंडन नहीं किया जा सकता, क्योंकि—अनेक उपनिषदों में भिन्न-भिन्न पाठ हैं। अविशेष एक ही प्रकार की पुनरक्ति में, अध्येता भेद की बात संगत हो सकती है। यहाँ तो दो शाखाओं में हानि तथा एक शाखा में उपायन का वर्णन है। उक्त

चिन्तन को समस्त विद्याओं का अंग कहा गया है इसलिए इनमें विद्या भेद की कल्पना भी नहीं की जा सकती ।

सिद्धान्तः—अत्रेदमुच्यते--हानौतूपायनशब्दाशेषत्वात् इति ।
 तु शब्दः पक्षं व्यावर्तयति, हानाविति प्रदर्शनार्थम्, केवलायां हानौ
 केवले चोपायने श्रूयमाणे तयोरितरेतरसमुच्चयोऽवश्यंभावी, कुतः ?
 उपायनशब्दशेषत्वात्--उपायनशब्दस्य हानिवाक्यशेषत्वात् ।
 उपायनशब्द वाक्यस्य हि हानिवाक्यशेषत्वेमेवोन्वितम्, विदुषा
 त्यक्तयोः पुण्यपापयोः प्रवेशस्थानवाचित्वाद्दुपायनवाक्यस्य ।
 प्रदेशान्तराज्ञातस्य वाक्यस्य प्रदेशान्तराज्ञात शेषत्वे दृष्टांता
 उपन्यस्यते--कुशाच्छन्दः स्तुत्युपगानवदिति । कालापिनः “कुशा
 वानस्पत्याः “इत्यामनति । शाट्यायिनां तु “अौदुम्बर्यः कुशाः”
 इति वाक्यं सामान्येन वानस्पत्यत्वेनावगताः कुशाः अौदुम्बर्य इति
 विशिष्यत्तद्वाक्य शेषतामापद्यते । तथा “देवासुराणां छन्दोभिः
 इत्यादिना अविशेषेण देवासुराणां छन्दसां प्रसंगे” देवच्छंदासि
 पूर्वम् “इति वचनं क्रमविशेषं प्रतिपादयत्तद्वाक्य शेषतां गच्छति ।
 तथा “हिरण्येन षोडशिनः स्योत्रमुपाकरोति” इत्यविशेषेण प्राप्ते
 “समया विषिते सूर्ये षोडशिनः स्तोत्रमुपाकरोति” इति विशेष विषयं
 वाक्यं तद्वाक्यशेषतां भजते । तथा “ऋत्विज उपगायन्ति”
 इत्यविशेष प्राप्ते “नाध्वर्युरुपगायेत्” इति वाक्यमनध्वर्यु
 विषयतामवगम्यत्तद्वाक्यशेषत्वमुच्छति, एवं सामान्येनावगतमर्थं
 विशेषेण्यवस्थापयितुं क्षमस्य वाक्यस्य तच्छेषत्वमनभ्युपच्छद्भिस्त-
 योरर्थयोर्विकल्पा समाश्रयितव्यः, सच संभवत्यां गतौ न युज्यते,
 तदुक्तं पूर्वस्मिन् कांडे “अपितु वाक्य शेषस्यादन्याद्यत्वाद् विकल्पस्य
 विधीनामेकदेशः स्यात्” इति । तदेवं केवलहानौपायनवाक्ययोरे-
 कवाक्यत्वात् केवलस्यहानस्य, केवलस्यचोपायनस्याभावाद् विकल्पो

नोपपद्यते । कौषतकीनां उभयान्नानमविशेष पुनः श्रवणत्वेन प्रति-
पत्तुभेदादविरुद्धम् ।

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से “हानीतूपायन” इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं । तु शब्द उक्त पक्ष का निवारक है । हानी पद तो केवल उदाहरण की प्रस्तुति का बोधक है । केवल हानि या केवल उपायन के उल्लेख से ही दोनों का परस्पर समुच्चय अवश्यम्भावी हो जाता है । हानिवाक्य के शेष होने पर, उपायन शब्द की स्वतः ही उपस्थिति ही जाती है । उपायन वाक्य की हानिवाक्य शेषता स्वाभाविक ही है, पुण्य-पापहीन महात्मा के प्रवेश स्थान के वाची उपायन वाक्य की स्वतः प्रतीति हो जाती है (अर्थात् जब पाप पुण्य से छटकारा मिल गया तब ब्रह्म ही एक मात्र उपायन (प्राप्ति) स्थल है, यह अवश्यम्भावी है, अतः उपायन वाक्य का उल्लेख हो या न हो, उसकी प्रतीति तो ही जायगी) ।

एक स्थान में पठित वाक्य, अन्य स्थानीय वाक्य का शेष (अंगभूत) हो सकता है, इसे उपन्यस्त (विस्तृत रूप से) करते हैं । कलाप शाखा में प्रसंग है कि—“कुशवनस्पति है” शाट्यायन का प्रसंग है—“कुश औदुम्बर्य है ।” कलाप वाक्य से कुश की वानस्पत्यता मात्र ज्ञात होती है । शाट्य से कुश की औदुम्बर्यता विशेष रूप से प्रतीत होती है इस प्रकार शाट्य वाक्य, कलाप वाक्य का विशेषज्ञ सिद्ध होता है । इसी प्रकार “देवता और छंदों से” इत्यादि वाक्य सामान्यतः देव असुरों के लिए छंदों के प्रयोग का उल्लेख करता है, जब कि—“देवता छंदों से सर्व-प्रथम” वाक्य ऋग्विषेय का प्रतिपादन करता है, जिससे वाक्य शेषता प्रतीत होती है । तथा “वह हिरण्य द्वारा षोडशी स्तोत्र का पाठ करता है ।” इस सामान्यवर्णन से “सूर्योदय होने पर षोडशी स्तोत्र का पाठ करेगा” इत्यादि विशेष समय बोधक वाक्य, पूरक है । तथा—“ऋत्विज उपगान करते हैं” इस सामान्य वर्णन से ‘अध्वर्यु उपगान न करें’ इत्यादि से अनध्वर्यु विषयता ज्ञात होती है जिससे इसकी वाक्यशेषता स्वतः सिद्ध हो जाती है । जो इस प्रकार, सामान्यतः अधगत विषय को विशेषार्थ निरूपण करने में समर्थ वाक्य को, सामान्य का शेषमूत (पूरक) नहीं मानते उनकी दृष्टि में तो दोनों वाक्यार्थों में विकल्प हो सकता है,

बाद पाप पुण्य उस ज्ञानी (भक्त) के लिए तारिन्वय (पार करने योग्य) नहीं रहते, क्योंकि—उसके संपूर्ण भोगों की समाप्ति हो जाती है। उपासना के फलस्वरूप होने वाली ब्रह्म प्राप्ति से, पाप पुण्य से होने वाले भोक्तव्य सुख दुःख नहीं जाते। जैसा कि—अन्य स्थलों में, देह वियोग के बाद ब्रह्म प्राप्ति के अतिरिक्त, सुख दुःख भोग का अभाव, बतलाया गया है—
 "अशरीरी हो जाने पर प्रिय अप्रिय उसे स्पर्श नहीं करने" उपासक इस शरीर से उठकर परं ज्योति के सकाश से आत्म ज्योति में संपन्न हो जाता है उसके वास्तविक मोक्ष में तभी तक का विनम्व रहता है, जब तक शरीर से नहीं छूट जाता" इत्यादि।

छन्दत उभयाविरोधात् ।३।३।२८॥

एवमर्थस्वाभाव्यात् सुकृतदुष्कृत हानिकालेऽवधृते सत्युभयाविरोधेन-श्रुतेरर्थस्वभावस्य चाविरोधेन छंदतः, यथेष्टं पदानामन्वयो वर्णनीयः । कौषीतकीवाक्ये—“तत्सुकृतदुष्कृते घुनुते” इति चरमश्रुतो वाक्यावयवः “एतं देवयानं पंथानमापद्य” इति प्रथमश्रुतावयवात् प्रागनुगमयितव्य इत्यर्थः ।

इस प्रकार श्रुति के अर्थ की पर्यालोचना करने से सुकृतदुष्कृत हानि का समय निर्धारण हो गया। अब श्रुति और वस्तु की वास्तविकता में विरोध न हो, इस धारणा से, पद समूहों का संबंध निरूपण करते हैं। कौषीतकी वाक्य की—“तब पाप पुण्य को छोड़ता है” इस अंतिम विज्ञप्ति को “देवयान मार्ग को प्राप्त कर” इस प्रथम श्रुत वाक्य के अंग से, पहिले ले जाना होगा, तभी सही अन्वय होगा।

अत्र पूर्वपक्षी प्रत्यवतिष्ठते—इस पर पूर्व पक्षी प्रापति करते हैं—

गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोधे ।३।३।२९॥

सुकृतदुष्कृतयोरेकदेशस्य देहवियोग काले हानिः, शेषस्य च परचादिति उभयथा कर्मक्षये सत्येव गतेरर्थवत्त्वम्-देवयानगतिश्रुतेरर्थवत्त्वमित्यर्थः । अन्यथा हि विरोधः, देह वियोगकाल एव सर्व

कर्मक्षये सूक्ष्म शरीरस्यापि विनाशः म्यात् , तथासति केवलस्यात्मनो गमनं नोपपद्यते । अत उत्क्रांति समये विदुषो निःशेष कर्मक्षयो- नोपपन्नः ।

पुण्य और पाप का एक अंश, देह त्याग के समय नष्ट माना जाय और अविशिष्ट अंश देवयान मार्ग में विनष्ट माना जाय तभी देवयान मार्ग गति की सार्थकता सिद्ध हो सकती है । अन्यथा विरोध होगा, देह त्याग के समय ही समस्त कर्मों का क्षय स्वीकारने से, सूक्ष्म शरीर का विनाश भी स्वीकारना होगा, सूक्ष्म शरीर के विनष्ट हो जाने पर निराधार आत्मा का गमन तो, संभव नहीं है । इससे अनुमान होता है कि-उत्पत्तिक के, मृत्यु के समय ही समस्त कर्मों का क्षय नहीं होता ।

अत्रोत्तरम्— इसका उत्तर देते हैं—

उपपन्नस्तत्तलक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत् ।३।३।३०॥

उपपन्न एवोत्क्रांति कालेसर्वकर्मक्षयः, कथम् ? तल्लक्षणार्थोपलब्धेः, क्षीणकर्मणोऽप्याविर्भूतस्वरूपस्य देहसंबन्ध लक्षणार्थोपलब्धेः "पर ज्योतिरूपसंपद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते" स तत्र प्रयेति जक्षत् क्रीडन् रममाणः "स स्वराडभवति तस्य सर्वेषु कामचारो भवति" "स एकधा भवति त्रिधाभवति" इत्यादिषु देहसंबन्धाख्योऽप्यो हि उपलभ्यते । अतः क्षीण कर्मणोऽपि सूक्ष्मशरीर मुक्तस्य देवयानेन गमनमुपपद्यते ।

शरीर छूटने के समय ही समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है, ऐसा शास्त्र वाक्यों से ही ज्ञात होता है । क्षीण कर्म हो जाने के बाद भी आविर्भूत स्वरूप मुक्त जीवात्मा के स्वयं अपने तैजस्य शरीर के मारे लक्षण विद्यमान रहते हैं ऐसा शास्त्र का मत है— 'वह पर ज्योति को प्राप्त कर अपने स्वरूप में व्यक्त हो जाता है' वह स्वच्छंद हो जाता है "उसकी सभी लोको में स्वच्छंद गति हो जाती है" इत्यादि वाक्यों में, देह मन्वद्य

१३-अनियमाधिकरणः—

अनियमः सर्वेषामविरोधः शब्दानुमानाम्याम् ।३।३।३२ ॥

उपकोसलादिषु येषुपासनेर्वाचिरादिगतिः श्रूयते, किं तन्निष्ठानामेव तथा ब्रह्मप्राप्तिः, उत सर्वेषां ब्रह्मोपासननिष्ठानामिति संशये । इतरेष्वनाम्नात् 'येचेमेरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते' श्रद्धां सत्यमुपासते' इतीतरसकलब्रह्मविद्योपस्थापकत्वे प्रमाणाभावाच्च तन्निष्ठानामेव ।

उपकोसल आदि उपासनाओं में जो अचिरादि गति सुनी जाती है वह उसकोपल आदि के उपासकों की ही होती है अथवा उपासक मात्र की होती है इस पर विचारने से ज्ञात होता है कि-अन्य उपासकों का वर्णन नहीं मिलता, अपितु "जो अरण्य में श्रद्धारूप तप से इनकी उपासना करते हैं "जो श्रद्धा की सत्य रूप से उपासना करते हैं" इत्यादि वाक्यों में उपकोसल आदि विद्योपासकों की ही विशेषता बतलाई गई है, इसलिए उन उपासनाओं में निष्ठ व्यक्तियों की ही अचिरादि गति होती है ।

सिद्धान्तः—इति प्राप्तेऽभिधीयते-अनियमः, इति । सर्वेषां सर्वोपासननिष्ठानां तयैव गन्व्यत्वात् तन्निष्ठानामेवेति नियमो नास्ति । सर्वेषां तयैव हि गमने सति शब्दानुमानाम्यां श्रुतिस्मृतिभ्यामविरोध, अन्यथा विरोध एवेत्यर्थः । श्रुतिस्तावत् छांदोग्य-वाजसनेयकयोः, पंचाग्निविद्यायामर्चिरादि मार्गेण सर्वं ब्रह्मोपासन निष्ठानां गमनमाह—'यएवमेतद् विदुर्यं चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्ति' इति छांदोग्ये "य इत्थं विदुः" इति पंचाग्निविद्या निष्ठान् "ये चेमे" इत्यादिना श्रद्धापूर्वकं ब्रह्मोपासनांश्चोद्दिश्यार्चिरादिकागतिरूपदिश्यते "सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म" सत्यंत्वेव विजिज्ञासितव्यम्" इति सत्यशब्दस्य ब्रह्मणि प्रसिद्धेः । तपः शब्दस्यापि तेनैकार्थ्यात् सत्यतपः शब्दाभ्यां ब्रह्मैवाभिधीयते । "श्रद्धापूर्वकं ब्रह्मोपासनं चान्यत्र श्रुतं "सत्यंत्वेव

“विजिज्ञासितव्यम्” इत्युपक्रम्य “श्रद्धात्वेव विजिज्ञासितव्यः” इति । स्मृतिरपि “अग्निज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्, तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदोजनाः” इति सर्वेषां ब्रह्मविदामनेनैव मार्गेण गमगमित्याह एवं जातीयकाः श्रुतिस्मृतयो बह्व्यः संति । एवं सर्वं विद्यासाधारणी इयं गतिः प्राप्तेवोपकोसल विद्यादावनूयते ।

उक्त कथन पर सिद्धान्त रूप से “अनियमः” इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं । सभी विद्याओं के उपासकों की एकमात्र अचिरादि गति ही है, एकमात्र उपकोसल आदि के उपासकों की ही उक्त गति होती हो ऐसा कोई नियम नहीं है । सभी की अचिरादि गति होती है, यह शास्त्र और अनुमान से निश्चित होता है । शास्त्र जैसे—छादोग्य और बृहदारण्यक की पंचाग्नि विद्या में अचिरादि मार्ग से उपासक मात्र के गमन का उल्लेख है—“जो इस प्रकार इसे जानते हैं और जो अरण्य में श्रद्धारूप तप से इसकी उपासना करते हैं, वे अचिरादि मार्ग से गमन करते हैं” इत्यादि बृहदारण्यक में तथा—“जो इस प्रकार जानते हुए अरण्य में श्रद्धापूर्वक इसकी उपासना करते हैं वे अचिरादि गति प्राप्त करते हैं” इत्यादि छादोग्य का वचन है । “य इत्यंविदुः” से, पंचाग्निविद्यानिष्ठों और “ये चेमे” से श्रुद्धानु ब्रह्मोपासकों की अचिरादि गति बतलाई गई है । “सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म” “सत्यंत्वेव विजिज्ञासितव्यः” इत्यादि वाक्यों में “मत्य” शब्द ब्रह्म के लिए ही प्रसिद्ध है । तप और मत्य शब्द एकायक हैं । मत्य—तप—श्रद्धा इन तीनों से ब्रह्म ही अभिवेय है । श्रद्धापूर्वक ब्रह्मोपासना का “सत्यंत्वेव विजिज्ञासितव्यः” श्रद्धात्वेवविजिज्ञासितव्यः” इत्यादि में भी उल्लेख है । स्मृति में भी इसी प्रकार—“अग्नि, ज्योति, अह, शुक्लपक्ष और उत्तरायण, षण्मास के देवयान में गमन करने वाले सभी ब्रह्म लोक प्राप्त करते हैं” इत्यादि में सभी ब्रह्मोपासकों का उक्त मार्ग से गमन कहा गया है । ऐसी अनेक श्रुतिस्मृतियाँ हैं । इस प्रकार सभी विद्याओं के उपासकों के लिए इस असाधारण अचिरादि गति का उल्लेख है उपकोसल आदि विद्याओं में इसका अनुवाद मात्र भिन्नता है ।

१४ अक्षरध्यधिकरणाः—

अक्षरधियांत्वबरोधःसामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवसदुक्तम्। ३। ३। ३। ३।

बृहदारण्यके श्रूयते—“एतद् वै तदक्षरं गार्गिं ब्रह्मणा अभिवदन्ति
अस्थूलमनष्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशम-
संगमरसमगंधमचक्षुष्कमश्रोत्रमदागमनोऽस्तेजस्कमप्राणमसुखममात्र-
मनंतरमवाह्य न तदश्नाति किं च न एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने
गार्गि! सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौतिष्ठतः” इति । तथा आथर्वणे-अथपरा
गया तदक्षरमधिगम्यते यत्तद्रेष्यमग्राह्यमगोत्रमचक्षुश्रोत्रं तदपाणि-
पादम्” इति । तत्र संशयः, किमिमे अक्षरशब्दनिर्दिष्ट ब्रह्म
संबंधितया श्रुताः, अस्थूलत्वादयः प्रपंचप्रत्यनीकतास्वरूपाः सर्वासु
ब्रह्मविद्यास्वनुसंधेयाः, उत यत्र श्रूयन्ते तत्रैव-इति । किं युक्तम्? यत्र
श्रुतास्तत्रैवेति । कुतः? विद्यान्तरस्य रूपभूतानां गुराणां विद्यान्तरस्य
रूपत्वे प्रमाणाभावात्, प्रतिषेधरूपाणामेषामानंदादिवत्स्वरूपावग-
मोपायत्वाभावाच्च । आनंदादिभिरवगतस्वरूपे हि ब्रह्मणि
स्थूलत्वादयः प्रपंचधर्माः प्रतिषिध्यन्ते निलंबनप्रतिषेधायोगात् ।

बृहदारण्यक में पाठ है कि—“हे गार्गि! ब्रह्मवादी इस अक्षर को,
अस्थूल, अनप्, अह्रस्व, अदीर्घ, अलोहित, अस्नेह, छायारहित, अंधकार
रहित, वायु और आकाश रहित, अनासक्त, रस-गंध नेत्र-कर्ण-मन-तेज
-प्राण-सूर्य और चंद्र इस अक्षर के शासन में ही स्थित हैं। “तथा
आथर्वण में पाठ है कि—“इसके बाद पराविद्या का उल्लेख है, जिससे
उस अक्षर पुरुष की प्राप्ति होती है जो कि-अदृष्ट, अग्राह्य, गोत्र-वर्ण-
नेत्र-कर्ण-हस्त-पाद रहित है।” यहाँ संशय होता है कि-अक्षर शब्द
निर्दिष्ट ब्रह्म से संबंधित अस्थूलता आदि जगत् विलक्षण प्रपंचों की सभी
ब्रह्मविद्याओं में चिन्तना की जायगी, अथवा जहाँ कहे गए हैं वहाँ की
जायगी? कह सकते हैं कि-जहाँ कहे गए हैं, केवल वहाँ की जायगी।

ऐसा कहीं भी प्रमाण नहीं मिलता कि—एकविद्या के स्वरूप भूत गुणों की दूसरी विद्या, के गुणों के रूप में चिन्तना की जाय । तथा अस्थूलत्व आदि निषेधात्मक की, आनंद ज्ञान आदि की तरह, स्वरूपावगति न होने से, इनमें साधनता का भी अभाव है (अर्थात् इन्हे उपासना का आधार नहीं कहा जा सकता) आनंद आदि से अवगत होने वाले ब्रह्म स्थूलता आदि प्रपंच धर्मों का प्रतिषेध किया गया है इसलिए निरवलम्ब का प्रतिषेध नहीं किया जा सकता [अर्थात् अस्थूलत्व आदि निर्गुणब्रह्म की उपासना के बोधक है, जैसे कि—आनंद आदि ब्रह्म को निर्गुण उपासना होती है, वैसे ही अक्षर की भी होती है, जिन विद्याओं में सगुणोपासना का विधान है, वहाँ इनकी चिन्तना कैसे संभव है?]

सिद्धान्तः—एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे-प्रक्षरधियांत्ववरोधः, इति ।
 अक्षरब्रह्म संवधिनामस्थूलत्वादिधियां सर्वं
 ब्रह्मविद्यास्ववरोधः, संग्रहणमित्यर्थः । कुतः? सामान्यतद्भावाम्भ्यां ।
 सर्वेपूजासनेपूजासस्याक्षरस्यब्रह्मः समानत्वादस्थूलत्वादीनां
 तत्स्वरूपप्रतीती भावाच्च । एतदुक्तं भवति-प्रसाधारणाकारेण-
 ग्रहणं हि वस्तुनो ग्रहणम् । न च केवलमानन्दादि ब्रह्मणोऽसाधारण्य-
 माकारमुपस्थापयति, प्रत्यगात्मन्यप्यानंदादेर्विद्यमानत्वात् । हेय-
 प्रत्यनोको हि आनंदादि ब्रह्मणोऽसाधारण्यं रूपम् । प्रत्यगात्मस्तु
 स्वतो हेयविरहिणोऽपि हेयसंबन्धयोग्यताऽस्ति, हेयप्रत्यनोक्तत्वं च
 विद्विदात्मक प्रपंचधर्मभूतस्थूलत्वादि विपरित रूपम् । अतोऽसा-
 धारणाकारेण ब्रह्मणोऽनुमंदवताऽस्थूलत्वादिविरोपितज्ञानानंशयाकारं
 ब्रह्मानुसंधेयमिति अस्थूलत्वादीनांमानंदादिवद् ब्रह्मस्वरूप प्रतीत्यन्त-
 र्भावात् सर्वासु ब्रह्मविद्यासु तथैव ब्रह्मानुसंधेयमिति गुणानां
 प्रधानानुवर्तित्वे दृष्टान्तमाह—औपसदवत्—इति । यथा
 जामदग्न्यचतूराश्र पुरोडाश्वपुसदगुणभूतः सामवेद पठितः "अग्निर्वै-
 होशं वेतुः" इत्यादिको मंत्रः प्रधानानुवर्तितया याजुर्वैदिकेनोपांगु-

त्वेन प्रयुज्यते । तदुक्तं प्रथमे काण्डे "गुणमुख्य व्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेद संयोगः" इति ।

उक्त मत पर सिद्धान्तरूप से "अक्षरघियांत्ववरोधः" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं । अक्षर ब्रह्म संबंधी अस्थूलत्व आदि चिन्तनों का सभी ब्रह्म विद्याओं में अवरोध अर्थात् संग्रहण होगा । सभी उपासनाओं के उपास्य अक्षर के ही समान हैं । अस्थूलत्व आदि उन सभी की प्रतीति करा सकते हैं । कथन यह है कि-किसी वस्तु के ग्रहण करने का तात्पर्य है, उसके विशेषाकार का ग्रहण करना । जीव में भी आनंद आदि की स्थिति है, इसलिए केवल ब्रह्म की ही, आनंद आदि असाधारण विशेषतायें नहीं कही जा सकतीं । हीनता से रहित आनंद आदि ही ब्रह्म के असाधारण रूप हैं । जीवात्मा वस्तुतः हीनता से रहित होते हुए भी हीनता से संबंधित होने के अयोग्य नहीं कहला सकता [अर्थात्-अनादि मायावश हीनता से संबद्ध है] जड़चेतनात्मक प्रपंचमयजगत् की स्थूलता आदि से विपरीत रूप ही, हेयप्रत्यनीकता हीनता राहित्य है । इस प्रकार के आसाधारण रूप से, जो ब्रह्म की चिन्तना करते हैं उन्हें अस्थूलत्व आदि रूपों से विशेषित आनंदादि रूप ब्रह्म की चिन्तना करनी ही होगी । आनंदादि की तरह अस्थूलत्व आदि भी, ब्रह्मस्वरूपोपलब्धि के अन्तर्गत आ जाते हैं, इसलिए सभी ब्रह्म विद्याओं में, उसी प्रकार इनकी भी चिन्तना की जावेगी । गुणी, गुण का अनुवर्ती होता है, इसका दृष्टांत उपस्थित करते हैं-जमदग्नि द्वारा अनुष्ठित क्षत्रुरात्र नामक याग में जैसे पुरोडाश के संस्कारक ओषध का अनुवर्तन होता है "अग्निर्वेहोत्रवेतु" इत्यादि मंत्र, सामवेदोक्त होते हुए भी, यज्ञांग होने के कारण, यजुर्वेद में उपांगु रूप से उद्धारित है । पूर्व मीमांसा में कहा भी गया है-जहाँ गुण और गुणी का विरोध उपस्थित हो, वहाँ गुणी के साथ ही वैदिक मंत्र और क्रियाओं का संबंध होता है, क्योंकि-गुणों के लिए ही गुणों की योजना होती है ।"

नन्वेवं सर्वसुब्रह्मविद्यासु ब्रह्मण्येव गुणित्वादगुणानां च प्रधानानुवर्तित्वात् "सर्वकर्मसर्वगंधः सर्वरसः" इत्यादेर्गुणजातस्य प्रतिविद्यं व्यवस्थितस्याप्यव्यवस्थास्यात्-तत्राह-

ब्रह्म ही जब सब विद्याओं का गुणी है और सारे गुण उसके अनुवर्ती हैं, "तब सर्वकर्मा, सर्वगंध, सर्वरस" इत्यादि गुणों की जो प्रत्येक विद्याओं में चिन्तन की व्यवस्था की गई है, वह तो अव्यवस्थित हो जायेगी। इसका उत्तर देते हैं—

इयदामननात् । ३।३।३४॥

आमननं-आभिमुख्येनमननं-अनुचिन्तनम् । आमननाद् हेतो-रियदेव गुणजातं सर्वत्रानुसंधेयत्वेन प्राप्तम्, यदस्थूलत्वादि विरोपितमानंदादिकम् । येन गुणजातेन विना ब्रह्मस्वरूपस्येतरव्यावृत्तस्यानुसंधानं न संभवति, तदेव सर्वत्रानुवर्तनीयम्, तच्चेयदेवेत्यर्थः । इतरे तु सर्वकर्मत्वादयः प्रधानानुवर्तिनोऽपि चिन्तनीयत्वेन प्रतिविद्यं व्यवस्थिताः ।

आभिमुख्य मनन अर्थात् अनुचिन्तन को आमनन कहते हैं आमनन के हेतु-अस्थूलता आदि सहित आनंदादि गुणों को सर्वत्र, चिन्तना बतलाई गई है। जिन गुणों के बिना ब्रह्म के स्वरूप का चिन्तन संभव नहीं है केवल वे ही गुण, सर्वत्र अनुवृत्त होते हैं, और ग्रहण किये जा सकते हैं, ये गुण अस्थूलता आदि ही हैं। अन्य जो सर्वकर्मा आदि गुण हैं, वे गुणी के अनुवर्ती होते हुए भी, प्रत्येक विद्याओं में, पृथक् रूप से चिन्त्य बतलाए गए हैं।

१५ अन्तरत्वाधिकरणः—

अन्तरान्नतग्रामवत् स्वात्मनोऽन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशवत् ।

३।३।३५॥

बृहदारण्यके उपस्तप्रश्न एवमाज्ञायते "यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः तन्मे व्याचक्ष्व" इति । तस्य प्रतिवचनं "यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरो योऽपानेनापनिति स त आत्मा" इत्यादि । अतुष्टेन तेन पुनः पृष्ठ आह—"न दृष्टेर्दृष्टारं पश्येत् श्रुतेः श्रोतारं श्रुणुयाः न मतेमन्तारं मन्वीयाः न विज्ञाते

विंज्ञातारं विजानीया एष त आत्मा सर्वान्तरोऽतोऽन्यदार्तम्” इति । तथा तदनन्तरं कहोल प्रश्ने चैवमाज्ञायते—“यदेव साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः तन्मेव्याचक्ष्व” इति । प्रतिवचनं च—“योऽज्ञानायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति एवं हैतमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणः पुत्रेषणायाश्च वित्तोषणायाश्च” “इत्यादि “अतोऽन्यदार्तम्” इत्यन्तम् ।

बृहदारण्यक में—उपस्त द्वारा ऐसा प्रश्न किया गया कि “जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म सर्वान्तर्यामी आत्मा है, मुझे उनका स्वरूप बतलाओ” इसका उसे उत्तर मिला कि—“जो प्राणों के प्राण, जो सर्वान्तरात्मा, अपानों के अपान है, वही आत्मा ।” इस उत्तर से असंतुष्ट पृष्ठा के पुनः प्रश्न करने पर उत्तर दिया गया कि—“जो तुम दृष्टि के द्रष्टा को नहीं देख सकते श्रुति के श्रोता को नहीं सुन सकते, मति के मंता को, मनन नहीं कर सकते । विज्ञाति के विज्ञाता को नहीं जान सकते, तुम्हारा यह आत्मा सर्वान्तर है इससे भिन्न सब कुछ आर्त्ता (नाशवान) है ।” इसके बाद कहोल द्वारा भी इसी प्रकार का प्रश्न किया गया—“जो भी साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म सर्वान्तर-आत्मा है, उसकी व्याख्या करो ।” उत्तर मिला कि—“जो, भूख प्यास, शोक, मोह जरा और मृत्यु से परे है, उस आत्मा को ही जानकर ब्राह्मण पुत्रेषणा और वित्तोषणा” इत्यादि से लेकर—“इससे भिन्न सब आर्त्ता है” यहाँ तक उक्त तत्त्व की व्याख्या की गई ।

सत्र संशयते—किमनयोर्विद्याभेदोऽस्ति, नेति? किं युक्तम् भेद इति, कुतः? रूपभेदात् । प्रतिवचनभेदात् रूपं भिद्यते । प्रश्नस्यैक रूप्येऽपि प्रतिवचन प्रकारो हि भेदेनोपलभ्यते । पूर्वत्रप्राणादीनां कर्त्ता सर्वान्तरात्मत्वेनोच्यते परत्राज्ञानायापिपासादि रहितः । अतः पूर्वत्र प्राणिता देहेन्द्रियबुद्धिमनप्राणव्यतिरिक्तः प्रत्यगात्मोच्यते । परत्र तु तदतिरिक्तोऽज्ञानायापिपासादिरहितः परमात्मा । अतोरूपं भिद्यते । भूतग्रामवत्श्च प्रत्यगात्मनस्तस्य भूतग्रामस्य सर्वस्यान्तरत्वेन सर्वान्तरत्वमप्युपपन्नम् । यद्यपि प्रत्यगात्मनः सर्वान्तरत्वं भूतग्राम-

मात्रापेक्षत्वे नापेक्षिकम् तथापि तदेव ग्राह्यम्, अन्यथा मुख्यान्तरा-
त्मपरिग्रहलोभात्—परमात्म स्वीकारे प्रतिवचन भेदो नोपपद्यते ।
प्रतिवचनं हि पूर्वश प्रत्यगात्म विषयम्, परमात्मनः प्राणित्वापा-
नित्वाद्यसंभवात् । परं च परमात्मविषयं अशानायापिपा-
साद्यतीत्वात् ।

इस पर संशय होता है कि—उक्त प्रसंग में विद्याभेद है या नहीं?
कह सकते हैं कि—भेद है, क्योंकि—दोनों में जो उत्तर दिया गया है वह
भिन्न है इसलिए दोनों के रूप में भेद है । एक ही प्रकार का प्रश्न है पर
उत्तर भिन्न है । पहिले में प्राण आदि के कर्ता को सर्वान्तर्यामी कहा गया
है, दूसरे में भूख-प्यास रहित को सर्वान्तर्यामी कहा गया है । समस्त भूतों
में व्याप्त जीवात्मा, भूतों के अन्दर व्याप्त होने के कारण सर्वान्तर्यामी
है । यद्यपि जीवात्मा को सर्वान्तर्यामिता, सभी भौतिक तत्वों में नहीं
होती, कुछेक में होने के कारण ही उसे सर्वान्तर्यामी कहा जा सकता है ।
मुख्यान्तर्यामी परमात्मा को ही यदि, पूर्व उत्तर में भी, सर्वान्तर्यामी
मान लेंगे तो भेदात्मक उत्तरों की संगति न होगी । पहिले उत्तर का
विषय जीवात्मा संबंधी ही है । प्राण अपान से संबंधित, परमात्मा नहीं
हो सकते । दूसरा उत्तर परमात्म विषयक है, क्योंकि उसमें भूख-प्यास
आदि से रहित विशेषताओं का उल्लेख है ।

तदिदमाशंकते—अन्तराभूतग्रामवत् स्वात्मनोऽन्यथा भेदानुप-
पत्तिरिति इति चेत्? अन्तरा सर्वान्तरत्वेन प्रथम प्रतिवचनं
भूतग्रामवत् स्वात्मनः, भूतग्रामवान्, तदन्तरः स्वात्मा, प्रत्यगात्मा
सर्वान्तर इत्युच्यत इत्यर्थः । अन्यथा—“यः प्राणेन प्राणिति”
योऽशानाया पिपासाद्यतीतः” इति प्रतिवचन भेदानुपपत्तिरितिचेत्—

उक्त मत पर शंका करते हैं कि—भूत समुदायों की तरह अपने आत्मा
से भिन्न कोई तत्व अन्तर्यामी है, ऐसी भेद प्रतीति “अन्तराभूत ग्रामवत्”
इस सूत्र से होती है ? इसका यह तात्पर्य नहीं है अपितु अन्तरा अर्थात्
सर्वान्तर रूप से भूतग्रामवत्—अपना भूतसमुदाय युक्त आत्मा ही उन
भूतसमुदायों का अन्तर्यामी आत्मा है अर्थात् जीवात्मा ही सर्वान्तर्यामी

आत्मा है इत्यादि तात्पर्य है । यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो—“प्राणों का प्राण” और “जो भूख प्यासादि से रहित है” इन विभिन्न उत्तरों का समाधान नहीं होगा ।

सिद्धान्त—अत्रोत्तरं—नेति । न विद्याभेद इत्यर्थः । उभयत्र पर विषयत्वात् प्रश्नप्रतिवचनयोः । तथाहि—“यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः” इति प्रश्नस्तावद् परमात्मविषय एव, ब्रह्मशब्दस्य परमात्मा साधारणत्वेऽपि प्रत्यगात्मन्यपि कदाचिदुपचरित प्रयोगदर्शनात्तद्व्यावृत्त्यापरमात्मप्रतिपत्त्यर्थं—“सत्साक्षाद्ब्रह्म” इति विशेषणं क्रियते । अपरोक्षत्वमपि सर्वदेश सर्वकाल संबन्धित्वं “सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म” इत्यत्रन्तत्वेनावगतस्य परमात्मन एवोपपद्यते । सर्वान्तरत्वमपि—“यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या-अन्तरः” इत्यारभ्य “य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरः” इति सर्वान्तर्यामिणः परमात्मन एव संभवति । प्रतिवचनमपि तथैव परमात्मविषयम् । “यः प्राणेन प्राणिति” इति निरुपाधिकं प्राणनस्य कर्तृत्वं परमात्मन एव । प्रत्यगात्मनः सुषुप्तौ प्राणनं-प्रति कर्तृत्वाभावात् एवमजानतोपत्वेन प्राणने कर्तृत्वमात्रमुक्तं मन्वानेन प्रत्यगात्मनोऽपि साधारणत्व प्रतिवचनस्य मत्वा अतुष्टेन पुनः पृष्ठस्तंप्रति प्रत्यगात्मनो व्यावृत्तं निरुपाधिकत्वेन प्राणस्य कर्तारं परमात्मानमाह—“न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः” इत्यादिना । इन्द्रियाधोनानां दर्शनश्रवणमननविज्ञानानां कर्तारं प्रत्यगात्मानं प्राणनस्य कर्तृत्वेनोक्त इति न मन्वीयाः, तस्य सुषुप्तिसमूर्थादौ प्राणनादेरकर्तृत्वात् । “को ह्येवान्यात कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनंदोनस्यात्” इति सर्वं प्राणि प्राणन हेतुत्वं हि परमात्मन एवान्यत्र श्रुतम् । अतः पूर्वप्रश्न प्रतिवचने परमात्मविषये । एवमुत्तरे अपि, अशनायाद्यतोतत्वस्य परमात्मासाधारणत्वात् ।

उभयत्र—“अतोऽन्यदात्तम्” इत्युपसंहारश्चैकरूपः । प्रश्नप्रतिवचना-
वृत्तिस्तु कृत्स्नप्राणिप्राणन हेतोः परस्यब्रह्मणोऽज्ञानायाद्यतीतत्व
प्रतिपादनाय ।

सिद्धान्तः—उक्त मत का उत्तर नकारात्मक है, अर्थात् विद्याभेद नहीं है । दोनों जगह प्रश्नोत्तर परमात्म विषयक ही हैं । जैसे कि—“जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म सर्वान्तरात्मा है” इत्यादि प्रश्न परमात्म विषयक ही है । ब्रह्म शब्द सामान्यतः परमात्मवाची है, कभी-कभी गौण रूप से इसका प्रयोग जीवात्मा के लिए भी किया गया है । उक्त प्रसंग में परमात्मवाची ही है क्योंकि—प्रश्न में “साक्षात् ब्रह्म” ऐसा विशेषण दिया गया है । अपरोक्षता भी सर्वदेश, सर्वकाल सर्वधी “सत्यज्ञानमनंतं ब्रह्म” इत्यादि विशेषताओं वाले अनंत परमात्मा में ही संगत हो सकती है । सर्वान्तरत्व भी—‘जो पृथ्वी में स्थित सर्वान्तर्यामी है “जो आत्मा में स्थित सर्वान्तर्यामी है” इत्यादि में वर्णित, सर्वान्तर्यामी परमात्मा में ही संभव है । उत्तर भी परमात्म विषयक ही प्रतीत होता है । “जो प्राणों का प्राण” ऐसा आधिक्य प्रतिपादन प्राणकर्ता परमात्मा के लिए ही संभव है, क्योंकि-जीवात्मा का प्राण सुषुप्तावस्था में, कर्तृत्व शक्ति रहित निश्चेष्ट रहता है । इस रहस्य के अज्ञाता उपस्त द्वारा केवल प्राण के कर्तृत्व के अनुसार जीवात्मा को प्राणशब्दवाची मान कर, बार-बार आग्रहपूर्वक प्रश्न करने पर “न दृष्टेद्रंष्टारं पश्येः” इत्यादि में, जीवात्मा से पृथक, प्राण के निरुपाधिक (सर्वकालीन) कर्ता परमात्मा का उपदेश दिया गया । इन्द्रियाधीन-दर्शन-श्रवण-मनन-विज्ञान आदि भावों के कर्ता जीव को, प्राण का कर्ता, नहीं माना जा सकता, क्योंकि-सुषुप्तिमूर्द्धा में जीवात्मा में, प्राणकर्तृत्व का अभाव रहता है” यदि यह आकाश-आनन्द न होता तो प्राणन और चेष्टा कोन कर सकता ?” इस प्रकरणान्तरीय वाक्य में सभी प्राणियों के प्राणनकर्ता परमात्मा का उल्लेख है । इस प्रकार-पूर्व के प्रश्नोत्तरों के विवेचन से, परमात्म-विषयता स्पष्ट हो जाती है । बाद के प्रश्नोत्तरों में भी-भूतप्यासादि से रहित परमात्मा की अमाधारणता दिखाई गई है । दोनों ही जगह “बाकी सब आत्तं है” ऐसा एक सा उपसंहार किया गया है । प्रश्नोत्तरों की

पुनरावृत्ति-समस्त प्राणियों के प्राणनकर्त्ता परब्रह्म की, अनशनादि विशेषताओं के प्रतिपादन के लिए' की गई है।

तत्र दृष्टान्तमाह उपदेशवदिति—यथा सद्विद्यायाम् “उत्त-
तमादेशमप्राक्ष्यः” इति प्रक्रान्ते सद्गुपदेशे “भगवांस्त्वेवमेतद-
वब्रीत्विति “भूय एव मा भगवान् विज्ञापयतु” इति प्रश्नस्य
“एवोऽणिमा ऐतदात्म्यमिदं सर्वतत्सत्यम्” इति प्रतिवचनस्य च
भूयोभूय आवृत्तिः सतो ब्रह्मणः तत्तन्माहात्म्यविशेष प्रतिपादनाय
दृश्यते तदवत् । अत एकस्यैव सर्वान्तरभूतस्य ब्रह्मणः कृत्स्नप्राणि-
प्राणन हेतुत्वाशनायाद्यतीतत्वप्रतिपादनेन रूपक्याद् विद्यैक्यम् ।

सूत्रकार-उपदेशवत् कहकर इस विषय में दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं कि जैसे—छांदोग्य के सद्विद्या के प्रकरण में—“तुम क्या उस उपदेश की जिज्ञासा करते हो ?” इत्यादि से ब्रह्मविद्या का उपक्रम करके—
“पूजनीय ! आप मुझे उसे बतलाने की कृपा करें” हे भगवन् पुनः बतलाइए, इत्यादि प्रश्न करने पर—“वह अत्यन्त अणु जगदात्मरु और सत्य स्वरूप है” इत्यादि उत्तर में ब्रह्म और उसकी महिमा विशेष के प्रतिपादन के लिए पुनरावृत्ति की गई है, वैसे ही उक्त प्रसंग में भी है। समस्त प्राणियों के प्राणनकर्त्ता एक ही सर्वान्तर्यामी ब्रह्म के अशन आदि के प्रतिपादन के लिए ही पुनरावृत्ति की गई है, इसलिए दोनों विचार्ये एक हैं ऐसा सिद्ध होता है।

अथ स्यात्—यद्युभये प्रश्नप्रतिवचने परब्रह्मविषये तथाऽपि विद्याभेदोऽवर्जनीयः, एकत्र सर्वप्राणिप्राणनहेतुत्वेनोपास्यम्, इतरत्राशनायाद्यतीतत्वेनेत्युपास्यगुणभेदेन रूपभेदात्, प्रभृभेदाच्च, पूर्वत्र उपस्तः प्रष्टा, उत्तरत्र कहोलः, इति । तत्राह—

यद्यपि दोनों प्रश्नोत्तर परब्रह्म विषयक हैं फिर भी, विद्या भेद अपरिहार्य है, क्योंकि—एक जगह ब्रह्म को, प्राणों के हेतु रूप में तथा दूसरी जगह अनशनादि विशेषताओं वाला कहा गया है, जिससे उपास्य के गुणों का स्पष्ट भेद प्रतीत होता है, इसलिए रूपभेद तो हो ही गया। प्रश्न-

कर्ता का भी भेद है, पहिले में उपस्त प्रश्नकर्ता है दूसरे में कहोल है । इसका उत्तर देते हैं :—

व्यतिहारो विशिषंति हीतरवत् ॥३॥३६॥

नात्र विद्याभेदः प्रश्नप्रतिवचनाभ्यामेकरूपार्थविषयाभ्यामेकेन च विधिपक्षेनैकवाक्यत्वप्रतीतेः । प्रश्नद्वयं तावत्सर्वान्तरात्मत्व विशिष्टब्रह्म विषयम् । द्वितीये प्रश्ने “यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः” इत्येवकारश्च पूर्वत्रोपस्तेन पृष्टगुणविशिष्ट ब्रह्मविषयत्व कहोल प्रश्नस्यावधारयति । प्रतिवचन चोभयत्र “सत आत्मा सर्वान्तरः” इति सर्वान्तरात्मत्वविशिष्टब्रह्मविषय-मेकरूपमेव । विधिप्रत्ययश्चोत्तरत्रैव दृश्यते “तस्माद् ब्राह्मण पांडित्य निर्विद्य दाल्यत्वेन तिष्ठासेत्” इति । एव सर्वान्तरात्मत्व-विशिष्ट ब्रह्मेक विषयत्वे द्वयोरवगते सत्येकस्मिन्नेव सर्वान्तरात्मत्व विशिष्टे ब्रह्मण्युपास्ये उपस्तकहांलयोरितरंतरवुद्धि व्यतिहारः कर्तव्यः । उपस्तस्य या सर्वान्तरात्मा ब्रह्मणः सर्वप्राणिप्राणन हेतुत्वविषया बुद्धिः, सा कहोलेनापि प्रष्टा कार्या, या च कहोलस्य तस्यैव ब्रह्मणोऽशानायाद्यतांतत्वविषयाबुद्धिः सा उपस्तेनापि कार्या । एवं व्यतिहारे कृते उभाभ्यां सर्वान्तरस्य ब्रह्मणो जीव-व्यावृत्तिरवगता भवति । एत सर्वान्तरात्मानं प्रत्यगात्मनो व्यावृत्त-मवगमयितुं सर्वाप्राणिप्राणनहेतुत्वाशानायाद्यतांतत्व प्रतिपादनेन विशिषति हि याज्ञवल्क्यस्य प्रतिवचनानि । अतोब्रह्मणः सर्वान्तरात्मत्वमेवोपास्यगुणः । प्रणनहेतुत्वादयस्तु तस्योपपादकाः नोपास्याः ।

उक्त प्रसंग में विद्याभेद नहीं है । प्रश्नोत्तरो में एक ही प्रकार के विषय, एक ही प्रकार की विधि से, एकवाक्यता की प्रतीति होती है । दोनों ही प्रश्न सर्वान्तरार्थी ब्रह्म विषयक हैं । द्वितीय प्रश्न में “यदेवनासाद-

परोक्षाद" इत्यादि स उपस्त द्वारा पूछी गई, गुणविशिष्ट ब्रह्म विषयता ही, कहोल के प्रश्न में अनुकृत है। दोनों जगह का उत्तर भी "स आत्मा सर्वान्तरः" सर्वान्तर्यामी विशिष्ट ब्रह्म विषयक, एक सा है। उपासना विधायक विधि प्रत्यय "ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति पांडित्य का त्याग कर वाल्य-भाव में स्थित होते है" इत्यादि दोनों के अंत में दृष्टिगत होता है। इस प्रकार-सर्वान्तर्यामी विशिष्ट ब्रह्मकविषयता के, दोनों स्थानों पर निश्चित हो जाने पर-एकही सर्वान्तर्यामी विशिष्ट उपास्य ब्रह्म के विषय में, उपस्त और कहोल दोनों के चिन्तन को परस्पर विनियमित समझना चाहिए, अर्थात् उपस्ति की जो, सर्वान्तर्यामी ब्रह्म की समस्त प्राणियों से संबंधित प्राणहेतु विषयक बुद्धि है, वही कहोल द्वारा पृष्ट है; तथा कहोल की जो अनशन आदि विशिष्ट परमात्म संबंधी बुद्धि है, वही उपस्त द्वारा पृष्ट है। इस प्रकार पारस्परिक विनियम करने पर सर्वान्तर्यामी ब्रह्म की, जीव से भिन्नता, स्पष्ट हो जाती है। सर्वान्तर्यामी परमात्मा की जीवात्मा से भिन्नता बतलाने के लिए ही, उक्त याज्ञवल्क्य वाक्य प्राणियों की प्राण धारण हेतुता और अनशन आदि का प्रतिपादन, विशेष रूप से ब्रह्म परक ही करता है। इससे सिद्ध होता है कि-ब्रह्म की सर्वान्तरात्मकता ही उपास्य गुण है, प्राणन आदि की हेतुता, उपपादक गुण हैं, उपास्य नहीं।

ननुपास्यगुणः सर्वान्तरात्मत्वमेव चेत्-प्राणनहेतुत्वस्य

अशानायाद्यतीतत्वस्य च पृष्टोः व्यतिहृत्यानुसंधानं किमर्थम् ? तदुच्यते--सर्वप्राणिप्राणनहेतुत्वेन सर्वान्तरात्मनि जीवादव्यावृत्ते ब्रह्मण्युपस्तेनावगते सति कहोलेन जीवस्य सर्वात्मना असंभावितेन स्वभावविशेषेण सर्वान्तरात्मव्यावृत्तोऽनुसंधेय इतिकृत्वा पुनः प्रश्नः कृतः। याज्ञवल्क्योऽपि तदभिप्रायमभिज्ञाय प्रत्यगात्म-नोऽसंभावितमशानायादिप्रत्यनीकत्वमुक्त्वान् । अतश्चोपास्यस्य व्यावृत्तिप्रतीतिसिद्धयर्थमुभाभ्यां परस्परबुद्धिव्यतिहारः कर्त्तव्यः। इतरवत्-यथेतरत्र सद्विद्यायां भूयोभूयः प्रश्नैः प्रतिवचनैश्चतदेव सदब्रह्मव्यवच्छिद्यते, न पुनः पूर्वं प्रतिपन्नाद् गुणान्तरविशिष्ट-

तयोपास्यं, प्रतिपाद्यते, तदवत् ।

यदि वहें कि-यदि सर्वान्तरात्मकता ही उपास्य गुण है तो, प्राणनहेतुता और अनशन आदि गुणों के अनुसंधान का प्रश्न करने का क्या प्रयोजन था ? इस पर कथन यह है कि-उपस्त ने जाना कि, समस्त प्राणियों के प्राणाधार के कारण होने से ही, सर्वान्तरात्मा, जीव से विलक्षण ब्रह्मस्वरूप है। ऐसा ही कहोल ने भी मग्ना कि-जीव में जो नितान्त असंभव हैं, ऐसे विशिष्ट गुणों से युक्त सर्वान्तरात्मा का चिन्तन करना चाहिए। इसीलिए उन्होंने पुनः प्रश्न किया और याज्ञवल्क्य ने भी-उनका अभिप्राय समझकर, जीवात्मा से असंभाव्य अनशन आदि की गुणातीतता का उपदेश दिया। उपास्य की, जीव से विलक्षणता सिद्ध करने के लिए, उपस्त और कहोल के पारस्परिक बुद्धि व्यवहार का विनिमय करना चाहिए। जैसे कि सद्बिद्या में बार-बार प्रश्नोत्तरों से, उसी एक सद्ब्रह्म की विशेषता सिद्ध की गई है, पूर्व प्रतिपन्न गुणों से किसी अन्य विशिष्ट गुणों वाले उपास्य का प्रतिपादन नहीं किया गया है, वैसे ही उक्त प्रसंग में सर्वान्तरात्मा की विशेषता निद्ध की गई है।

तत्रापि प्रश्नप्रतिवचदभेदे सति कथमेकमवगम्यत इति चेत्-तत्राह-

यदि कहें कि वहाँ सद्बिद्या में भी प्रश्न प्रतिवचन में ही जब भेद है तो एकता कभी जानी जाय-उमत्ता उमत्ता देते हैं :-

सैव हि सत्यादयः ।३।६।३७॥

सैव हि सच्चिदान्दाभिद्रिता परमकारणभूतापरा देवतैव "सैयं देवतैश्चत" तेजः परस्या देवतायाम्" इति प्रकृता "तया सौम्य मधु मधुङ्गुतोनिस्तिष्ठन्ति" इत्यादिषु पर्यायेषु सर्वेषूपपद्यते । यतः "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा" इति प्रथमपर्यायोदिताः सत्यादयः सर्वेषु पर्यायेषूपपाद्योपसंहियन्ते ।

"उसी परा देवता ने इच्छा की" तब परा देवता में लीन हुआ "इत्यादि स्थलों में जिस परा देवता परब्रह्म का वर्णन किया गया है, उसी को "हे सौम्य ! मधुकर जैसे मधु में चिपकते है" इत्यादि वाक्यों में

प्रतिपादन किया गया है। “यह सब कुछ तदात्मक सत्य है वही आत्मा है” इत्यादि में जिस सत्यादि संपन्न उपास्य का उपदेश दिया गया है, परवर्ती सभी उपदेशों में, उसी का संग्रह किया गया है।

केचित्तु—“व्यतिहारो विशिषंति होतरवत्” सैव हि सत्यादयः इति सूत्रद्वयमधिकरणद्वयं वर्णयंति । तत्र पूर्वेण “त्वं वाऽहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि भगवो देवते तद्योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहम्” इति वाक्ये जीवपरयोर्व्यतिहारानुसंधानं प्रतिपाद्यत इत्युच्यत इत्याहुः तत् “सर्वं खल्विदं ब्रह्म” ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् “तत्त्वमसि” इत्यवगतसर्वात्मभावविषयत्वादस्य वाक्यस्य नात्र प्रतिपादनीयमपूर्वमस्तौत्यनादरणीयम् । तत्तु वक्ष्यते—“आत्मेति तूपगच्छंति ग्राहयंति च” इति । न च सर्वात्मत्वानुसंधानातिरेकेण परस्मिन् ब्रह्मणि जीवत्वानुसंधानम्, जीवे च परब्रह्मत्वानुसंधानम्, तथ्यं संभवति ।

कुछ लोग ‘व्यतिहारो विशिषंति होतरवत्’ सैव हि सत्यादयः इन दो सूत्रों को पृथक् अधिकरण रूप से वर्णन करते हैं। प्रथमसूत्र में— हे भगवन्! तुम मैं है और मैं तुम हो; जो मैं है सो यह है, जो यह है सो मैं हूँ” इस वाक्य को प्रस्तुत कर, जीव और ब्रह्म के अभेद का प्रतिपादन करते हैं। किन्तु—“यह सब कुछ ब्रह्म स्वरूप है” यह सब आत्म्य है ‘यह तू है’ इत्यादि से जो सर्वात्मभाव निश्चित किया जा चुका वही, ‘तुम मैं है’ इत्यादि वाक्य का प्रतिपाद्य विषय है। इसमें कोई नवीन अर्थ योजना करना ठीक नहीं है। उक्त प्रकार की ब्याख्या आदरणीय भी नहीं है। “आत्मेति तूपगच्छंति ग्राहयंति च” सूत्र में—इस पर विशेष कहेंगे। सर्वात्मकतानुसंधान के वहाने, परब्रह्म में जीवत्व का अनुसंधान तथा जीव में, परब्रह्मत्व का अनुसंधान करना भी सही नहीं है।

उत्तरेण च सूत्रेण “स यो ह वै तन्महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्म” इत्यादि वाक्य प्रतिपादितस्य सत्योपासनस्य “तद्यत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन् मंडले पुरुषो यश्चायं

दक्षिणेऽस्मिन्” इत्यादि वाक्य प्रतिपादितोपासनस्य चैक्यं प्रतिपाद्यते इति, तदप्युक्तं उत्तरवाक्ये, अद्यादित्यस्यानभेदेन विद्याभेदस्य पूर्वमेव । “न वा विशेषात्” इत्यनेन प्रतिपादितत्वात् ।

द्वितीय सूत्र में—“जो उस प्रथमजात अतीव रमणीय सत्य ब्रह्म को जानते हैं” इत्यादि वाक्य की सत्यब्रह्मोपासना और “ जो सत्त्व है वही आदित्य है, जो इस आदित्य मंडल का पुरुष है, वही दक्षिणनेत्रस्य पुरुष है” इत्यादि वाक्य प्रतिपादिन उपासना की एकता का प्रतिपादन करते हैं वह भी असंगत बात है । दूसरे वाक्य में नेत्र और आदित्य में स्थान भेद होने से विद्या भेद है, ऐसा “न वा विशेषात्” सूत्र में बतला चुके हैं ।

न च द्वयोरनयोर्व्याहृत्यादि शरीरकत्वेन रूपवतोः ‘हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेद’ इति पृथक्संयोगचोदनावतो द्वयोरुपासनयोः “स यो ह वै तन्महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति जयतीमान् लोकान्” इति संयोग रूपादिमत्तया निरपेक्षेण पूर्वैकैकौपासनेनाभेदः संभवति ।

उक्त दोनों उपासनाओं की व्याहृति आदि शरीर, के रूप से भी कल्पना नहीं की जा सकती क्योंकि—‘ जो इस प्रकार जानता है वह पापों को नष्ट करता और छोड़ता है’ इत्यादि । पृथक् संयोग और विधि वाली दोनों उपासनाओं का “जो उस प्रथम जात अतीव रमणीय सत्य ब्रह्म को जानते हैं वह इस समस्त लोक को जीतते हैं” इत्यादि में पृथक् फलान्तेज होने से, पर वाक्य, पूर्व वाक्य से पूर्ण रूप से भिन्न हो जाता है, इसलिए दोनों वाक्यों में एक उपासना नहीं हो सकती ।

न च “हन्ति पाप्मानं जहाति” इति । फलाधिकारत्वम्, प्रमाणाभावात् । पूर्वैकविद्यात्वं प्रमाणामिति चेत्, न, इतरेतराश्रयत्वात् । एकविद्यात्वे निश्चिते पूर्वफलस्यैव प्रधानफलत्वे निश्चिते सति संयोग भेदाभावात् पूर्वैक विद्यैक्यमिति इतरेतराश्रयत्वमित्येवमादिभि र्यथोक्त प्रकारमेव सूत्रद्वयम् ।

“हृत्तिपाप्मानं जहाति” को उपासना का गौण फल भी नहीं कह सकते इसको गौण मानने का कोई प्रमाण नहीं मिलता । यदि कहें कि पूर्व और पर विद्या की एकता ही उसका प्रमाण है सो ऐसा मानने से अन्योन्याश्रय दोष होगा । अर्थात् दोनों को एकविद्या मानने से पूर्व फल की प्रधानता पर के दोनों फलों की गौणता सिद्धि होगी । ऐसा होने से, फल संयोग के भेद का अभाव हो जावेगा, जिससे कि दोनों विद्याओं की एकता घटित होती है । इत्यादि असंगतियों से उक्त दो प्रकरणों की बात मान्य नहीं है । जो प्रकार हमने प्रस्तुत किया है वही समीचीन है ।

१६ कामाद्यधिकरणः—

कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ।३।३।३८॥

छांदोग्ये श्रूयते—“अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुंडरीकं, वेश्म दहरोऽस्मिन्नंतर आकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्” इत्यादि वाजसनेयके च “स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन् शेते सर्वस्यवशी सर्वस्येशानः” इत्यादि । तत्र संशयः, किमनयोर्विद्याभेदः, उतनेति ? कि युक्तम् ? भेद, इति कुतः ? रूपभेदात् । अपहतपाप्मत्वादि गुणाष्टकविशिष्टं आकाशः छांदोग्ये उपास्यः प्रतीयते । वाजसनेयके त्वाकाशे शयानो वशित्वादिगुणविशिष्ट उपास्यः प्रतीयते, अतो-रूपभेदात् विद्याभेदः ।

छांदोग्य में पाठ है कि—“इस ब्रह्मपुर शरीर के अन्दर जो दहर पुंडरीक गृह है, उसके अन्तस्थ आकाश में जो तत्व है वही अन्वेष्टव्य है” इत्यादि । वाजसनेयी में भी इसी प्रकार—“यही वह महान अज आत्मा जो कि प्राणों के मध्य में विज्ञानमय हृदय के मध्य में जो आकाश है, उसमें निवास करता है, वह सर्व नियामक और सर्वाधिपति है” इत्यादि यहाँ संशय हीता है कि—इन दोनों विद्याओं में भेद है कि—अभेद ? कह सकते हैं कि—भेद है क्योंकि—दोनों में स्वरूपगत भेद है । छांदोग्य में आठ

गुणों वाले विशिष्ट ब्रह्म को उपास्य बतलाया गया है तथा वाजसनेयी में आकाश में शगन करने वाले वशित्व आदि गुण विशिष्ट ब्रह्म को उपास्य बतलाया गया है इस प्रकार दोनों में स्वरूपगत भेद है इसलिए दोनों विद्यायें भिन्न हैं ।

सिद्धांतः—इति प्राप्ते प्रचक्षमहे—न भेद इति । कुतः ?
रूपाभेदात्—इतरत्तत्र च कामाद्येव हि रूपम्—वाजसनेयके
छांदोग्ये च सत्यकामादिविशिष्टमेव ब्रह्मोपास्यमित्यर्थः । कुत
एतदवगम्यते ? आयतनादिभ्यः, हृदयायतनत्वसेतुत्वविधारणत्वादि-
भिस्ताद्यदुभयत्र सैव विद्येतिप्रत्यभिज्ञायते । वशित्वादयश्च
वाजसनेयके श्रुता. छांदोग्ये श्रुतस्य गुणाष्टकान्यतमभूतस्य
सत्यमंकल्पत्वस्य विशेषा एवेति सत्यमंकल्पत्व सहचारिणां
सत्यकामत्वादीनामपहतपाप्मत्वपर्यन्तानां सद्भावमवगमयति, अतो
रूपं न भिद्यते ।

सिद्धांत बतलाते हैं कि—भेद नहीं है; रूप के अभेद से यह बात स्पष्ट होती है; जैसे—अन्यत्र काम आदि गुणों से संपन्न को उपास्य कहा गया है, वैसे ही वाजसनेयी और छांदोग्य में, सत्यकामादि विशिष्ट को ही उपास्य कहा गया है। आयतन आदि के वर्णन से ही यह बात निश्चित होती है। हृदायतनत्व, सेतुत्व, विधारणत्व आदि रूप से जिसके चिन्तन का विधान किया गया है, उसे ही, इन दोनों स्थलों पर भी उपास्य कहा गया है। यहाँ वही विद्या निश्चित होनी है। वशित्व आदि विशेषतायें वाजसनेय में बतलाई गई हैं और सत्यमंकल्पना आदि विशेषतायें छांदोग्य में बतलाई गई हैं। सत्यमंकल्प से लेकर सत्यकामता निष्पापता पर्यन्त सभी विशेषतायें, मत् का अस्तित्व बतलाने वाली विशेषतायें हैं, इसलिए स्वरूप में भेद नहीं है।

संयोगोऽपि 'परं ज्योति सपद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते"
"अभयं वै ब्रह्म भवति" इति ब्रह्मप्राप्ति रूपो न भिद्यते ।
आकारा शब्दः छांदोग्ये परमात्मविषय इति "दहर उत्तरेभ्यः"

इत्यत्र निर्णयितम् । वाजसनेयके त्वाकारो शयानस्य वशित्वादि-
श्रवणात्तस्य तस्य शयानस्य परमात्मत्वे सति तदाघाराभिधायिन
आकाशशब्दस्य “तस्यान्ते सुषिरंसूक्ष्मम्” इति हृदयान्तर्गतस्य
सुषिरशब्द वाच्यस्याकाशस्याभिधायकत्वमवगम्यते अतो विद्यैक्यम् ।

“पर ज्योति को प्राप्त कर अपने रूप से निष्पन्न हो जाता है”
निर्भय ब्रह्म हो जाता है” इत्यादि ब्रह्म प्राप्ति रूप, फल संयोग में भी
दोनों की अभिन्नता है । छांदोग्य में, आकाश शब्द परमात्म स्वरूप माना
गया है, “दहर उत्तरेभ्यः” सूत्र में इसका निर्णय किया जा चुका है ।
वाजसनेयक में तो, आकाश में शयन करने वाले की वशित्व आदि
विशेषताओं का भी उल्लेख है । “तस्यान्ते सुषिरं सूक्ष्मम्” में उल्लेख्य
“सुषिर” शब्द आकाशवाची ही निश्चित होता है, इसलिए विद्या एक है ।

अथ स्यात्—यदुक्तं वाजसनेयके वशित्वादिभिः सह सत्काम-
त्वादि सदभावोऽवगम्यते इति, तन्नोपपद्यते, वशित्वादीनामेव तत्र
परमार्थतः सदभावाभावात्, तदभावश्च “मनसैवानुदृष्टव्यं नेह
नानास्ति किञ्चन, मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति”
“एकधैवानुदृष्टव्यं एतदप्रमेयं ध्रुवम्” इति प्रकृतेन वाक्येन “स एष
नेतिनेत्यात्मा” इत्युत्तरेण चोपास्यस्य ब्रह्मणो निर्विशेषत्व प्रतीतेरव-
गम्यते, अतो वशित्वादयोऽपि स्थूलत्वाणुत्ववन्निषेध्या इति प्रतीयंते,
अत एव छांदोग्येऽपि सत्यकामत्वादयो न ब्रह्मणः पारमार्थिका गुणा
उच्यंते, अतोऽपारमार्थिकत्वादेवंजातीयकानां गुणानां मोक्षार्थपूपा-
सनेषु लोप इति—तत्राह—

आपत्ति की जाती है की—वाजसनेयक में जो वशिता आदि गुणों के
साथ सत्यकामता आदि गुणों की प्रतीति बतलाई, वह संभव नहीं है ।
क्योंकि—वहाँ वशिता आदि का परमार्थिक भाव नहीं है । “मन से ही
उसे जानना चाहिए, जगत् में कोई भिन्नता नहीं है, जो भिन्नता देखता
है वह मृत्यु के बाद मृत्यु प्राप्त करता है” अप्रमेय और ध्रुव इस ब्रह्म को
एक ही समझो ‘ इस पारमार्थिक वाक्य से’ वही यह आत्मा नेति नेति
कहा जाता है” इत्यादि परवर्ती वाक्य में, निर्विशेषता की प्रतीति होती

है। इसलिए वशिता आदि भी, स्मृतता अणुता आदि की तरह भिन्न ही प्रतीत होते हैं, अर्थात् इनका अभाव प्रतीत होता है। इससे निश्चित होता है कि-छांदोग्य में भी, सत्यकामता आदि ब्राह्म गुण, पारमार्थिक नहीं हैं। ऐसे अपारमार्थिक गुणों का, मोक्ष संबंधी उपासनाओं में कोई अस्तित्व नहीं है। इसका उत्तर देते हैं—

आदरादलोपः ।३।३।३६॥

ब्रह्मगुणत्वेन प्रमाणान्तरा प्राप्तानां गुणानामेषां सत्यकाम-
त्वादीनां "तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्" एष आत्माऽब्रह्मपाप्मा
विजरोविमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः
सर्वस्यवशी सर्वस्येशानः" एष सर्वेश्वर एष भूताधिपति-
रेषभूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय" इत्यादिभि-
रनयोः श्रुत्योरन्यासु च मोक्षार्थोपासनोपास्यब्रह्मगुणत्वेन
सादरमुपदेशादेवामलोपः, अपितूपसंहार एव कार्यः

ब्रह्म के गुण रूप से, इन सत्यकाम आदि गुणों की प्रतीति किन्हीं
अन्य प्रमाणों से नहीं होती. अपितु-"उसमें जो अन्तस्थ है वही अन्वेषणीय
है" यह आत्मा-निष्पाप, जरा-मृत्यु-शोक-मूल-व्यास रहित, सत्यकाम धीर
सत्यसंकल्प है "सबको वश में करने वाला सर्वेश्वर है" "यही सर्वेश्वर,
भूताधिपतियों का पालक, लोकमर्यादा का रक्षक आधाररूप सेतु है"
इत्यादि शास्त्रीय वचनों से ही प्रतीत्य हैं, इन्हें अन्य वाक्यों में भी, मोक्ष
संबंधी उपासना के उपास्यगुणों के रूप में, सादर स्मरण किया गया है,
इसलिए मोक्षार्थ में इनके अस्तित्व को न स्वीकारना अज्ञान ही है। अपितु
मोक्ष के लिए इनका उपसंहार करना चाहिए।

छांदोग्ये तावत्-"तद् य इहात्मानमनुविद्यन्नजन्त्येतांश्च सत्यान्
कामान् तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" इति सत्यकामत्वादि
गुणविशिष्टस्य ब्रह्मणोवेदनमभिधाय "अथ ह इहात्मानमनुविद्य-
न्नजन्त्येतांश्च सत्यान्कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति"

इत्यवेदननिन्दा क्रियमाणा गुणविशिष्टवेदनस्यादरं दर्शयति । तथा वाजसनेयके-“सर्वस्य वशो सर्वस्येशानः “एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेव भूतपालः” इति भूयोभूय ऐश्वर्योपदेशाद् गुणेष्व्वादरः प्रतीयते । एवमन्यत्रापि । न च मातापितृसहस्रेभ्योऽपि वत्सलतरं शास्त्रं प्रतारकवदपारमार्थिकात्त्रिरसनीयान् गुणान् प्रमाणान्तरा प्रतिपन्नानादरेणोपदिश्य संसारचक्र परिवर्त्तनेन पूर्वमेव बभ्रम्यमाणान् मुमुक्षून् भूयोऽपि भ्रमयितुमलम् ।

छांदोग्य मे “जो इनकी आत्मरूपता और सत्यकामादि विशेषताओं को जानकर प्रयाण करता है, वह सभी लोकों में यथेच्छ विहार कर सकता है” ऐसे सत्यकामता आदि विशेषताओं वाले परब्रह्म की वेद्यता बतलाकर “जो इस लोक में इनकी आत्मता और सत्यता आदि को न जानकर प्रयाण करता है, वह सभी लोक में यथेच्छ विचरण नहीं कर सकता” इत्यादि से न जानने वालों की अज्ञानता को निन्दा करके, इन गुणों से विशिष्ट वेद्य के प्रति आदर प्रकाश किया गया है तथा वाजसनेय में-“सबको वश करने वाला सबका स्वामी है “यही सर्वेश्वर यही भूताधिपतियों का स्वामी भूतपाल है” इत्यादि वाक्यों से बार बार, उपास्य के ऐश्वर्य की प्रशंसा करते हुए आदर प्रकाश किया गया है । ऐसा ही अन्यत्र भी है । ऐसा तो हो नहीं सकता कि-हजारों माता पिताओं से भी अधिक वात्सल्य प्रकाश करने वाले शास्त्र प्रतारणा देने वाले शासक की तरह, अपारमार्थिक विरोध करने योग्य प्रमाणांतरों से सिद्ध गुणों का आश्चर्यपूर्वक उपदेश देकर, संसारचक्र में पहिले से ही भ्रमित मुमुक्षुओं को पुनः भ्रम में डाल दें ।

“नेह नानास्ति किञ्चन” एकधैवानुद्रष्टव्यम्” इति तु सर्वस्य ब्रह्मकार्यत्वेन तदात्मकत्वादेकधाऽनुदर्शनं विद्याया ब्रह्मणात्मकत्वेन पूर्वसिद्धानानात्वदर्शनं निषेधयतीत्ययमर्थः प्रागेव प्रपञ्चितः । “स एष नेतिनेत्यात्मा” इत्यत्र चेति शब्देन प्रमाणांतर प्रतिपन्नं प्रपञ्चाकारं परामूरय न तथाविधं ब्रह्मेति, सर्वात्मभूतस्य ब्रह्मणः

प्रपञ्चविलक्षणत्वं प्रतिपाद्यते, तदेव चानन्तरमुपपादयति—“अप्राहो नहि गृह्यतेअशीर्षो नहि शीर्षंते असंगोनहि सज्यते अव्यथितो न व्यथते न रिष्यति” इति । प्रमाणान्तरग्राह्यविसजातोयत्वान्न विसोयंते एवमुत्तरत्रानुसंधेयम् । छांदोग्येऽपि—‘नास्य जरयैतञ्जीयंति न वधेनास्य हन्यते एतसत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन् कामाः समाहिताः” इति सर्वविसजातोयत्वं ब्रह्मणः प्रतिपाद्य तस्मिन् सत्यकामत्वादयो विधीयंते ।

‘नेहनानास्ति “एकधैवानु” इत्यादि वाक्य, ब्रह्म के कार्य रूप सारे जगत को तदात्मक अद्वैत बतलाकर ब्रह्मात्मक न मानकर की जाने वाली भिन्नता का निषेध करते हैं, ऐसा पहिले ही बतला चुके हैं । “स एष नेमिनेत्यात्मा” वाक्य में इति शब्द से प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से स्थूलभूक्ष्म जगत का उल्लेख करके, ब्रह्म वैसा नहीं है अपिन्तु वह समस्त प्रपञ्चमय जगत का अन्तर्गामी होते हुए भी, जगत से विलक्षण है, ऐसा प्रतिपादन किया गया है । उसी की अनन्तता का समर्थन करते हुए कहते हैं कि—“ब्रह्म, ग्रहण न करने योग्य अप्राह्य, शीर्षं न होने योग्य अशीर्षं, आसक्त न होने योग्य असंग, व्यथित न होने योग्य अव्यथित तथा च्युत न होने योग्य अच्युत है” इत्यादि वर्णन से ज्ञात होता है कि—शब्दातिरिक्त प्रमाणों से ज्ञेय वस्तुओं से, यह ब्रह्म, विसजातीय है, इसलिए ब्रह्म की जामकारी में एकमात्र शास्त्र ही प्रमाण है, वह एकमात्र उसी से ज्ञेय है । जो सारे पदार्थ विसजातीय हैं, वे सब शीर्षं होते हैं, ब्रह्म शीर्षं नहीं होता । इसी प्रकार छांदोग्य में भी वर्णन मिलता है कि—“न यह जरा से जर्जर होना है, न मारने से मरता है, यही सस्वरूप ब्रह्म का नगर है, इसीमें सारी कामनायें निहित हैं” इसमें भी सारे जगत को ब्रह्म से विसजातीय बतलाकर उन्हीं में सत्यकामता आदि गुणों को निहित बतलाया गया है ।

नन्वेमपि—“तद्य इहात्मानमनुविद्य अजग्येतांश्च सत्यान् कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति स यदि पितृलोक कामो भवति” इत्यादिना सत्यकामादिगुणविशिष्ट वेदनस्य, परविद्याफल

च "परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते" इतीदमेव । अतः सत्यकामत्वादयो ब्रह्मप्रेप्तोर्नोपसंहार्याः इति । अत उत्तरं पठति—

(तर्क) ऐसा होते हुए भी—"तद्य इहात्मानमनुविद्य" इत्यादि वाक्य से—सत्यकामादि गुणविशिष्ट ब्रह्म की उपासना के सांसारिक फलोल्लेख होने से इसे मुमुक्षुओं की सगुणोपासना भी नहीं कह सकते । और जो परा विद्या का फल है, वह "परंज्योति को प्राप्त कर अपने स्वरूप को प्राप्त करता है" इत्यादि में स्पष्ट कहा गया है । इसलिए जो मुमुक्षु हैं, उनके लिए, सत्यकामादि गुणों का उपसंहार, उपासनार्थ करना ठीक नहीं । इसका उत्तर देते हैं—

उपस्थितेऽस्तद्वचनान् । ३।३।४०॥

उपस्थितिः, उपस्थानम्, ब्रह्मोपसंपन्ने सर्वबंधविनिमुक्ते स्वेन रूपेणाभिनिष्पन्ने प्रत्यगात्मनि, अतएव-उपसंपत्तेरेवहेतोः सर्वेषु लोकेषु कामचार उच्यते "परंज्योतिरुपसंपद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते, स उत्तमः पुरुषः स तत्र पर्येति जक्षत् क्रीडन्रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा मोपजनं स्मरन्निदं शरीरं स स्वराड्भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" इति तदेतच्चतुर्थे निपुणतरमुपपादयिष्यते । अतः सर्वेषु लोकेषु कामचारस्य मुक्तोपभोग्यफलत्वात् । मुमुक्षोः सत्यकामत्वादयो गुणा उपसंहार्याः ।

उपस्थित का अर्थ है उपस्थापन (प्राप्ति) अर्थात् जो आत्म ब्रह्म संपन्न हैं, वह सब बंधनों से मुक्त अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त हैं । ऐसी ब्रह्म संपन्नता को प्राप्त व्यक्ति के लिए ही कामचार की बात कही गई है—"परंज्योति को प्राप्त कर अपने स्वरूप को प्राप्त करता है, वह उत्तम पुरुष अपने समीपवर्ती स्थूल शरीर को मूलकर, भक्षण, स्त्रीरमण, अश्वदि गमन, ज्ञातिजनों के साथ परिभ्रमण, आदि करते हुए लोकों में यथेच्छ भ्रमण करता है" इस भवस्या का वर्णन चतुर्थं पाद में विशेष रूप से करेंगे । सभी लोकों की यथेच्छ प्राप्ति, मुक्त पुरुष का उपभोग्य फल ही

है इसलिए सत्यकामता आदि का, मुमुक्षुओं के लिए, उपास्यरूप से उपसंहार करना चाहिए।

तन्निर्धारणनियमः तद्दृष्टेः प्रथम्यप्रतिबंधः फलम् ।३।३।४१॥

ओमित्येतदक्षरमुद्गीयमुपासीत्” इत्यादीनि कर्माङ्गाश्रयाण्युपासनानि कर्मांगभूतोद्गीयादिमुखेन जुह्वादिमुखेन पणंतादिवत् कर्मांगत्वेन निरुष्ठानुष्ठानानीत्युद्गीयाद्युपासन संबंधिणो “यदेव विद्ययाकरोति श्रद्धयोपनिपदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति” इति वर्तमान निर्देशस्य पणंतादिसंबंध्यापापरलोक श्रवणवत् प्रथक्फलत्वकल्पनायोगात् क्रतुपु नियमे नोपसंहार्याणि इति ।

यज्ञ कर्मांगजुहू जैसे पत्र के अर्थ में प्रयुक्त होता है वैसे ही ओं” अक्षर की उद्गीयावयव के रूप में उपासना करनी चाहिए” इत्यादि में उद्गीय को भी कर्मांग उपासना के रूप में विधान किया गया है, यह उपासना कर्मांग उपासना के रूप में ही प्रसिद्ध है। उद्गीय उपासना के संबंध में “विद्या या उपासना के साथ जो कर्म किया जाता है वही प्रबल होता है” इत्यादि में जो वर्तमान कालिक क्रिया “करोति” का प्रयोग किया गया है, उससे ज्ञात होता है कि—जैसे—“पणंभयी जुहू” में पापरलोक (अमंगल-कथन) श्रवण के अभाव की पृथक् फलरूप से कल्पना की गई है, वैसे कल्पना उक्त प्रसंग में नहीं है। इसलिए इस संपूर्ण उपासना का यज्ञकार्य में उपसंहार करना चाहिए।

सिद्धान्तः—“एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—तन्निर्धारणनियमः” इति निर्धारणं निश्चयेन मनसोऽवस्थापनं, ध्यानमित्यर्थः। तन्निर्धारणनियमः, कर्मसूद्गीयाद्युपासनानामनियमः, कुतः? तद्दृष्टेः उपलभ्यते हि उपासनानुष्ठानानियमः “तेनोभौ कुर्वतोपपरचैतद्देवं वेद यश्च न वेद” इत्यविदुषोऽप्यनुष्ठानवचनात् । न चांगत्वे सत्युपासनस्यानुष्ठानानियम उपपद्यते । एवमुपासनस्यानंगत्वे निश्चिते सत्युपासनविधेः फलाकांक्षायां रात्रिसन्न्यायेन वीर्यवत्तरत्वं

कर्मफलत् पृथग्भूतं फलमित्यवगम्यते । किमिदं वीर्यवत्तरत्वं ?
 कर्मफलस्यैवाप्रतिबंधः । प्रतिबध्यते हि कर्मफल प्रबलकर्मन्तरफलेन
 तावन्तं कालम् तदभावोऽप्रतिबंधः । स हि अप्रतिबंधः कर्मफलात्
 स्वर्गादिलक्षणात् प्रथग्भूतमेवफलम् । तदिमुच्यते—पृथग्ध्यप्रतिबंधः
 फलमिति । अतः कर्मांगाश्रयाणामपि पृथग्फलत्वाद्गोदोहनादिवत्
 कर्मसूदगीयाद्युपासनानामनियमेनोपसंहारः ।

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से "तन्निर्धारणानियमः" इत्यादि सूत्र
 प्रस्तुत करते हैं । निश्चित मनःस्थिति को निर्धारण अर्थात् ध्यान कहते
 हैं । यत्रकर्मों में उद्गीय आदि उपासना के कर्तव्य का कोई नियम नहीं
 है । ऐसा ही वर्णन मिलता है—“जो ऐसा जानते हैं और जो लोग नहीं
 जानते वे दोनों ही कर्म करते हैं” इत्यादि वाक्य में अज्ञाता के लिए भी
 कर्मानुष्ठान का नियम कहा गया है. इसे उपासना अनुष्ठान का कोई
 विशेष नियम समझ में नहीं आता । उपासना, यदि कर्मांग होती तो,
 किनी भी समय उसके अनुष्ठान का, अनियम न होता । उपासना को
 कर्मांगता अनिश्चित हो जाने पर उपासना विधि की फलाकांक्षा में “रात्रि-
 सन्न्यास” के अनुसार यह निश्चित होता है कि—कर्मफल से अधिक
 प्रबल फलवाली उपासना होती है, यही उक्त वाक्य का तात्पर्य है । इसकी
 प्रबलता क्या है? कर्मफल का प्रतिबंध न होना । प्रबल कर्मों के फल से,
 सामान्य कर्मों का फल निश्चित काल तक प्रतिबंधित होता है, जब की
 प्रबल कर्मों का फल अप्रतिबंधित रहता है । यह अप्रतिबंध, कर्म से प्राप्त
 स्वर्गादि प्राप्तिरूपफल, से निराला ही फल है । इसीलिए इसे पृथक्
 प्रतिबंध फल कहा गया । इसलिए उद्गीय आदि उपासना कर्मांगाश्रित
 होते हुए भी फलश्रुति के अनुसार विगिष्ट फलवाली हैं. “गोदोहनन्यास”
 के अनुसार संपूर्ण कर्मों में उद्गीय आदि उपासनाओं का उपसंहार करना
 चाहिए ।

१८ प्रदानाधिकरणः—

प्रदानवदेय तबुक्तम् । १।३।४२॥ .

बहुर विद्यायां 'तद्य' इहात्मानमुविद्य . व्रजन्त्येतां च सरयान्

किए गए हैं, जैसे कि-परविद्याओं में, अक्षर-शिव-शम्भु-परब्रह्म परज्योति, परतत्त्व, परमात्मा आदि शब्दों से निर्दिष्ट उपास्य, यहाँ उन्हीं शब्दों से अनूदित नारायण रूप से उपास्य कहे गए हैं, परविद्या प्रतिपादन अनेक धृतियों में जिन गुणों का उल्लेख किया गया है, वे ही सब गुण, यहाँ नारायण के लिए पुनः कहे गए हैं, इससे ज्ञात होता है कि-सभी विद्याओं के उपास्य नारायण ही अस्थूलता आदि विशेषित आनंद गुण वाले परब्रह्म हैं। इसके निर्णय में अनेक "लिंग" हैं। लिंग शब्द चिह्न का पर्यायवाची है, अर्थात् उस चिह्न के अनेक वाक्य मिलते हैं। वाक्य प्रकरण से प्रबल हैं। पूर्वमीमांसा के प्रथम काण्ड में इसका नियम इस प्रकार बतलाया गया है-श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या इन सभी कारणों के उपस्थित होने पर पूर्व की अपेक्षा पर कारणों से अर्थ करने से विलंब होता है इसलिए पूर्व से पर कारण निर्बल है।" जो यह कहा कि-"पद्मकोश प्रतीकाशं इत्यादि वचन दहरोपासना के शेष प्रकरण में आया है अतः उसी का बोधक है, सो बात भी नहीं है; बलवान लिंग प्रमाण द्वारा सर्वविद्योपास्यता के निर्णय हो जाने पर यह समझना चाहिए कि-दहरविद्या में वही नारायण, पद्मकोश में उपास्य कहे गए हैं।

नच "सहस्रशीर्षं" इत्यादि द्वितीया निर्देशेन पूर्वानुवाकोदितो-पासिना संबंध शंकोयः "तस्मिन्वदंतस्तदुपासितव्यम्" इत्युपासित गतेन कृतप्रत्ययेनोपास्यस्य कमणोऽभिहितत्वात् तदुपास्ये द्वितीयानु-पपत्तेः। "विश्वमेवेदंपुरुषः "तत्त्वं नारायणः परः" इत्यादि प्रथमा निर्देशाच्च प्रथमार्थे द्वितीया वेदितव्या। "अन्तर्बहिश्चतत्सर्वं ध्याप्यनारायणः स्थितः" तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः, सब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्" इति निर्देशैः सर्वस्मात् परोनारायण एव सर्वत्रोपास्य इति निर्णयमान-त्वाच्च प्रथमार्थे द्वितीयेति निश्चीयते।

सहस्रशीर्षम् में किये गए द्वितीया विभक्ति के निर्देश के आधार पर पूर्वानुवाक वर्णित उपासना के संबंध की शंका भी नहीं की जा सकती

सादनस्तोत्रशस्त्रप्रत्याहरणभक्षणत्वेन विद्यारूपस्यापि क्रियामय
क्रत्वंगतया क्रियारूपत्वं, तथेहापि ।

वाजसनेयक के अग्निरहस्य में मनश्चित्तादि अग्नियों का ऐसा
वर्णन मिलता है—“मनश्चिद्-वाक्चिद्-प्राणचिद्-नेत्रचित्-श्रौतचित्-
कर्मचित् और अग्निचित्” इत्यादि । इस पर संशय होता है कि-मनश्चिद्
आदि, मानस संकल्प संपादित विद्यारूप अग्नियाँ, क्रियामय यज्ञ संबंधी
क्रियायें हैं अथवा ज्ञानमय यज्ञ की अन्तर्भूत विद्या हैं ? इस पर कह सकते
हैं कि-क्रियारूप ही हैं “पूर्वं विकल्प” इत्यादि सूत्र में उक्त मत का ही
प्रतिपादन किया गया है ।

चयन योग्य अग्निरूप से परिकल्पित मनश्चित् आदि यज्ञ विशेष
में अंतर्भूत हैं ऐसी आशंका होती है, इनका यज्ञ प्रकरण में तो कोई यज्ञ
विधि रूप से उल्लेख मिलना नहीं । प्रकरण के पूर्व के “यह सारा जगत
असत् ही था” इत्यादि वाक्य में, इष्टचित् अग्नि का उल्लेख मिलता है
जिससे ज्ञान होता है कि-क्रियात्मक यज्ञ के साथ उस अग्नि का अव्य-
भिचारी (प्राकृत) संबंध है । इसलिये उक्त प्रसंग में भी क्रियामय यज्ञ
का प्रसंग समझना चाहिये । इस प्रसंग में कही गई मनश्चित आदि भी
यज्ञीय अग्नि के साथ प्रकरान्तर से कल्पित हैं, इसलिए क्रियारूप ही हैं ।
मानस अर्थात् चिन्तामय ग्रह की तरह मनश्चित् आदि ज्ञानात्मक होते
हुए भी क्रियात्मक यज्ञ से संबद्ध होने से क्रिया रूप ही कही जावेंगे ।
जैसे कि-बारह दिन में पूर्ण होने वाले यज्ञ में दसवें दिन मानसग्रह
(हवनीय द्रव्याधार पात्र विशेष मन) की कोई विधि (अर्थात् मन को
कैसे पात्र बनाया जाय) न होते हुए भी; मन से ही ग्रहण-उत्पादन
स्तोत्र-शस्त्र (स्तोत्र विशेष प्रत्याहरण और भक्षण का विधान बतलाया
गया है तथा विद्यारूप होते हुए भी इसे क्रियामय यज्ञ का अंग होने से
क्रियारूप माना गया है, वैसे ही उक्त प्रसंग है ।

श्रुतिदेशाच्च ।३।३।४५॥

इत्यश्चेष्टकचित्तेनाग्निना मनश्चित्तादीनां विकल्पः क्रियारूपत्वं
चावगम्यते—“तेषामेकैकएव तावान् यावानसी पूर्वं.” इति पूर्व-

स्पेष्टकचितस्याग्नेर्वीर्यं मनश्चित्तादिष्वतिदिष्यते, तेन तुल्यकार्यत्वाद् विकल्पः तश्चेष्टकचित्त्वत्तत्क्रतुनिर्वर्तनेन तदंगभूताः मनश्चित्तादयः क्रियामय क्रत्वनुप्रवेशेन, क्रियारूपा एवेति ।

इसलिए भी—इष्टकचित् आदि से—मनश्चित् आदि विकल्पों की क्रियारूपता ज्ञात होती है कि—“इन मनश्चित् आदि में एक एक का उतना ही परिमाण है जितना कि पूर्वोक्त अग्नि का परिमाण है” इत्यादि में—मनश्चित् आदि अग्नियों में, पूर्वोक्त यज्ञांग अग्नि का वीर्य अर्थात् फलसाधन शक्ति, अतिदिष्ट है । जब दोनों का एक सा ही कार्य है तो, इनमें तदनुरूप विकल्प भी होगा । इष्टकचित् अग्नि जैसे यज्ञ निर्वाहक है मनश्चित् आदि भी उसी प्रकार यज्ञ निर्वाहक हैं । इसलिए ये क्रियारूपा ही हैं ।

एवं प्राप्ते प्रचक्षमहे—इस पर सिद्धान्त प्रस्तुत करने हैं—

विद्यं व तू निर्धारणाद्दर्शनाच्च ।३।३।४६॥

तु शब्द. पक्षं व्यावर्त्तयति, यदुक्तं मनश्चित्तादयः क्रियामय क्रत्वनुप्रवेशेन क्रियारूपा एवेति, नैतदस्ति । विद्यारूपाएवैते—विद्यारूपक्रत्वन्वयिन इत्यर्थः । कुतः ? निर्धारणाद् दर्शनाच्च निर्धारणं तावत्—“ते ही ते विद्याचित् एव विद्यया हैवैते एवंविदश्चित्ता भवन्ति” इति । वाङ्मनश्चक्षुरादि व्यापारणामिष्टकादिवत् चयनानुपपत्तेर्मनसा संपादिताग्नित्वेन विद्यारूपत्वे सिद्धेऽपि “विद्याचित् एव” विद्यया हैवैते” इति चावधारणं विद्यामय क्रत्वन्वयेन विद्यारूपत्वज्ञापनार्थमिति निश्चीयते । दूरयते चात्रैवैषां शेषो विद्यारूपः क्रतुः “ते मनसैवाधोयन्तमनसैवाचोयन्तमनसैषु ग्रहा अग्रह्यन्त मनसास्तुवन्तु मनसाशमन यत्किं च यज्ञे कर्म क्रियते, यत्किञ्च यज्ञोयं कर्म मनसैव तेषु मनोमयेषु मनश्चित्सु मनोमयमक्रियते” इति । इष्टकचित्तेष्वग्निषु यत् क्रियामयं यज्ञोयं

कर्म क्रियते, तन्मनोनिर्वर्त्येषु मनश्चित्ताद्यग्निषु मनोमयमेवाक्रिय-
तेति वचनात् क्रतुरपि विद्यामयोऽत्र प्रतीयते ।

तु शब्द पक्ष का व्यावर्तक है । जो यह कहा कि-क्रियामय यज्ञ से संबद्ध होने से क्रियारूप हैं । सो ऐसा नहीं है ये विद्यारूप ही हैं अर्थात् विद्यामय यज्ञ से संबद्ध हैं । ऐसा ही शास्त्रों में उल्लेख है "ये अग्निर्यां विद्याचित् ही है क्योंकि ये ज्ञान संपन्न पुरुष से समाहृत हैं ।" वाक्यमनचक्षु आदि की क्रियायें कभी यज्ञीय अग्नि की तरह चयन नहीं की जा सकती, इसलिए इन अग्नियों को मनःकल्पित मानस अग्नि के रूप में ही समझना चाहिए । इस प्रकार इनकी विद्यारूपता सिद्ध हो जाने पर भी पुनः "विद्याचित् एवं" विद्या हैवैते" इत्यादि से इनकी विद्यारूपता का अवधारण किया गया है । जो कि इनकी विद्यामय संबंधी होने की पुष्टिमात्र है । ऐसा ही श्रुतिवाक्यों में अग्नियों के अगोरूप विद्यात्मक यज्ञ का उल्लेख भी मिलता है-"वे मन से ही ग्रध्य-यन करते है मन से ही चयन करते हैं मन के सहयोग से ही हवनीय द्रव्यों का संग्रह करते हैं मन से ही स्तव और मन से ही आशंसा करते हैं अधिक क्या यज्ञ में जो कुछ भी कर्त्तव्य है वे सब मनोमय चिन्तात्मक मनश्चित् यज्ञ में मनोमय ही होते हैं" इत्यादि में स्पष्ट बतलाया गया कि-इष्टकचित् अग्निनय यज्ञों में जो भी क्रियायें की जाती हैं वो सब मन से संपाद्य मनश्चित् आदि अग्नियों में, मनोमय ही की जाती है । इससे सिद्ध होता है कि-यहाँ भी विद्यामय यज्ञ का ही प्रसंग है ।

नन्वत्र विधिपदा श्रवणात् फलसंबंधाप्रतीतेश्चेष्टकचिताग्न्यु-
पस्थापितक्रियामयक्रतुप्रकरणात् विद्यामयक्रत्वन्वयेन विद्या-
रूपतैषां वाध्यते-नेत्याह-

(तर्क) उक्त प्रसंग में कोई विधिवाची पद या स्वतंत्र फल का निर्देश नहीं है, इसलिए क्रियामय यज्ञ का ही प्रकरण समझ में आता है क्रिया के साथ इनका संबंध भी दिखलाया गया है जिससे विद्यारूपता वाधित हो जाती है । इस तर्क का निरसन करते हैं-

श्रुत्यादिवलीयस्त्वाच्च न बाधः ।३।३।४७।।

श्रुतिलिगवाक्यानां प्रकरणाद्वलीयस्त्वेन श्रुत्याद्यवगतः क्रतुरेषां तदन्वयश्च दुर्बलेन प्रकरणेन बाधितुं न शक्यते । श्रुति-स्तावत् "तेहैते विद्याचित् एव" इति । तां विवृणोति—"विद्या हैवैते एवंविदश्चिता भवन्ति" इति । विद्याया विद्यामयेन क्रतुना संबद्धा मनश्चित्तादयश्चित्ता भवन्तीत्यर्थः 'तान् हैतानेव विदे सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्वन्त्यपि स्वपते' इति लिगम् । वाक्यं च "एवं विदे चिन्वन्ति" इति । समभिव्याहारो वाक्यम् । एवं विदे विद्यामय-क्रतुमते सर्वदा सर्वाणि भूतानि, चिन्वन्तीत्यर्थः सर्वभूतकर्तृकं सर्वकालव्यापि चयनं मनसा संपादित परिमितकर्तृकाल क्रियाम-येष्टकचितकार्यद्वारेण क्रत्वनुवेषश्च संभवमलभमानं विद्यामय क्रत्वनु-प्रवेशे लिगं भवति ।

श्रुति लिग वाक्य आदि प्रकरणों के बल से-श्रुत्यादि से ज्ञात यह कदापि बाधित नहीं हो सकता । श्रुति में जैसे-"ये सब विद्यामय ही हैं" इसका और भी विस्तार किया गया है जैसे-"इस प्रकार ज्ञान संपन्न व्यक्ति ममस्त अग्नियों को ज्ञान द्वारा ही चयन करना है" अर्थात् ज्ञान-मययज्ञ के साथ संबद्ध मनश्चित् आदि अग्नि, मानस चिन्तन द्वारा ही संपादित होती हैं । इसी अर्थ का बोधक लिग भी है-"ऐसे ज्ञान संपन्न व्यक्ति के लिए ही समस्त भूतवर्ग मदा, ममस्त अग्नियों का चयन करके सोते हैं ।" "एव विदे चिन्वन्ति" वाक्य भी उक्त लिग के अर्थ का ही प्राहक है-अर्थात् ऐसे विद्या संपन्न व्यक्ति के लिए ही ममस्त भूत ममुदाय चयन करते हैं । पद समाप्ति को ही वाक्य कहते हैं । ममस्त भूत ममुदाय से मन ही मन किया गया अग्निचयन कभी क्रियामय यज्ञ में संभव नहीं है-बोकोकि जिमका कर्ता, काल और क्रिया सभी परिमित हैं ऐसा मनः, संपादिन चयन, मनश्चित् आदि, विद्यामान यज्ञ का ही लिग है ।

यच्चेदमुक्तं-विधिप्रत्ययाश्रवणात् फलसंधंधाप्रतीतेरच क्रिया-मयात्क्रतोरन्यऽत्र विद्यामयः क्रतुनसंभवति-इति-तत्राह-

जो यह कहा कि-किसी प्रकार की विधि या प्रत्यय का उल्लेख नहीं मिलता और न फल विशेष का ही उल्लेख मिलता है इसलिए यह क्रियामय यज्ञ के अतिरिक्त-विद्यामय यज्ञ नहीं हो सकता । इसका उत्तर देते हैं—

अनुबंधादिभ्यः प्रज्ञांतर पृथक्त्ववदृष्टश्चतदुक्तम् । ३।३।४८॥

इष्टकचित्तान्वयिनः क्रियामयात् क्रतोर्विद्यामयोऽयं ऋतुः पृथक्त्वेन अनुबंधादिभ्यः पृथक्त्वहेतुभ्योऽवगम्यते । अनुबंधाः यज्ञानुबंधिनो ग्रहस्तोत्रशास्त्रादयः “मनसैषु ग्रहा अग्रह्यन्त मनसास्तुवंत मनसाशंसन्” इत्यादिता प्रतिपादिताः । आदि शब्देन श्रुत्यादयः पूर्वोक्ता गृह्यन्ते । श्रुत्यादिभिः सानुबंधः विद्यामयऋतुः पृथगवगम्यत इत्यर्थः प्रज्ञांतर पृथक्त्ववत—यथाप्रज्ञान्तरं दहरविद्यादि क्रियामयात् क्रतोः पृथग्भूतं श्रुत्यादिभिरवगम्यते, एवमयमपि । एवं चानुबंधादिभिः पृथग्भूते विद्यामये यज्ञोऽवगते सति विधिः परिकल्प्यते । दृष्टिश्चानुवाद सरूपेषु कल्प्यमानो विधिः । तदुक्तं— “वचनानित्वपूर्वत्वात्” इति । फलं च—“तेषामेकैक एव तावान् यावानसौ पूर्वः” इत्यतिदेशात् स्वऋतुद्वारेण फलमित्यवगम्यते ।

इष्टकचित् क्रियात्मक यज्ञ से, यह विद्यामय यज्ञ पृथक् है, ऐसा-पृथक्ता के ज्ञापक अनुबंधादि से ज्ञात होता है । यज्ञ संबंधी ग्रह को अनुबंध कहते हैं जो कि-स्तोत्र शास्त्र आदि हैं । जैसे कि—“मन ही मन ग्रहों का ग्रहण करते हैं तथा-मन ही मन स्तोत्र तथा आशंसा करते हैं” इत्यादि सूत्र में-आदि से तात्पर्य श्रुति इत्यादि से है; अर्थात् अनुबंध युक्त श्रुति आदि से-इस विद्यामय यज्ञ की पृथक्ता ज्ञात होती है । जैसे कि-श्रुतिलिग आदि प्रमाणों से’ दहर आदि अन्य विचारों जैसे क्रियामय यज्ञसे पृथक् प्रतीत होती हैं, वैसे ही यह भी है । अनुबंध आदि कारणों से विद्यामय यज्ञ की पृथक्ता सिद्ध हो जाने पर इस विषय में विधि कल्पना भी की जा सकती है । अनुवाद स्वरूप वाक्यों में विधि कल्पना देखी भी जाती है । ऐसा ही उल्लेख भी है—“अपूर्वं या प्रमाणांतर प्रसिद्ध विषय के

शापक सामान्य वचन भी विधिरूप से कल्पित हो सकते हैं। "पूर्ववर्ती यज्ञ जिस परिमाण में फलदायक है उमी परिणाम में ये सब, एक एक फलदायक हैं" इत्यादि में पूर्वोक्त क्रतुफल के अतिदेश से ज्ञात होता है कि-इष्टकचित अग्नि से जो फल प्राप्त होता है मनश्चित् आदि से भी वही मिलता है।

यत्पुनरतिदेशेन तुल्यकार्यत्वावगमात् क्रियामय क्रत्वनुप्रवेशो भवगम्यत इत्युक्तम् । तत्राह—

और जो यह कहा है कि-अतिदेश से दोनों की तुल्यकारिता प्रतीत होने से मनश्चित् आदि भी क्रियामय यज्ञ संबद्ध ही ज्ञात होने हैं। इसका उत्तर देते हैं—

न सामान्यादप्युपतब्धे मृत्युवन्न हि लोकापत्तिः । ३।३।४६॥

नावश्यमतिदेशादवान्तरव्यापारस्यापि तुल्यतया भवितव्यं येन क्रियामयक्रत्वनुप्रवेश एषां स्यात्, यस्मात्कस्माच्चित्सामान्य-मात्रादतिदेशोपलब्धेः । उपलभ्यते हि—“स एष एव मृत्युयं एष एतस्मिन् मंडलेपुरुषः” इत्यादिषु संहतृत्व्यादिसामान्यमात्रादतिदेशः, नहि तत्र मंडलपुरुषस्य मृत्युवत्तल्लोकापत्तिः, तद्देशप्राप्तिरपि भवति, एवमिहापि मनश्चित्तादीनामिष्टकचिताग्निवद् भावातिदेशमात्रे-णेष्टकचिताग्निदेशरूप क्रियामयक्रत्वनुप्रवेशेनापि न भवितव्यम् । अत इष्टकचिताग्नेः स्वक्रतुद्वारेण फलमित्यतिदेशादयगम्यते ।

अतिदेश के प्रधान कार्य में तुल्यता हो सकती है, उपकार्य में भी तुल्यता हो ऐसा कोई नियम नहीं है जिसके आधार पर मनश्चित् आदि को क्रियामय यज्ञ का अंग माना जा सके। किसी न किसी सामान्य सादृश्य में ही अतिदेश होता है। जैसे कि—“यह जो आदित्य मंडल में पुरुष है, यही वह मृत्यु है।” इसमें केवल संहारकर्तृत्व के सादृश्य के आधार पर अतिदेश है। मृत्यु का जो देश या काल है मंडल पुरुष उसे प्राप्त भी करे ऐसा कोई सादृश्य नहीं है। इसी प्रकार यहाँ भी मनश्चित्

आदि का इष्टकचित् से साधर्म्य मात्र में ही अतिदेश है; इष्टकचित् अग्नि स्थानीय मनश्चिदादि भी हैं इसलिए क्रियामय यज्ञ में उनकी गणना की जाय ऐसा कोई सादृश्य नहीं है। इष्टकचित् अग्नि की यज्ञ क्रिया से जो फलावाप्ति होती है वही मनश्चिदादि विद्यामय क्रिया से भी सहज प्राप्त हो जाती है, यही उक्त अतिदेश का तात्पर्य है।

परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्स्वनुबंधः ।३।३।५०॥

परेण च ब्राह्मणेनास्यापि मनश्चिताद्यभिधायिनः शब्दस्य ताद्विध्यं—तद्विधत्वं, विद्यामय प्रतिपादित्वमवगम्यते। परेण हि ब्राह्मणेन “अयं वाव लोक एषोऽग्निचितस्तस्याप एव परिश्रिताः” इत्यादिना “स यो हैतदेवं वेद लोकं पृणानामेनं भूतमेतत्सर्वं मभिसंपद्यते” इति पृथक्फलविद्यैव विधीयते, तथा वैश्वानर विद्यादौ च विद्यैव विधीयते। अतोऽग्निरहस्यस्य क्रियैकविषयत्वं नास्ति। एवं तर्हि विद्यामया मनश्चितादयो बृहदारण्यकेऽनुबद्धव्याः, किमर्थमिहानुबध्यन्ते, तत्रोच्यते भूयस्त्वात्स्वनुबंधः, इति। मनश्चितादिषु संपादनोपानामग्न्यंगानां भूयस्त्वात्सन्निधाविहानुबंधः कृतः।

परवर्ती ब्राह्मण वाक्य के, मनश्चिदादिवोधक शब्दों से विद्यामय यज्ञ की प्रतिपादकता ज्ञात होती है। जैसा कि—“यह लोक ही अग्निचित् है जल इसे परिवेष्टित किये हैं” जो इसको उक्त प्रकार से जानते हैं वे जागतिक वृत्तियों को प्राप्त करते हैं” इत्यादि से पृथक् फल विद्या का विधान किया गया है। इसी प्रकार वैश्वानर आदि विद्याओं का भी पृथक् निर्देश किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि—क्रियानुष्ठान ही अग्नि रहस्य का एकमात्र विषय नहीं है। आप कह सकते हैं कि—यदि ऐसा ही था तो बृहदारण्य में इसका उल्लेख होना चाहिए था, कर्मकाण्ड के प्रकरण में इसके उल्लेख का क्या प्रयोजन है? इसका उत्तर सूत्रकार “भूयस्त्वादनुबंधः” इस सूत्रांश से देते हैं अर्थात्—मनश्चिदादि अग्नियों में, यज्ञांग अग्नियों, अधिकांश में विद्यमान हैं, इसलिए इनका इस प्रकरण में उल्लेख है।

२१. शरीरेभावाधिकरणः—

एक आत्मनः शरीरे भावात् ।३।३।५१॥

सर्वाम्बु परविद्यासूपास्योपासनस्वरूपब्रह्मपासकस्वरूपस्यापि ज्ञातव्यत्वमुक्तं—“व्याणामेव चैवमुपन्यामः प्ररनश्च” इति वक्ष्यति चास्य प्रत्यगात्मनः परमात्मकत्वेवानुसंधानम् “आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च” इति । किमयं प्रत्यगात्मा ज्ञाताकर्त्ताभोक्तेहामुत्र-संचारक्षमोऽनुसंधेयः, उत प्रजापतिवाक्योदितापहतपाप्मत्वादि-स्वरूपः ? किं युक्तम् ? ज्ञातृत्वाद्याकारमात्र इत्येके मन्यन्ते, कुतः ? अस्योपासकस्यात्मनः शरीरेभावात्, शरीरे वर्तमानस्य तादृशमेव-रूपम्, तावतैवानुसंधानेन तत्फलसिद्धयुपपत्तेश्च । नहि कर्मन्व-धिकृतानां स्वर्गादिकलायिनां ज्ञातृत्वाद्यतिरेकेण फलानुभवदशायां यादृशं रूपम्, तादृशं रूपं साधनानुष्ठानदशायामनुसंधातव्यम्, तावतैव साधनानुष्ठानतत्फलयोः सिद्धेरतिरिक्तानुसंधाने प्रयोजना-भावात्, तद्विशेषादिहापि तथैव । ननुचात्र “यथाक्रतुरस्मिन्लोकं पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति” इति विशेषवचनादपहतपाप्म-त्वाद्याकार एवानुसंधातव्य इत्यवगम्यते, मैवम् “त यथाययोपासते” इत्युपास्यविययत्वात्तस्य ।

सभी परविद्याओं में उपास्य और उपासनाओं के स्वरूप को तरह उपासक के स्वरूप को भी ज्ञातव्य कहा गया है । “तीनों के स्वरूप के विस्तार का प्रश्न किया” इत्यादि से यही मत स्पष्ट होता है । “आत्मे-तितूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च” सूत्र भी जीवात्मा में परमात्मभाव के विन्तन का विधान बतलाता है । इस पर सत्य होता है कि—यह जीवात्मा ही ज्ञाता कर्त्ता भोक्ता तथा इहलोक परलोक क्षम कहा गया है अथवा प्रजा-प्रति वाक्य में निष्पापता आदि गुणों वाला कहा गया है ? इस पर एक का कथन है कि—ज्ञातृत्वादिद्विदिष्ट जीवात्मा ही यहाँ विवक्षित है।

जैसे कि—ब्रह्मोपलब्धि, ब्रह्मस्वरूपविषया होने पर ही यर्थाय रूप से संभव है, वैसे ही आत्मोपलब्धि भी, आत्मस्वरूपविषया होने पर ही यथार्थ हो सकती है। कर्मानुष्ठान में, आत्मचित्तन कर्म का ही एक अंग है "स्वर्ग की कामना से यज्ञ करना चाहिए" इत्यादि में शुद्ध कर्मानुष्ठान ही फलोत्पादन में विहित है। देहातिरिक्त ज्ञातृत्वादिविशिष्ट आत्मा की जो अनुभूति होती है, वह कालान्तर में होने वाले, फल के उपाय स्वरूप कर्माधिकार की द्योतिका मात्र होती है, वहीं इसकी अपेक्षा रहती है

२२ अंगवद्वयाधिकरणः—

अंगवद्वयास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम् ।३।३।५३॥

“ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत्” लोकेषुपंचविधंसामोपासीत्” उक्थमुक्थमिति वै प्रजावदन्ति तदिदमेवोक्थम इयमेश पृथ्वी “अयंवाव लोक एषोऽग्निचित्” इत्येवमाद्याः ऋत्वंगाश्रया उपासना भवन्ति, ताः किं यासु शाखासु श्रूयन्ते, तास्वेव नियताः, उत सर्वासु शाखासुद्गीथादिषु संबध्यन्त इति विचारः। सर्ववेदांत प्रत्ययत्वे स्थितेषु प्रतिवेदं स्वरभेदाद्दुद्गीथादयो भिद्यन्ते इति तत्र तत्र व्यवतिष्ठेरन्निति युक्ता शंका किं युक्तम्? व्यवतिष्ठेरन्निति, कुतः? “उद्गीथमुपासीत्” इति सामान्येनोद्गीथ संबंधितया श्रुतायास्तस्याभेवशाखायां स्वरविशेषयुक्तस्योद्गीथविशेषस्य सग्निधानात्स्मिन्नेव विशेषे पर्यवसानं युक्तमिति एवमाद्यास्तास्वेव शाखासु व्यवतिष्ठेरन्निति ।

“ओम इस अक्षर की उद्गीथ रूप से उपासना करो” “लोकों में पांच प्रकार के साम की उपासना करनी चाहिए” प्रजा जिसे उक्थ कहती है, वह उक्थ ही पृथ्वी है “यही लोक में ‘अग्निचित् है” इत्यादि यज्ञांग उपासनायें हैं। प्रश्न होता है कि—ये जिन शाखाओं में कही गई हैं वहीं के लिए नियत है, अथवा सभी शाखाओं में उद्गीथ भादि में संबद्ध हैं? की सकते हैं कि—जहाँ जहाँ वर्णन है वहीं नियत हैं। जैसे—“उद्गीथमुपासीत्”

इत्यादि में सामान्यतः उद्गीथ संबन्धी उपासना मुनी जाती है, किसी शाखा में स्वरविशेष युक्त उद्गीथ विशेष का उल्लेख मिलता है। इसलिए ऐसी ही अन्यान्य उपासनार्थों भी अपनी अपनी शाखाओं में ही विशेष उपयुक्त हैं। उपासना का उसी में पर्यवसान उपयुक्त है।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्ते प्रचक्षमहे—“अंगाववद्धास्तु” इति। तु शब्दः पक्ष व्याचर्त्तयति, नहि उद्गीथाद्यगाववद्धा उपासनास्तास्वेव शाखासुव्यवतिष्ठेत्, अपितु प्रतिवेदं संवध्येरन् सर्वासु शाखास्वित्यर्थः। हि शब्दो हेतौ। यस्माच्छ्रुत्यैवोद्गीथाद्यंगमाशाववद्धा, तस्माद्यशोद्गीथादयः, तत्र सर्वत्र संवध्येरन् यद्यपि स्वरभेदेनोद्गीथ व्यक्तयोभिद्यन्ते, तथापि सामान्येनोद्गीथ श्रुत्या सर्वाव्यक्तयः सन्निहिता इति न क्वचिद् व्यवस्थायां प्रमाणमस्ति। सर्वशाखाप्रत्ययन्यायेन च सर्वासु शाखासु क्रतुरेकः। अतः सर्वासु शाखास्वेकस्य क्रतोः सन्निधानात् क्रवंगभूतोद्गीथादयोऽपि सन्निहिता इति नैकस्य सन्निधिविशेषोऽस्तीति न व्यवस्था।

इस पर सूत्रकार सिद्धान्तरूप से “अंगाववद्धास्तु” इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं। तु शब्द शंका का समाधान करता है। उद्गीथ आदि उपासनार्थों केवल उन्हीं शाखाओं में ही युक्त नहीं हैं अपितु हर श्रुति से संबद्ध हैं अर्थात् सभी शाखाओं से संबद्ध हैं। जिन कारणों से श्रुति में इन्हे शाखामात्र से आवद्ध बतलाया गया है, उन्हीं कारणों से उद्गीथ को भी सभी शाखाओं से संबद्ध कहा गया है। यद्यपि स्वर भेद से प्रत्येक शाखा में उद्गीथ भिन्न भिन्न रूप से वणित है फिर भी सामान्य रूप से उद्गीथ नाम सभी शाखाओं में एक ही उपासना का वाचक है उपासना संबन्धी व्यवस्था का कहीं कोई प्रमाण नहीं है। “सर्वशाखाप्रत्ययन्याय” से ज्ञात होता है कि—समस्त शाखों का यज्ञ एक है, सभी शाखाओं में एक ही यज्ञ के सानिध्य होने से, उसी यज्ञ को अंगरूप उद्गीथ आदि स्वतः ही वहाँ सन्निहित रहती हैं, इनकी शाखाओं में, कोई स्वतंत्र स्थिति तो रहती नहीं जिससे इनकी भिन्न व्यवस्था की जा सके।

मंत्रादिवद्वाऽविरोधः ।३।३।५५॥

वा शब्दश्चार्थे, आदिशब्देन, जातिगुणसंख्यासादृश्यक्रमद्रव्य कर्माणि गृह्यन्ते, यथा मंत्रादीनामेकैकशाखास्वान्नातानामपि शेषिणः क्रतोः सर्वशाखास्वेकत्वेन यथायथं श्रुत्यादिभिः सर्वासु शाखासु विनियोगो न विरुध्यते तद्वदिहाप्यविरोधः ।

मूत्रस्थ वा शब्द च अर्थ में प्रयुक्त है । आदि शब्द, जाति-गुण-संख्या-सादृश्य-क्रम-द्रव्य और कर्म का ग्राहक है । मंत्र आदि का जैसे शाखा विशेष में पठित होते हुए भी, उनके अंगी, प्रघात यज्ञ के, सभी शाखाओं में एक होने से उनका सभी शाखाओं में विनियोग करना विरुद्ध नहीं होता; वैसे ही यहाँ भी उक्त यज्ञांग उपासनाओं का कोई विरोध नहीं होता ।

२३-भूमज्यायस्त्वाधिकरणः—

भूमन्ः कतुवज्ज्यायस्त्वं तथाहि दर्शयति ।३।३।५५॥

“प्राचीनशाल श्रीपमन्यवः” इत्यारभ्य वैश्वानरविद्या प्राप्ताता, तत्र वैश्वानरः परमात्मा त्रैलोक्यशरीर उपास्यः श्रुतः स्वलोकादित्यवाग्वाकाशाष्पृथिव्यवयवः, तत्र च धीमूर्धा, आदित्य इचक्षुः, वायुः प्राणः, आकाशः संदेहः मध्यकाय इत्ययं, आपो वस्तिः, पृथ्वीपादावित्यवपवविशेषाः । तत्र संशयः, किमस्य त्रैलोक्य शरीरस्य व्यस्तस्योपासनं कर्तव्यम् उत व्यस्तस्य समस्तस्य च अथ समस्तस्यैवेति? किं युक्तम्? व्यस्तस्येति, कुतः? उपक्रमे व्यस्तोपासनो-पदेशात् । तथाहि उपदिश्यते श्रीपमन्यवादयः किलोद्दालकपष्ठाः केकयमरवपतिमुपसद्य “आत्मानमेवेमं वैश्वानरं संप्रत्यष्येवितमेव नो ब्रूहि” इति पप्रच्छुः । स च तेभ्यः प्रत्येकं स्वोपास्यान् द्युप्रभृतोनुक्त-मद्भ्यो मूर्धादिषु व्यस्तेषुपासनं तत्र तत्र फलं चोक्तवान् “अत्यर्घं

वश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानर-
मुपास्ते मूर्धात्वेष आत्मन इति एष वै सुतेजा आत्मा वैश्वानरः”
इत्यादिना । तेषुतेपूपासनेपूपास्यस्य वैश्वानरत्वं चाह । अतो
व्यस्तस्योपासनं कर्तव्यम् ।

“प्राचीनशाल” आदि में जो वैश्वानर उपासना का उपदेश है
उसमें, वैश्वानर परमात्मा त्रैलोक्य शरीर वाला उपास्य कहा गया
है । उसमें भी-द्युलोक-आदित्य-वायु-आकाश-पृथ्वी आदि अणवयव
रूप से बतलाए गए हैं, द्युलोक उनका मूर्धा, आदित्यनेत्र वायु प्राण,
आकाश मध्य शरीर, जल कटि प्रदेश, पृथ्वी चरण स्थानीय है ।
इस पर संशय होता है कि-त्रैलोक्य शरीर वैश्वानर के प्रत्येक अंग
की पृथक् पृथक् उपासना करनी चाहिए अथवा अणवयव और संपूर्ण देह
दोनों की करनी चाहिये या केवल समस्तदेह ही की करनी चाहिए? कह
सकते हैं कि-अलग अलग अंगों की ही करनी चाहिए, उपक्रम में ऐसा ही
उपदेश दिया गया है । उदाहरण को लेकर उपमन्यु आदि छःव्यक्ति कैकेया-
धिपति राजा अश्वपति के यहाँ गए और जिज्ञासा की कि-“इस समय केवल
आप ही वैश्वानर आत्मा के ज्ञाता हैं, हमें उसके स्वरूप का उपदेश करिये”
इसके बाद उन लोगों ने अपने अपने उपास्य द्युलोक आदि का उल्लेख
किया तब अश्वपति ने उन सब को उन अंगों की उपासना और उसका
फल का माहात्म्य बतलाया “वे उपासक, अन्न का भोग करते हैं, प्रियदर्शन
करते हैं, उनके वंश में ब्रह्म तेज संपन्न व्यक्ति जन्म लेते हैं, जो ऐसी वैश्वान-
र की उपासना करते हैं” इत्यादि से उन उपासनाओं में उपास्य,
वैश्वानरत्व की ही सिद्धि की । इससे स्पष्ट होता है कि-अलग
अलग उपासना ही करनी चाहिए ।

परत्र “यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानर-
मुपास्ते” इति । द्युप्रभृतिप्रदेशावच्छिन्नमात्रे वैश्वानरे उक्तस्य
मूर्धाद्युपासनस्य समासेनोपसंहार इत्यवगंतव्यं अपर आह-एवमेव
समस्तस्याप्युपासनं कार्यमिति, पृथक्फलनिर्देशात् “यस्त्वेतमेवं
प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु

वात भी है। इसलिए समस्त उपासना ही न्याय्य है व्यस्त उपासना नहीं।

तथाहि दर्शतीयं श्रुतिः व्यस्तोपासने अनर्थं ब्रुवती—“भूर्वा ते व्यपतिष्यद्यन्मां नागमिष्यः” इति “अन्धोऽभविष्यो यन्मां नागमिष्यः” इत्यादिका। अत इदमप्यपास्तं यन्नामाद्युपासन साम्यमुक्तम्। तत्र हि नामाद्युपासनेष्वनर्थो न श्रुतः, नामाद्युपासनेभ्यो भूमोपासनस्यातिशयितफलत्वं श्रुतम् “एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति” इति। तत एव तत्र भूमाविद्यापरत्वेऽपि वाक्यस्य नामाद्युपासनानां सफलानां विवक्षितत्वं, अन्यथाऽतिशयितफलत्वनिमित्तातिवादेन भूमविद्यास्तुत्यनुपपत्तेः, अतः समस्तोपासनमेव न्यायम्।

श्रुति भी व्यस्तोपासना की अनिष्टता बतलानी है—“यदि तुम मेरे निकट न आते तो तुम्हारा मस्तक गिर जाता” यदि तुम न आते तो अंधे हो जाते” इत्यादि। नाम आदि उपासना के साथ साम्य कहा गया है, यह कथन भी उक्त विवेचन से निरस्त हो जाता है वहाँ जो नाम आदि की उपामना कही गई है, उसका कोई अनिष्ट फल नहीं बतलाया गया है, नाम आदि उपासना के बजाय भूमा उपासना के फलाधिकार का उल्लेख मिलता है। जैसे की—“जो सत्य बोलते है वे अतिवादी हैं” भूमा विद्या के प्रतिपादक वाक्य से, नामादि की उपासना और उसका फल विवक्षित है। अन्यथा अतिशयित फल बतलाने वाला अतिवादी वाक्य भूमा विद्या का स्तुत्यवाक्य नहीं हो सकता। इसलिए समस्तोपासना ही न्याय है।

२४. शब्दादिभेदाधिकरणः—

नाना शब्दादिभेदात् ।३।३।५६॥

इह ब्रह्मविद्याः सर्वाः ब्रह्मप्राप्तैकरूपमोक्षकफलाः सद्ब्रह्मविद्या-

भूमविद्यादहरविद्योपकोसलविद्याशांडिल्यविद्यावैश्वानरविद्यानंदमय-
विद्याक्षरविद्यादिकाएकशाखागताःशाखांतरगताश्चोदाहरणम्, प्रत्याः
प्राणद्येकविषयफलाश्च । किमत्र विद्यैक्यम् उत विद्याभेद इति
संशय्यते ? अत्रैवासां परस्परभेदे समर्थिते सति एकस्या
दहरविद्यादिकायाः सर्ववेदांतप्रत्ययन्यायः । किं युक्तम्
विद्यैक्यमिति, कुतः ? वेद्यस्य ब्रह्मण एकत्वात्, वेद्यं हि विद्याया
रूपम्, अतोरूपैक्यात् विद्यैक्यमिति ।

सद्विद्या-भूमाविद्या-दहरविद्या-उपकोसलविद्या-शांडिल्यविद्या-
वैश्वानरविद्या-आनंदमयविद्या-अक्षरविद्या आदि सभी विद्याओं का एक-
मात्र फल, ब्रह्म प्राप्ति रूप मोक्ष ही है । ये विद्यायें चाहे एक शाखागत
हो या विभिन्न शाखागत हों, इस सूत्र में सभी पर विचार किया जायेगा ।
एक विषयक और एक फल वाली प्राण आदि पर भी विचार प्रस्तुत करेंगे।
सशय करने हैं कि-ये विद्यायें एक हैं या भिन्न ? इनके परस्पर भेद का
समर्थन होने से, दहर विद्या आदि प्रत्येक का सर्ववेदांत प्रत्यय ही न्याय्य
है । कत्र सकते हैं कि-विद्यायें सब एक हैं, क्योंकि सत्रका उपास्य एक है,
वेद्य ही तो विद्या का रूप होता है, इसलिए वेद्यैक्य होने से विद्यैक्य
होगा ।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्तेऽभिधीयते—नाना इति । नानाभूता
विद्याः, कुतः ? शब्दादिभेदात्—प्रादिराब्देनाभ्याससंख्यागुणप्रक्रिया
नामधेयानि गृह्यन्ते, शब्दान्तरादिभिरत्र विधेयभेदहेतयोऽनुबंध
भेदाः दृश्यन्ते, यद्यपि वेदोपासीत्येत्यादयः शब्दाः प्रत्ययावृत्यभिधा-
यिनः, प्रत्ययाश्च ब्रह्मैकविषयाः, तथापि तत्प्रकरणोदित जगदेक-
कारणत्वापहतपाम्पत्वादिविद्योपणविराष्टब्रह्मविषयप्रत्ययावृत्यबोधिनः
प्रत्ययावृत्तिरूपाः विद्या भिन्दन्ति । ब्रह्मप्राप्तिरूपफलसंबन्धु-
पासनविशेषाभिनायोनि न निराकांक्षाणि वाक्यानि प्रति-
प्रकरणविलक्षणविद्याभिधायोनीति निश्चीयते । अस्मिन्नर्थे—

उक्त मत पर सिद्धान्त बतलाते हैं कि-किसी एक के ही अनुष्ठान का विधान है, सबके अनुष्ठान का नहीं। सभी उपासनाओं का एकसा ही फल होता है, अर्थात् सभी ब्रह्मविद्याओं का अत्यधिक आनंदब्रह्मानुभव रूप फल, सामान्य रूप से बतलाया गया है। “ब्रह्मवेत्ता परब्रह्म को प्राप्त करता है” वह ब्रह्मज्ञ और निष्काम श्रोत्रिय का आनंद है “दिव्यदर्शी पुरुष जब, सुवर्णवर्ण वाले जगत्कर्त्ता और वेद प्रसू पुरुष जगदीश्वर को देख लेता है, तब वह विद्वान् पुण्यपाप से छूटकर निर्दोष होकर, अनिर्वचनीय सर्वोत्तम ब्रह्म की समता प्राप्त करता है।” इत्यादि ब्रह्म स्वयं या दूसरे के द्वारा अनुभूत होने पर अतिशय आनंद प्रदान करता है। उसका वैसा अनुभव जब एक ही विद्या के अनुष्ठान से हो जाता है तो अनेक विद्याओं की उपासना की आवश्यकता ही क्या है? इससे सिद्ध होता है कि-सभी की उपासना संभव नहीं है। स्वर्ग आदि तो देश काल स्वरूप से परिमित हैं, इसलिए देश कालादि की तरह उनमें वृद्धि ह्रास भी संभव हैं, इसलिए अनेक कर्मानुष्ठानों की आवश्यकता होती है, किन्तु अपरिमित ब्रह्म में तो वैसी संभावना नहीं है। जब सभी विद्यायें, ब्रह्मानुभूति के प्रतिबंधक अज्ञान का निवारण कर ब्रह्मप्राप्ति कराती हैं तो सभी की उपासना के अनुष्ठान का प्रयोजन ही क्या है? अपितु किसी एक के अनुष्ठान से ही फलावाप्ति हो जायगी।

ब्रह्मप्राप्तिव्यतिरिक्तफलाविद्याः स्वर्गादिफलकमंबद् यथेष्टं विकल्पेन, समुच्चोयेरन्वा, तासां परिमितफलत्वेन भूयस्त्वापेक्षा-विभवात् । तदाह—

जो विद्यायें, ब्रह्मप्राप्ति से भिन्न काम्यफल की साधिका हैं, वह तो इच्छानुसार समुच्चय रूप से या वैकल्पिक रूप से अनुष्ठेय हो सकती हैं क्यों कि-उनका तो परिमित फल होता है, अतः उनमें वाङ्मय भी अपेक्षित हो सकता है? इसका उत्तर देते हैं—

काम्यास्तु यथाकामं समुच्चोयेरन्त वा पूर्वहेत्वभावात् ।३।३।५॥

अपरिमित फलत्वाभावादित्यर्थः ।

काम्य विद्याओं का अनुष्ठान, समुच्चय या विकल्प किसी भी प्रकार किया जा सकता है, क्योंकि इनके अनुष्ठान में अपरिमित फलता का अभाव रहता है। अर्थात् अधिक फल की इच्छा हो तो समुच्चयानुष्ठान करना चाहिए अन्यथा विकल्पक करना चाहिए।

२६. यथाश्रयभावाधिकरणः—

अंगेषु यथाश्रयभावः ।३।३।५६॥

उद्गीयादिक्रत्वंगेष्वश्रिताः "ओमिन्येतदक्षरमुद्गीयमुपासीत्" इत्यादिका विद्याः किमुद्गीयादिवत् क्रत्वर्थतया क्रतुषु नियमेनोपादेयाः, उतगोदोहनादिवत् पुरुषार्थतया यथाकाममिति विशये, नियमेनोपादेयाः, इति युक्तम्।

उद्गीष आदि, यज्ञांगश्रित अनेक विद्यायें हैं, संभय होता है कि-उद्गीष की तरह, वो सब भी, यज्ञोपकारक रूप से प्रत्येक यज्ञ में ग्राह्य होंगी, अथवा गोदोहनन्याय की तरह, इच्छानुसार ग्राह्य होंगी? इस पर कहते हैं कि-सभी में ग्राह्य करना ही युक्ति संगत है।

ननु चासां पुरुषार्थत्वेनानियमः प्रतिपादितः 'तन्निर्धारणानियमस्तदष्टैः पूषग्भ्यप्रतिबंधः फलम्' इत्यत्र। सत्यम्-तदेव दृढयितुं कैश्चित्लिगदर्शनैः युक्त्या चाक्षिप्यते। तत्र हि-"तेनोमीकुरुतः इत्यनियम दर्शनात् पूषक्फलत्वमुक्तम्, उपासनाश्रयभूतोद्गीयादिवदुपासनानामप्यंगत्तयोपादाननियमे बहवो हेतव उपलभ्यन्ते नहि अत्र "गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत" इत्यादिवदुपासना विधिवाक्येफलसंबंधः श्रूयते। "उद्गीषमुपासीत्" इत्युद्गीयादिसंबंधित-यैवोपासनं प्रतीयते।

जब "तन्निर्धारणानियमः" इत्यादि सूत्र में बतला चुके हैं कि-पुरुषार्थ साधन में, सभी विद्याओं का साधन नियमित नहीं है, तब उक्त बातें

कैसे संभव ? ऐसा संशय करना ठीक ही है, अब उसी बात को दृढ़ करने के लिए, विरुद्ध तर्क उपस्थित करके आक्षेप कर रहे हैं। उक्त सूत्रों में तो केवल "तेनोभौ कुरुतः" इस श्रुति की सहायता से, उपासना का अनियम बतलाते हुए, पृथक् फलता का निर्णय किया गया है। परन्तु इस प्रसंग में तो— उपासना की आश्रय उद्गीथ आदि की तरह जब, अन्य उपासनायें भी अगमात्र ही हैं तब उनको ग्रहण करने में अनेक हेतु मिलते हैं। "पशुसमृद्धि की कामना से गोदोहन करके चरुपाक करना चाहिये" इत्यादि में जैसा काम्य पशु रूप फल विशेष का निर्देश है, वैसी यहाँ तो किसी विशेष फल के निर्देश की बात है नहीं। "उद्गीथमुपासीत्" इत्यादि में उद्गीथ संबंधी उपासना ही प्रतीत होती है।

"यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरम्" इति वर्त्तमानोपदेशरूपवाक्यान्तराद् हि फलसंबंधो ज्ञायते, स्ववाक्येनै वाव्यभिचरितक्रतुसंबन्ध्युद्गीथादिसंबन्धेन निज्ञातिऋत्वंगभावस्य वाक्यांतरस्थवर्त्तमानफलसंबन्धनिर्देशोऽर्थवादमात्रं स्यात् अपापश्लोक श्रवणादिवत् । अतो यद्योद्गीथादय उपासनाश्रयाः ऋत्वंगतया प्रयोग विधिना नियमेनोपादीयन्ते, यथातदाश्रितारचोपासनास्तन्मुखेन ऋत्वंगभूता इति नियमेनोपादेया एव ।

"श्रद्धा और विज्ञान के साथ जो विद्या का अनुष्ठान करता है वही प्रबलतम होता है" वर्त्तमानता मात्र के बोधक इस अन्य वाक्य से भी, उपासना की सफलता ज्ञात होती है, इसलिए उपासना विधायक वाक्य में, केवल यज्ञ संबंधी उल्लेख होने से ही उपासना की यज्ञांगता ज्ञात होती है, अन्य वाक्यों में जो वर्त्तमान कालीन फल संबंधी उल्लेख मिलता है, वह निश्चित ही, अपापश्लोक श्रवण की तरह अर्थवाद मात्र है। उद्गीथ उपासना के आश्रय, उद्गीथ आदि जैसे-प्रयोग विधि के अनुसार नियमित यज्ञांग माने जाते हैं, वैसे ही, तदाश्रित उपासनायें भी नियमित रूप से यज्ञांग हैं।

शिष्टेश्च ।३।३।६०॥

शिष्टिः शासनं, विधानमित्यर्थः । "उद्गीथमुपासीत्"

इत्युद्गीथांगतयोपासनविधानाच्चोपादान नियमः । "गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत्" इत्यादिवद्विधिवाक्येऽधिकारान्तराश्रवणादुद्गीथांग भाव एव हि विधेय इति गम्यते ।

शिष्टि अर्थात् शासन या विधान से भी उपासना के नियम की सिद्धि होती है । "उद्गीथमुपासीत्" श्रुति में उद्गीथांगरूप से उपासना का विधान बतलाया गया है । "पशु की कामना से गोदोहन द्वारा चरु प्रस्तुत करना चाहिए" इत्यादि में जैसे अन्य क्रिया के अधिकारी से संबंधित गोदोहनाधिकार कहा गया है, वैसे यहाँ तो है नहीं, इससे निश्चित होता है कि— उक्त उपासना, उद्गीथांग रूप से ही विधेय है ।

समाहारात् ।३।३।६१॥

"होतृपदनाद्धैवापि दुरुद्गीथमनु-माहरति" इत्युपासनस्य समाहार नियमो दृश्यते । दुरुद्गीथं वेदनविहीनमुद्गीथं । वेदन-हानावन्येन समाधानं ब्रूवत्तस्य नियमेनोपादानं दर्शयति ।

"होतृ पदन से दुरुद्गीथ को परिपूर्ण करता है" इत्यादि श्रुति से उपासना के ग्रहण की आवश्यकता परिलक्षित होती है । दुरुद्गीथ का स्तरपयं है, उपासना विहीन उद्गीथ । उक्त श्रुति में उपासना के अभाव में, ग्रन्थ के द्वारा भी परिपूर्ण करने का उपदेश देकर, उस उपासना की अवश्यग्रहणीयता दिखलाई गई है ।

गुणसाधारण्य श्रुतेश्च ।३।३।६२॥

उपासनगुणस्य उपासनाश्रयस्य प्रणवस्य सोपासनस्य "तेनेयंश्रयी विश्वा वृत्तंते, धोमित्याश्रवत्योमितिशांसत्योमित्युद्गायति" इति साधारण्यश्रुतेश्चोपासनसमाहारो गम्यते । "तेन" इति प्रकृतिपरामर्शात् सोपासन एव प्रणवः सर्वत्र संचरति । अत उपासनस्य प्रणवसहभाव नियमदर्शनाच्चोद्गीथाद्युपासनामुद्गीथा-दिवन्नियमेनोपादानम् ।

“उसके द्वारा ही ये वेद विद्या प्रवृत्त होती है, जो ॐ कहकर ही हो सुनता है, ॐ कहकर ही प्रशंसा करता है, ॐ कहकर ही उद्गान करता है” इत्यादि में—उपासना के आश्रय रूप प्रणव का समानाधिकरण्य दिखलाया गया है जिससे उपासना की अनुवृत्ति ज्ञात होती है। वाक्य के “तेन” पद से, प्रस्तावित विषय से संबद्ध उपासना के साथ प्रणव की सर्वत्र अनुवृत्ति ज्ञात होती है, केवल प्रणव की ही नहीं। प्रणव सहित उपासना साहचर्य के नियम से ज्ञात होता है कि—उद्गीथ आदि की तरह उपासना का भी हर जगह ग्रहण होगा।

एवं प्राप्तेऽभिधीयते—

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से सूत्र प्रस्तुत करते हैं—

न वा तत्सहभावाश्रुतेः ।३।३।६३॥

न चैतदस्ति, यदुद्गीथाद्युपासनानां क्रतुपूद्गीथादिवदुपादान नियमः, इति । कुतः ? तत्सहभावाश्रुतेः, उद्गीथांग भावाश्रुतेरित्यर्थः । अंग भावे हि सहभाव नियमो भवति । यद्यपि “उद्गीथमुपासीत्” इत्यस्मिन् पद समुदायेऽधिकारान्तरं न प्रतीयते तथाऽपि तदन्तरमेव “यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यं वत्तरं भवति” इति विद्यायाः क्रतु वीर्यं वत्तरत्वं प्रतिसाधनभावः प्रतिपाद्यते। तेन क्रतुफलात्पृथग्भूत फलसाधनभूता विद्या “उद्गीथमुपासीत्” इति कर्तव्यतया विधीयते । क्रतुफलात्पृथग्भूतफलसाधनतयाऽवगतस्योपासनस्य क्रत्वंगभूतोद्गीथांगतया विनियोगो नोपपद्यते । अथ उपासनस्याश्रयापेक्षायां सन्नहित उद्गीथ आश्रयमाप्तं भवति ।

यज्ञ में उद्गीथ आदि क्रिया का जैसा अवश्य ग्रहणीयता का नियम है, उद्गीथ आदि उपासना में भी, वैसा नियम नहीं है। ऐसी कोई सत् सहभाव वाली श्रुति नहीं मिलती, अर्थात्—उपासना भी,

उद्गीथ आदि की तरह यज्ञांग है, ऐसी कोई श्रुति नहीं मिलती । अंग भाव होने पर ही सहभाव का नियम होता है । यद्यपि “उद्गीथमुपासीत्” वाक्य में अन्य किसी का अधिकार प्रतीत नहीं होता, फिर भी इस वाक्य के बाद ही “विद्यापूर्वकं जो कुछ किया जाता है, वही बलवत्तर होता है” इस वाक्य में, विद्या को, यज्ञ से अधिक बलवती रूप से प्रतिपादन किया गया है, जिससे ज्ञात होता है कि—उद्गीथमुपासीत्” इत्यादि श्रुति में यज्ञ फल से विशेष अधिक फल साधन के लिए, विद्या की कत्तव्यता बतलाई गई है । यज्ञ फल से भिन्न ही साधक रूप से जब उपासना की प्रतीति होती है, तब उद्गीथांग रूप से उस उपासना का प्रयोग कदापि सगत नहीं हो सकता । इससे ज्ञात होता है कि—उपासना मात्र, एक आश्रय की अपेक्षा करती है, उद्गीथ उपासना में भी एक आश्रय आवश्यक है । सन्निहित उद्गीथ ही उपासना मात्र का आश्रय स्थानीय सिद्ध होता है ।

उद्गीथश्च क्रत्वंगभूत इति क्रतुप्रयुक्तोद्गीथाद्याश्रये उपासने क्रत्वाधिकारिण एव क्रतोवीर्यवत्तरत्वेच्छानिमित्तमिदमधिकारान्तरमिति न क्रतुषु तदुपादाननियमः । वीर्यवत्तरत्वं च क्रतुफलस्य प्रबलकर्मान्तरफलेनाप्रतिबंधं इत्युक्तम् । क्रतोरविलंबितफलत्वमित्थर्थः । पणंतादीनां तु “यदेव विद्यया करोति तदेव वीर्यवत्तरं भवति” इति विद्यायाः फलसाधनत्ववदपापरलोक श्रवणादिफलं प्रतिसाक्षात्साधनभावो न श्रुत इति क्रत्वंगभूतजुह्वार्यगतया विनियोगाविरोधात्तदंगभूतानां फलांतरसाधनभावकल्पनानुपपत्तोस्तत्र फलश्रुतिरथंवादमात्रं स्यात् ।

उद्गीथ, यज्ञ का अंगरूप है, यज्ञ में जिसका अधिकार है उद्गीथ साधना में भी उसी का अधिकार है, किन्तु उद्गीथ आश्रित उपासना में, अधिकार का कोई नियम नहीं है । यज्ञ का अधिकारी पुरुष यदि चाहे कि, मेरा यज्ञ अधिक बलवत्तर हो ऐसी इच्छा करने पर ही वह उपासना का अधिकारी हो, ऐसा कोई नियम नहीं है । उद्गीथ और उपासना दोनों का एक ही—अधिकारी नहीं हो सकता, ऐसी अधिकार की धृक्कता

अत्र पूर्वपक्षी प्रत्यवतिष्ठते

इस पर पूर्वपक्ष वाले उपस्थित होते हैं—

शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति जैमिनिः ।३।४।२॥

नैतदेवम्—यद्विद्यातः पुरुषार्थावाप्तिः शब्दावगम्यते—इति ।
न ह्येषः “ब्रह्मविदाप्नोतिपरम्” इत्यादि शब्दो वेदनात् पुरुषार्था-
वाप्तिमवगमयति, कर्मसु कर्तृभूतस्यात्मनो याथात्म्यवेदनप्रतिपादन-
परत्वात् । अतः कर्तुः संस्कार द्वारेण विद्यायाः क्रतुशेषत्वात्तत्र
फलश्रुतिः अर्थवादमात्रम्, यथाऽन्येषु द्रव्यादिषु—इति जैमिनिराचार्यो
मन्यते तदुक्तं द्रव्यगुणसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः
स्यात् ।”

शास्त्रों में जो विद्या से पुरुषार्थ प्राप्ति की बात कही गई है, वह उक्त प्रकार के अर्थ में प्रयुक्त नहीं है जैसा आप समझ रहे हैं। “ब्रह्मविदाप्नोति परम्” इत्यादि वचन उपासना से पुरुषार्थ प्राप्ति नहीं बतलाते अपितु, कर्म कर्ता द्वारा किए गए आत्मा के यथार्थ स्वरूप ज्ञान से-पुरुषार्थ प्राप्ति बतलाते हैं। कर्ता के संस्कार के द्वारा जब विद्या, यज्ञांग रूप है तब विद्या साध्य मोक्ष प्राप्ति की प्रशंसा, केवल अर्थवाद मात्र है, जैसे कि-अन्यशास्त्रीय फल श्रुतियाँ अर्थवाद है। ऐसा जैमिनि आचार्य का मत है ; वे कहते हैं कि-“यज्ञीयद्रव्यगुण और संस्कार रूप कर्मों के विषय में जो फल श्रुति है, वह परार्थ होने से अर्थवाद मात्र है”

मनु च कर्मसु कर्तुर्जीवादन्यो मृमुक्षुभिः प्राप्यतया वेदांतेषु
वेद्य उपदिश्यत इति प्रागेवोपपादितम् “नेतरोऽनुपपत्तेः” भेदध्यपदेशाच्च
“अनुपपत्तेस्तु न शारीरः” इतरपरामर्शात् स इति चेन्नासंभवात्”
इत्येवमादिभिः सूत्रैः, तदेव ब्रह्म तत्त्वमस्यादि सामानाधिकरण्येन
जीवादनतिरिक्तमित्येतदपि “अधिकं तु भेदनिर्देशात्” इत्येवमादि-
भिर्निरस्तम् सामानाधिकरण्य निर्देशश्च “एतदात्म्यमिदं सर्वम्”

सर्वल्लिवधं ब्रह्म "इति चेतनाचेतन साधारणः" यः पृथिव्यां तिष्ठन्
 "य आत्मनितिष्ठन् इत्यादिनाऽवगततत्तदात्मतयाऽवस्थितिनिबंधन
 इति-"भवस्थितेरिति काशकृत्स्नः" इत्यादिभिर्ह्यपादितं, तत्कर्मसु
 कर्तुरात्मनो याथात्म्योपदेशपरा वेदांत शब्दा इति विद्यायाः
 कर्मांगत्वं प्रतिपाद्यते ?

(वाद) वेदांत शास्त्र, कर्ता जीव से पृथक् पदार्थ को ही, मुमुक्षुओं
 के लिए पुरुषार्थ बतलाते हैं, ऐसा 'नेतरोऽनुपपत्तेः' भेदव्यपदेशाच्च
 "अनुपपत्तोस्तु न शारीरः" इतरपरामर्शान्" इत्यादि सूत्रों में विवेचन हो
 चुका है। इसके बाद अभेद सूत्रक "तत्त्वमसि" इत्यादि महावाक्य के
 अनुसार, ब्रह्म से जीव की अनतिरिक्तता या जीवस्वरूपता की संभावना
 का भी "अधिकन्तु भेद निर्देशात्" आदि सूत्रों में निराकरण हो चुका है।
 तथा "यह सब आत्म्य है" सत्र कुछ ब्रह्म है" इत्यादि में जड़चेतन की
 ब्रह्मता एव "जो पृथ्वी में स्थित है" "जो आत्मा में स्थित है" इत्यादि-से
 उन उन आकारों में आत्मरूप में अभेद बोधक स्थिति सामानाधिकरण्य के
 निर्देश के रूप में "अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः" इत्यादि सूत्र में बतलाई
 गई। तब यहाँ-कर्मानुष्ठान के कर्ता जीव के यथार्थ स्वरूप के उपदेश में
 वेदांत वाक्यों का तात्पर्य बतलाते हुए, विद्या की कर्मांगता का कैसे
 प्रतिपादन करने हो ?

उच्यते-वेदांतवाक्येष्वेव विद्यायाः कर्म प्राधान्यं सूचयद्भिर्निर्गैः
 तदुपवृंहित सामानाधिकरण्यनिर्देशेन च वेदांतशब्दाः देहातिरिक्त
 जीव स्वरूपयाथात्म्योपदेशपरा इति बलादभ्युपगमनोपमिति
 पूर्वपक्षिणोऽभिप्रायः ।

इसका उत्तर पूर्वप्रश्नवाले देने हैं कि-वेदांत वाक्यों में ही विद्या की
 कर्म प्रधानता को बतलाने वाले निग (विन्द्) हैं, जिनसे कर्म की अपेक्षा
 विद्या की प्रधानता सूचित होती है, तथा सामानाधिकरण्य के निर्देश से
 अनिच्छा होते हुए भी स्वीकारना पड़ता है कि-देहातिरिक्त जीवात्मा के
 यथार्थ स्वरूप का बखाने करना ही वेदांत वाक्यों का मुख्य तात्पर्य है।

ननु च कर्तुसंस्कारमुखेन विद्यायाः क्रत्वनुप्रवेशो न शक्यते
वक्तुर्लौकिकवैदिकसाधारणत्वेनाव्यभिचरित क्रतुसंबंधित्वात् ।

(वाद) यज्ञादि कर्त्ता जैसे वेदोक्त क्रिया का निर्वाह करता है वैसे ही व्यावहारिक क्रिया का भी निर्वाह करता है; यज्ञ के ही साथ उसका अव्यभिचारी संबंध नहीं रहता । इसलिए यह नहीं कह सकते कि कर्त्ता को संस्कार रूप विद्या, यज्ञांग है ।

नैवम्—लौकिकस्य कर्मणः कर्तुर्देहादव्यतिरिक्तत्वेऽप्युपपत्तोर्देहा-
तिरिक्तानत्यात्मस्वरूपस्य क्रतावेवोपयोगात्तत्स्वपप्रतिपादनमुखेन
क्रत्वनुप्रवेशो न विरुध्यते । अतो विद्यायाः क्रतुशेषत्वान्नातः
पुरुषार्थः ।

(विवाद) उक्त आपत्ति भ्रामक है; जीवात्मा देह वाला होकर ही, लौकिक क्रिया का कर्त्ता हो सकता है किंतु आत्मा में जब तक नित्य वृद्धि नहीं होगी तब तक, उसकी पारलौकिक फलसाधक वेदोक्त क्रिया में प्रवृत्ति नहीं हो सकती । यज्ञादि क्रियाओं में—देह से भिन्न नित्य आत्मा के अस्तित्व पर विश्वास होना आवश्यक है । इस प्रकार के विवेचन से, यज्ञान्तर्भवमाना जा सकता है । इससे यह निश्चित होता है कि—यज्ञांग होते हुए भी विद्या से पुरुषार्थ सिद्धि नहीं हो सकती ।

कानिपुनस्तानिलिगानि, यदुपवृंहितसामानाधिकरण्य निर्देशेन
वेदांतशब्दा जीवस्वरूपपरा इति निर्णयन्ते । तन्नाह—

वे लिग कौन से हैं, जिनसे वेदांत वाक्यों की जीवस्वरूप परकता
बवधारित होती है? उसी का उत्तर देते हैं—

आचार दर्शनात् ।३।४।३॥

ब्रह्मविदांप्राधान्येन कर्मस्वेवाचारो दृश्यते अश्वपतिः केकयः
किल भ्रात्मवित्तमस्तद्विज्ञानायोपगतांस्तानुपीन् प्रत्याह—“यद्यमारो

ह वै भगवंतोऽहमस्मि" इति । तथा जनकादयो ब्रह्मविदप्रेसराः किर्मनिष्ठाः स्मृतिषु दृश्यन्ते "कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः "इयाज सोऽपि सुवहून् यजान् जानव्यपाश्रयः" इति । अनो ब्रह्मविदां कर्मप्रधानत्वदर्शनाद्विद्यायाः कर्तृस्वरूपवेदन रूपत्वेन कर्मांगत्वमेवेति न विद्यातः पुरुषार्थः ।

ब्रह्म वेत्ताओं के आधार में, कर्म की ही प्रधानता देखी जाती है, आत्म तत्त्वेच्छा ऋषियों से कहते हैं—' भगवन ! मैं इस समय यजान्छान मे संलग्न हूँ ।' इसी प्रकार ब्रह्म वेत्ताओं में अपगण्य जनक आदि को भी, स्मृतियों में कर्मनिष्ठ बतलाया गया है "जनक आदि ने कर्म से संसिद्धि प्राप्त की" जाननिष्ठ होते हुए भी उन्होंने अनेक यज्ञ किए" इत्यादि । ब्रह्म वेत्ताओं में भी कर्म की स्वरूपानुभूति रूप विद्या, कर्मांग ही है विद्या से पुरुषार्थ असंभव है ।

लिंगमिदं, प्राप्तिश्च्यतामित्यत्राह—

जो विद्या की कर्मांगता बननावे वही लिंग है, अब उसके उपयुक्त प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—

तच्छ्रुतेः ।३।४।४।।

श्रुतिरेव हि विद्यायाः कर्मांगत्वमाह—“पदेव विद्यया करोति श्रुदोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति" इति । नेयं श्रुतिः प्रकरण-दुद्गीयमात्रविषयेतिव्यवस्थापयितुं शक्याः विद्यामात्र विषया हीयं श्रुतिः ।

श्रुति में ही विद्या की कर्मांगता दिखलाई गई है—“विद्या, श्रद्धा और ज्ञान के सहयोग से जो कर्म किया जाता है वही प्रबलतम होता है । उद्गीय प्रकरण में पठित होने से यह श्रुति केवल उद्गीय में ही मंग्य है, ऐसा नहीं कह सकते, प्रकरण से श्रुति अधिक बलवती होती है “पदेव विद्यया करोति" श्रुति विद्यामात्र की विषय है, केवल उद्गीय की ही नहीं ।

समन्वारम्भणात् ।३।४।५॥

“तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते” इति विद्याकर्मणोः साहित्यं च दृश्यते । साहित्यं चोक्तेन न्यायेन विद्यायाः कर्मांगत्वे सत्येव भवति ।

“विद्या और कर्म व्यक्ति का अनुगमन करते हैं” इत्यादि श्रुति में विद्या और कर्म का साहचर्य दोखता है । इस साहचर्य के वर्णन से भी विद्या की कर्मांगता सिद्ध होती है ।

तद्वतो विधानात् ।३।४।६॥

विद्यावतः कर्म विधानात् विद्या कर्मांगत्वमित्यनगम्यते “आचार्यं कुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्यकुटुंबे शुचौदेशे” इत्यादौ । “वेदमधीत्य” इत्यध्ययनवतः कर्माणि विदधदर्थ्यावबोधपर्यन्ताध्ययनवत् एव विदधाति । अर्थावबोधपर्यन्तं हि अध्ययनमिति स्थापितम् अतो ब्रह्मविद्याऽपि कर्मसुविनियुक्तेति न पृथक् फलायावकल्पते ।

“आचार्यं कुल से विधि पूर्वक वेद पढ़कर-गृह संबंधी कर्तव्य कर्मों को समाप्त कर पवित्र कुटुम्ब में प्रवेश करता है” इत्यादि में विद्या संपन्न व्यक्ति के लिए कर्म का विधान बतलाया गया है-जिससे विद्या की कर्मांगत सिद्ध होती है । “वेदमधीत्य” पद से वेदाध्ययन करने वाले के भी, कर्म का विधान वेदार्थावगति तक बतलाया गया है । अर्थावबोध तक ही अध्ययन कहा गया है, इसलिए ब्रह्म विद्या भी कर्म से अलग रहकर पृथक् फल की साधिका नहीं हो सकती ।

नियमात् ।३।४।७॥

इतश्च न विद्यातः पुरुषार्थः “कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषे-च्छतं समाः” इत्यात्मविदः पुरुषायुजस्य सर्वस्य कर्मसु नियमेन विनियोगात् कर्मण एव फलमित्यवगम्यते विद्या तु कर्मांगमिति ।

इसलिए भी विद्या से पुरुषार्थ संभव नहीं है कि—“कर्मों को करते हुए ही सो वर्ष जोने की आकांक्षा करते हैं” इत्यादि श्रुति आश्रित पुरुष की, आयुपर्यन्त नियमपूर्वक कर्मानुष्ठान में नियुक्ति बतलाती है । जिससे, कर्म से ही फलावाप्ति की प्रतीति होती है, विद्या से नहीं । विद्या तो कर्मणि मात्र है ।

सिद्धान्त—एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—

उक्त मत पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं—

अधिकोपदेशात् बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ।३।४।८॥

तु शब्दात् पक्षो व्यावृत्तः, विद्यात एव पुरुषार्थः, कुतः ? अधिकोपदेशात्—कर्मसु कर्तुं जीवाद् हेयप्रत्यनीकानवभिकातिराया-संक्षेपकल्याणगुणाकरत्वेनाधिकस्यार्यान्तरभूतस्य परस्य ब्रह्मणो वेद्यतयोपदेशात् भगवतो बादरायणस्य विद्यातः फलमित्येवमेव मतम् ।

तु शब्द पूर्वपक्ष का व्यावर्तक है । विद्या से ही पुरुषार्थ सिद्धि होनी है, अधिकता के उपदेश से ऐसा ही निश्चित होना है । कर्मानुष्ठान के कर्ता जीवात्मा से अधिक, स्वतंत्र—उत्तम, सीमा और मंश्या से रहित, अति कल्याणमय गुणों के आकर परब्रह्म को ही वेद्य कहा गया है, जिसमे ज्ञात होता है कि—उनकी प्राप्ति उपामना से ही होती है, ऐसा भगवान बादरायण का मत है ।

लिंगानि तिष्ठन्तु, वेद्यतयोपदेशस्तु तावत्कर्तुः प्रत्यगात्मनो-ऽधिकस्यैव । कथम् ? तद्दर्शनात्—प्रत्यगात्मन्यगुद्धे गुद्धेऽप्यसंभाव-नीयानंतगुणाकरस्य वेद्यस्य निरस्तनिश्चिन्हेय गंधस्य स्वसंकल्प-कृत जगदुदयविभवलयलीलस्य सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेर्वाङ्मनसापरिच्छे-द्यानन्दस्य जीवाधिपस्य कूटस्नस्य प्रशासितुः परस्य ब्रह्मणो वेदनोप-देशावाक्येषु दर्शनात् “अपहृतपाप्मा विजरो विमूर्युवितोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः तदेक्षत बहुस्यां प्रजायेये-

ति तत्ते जोऽसृजत” यः सर्वज्ञः सर्वविद् “परास्य शक्तिविविधैव
 श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च “स एको ब्रह्मण आनन्दः”
 यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह—आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न
 विभेति कुतश्चन “एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष
 सेतुविधारणः “सकारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न
 चाधिपः” “एतस्य वाऽक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ
 तिष्ठतः” भीषास्माद् वातः पवते, भीषोदेति सूर्यः, भीषास्मादग्नि-
 श्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पंचमः” इत्यादिषु । तस्माद् वेदनोपदेश
 शब्देषु कर्तुः प्रत्यगात्मनः स्वद्योतकल्पस्याविद्यादिहेयसंबंधयोगस्य
 गंधोऽपि नास्तीति परमपुरुषविषयाया विद्यायास्तत्प्राप्तिरूपममृ-
 तत्वं तत्र तत्र श्रूयमाणं फलमिति विद्यातः पुरुषार्थं इति
 सुष्टूक्तम् ।

विद्या की कर्मांगता बतलाने वाले लिंगों की बात छोड़िये वेद्यरूप
 से जिसका उल्लेख है, वह जीवात्मा से अधिक ही है—जैसा कि—“वह
 निष्पाप, जरामृत्यु शोक भूख प्यास रहित, सत्य काम, सत्य संकल्प है”
 उसने इच्छा की बहुत होकर व्यक्त हो जाऊँ “उसने तेज की सृष्टि की”
 जो सर्वज्ञ और सर्वविद् है “पर की ज्ञान-बल-क्रिया आदि स्वाभाविक
 शक्तियाँ सुनी जाती हैं” वह एक ब्रह्म का आनंद है” जहाँ से वाणी मन
 सहित होकर लौट आती है ऐसे आनंद ब्रह्म को जान कर साधक किसी
 से नहीं डरता “वही सर्वेश्वर भूताधिपति भूपाल सबका विधारक सेतु है
 “वह कारणों का भी कारण, स्वामियों का भी स्वामी है, उसका कोई
 जनक या स्वामी नहीं है” हे गार्गि ! इस अक्षर के प्रशासन में सूर्य और
 चन्द्र स्थित हैं” इसी के भय से वायु चलता है । सूर्य अग्नि चन्द्र और
 पाँचवा मृत्यु दोड़ता है” इत्यादि से वदमुक्त जीवात्मा में असंभव,
 हीनता से रहित, संकल्प मात्र से सृष्टि स्थिति संहारात्मक लीलामय,
 सर्वज्ञता, सर्व शक्ति संपन्नता अवाङ्मनस गोचरता, असीम आनन्दरूपता
 सर्वशासकता, जीवाधिपत्य, आदि वेद्य परब्रह्म की बतलाई गई विशेष-
 ताओं से निश्चित होता है । उक्त उपासनापदेशक वाक्यों में कर्ता के

स्वरूप जीवात्मा का, जो कि परमात्मा के समक्ष खद्योत-के तुल्य है, और अविद्या आदि दोषों वाला है, कहीं नाम भी नहीं है। परब्रह्म विषयक विद्या से, जो अनेक स्थानों में ब्रह्म प्राप्ति की बात कही गई है, वही विद्या का फल है, इसलिए विद्या से ही पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है, यही मानना युक्ति संगत है।

लिंगान्यपि निरस्यंते

लिंगों का भी निराकरण करते हैं।

तुल्यं तु दर्शनम् ।३।४।६॥

यदुक्तं ब्रह्मविदां कर्मानुष्ठानदर्शनाद् विद्या-कर्मांगमिति, तत्र विद्यायाऽनंगत्वेऽपि तुल्यं दर्शनम्, ब्रह्मविदां कर्मानुष्ठानदर्शनमनै-कांतिकमित्यर्थः, अननुष्ठानस्यापि दर्शनात् । दृश्यते हि ब्रह्मविदां कर्मत्यागः “ऋषयः कावपेयाः किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे” इत्यादौ । अतो ब्रह्मविदां कर्मत्याग दर्शनात्तत्र विद्या कर्मांगम् । कथमिमुपपद्यते ब्रह्मविदां कर्मानुष्ठानमननुष्ठानंच ? फलाभिसंघिराहतस्य यज्ञादिकर्मणो ब्रह्मविद्यांगत्वात्तथाविधस्य कर्मणोऽनुष्ठानदर्शनमुपपद्यते । यक्ष्यति च—सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्” इति । फलार्थस्य तस्यैव यज्ञादेः कर्मणां मोक्षैकफलब्रह्मविद्या-विरोधित्वत्तस्याननुष्ठानदर्शनमुपपन्नतरम् । विद्यायाः कर्मांगत्वे कर्मत्यागः कथमपि नोपपद्यते ।

जो यह कहा कि-ब्रह्मवेत्ताओं में कर्मानुष्ठान देखा जाता है, इसलिए विद्या कर्मांग है, यह बात भी असंगत है, विद्या की अनंगता में भी तुल्य आचार देखा जाता है, अर्थात् ब्रह्मवेत्ताओं का जो कर्मानुष्ठान देखा जाता है वह अनैकान्तिक नहीं है, उनमें कर्मानुष्ठान का अभाव भी पाया जाता है “कावपेय ऋषि कहते हैं कि—“किसके लिए अध्ययन करें और किसके लिए यज्ञ करें” इत्यादि से—ब्रह्मवेत्ताओं का कर्म के प्रति उपेक्षा भाव निश्चित होने से विद्या कर्मांग नहीं है यह भी निश्चित हो

जाता है। प्रश्न होता है कि-ब्रह्मवेत्ताओं में कर्मानुष्ठान और कर्मत्याग दोनों कैसे संभव हैं ? सो फलाकांक्षारहित यज्ञादि कर्म ब्रह्मविद्या के ही अंग हैं, इसलिए ब्रह्मवेत्ता कर्मानुष्ठान में प्रवृत्त होते देखे जाते हैं, ऐसा ही "सर्वपिशा च यज्ञादि श्रुतेरश्ववत्" सूत्र में सूत्रकार ने सिद्ध किया है। यज्ञादि क्रियाएँ सकाम होने से ही मोक्षदायिनी ब्रह्मविद्याओं से विरुद्ध है इसीलिए उनका त्याग होता है, यदि विद्या को कर्मांग मानें तो कर्म का त्याग नहीं हो सकता।

यदुक्तं श्रुत्यैव विद्यायाः कर्मांगत्वमवगम्यते-तत्राह-जो यह कहा कि-श्रुति से ही विद्या की कर्मांगता ज्ञात होती है। उसका उत्तर देते हैं-

प्रसार्वात्रिकी । ३।४।१०।।

न सर्वं विद्याविषयेयं श्रुतिः, अपितु उद्गीथविद्याविषयैव "यदेव विद्यया करोति" इति यच्छब्दस्यानिर्धारित विशेषस्य "उद्गीथमुपासीत्" इति प्रस्तुतोद्गीथविशेष निष्ठत्वात्। नहि यत्करोति तद् विद्ययेति सम्बध्यते, यदेव विद्यया करोति तदेव वीर्यवत्तरमिति विद्यया क्रियमाणं यच्छब्देन निर्दिश्य तस्य हि वीर्यवत्तरत्वमुच्यते।

उक्त श्रुति-सभी विद्याओं से संबंधित नहीं है, अपितु उद्गीथ विद्या विषयक ही है "यदेव विद्यया करोति" में यत् शब्द अविशेष भाव से प्रयुक्त हुआ है-"उद्गीथमुपासीत्" इत्यादि में प्रस्तुत-उद्गीथ विशेष की निष्ठा निश्चित होती है। "यत्करोति" का अर्थ "वह विद्या के साथ करता है" ऐसा नहीं है, अपितु "विद्या के साथ जो करता है वही प्रबलतम होता है" इतना अर्थ है विद्या के साथ किये जाने वाले कर्म की ही यत् शब्द से निर्दिष्ट वीर्यवत्तरता कही गई है।

यच्चेदमुक्तं "तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते" इति विद्याकर्मणोः साहित्यदर्शनाद्विद्या कर्मांगमिति-तत्राह-

और, जो यह कहा कि-"तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते" वाक्य में

विद्या और कर्म का साहचर्य दिखलाया गया है. इसलिए विद्या कर्मिंग है। इसका निराकरण कहते हैं—

विभागः शतवत् ।३।४।११ ॥

“तं विद्याकर्मणी समन्वारभते” यत्तुक्तेन न्यायेन विद्या-कर्मणोर्भिन्नफलत्वाद् विद्यास्वस्मैफलाय समन्वारभते, कर्म च स्वस्मै फलायेति विभागो दृष्टव्यः। शतवत्—यथाक्षेत्ररत्न-विक्रयिणं शतद्वयमन्वेतोत्युक्ते क्षेत्रार्थं शत, रत्नार्थं शतमिति विभागः प्रतीयते तथेहापि।

“विद्या और कर्म उसका अनुगमन करते हैं” इत्यादि से उपरोक्त नियमानुसार विद्या और कर्म का भिन्न फल समझना चाहिए। विद्या अपने फल प्रदान के लिए अनुगमन करती है और कर्म अपने फल प्रदान के लिए ऐसा विभाग है। जैसे कि खेत और रत्न के लिए दो सौ मुद्रा ले जाने वाला एक सौ से रत्न और एक सौ से क्षेत्र खरीदता है; वैसे ही उक्त व्यवस्था भी है।

अध्ययनमाश्रवतः ।३।४।१२॥

यदुक्तं विद्यावतः कर्मविद्यानादविद्याकर्मांगम्-इति नैतद्युक्तम्, “वेदमघोत्य” इत्यध्ययनमाश्रवतो विद्यानात्। न चाध्ययनविधिरेवार्थबोधे प्रवृत्तंयति आधानवदध्ययनस्याक्षरराशि ग्रहण-मात्रे पर्यवसानात्। गृहीतस्य च स्वाध्यायस्य फलवत्कर्मावबोधित्वदर्शानात्तन्निर्णयफले तदर्थविचारे पुरुषः स्वयमेव प्रवृत्तंते ततः कर्मार्थो कर्मज्ञाने प्रवृत्तंते, मोक्षार्थो च ब्रह्मज्ञान इति न विद्या कर्मांगम्। यद्यप्यध्ययनविधिरेवार्थबोधे प्रवृत्तंयति, तथापि न विद्या कर्मांगम् अर्थज्ञानादर्थान्तरत्वाद् विद्यायाः। यथा ज्योतिष्ठी मादिकर्मस्वरूपविज्ञानात् फलसाधनभूतं कर्मानुष्ठानमर्थान्तरम्, तथाऽर्थज्ञानरूपात्ब्रह्मस्वरूप विज्ञानादर्थान्तरमेव ध्यानोपासनादि-

शब्दवाच्या पुरुषार्थसाधनभूता विद्येति न तस्याः कर्म संबंधगंधो विद्यते ।

जो यह कहा कि-विद्वान के लिए भी कर्म का विधान मिलता है, इसलिए विद्या कर्मांग है, यह भी असंगत बात है, "वेदमधीत्य" में केवल अध्ययन वाले व्यक्ति के लिए ही कर्म का विधान किया गया है। केवल विधिपूर्वक अध्ययन ही तो अर्थबोध करा नहीं सकता। अक्षर राशि के अभ्यास को ही वेदाध्ययन कहते हैं, अर्थात् वेदाध्ययन से, केवल गुरु के निकट रहकर वैदिक अक्षर की प्राप्ति की बात ही सामने आती है। अर्थज्ञान भी हो जाता हो ऐसी बात निश्चित नहीं होती। वेदाध्ययन से कर्म और उसके फल के निर्देश की जानकारी मात्र होती है, कर्म और कर्मफल के निर्णय के लिए तो वेदार्थ के विचार की आवश्यकता है, वेदार्थ विचार के बाद ही फलाकांक्षी कर्म में प्रवृत्त होते हैं और मुमुक्षु ब्रह्म ज्ञान में प्रवृत्त होते हैं। इससे स्पष्ट है कि-विद्या कर्मांग नहीं है। यद्यपि अध्ययन की विधि ही अर्थज्ञान की ओर प्रवृत्त करती है, फिर भी विद्या कर्म का अंग नहीं है, क्योंकि-अर्थज्ञान और विद्या नितान्त भिन्न वस्तुएँ हैं। जैसे कि-ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ के स्वरूप के ज्ञान से, फल का साधक कर्मानुष्ठान, नितान्त भिन्न है। वैसे ही ब्रह्म स्वरूप विषयक ज्ञानात्मक वेदार्थ की प्रतीति से, ध्यान-उपासना आदि शब्द वाच्य, पुरुषार्थ की साधनरूप विद्या, एकदम भिन्न वस्तु है। उसके साथ कर्म का किसी प्रकार का संबंध नहीं है।

भाविशेषात् । ३।४।१३॥

यश्चोक्तं—“कुर्वन्नेवेह कर्माणि” इत्यात्मविदं ज्ञानादव्यावर्त्य धावज्जीवं कर्मानुष्ठाने नियमयतीति, तन्नोपपद्यते, अविशेषात्-नहि अयं नियमः, फलसाधनभूतस्वतंत्रकर्मविषय इति विशेष हेतुरस्ति विद्यांगभूतकर्मविषयत्वाऽप्युपपत्तेः। “कर्मणैव हि संसिद्धमास्थिता जनकादयः” इति च विदुषः त्वाप्रयाणादुपासन-स्यानुवर्तमानत्वात् ।

जो यह कहता कि—“कर्मों को करते हुए ही” यह श्रुति आत्मवेत्ता के लिए ज्ञान से पृथक् कर्मानुष्ठान का यावज्जीवन पालन करने का उपदेश देती है, यह बात भी असंगत है, उक्त श्रुति में, ऐसा कोई विशेष नियम नहीं बतलाया गया है, जैसा आप समझ रहे हैं। कर्म को, विद्या का अंग मानने पर भी उक्त बात बन सकती है। “जनकादि ने कर्म करते हुए सिद्धि प्राप्त की” इस वाक्य से तो, मरणपर्यन्त उपासनानुवर्ती कर्म की बात सिद्ध होती है।

एवमथंस्वाभाव्येन चोद्यं परिहृत्य “कुर्वन्नेवेह कर्माणि” इत्यस्य वाक्यस्यार्थमाह—

इस प्रकार उक्त वाक्य का विवेचन करके आपत्ति का समाधान किया गया, अब “कुर्वन्नेवेह कर्माणि” वाक्य का अर्थ बतलाते हैं—

स्तुतयेऽनुमतिर्वा ।३।४।१४॥

वा शब्दोऽवधारणार्थः “ईशावास्यमिदं सर्वम्” इति विद्या-प्रकरणाद् विद्यास्तुतये सर्वदा कर्मानुष्ठानानुमतिरियम् विद्या माहात्म्यात् सर्वदा कर्मकुर्वन्तपि न लिप्यते कर्मभिरिति हि विद्या स्तुता भवति । वाक्यशेषपरचैवमेवं दर्शयति “एवं त्वयि नान्ययेतो-ऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे” इति । अतो न कर्मांग विद्या ।

वा शब्द, अवधारण अर्थ में, प्रयुक्त है। “यह सब कुछ ईश्वर से व्याप्त है।” इत्यादि विद्या के प्रकरण से—विद्या की प्रशंसा के व्याज से, सदा कर्मानुष्ठान की अनुमति दी गई है। विद्या के माहात्म्य से सदा कर्म करते हुए भी, कर्मों से लिप्त नहीं होता, ऐसी विद्या की स्तुति की गई है। इसी प्रकरण के अंतिम वाक्य से उक्त बात स्पष्ट हो जाती है— “तुम मनुष्य होकर भी यदि इस प्रकार विद्या में स्थित रहोगे तो कोई भी कर्म तुम्हें लिप्त न कर सकेंगे।” इससे स्पष्ट है कि—विद्या कर्म का अंग नहीं है।

कामकारेण चैके ।३।४।१५॥

अपि चैवमेके राखिनः कामकारेण ब्रह्मविद्यानिष्ठस्य

गार्हस्थ्य त्यागमधीयते "किं प्रजया करिष्यामो येषां नोयमात्माऽयं लोकः" इति । विदुषो विरक्तस्य कामकारेण गार्हस्थ्यकर्मत्यागं ब्रुवदिदं वचनं ब्रह्मविद्यायाः कर्मानंगत्वं दर्शयति । यज्ञादिकर्मांगत्वे हि विद्यायाः विद्यानिष्ठस्य कामकारेण गार्हस्थ्यत्यागो न संभवति । अतो न विद्या कर्मांगम् ।

किसी एक वेद की शाखा में ब्रह्मविद्यापरायण व्यक्त के लिए गृहस्थ कर्मों के त्याग का भी उपदेश दिया गया है "मैं संतान से क्या प्राप्त करूँगा, इससे मेरे अभीष्ट लोक की प्राप्ति नहीं हो सकती" यह श्रुति विरक्त विद्वान के गार्हस्थ्य त्याग को बतलाकर यह सिद्ध करती है कि- ब्रह्मविद्या, कर्म का अंग नहीं है । विद्या यदि, यज्ञादि कर्म का अंग होती तो, विद्यापरायण व्यक्त के लिए गार्हस्थ्य कर्मों के त्याग की बात न कही गई होती । इससे स्पष्ट है कि-विद्या, कर्म का अंग नहीं है ।

उपमदं च ।३।४।१६॥

पुण्यापुण्यरूपस्य समस्तसांसारिकदुःखमूलस्य कर्मणो ब्रह्मविद्ययोपमदं च प्रतिबंधांतमधीयते । "भिद्यते हृदय ग्रंथि-
रिच्छते सर्वं संशयाः क्षीयते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे" इत्यादिकम् । तद्विद्यायाः कर्मांगत्वे न संगच्छते ।

पुण्य और पाप रूप समस्त सांसारिक दुःखों के मूल कर्म का विद्या से नाश हो जाता है, ऐसा प्रत्येक वेदांत वाक्य का मत है । "परावर ब्रह्म दृष्टि हो जाने पर हृदयस्थ अविद्या ग्रंथि छिन्न हो जाती है, सारे संशय नष्ट हो जाते हैं और कर्म राशियाँ क्षीण हो जाती हैं" इत्यादि । इसलिये विद्या की, कर्मांगत संगत नहीं होती ।

ऊर्ध्वरेतसु च शब्दे हि ।३।४।१७॥

ऊर्ध्वरेतस्स्वाश्रमेषु ब्रह्म विद्यादर्शनात् तेषु अग्निहोत्रदर्शा-
पूर्णमासादीनां यावज्जीवाधिकार श्रुतेः, श्रुतिविरुद्धानां स्मृतीनां
आप्रामाण्यात् । अत आह शब्दे हि-इति । वैदिक एव हि शब्दे ते

दृश्यंते—“त्रयोधर्मस्कन्धाः” ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजति” इत्यादौ । यावज्जीव-श्रुतिस्त्वविरक्त विषया ।

ऊर्ध्वरेतस-ब्रह्मचर्यं, वाणप्रस्थ, संन्यास आदि आश्रमों में भी ब्रह्मविद्या का चिन्तन विहित है, उनमें अग्निहोत्र दशपूर्णमास आदि कर्मों का अनुष्ठान तो हो ही नहीं सकता, इससे भी स्पष्ट है कि-विद्या, कर्म का अंग नहीं है, यदि कहे कि-ऊर्ध्वं रेतस आश्रम होने ही नहीं क्योंकि-“जीवन पर्यन्त अग्निहोत्र यज्ञ करता है” इत्यादि से-अग्निहोत्र आदि की जीवन पर्यन्त कर्त्तव्यता निश्चित होती है इसलिए जो स्मृति वाक्य, ऊर्ध्वरेतस आश्रमों का विधान बतलाते हैं वे श्रुति विरुद्ध होने से अप्रामाणिक हैं । इस पर सूत्रकार “शब्दे हि” कहकर बतलाते हैं कि-वैदिक शब्दों में ही इन आश्रमों का उल्लेख है जैसे-“धर्म की तीन शाखायें हैं ‘जो जंगल में श्रद्धापूर्वक उपासना करते हैं’ प्रव्राजक आत्म-लाभ के लोभ से ही प्रव्रजित होते हैं” इत्यादि । जीवन पर्यन्त कर्म का उपदेश देने वाली श्रुति, ग्रहस्थों के लिए है ।

परामर्शं जैमिनिरचोदनाच्चापवदति हि ।३।४।१८॥

यदिदं ‘त्रयो धर्मस्कन्धाः’ इत्यादौ वैदिके शब्दे ऊर्ध्वरेतस प्राश्रमदृश्यंते, अतस्ते सन्त्येवेतिनैतद्युपपद्यते, यतः “त्रयो धर्म-स्कन्धाः” इत्यादिषु तेषामाश्रमाणां परामर्शमात्रं क्रियते-अनुवादमात्र-मित्यर्थः । कुत एतत् ? अचोदनात्-अविधानादित्यर्थः । नहि अत्र विधिशब्दः श्रूयते, “त्रयोधर्मस्कन्धाः” इत्यादिना हि प्रकृतं प्रणवेन ब्रह्मोपासनं स्तूयते” ब्रह्मसंस्थोऽमृतारवमेति” इत्युपसंहारात् । अतोऽन्यार्थमनुवादमात्रमत्रक्रियते तेषामाश्रमाणाम् । “ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपास्यते” इति च देवयानविधिपरत्वात्तत्रापि नाश्रमान्तरविधि संभवः । अपि चापवदति हि श्रुतिमाश्रमांतरम् “वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयते” इत्यादिका । अत ऊर्ध्वं रेतस आश्रमा न संति इति जैमिनिराचार्यो मन्यते ।

का स्पष्ट उल्लेख न मिलने से अनुवाद से ही विधि की ही कल्पना करनी होगी ।

“ब्रह्मचर्यं समाप्त कर गृही होवे, गृही होकर बनी होवे, बनी होकर प्रव्रज्या ग्रहण करे, अथवा सामर्थ्य होने पर ब्रह्मचर्य से ही प्रव्रज्या ग्रहण करे, जहाँ भी वैराग्य का संचार हो वहीं से संन्यासी हो जावे” इस जावाली-पनिपद् में तो आश्रमों की विधि का स्पष्ट उल्लेख भी है । अन्य वाक्यों में भी जहाँ आश्रमों का वर्णन मिलता है, उसमें भी आश्रमों की अवश्य आश्रयता का उपपादन ही समझना चाहिए । इस प्रकार आश्रमों के सद्भाव के प्रमाणित हो जाने पर, ऋषि श्रुति, यावज्जीव श्रुति, अपवाद श्रुति आदि ग्रहस्थ विषयक ही हैं, ऐसा समझना चाहिए । और जो, श्रुति और स्मृति वाक्य, ब्रह्मवेत्ताओं के संबन्ध में आमरणकाल तक कर्तव्यता का विधान करते हैं, वह उन आश्रमों के धर्म के अनुसार विधान करते हैं । ऊर्ध्वरेतस आश्रमों में भी जो ब्रह्मविद्या का विधान किया गया है, उससे सिद्ध होता है कि-विद्या से पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है ।

२ स्तुतिमात्राधिकरणः—

स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् ।३।४।२१॥

इदमिदानीं चिन्त्यते “स एष रसानां रसतमः परमः परार्थो-
ऽष्टमो यदुद्गीथः” इति एवं जातीयकानिवाक्यानिऋत्वव्यव
भूतोद्गीथादिस्तुतिमात्रपराणि, आद्गोस्विन् उद्गीथादिषु
रसनमादिदृष्टिविधानार्थानीति । अत्र प्रतिपादितमुपासनपरत्व-
मंगीकृत्योपासनस्य पुरुषार्थत्वेन ऋतुपूपादाननियम उक्तः । किं
युक्तम् ? स्तुतिमात्रपराणीति । कुतः ? उद्गीथाद्युपादानात् ।
ऋत्वंगभूतानि हि उद्गीथादीन्युपादाय तेषां रसतमादित्वं
प्रतिपादितम् । यथा जुह्वादीनां पृथिव्यादित्वं प्रतिपादयतो वचनस्य
“इयमेव जुहूः स्वर्गो लोक आहवनीयः” इत्यादिकस्य तत्स्तुतिमात्र-
परत्वं, तथेहापि । तदिदमाशंकते-स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेत्-इति ।

उद्गीथाद्युपादानात्तस्तुतिमात्रमेवैषां वाक्यानां विवक्षितमिति चेत् ।

अब विचार करते हैं कि—“वह रसों का परमरस आठवाँ उद्गीथ नामक रस है” इस प्रकार के वाक्यों को यज्ञांग रूप उद्गीथ के स्तुतिपरक माना जाय अथवा उद्गीथ में रसतम दृष्टि का विधायक कहा जाय? पहिले तो—इसे उपासना परक, तथा उपासना के ही पुरुषार्थ साधक तथा यज्ञ में उपासना की आवश्यककर्त्तव्यता को अनियमित बतला चुके हैं, अब यह विचारना है कि युक्ति संगत क्या है? स्तुतिपरक ही कह सकते हैं, उद्गीथ आदि के उपादान से ऐसा ही समझ में आता है। यज्ञांग रूप उद्गीथ आदि के आधार पर उद्गीथ आदि सबकी, रसतम आदि भावों का प्रतिपादन किया गया है। जैसेकि—यज्ञांगजुहू में आदि के प्रतिपादक “पृथिवी ही जुहू है जो कि स्वर्ग में आहवनीय है” वाक्य जुहू के ही बोधक हैं। इसपर शंका करते हैं कि—संपूर्ण स्तुति के लिए अवलंबन किया गया है अथवा अंश में ही किया गया है? इस पर कहते हैं कि—उद्गीथ आदि का उपादान होने से इन वाक्यों का स्तुतिमात्र ही विवक्षित है।

सिद्धान्तः—अत्रोत्तरं—ना पूर्वत्वात्—इति । नृस्तुतिमात्रत्वमुपपद्यते, कुतः? अपूर्वत्वात्—अप्राप्तत्वात् । न हि उद्गीथादयो रसतमादितया प्रमाणान्तरेण प्रतिपन्नाः, येन तत्प्राशस्त्यबुद्ध्युत्पत्यर्थं रसतमादित्वेनानुद्येरन् । न चोद्गीथादिविधिरत्र सन्निहितः येन “इयमेवजुहूः स्वर्गो लोका आहवनीयः” इत्यादिवत्तदेकवाक्यत्वेन यथाकथाचन विधया तत्स्तुतिपरत्वमाश्रोयेत् । भूतः क्रतुवीर्यवत्तरत्वादिफलसिद्ध्यर्थमुद्गीथादिषु रसतमादिदृष्टिविधानमेव न्याय्यम् ।

सिद्धान्तः—यह वाक्य स्तुतिपरक मात्र नहीं है, ऐसा किसी भी श्रुति में प्रमाण भी नहीं मिलता। उद्गीथ आदि की रसतमता किन्हीं अन्य प्रमाणों से सिद्ध नहीं है उसमें तो श्रुति ही प्रमाण है इसलिए रसमयता को केवल स्तुतिमात्र नहीं कहा जा सकता। “इयमेव जुहु” की तरह उद्गीथ आदि स्तुतिपरक नहीं है “इयमेव जुहु” इत्यादि में तो,

किसी प्रकार विधिसमानार्थक मानकर स्तुतिपरता की कल्पना की गई है। यज्ञ की प्रबलतम फलावाप्ति की फलश्रुति के आधार पर उद्गीय आदि की रसमयता स्वीकारना ही न्याय संगत है।

भावशब्दाच्च ।३।४।२२॥

“उपासीत्” इत्यादि भावशब्दाच्च विधिपरत्वमेव न्याय्यम्। विधिप्रत्यय युक्तो हि क्रियाशब्दो विधेयमेव स्वार्थंभवगमयति। तस्मादुपासनविधानार्था एताः श्रुतयः।

“उपासीत्” इत्यादि भावात्मक शब्दों के प्रयोग से उद्गीयादि को विधिपरक मानना ही उचित है, विधिप्रत्यययुक्त क्रिया बोधक शब्दों से-अनुष्ठेय विषय का वास्तविक भ्रम प्रतीत होता है। इससे यह निश्चित होता है कि-ये श्रुतियाँ विधानार्थी हैं, केवल स्तुति मात्र नहीं।

३ पारिप्लवाधिकरणः—

पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् ।३।४।२३॥

“प्रतर्दनो ह वै देवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं घामोपजगाम” श्वेत-केतुर्हारीण्ये आग्र “इत्येवमादीनि वेदान्तेष्वारूपानानि कि पारिप्लव प्रयोगार्थानि उत विद्याविशेष प्रतिपादनार्थानिति चिन्तायाम् “आख्यानानिशंसन्ति” इत्याख्यानानां पारिप्लवे विनियोगात्त्र विद्या प्रधानत्वं न्याय्यम् इति चेत्—

दियोदास का पुत्र प्रतर्दन इन्द्र के प्रिय भवन में गया” श्वेतकेतु आरुण्य का” इत्यादि वेदांतों के आख्यान, क्या पारिप्लव प्रयोग हैं अथवा विद्या विशेष के प्रतिपादक हैं? इस विचार पर “आख्यायिकाओं का पाठ करो” इस विधि वाक्य के अनुसार तो, पारिप्लव प्रयोग ही प्रतीत होता है, विद्याविशेष मानना उचित नहीं है।

सिद्धान्तः—न सर्वाण्याख्यानि पारिप्लव प्रयोगे विनियोगमर्हन्ति, कुतः? विशेषितत्वात् विनियोगस्य। “आख्यानानिशंसन्ति” इत्युक्त्वा

तत्रैव "मनुर्वैवस्वतो राजा" इत्यादिना मन्वादीनामाख्यानानि विशेष्यन्ते, अतस्तेषामेव तत्र विनियोग इति उच्यते । तस्मान्न सर्वा वेदांतेष्वख्यातश्रुतयः पारिप्लवप्रयोगार्थाः अपि तु विद्या विध्यर्थाः ।

सिद्धान्तः—सभी आख्यान, पारिप्लव प्रयोग वाले नहीं माने जाने, प्रयोग के लिए विशेष आख्यानों का ही उल्लेख मिलता है—“आख्यानों का पाठ करो” ऐसा विधान बतलाकर “सूर्यवंश में मनु नामक राजा हुए” इत्यादि में विशेष आख्यानों का उल्लेख किया गया है । इससे निश्चित होता है कि—वेदांतों के सभी आख्यान पारिप्लव प्रयोग के लिए नहीं हैं, अपितु विद्यार्थक भी हैं ।

तथाचैकवाक्योपघात् ।३।४।२४।।

“आत्मा वा अरे दृष्टव्यः” इत्यादिविधिनैकवाक्यतयोपबंधाच्चख्यानानां विद्याविध्यर्थान्येव तानीति गम्यते, यथा—“सोऽरोदीत्” इत्येवमादेः कर्मविध्यर्थत्वम्, न पारिप्लवार्थत्वम् ।

“आत्मा को देखना चाहिए” इत्यादि विधिपरक वाक्यों की एक वाक्यता से ज्ञात होता है कि—उनसे संबद्ध आख्यायिकायें, विद्या विधि की पारिप्लवार्थक हैं, जैसे कि—“सोऽरोदीत्” इत्यादि कर्मविधि की पोषक हैं । इससे सिद्ध होता है कि—वेदांतों की आख्यायिकायें, पारिप्लवार्थक नहीं हैं ।

४ अग्नीधनाद्याधिकरणः—

अतएव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ।३।४।२५।।

स्तुतिप्रसंगादवांतरगसंतिविशेषाण्यंध्रयं चिन्तितम् विद्यावंत ऊर्ध्वरेतस प्राश्रमिणः संतीत्युक्तम् “ऊर्ध्वरेतस्तु च शब्दे हि” इत्यादिभिः सूत्रैः । इदानीमूर्ध्वरेतसो यज्ञाद्यभावात्तदंगिका विद्या न संभवतीत्याशंक्याह—अतएव चाग्नीन्धानाद्यनपेक्षा—इति । यत

ऊर्ध्वं रेतस आश्रमिणो विद्यासंबन्धित्वेन श्रुत्या परिगृह्यन्ते-“ब्रह्म-
संस्थोऽमृतत्वमेति-“ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते” एतमेव
प्रव्राजिनो लोकमिच्छंतः प्रव्रजन्तः “यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरति”
इत्यादिकया अतएवोर्ध्वरेतस्सु विद्या अग्नीन्धनाद्यनपेक्षा-अग्नीन्धनम्,
अग्न्याधानम्, आधानपूर्वकाग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिकर्मनपेक्षातेषु
विद्या । केवल स्वाश्रमविहित कर्मापेक्षेत्यर्थः ।

स्तुति के प्रसंग में दो आवश्यक बातों पर विचार प्रस्तुत करते हैं ।
“ऊर्ध्वरेतस्सु शब्दे हि” इत्यादि सूत्रों से ज्ञानी ऊर्ध्वरेतस आश्रम
घालों का माहात्म्य बतलाया । उन आश्रम घालों का यज्ञादि
कर्मों में अनधिकार है, यज्ञ की पोषिका विद्या में भी अनधिकार है?
ऐसी शंका करके उसका समाधान करते हैं । “ब्रह्मसंस्थ अमृतत्व प्राप्त
करते हैं “श्रद्धा और तप से अरण्य में उपासना करते हैं” आत्मलोक की
प्राप्ति के लिए संन्यासी संन्यास ग्रहण करते हैं “जिसके लिए ब्रह्मचर्य का
पालन करते हैं” इत्यादि श्रुतियों से ज्ञात होता है कि-ऊर्ध्वरेतस आश्रमों
का भी विद्या में अधिकार है, ऊर्ध्वरेतसों की विद्या अग्नि इंधन आदि
सापेक्ष नहीं है । अग्नीन्धन का तात्पर्य है, अग्न्याधान, अर्थात् आधान-
पूर्वक अग्निहोत्र दर्श पूर्णमास आदि कर्मों की विरक्त आश्रमघालों को
अपेक्षा नहीं होती । केवल अपने आश्रम से विहित कर्मों को ही अपेक्षा
होती है ।

५ सर्वपेक्षाधिकरणः—

सर्वपेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्वत् । ३।४।२६॥

यदि विद्या यज्ञाध्यनपेक्षैवामृतत्वं साधयति, तर्हि गृहस्थेष्वपि
तदनपेक्षैव साधयितुमर्हति, यज्ञादि श्रुतिरपि “विविदिपति” इति
शब्दात् कर्मणो वेदनांगतां न प्रतिपादयतीति ।

यदि विद्या, यज्ञादि के बिना ही अमृतत्व का साधन करती है तो
गृहस्थों में भी बिना यज्ञादि के अमृतत्व साधन कर सकती है? यज्ञादि

की प्रतिपादिका कर्म को विद्या का अंग नहीं बतलाती ऐसा ही समझना चाहिए ।

मिद्धान्त-अनग्राह-मर्वापेक्षा-इति । अग्निहोत्रादिसर्वकर्मपेक्षैव विद्याकर्मवत्सु गृहस्थेषु, कुतः? यज्ञादिश्रुतेः । “तमेतं वेदानुवचनेन-ब्राह्मणा विविदिपंति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन” इत्यादिना याज्ञादयो हि विद्यांगत्वेन श्रूयते । यज्ञादिना विविदिपंति वेदितु-मिच्छति, यज्ञादिभिर्वेदनं प्राप्तुमिच्छतीत्यर्थः । यज्ञादीनां ज्ञान साधनत्वे सत्येव यज्ञादिभिः ज्ञानं प्राप्तुमिच्छतीति व्यपदेश उपपद्यते, यथा असेर्हननसाधनत्वे सति असिना जिघांसतीति व्यपदेशः, अतो यज्ञादीनां, ज्ञानसाधनत्वमवगम्यते । ज्ञानं च वाक्यार्थज्ञानादर्थान्तर-भूतं ध्यानोपासनादिशब्दवाच्यं विशदतमप्रत्यक्षतापन्न स्मृतिरूपं निरतिशयप्रियमहरहरभ्यासाधेयातिशयमाप्रयाणादनुवर्त्तमानं मोक्ष-साधनमित्युक्तमस्माभिः पूर्वमेव, वक्ष्यति च “आवृत्तिसकृदुपदेशात्” इत्यादिना । एवं रूपं च ध्यानमहरहरनुष्ठीयमानैर्नित्यनिमित्त कर्मभिः परमपुरुषाराधनरूपैः परमपुरुषप्रसादद्वारेण जायत इति यज्ञादिना विविदिपंतीति शास्त्रेण प्रतिपाद्यते । अतः कर्मवत्सु गृहस्थेषु यज्ञादिनित्यनैमित्तिकसर्वकर्मपेक्षा विद्या । अश्ववत्-यथा गमन साधनभूतोऽश्वः स्वपरिकरबंधपरिकर्मपेक्षा, एवं मोक्षसाधन-भूताऽपि विद्या नित्यनैमित्तिककर्मपरिकरपेक्षा । तदिदमाह स्वयमेव भगवान् “यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्, यज्ञोदानं तपरचैव पावनानि मनोपिणाम् “यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदंत-तम्, स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विदंति मानवः” इति ।

उक्त मत पर मिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं कि-गृहस्थों के लिए विद्या, कर्मसापेक्ष है । कर्मयोगी गृहस्थों में, अग्निहोत्र आदि सर्व कर्म सापेक्ष विद्या का विधान है । ऐसा यज्ञादि प्रतिपादिका श्रुतियों में ही सिद्ध होता है । “ब्राह्मण, यज्ञ-दान-तप और अनासक्ति कर्म द्वारा इस आत्मा को

जानने की इच्छा करते हैं" इत्यादि श्रुति, यज्ञ आदि को विद्या का अंग बतलाती हैं। यज्ञादि से विविदिषा करते हैं का तात्पर्य है कि-यज्ञादि से विद्या प्राप्ति की इच्छा करते हैं। यज्ञादि सब ज्ञान के साधक हैं फिर भी यज्ञादि के सहयोग से ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा करते हैं, यही उक्त वाक्य का सही अर्थ है। जैसे कि खड्ग हिंसा का साधन हैं, फिर भी 'खड्ग से मारता है' ऐसा प्रयोग किया जाता है जो कि क्रियात्मकता का बोधक है। इस प्रकार यज्ञादिकों की ज्ञान साधकता ज्ञात होती है। उक्त वाक्य में जिस ज्ञान का उल्लेख है वह शास्त्रीय ज्ञान से भिन्न वस्तु है जो कि- ध्यान उपासना आदि शब्द वाच्य, सर्वाधिक प्रिय सुस्पष्ट प्रत्यक्षभावापन्न स्मृति स्वरूप है। यह मृत्यु काल पर्यन्त निरन्तर अहनिश अभ्यास द्वारा उत्कृष्ट होकर मोक्ष साधन करता है, यह बात पहिले ही सूत्र में कही गई है। "आवृत्ति सकृदुपदेशात्" में यही बात सूत्रकार भी कहते हैं परमपुरपार्थ मोक्ष की प्राप्ति के उपाय नित्य नैमित्तिक कर्म के, निरन्तर अनुष्ठान से, परम पुरुषोत्तम के अनुग्रह के फलस्वरूप ही उक्त ज्ञान का उदय होता है, यही बात "विविदिषन्ति" इत्यादि से प्रतिपादित है। कर्मयोगी गृहस्थों की उपासना निश्चित ही, यज्ञादि कर्म सापेक्ष है। जैसे कि-घोड़ा, गमन का साधन होते हुए भी, अन्याय्य गमनोपयोगी साधनों से सापेक्ष होता है, वैसे ही मोक्ष साधनभूत विद्या, नित्यनैमित्तिक आदि सहायक कर्मों से सापेक्ष होती है। भगवान् स्वयं ही उक्त तथ्य की पुष्टि करते हैं- "यज्ञ-दान-तप और कर्म कभी परित्याज्य नहीं हैं, अनुष्ठेय हैं, यज्ञ-दान और तप ही उपासकों को पवित्र करते हैं सारे भूत जिससे उत्पन्न होते हैं, जिसमे यह सारा जगत व्याप्त है, मानव, अपने कर्त्तव्य कर्म से उसकी उपासना करके उसे प्राप्त करते हैं।"

५. शमदमाद्यधिकरणः—

शमदमाद्युपेतः स्यात्तथापितुतद्विधेः तदंगतया तेषामप्यवश्यानुष्ठे-
यत्वात् ३।४।२७॥

ग्रहस्थस्य शमदमादीन्यप्यनुष्ठेयानि उत न ? इति चिन्तायाम्
शान्तरवाह्यकरणव्यापाररूपत्वात् कर्मानुष्ठानस्य शमदमादीनां तद-
विपरीत रूपात्वाच्चाननुष्ठेयानि ।

ग्रहस्थ के लिए शमदम आदि साधन भी अनुष्ठेय हैं या नहीं ? इस संशय पर विचारने पर समझ में आता है कि—कर्मानुष्ठान तो बाह्य और आभ्यन्तर साधनों द्वारा साध्य हैं तथा शमदम आदि इसके विपरीत हैं, इसलिए ग्रहस्थों द्वारा वे साध्य नहीं हैं ।

सिद्धान्तः—इति प्राप्त उच्यते—यद्यपि गृहस्थः करणव्यापार-रूप कर्मसु प्रवृत्तः तथापि स विद्वान् शमदमाद्युपेतः स्यात् कुतः ? तदंगतया तद्विधे विद्यांगतया तेषां विधेः "तस्मादेवंविच्छातो दांत उपरतस्तिक्षुः समाहितोभूत्वाऽत्मन्येवात्मानं पश्येत्" इति । विद्योत्पत्तेश्च तत्समाधानरूपत्वेन दृष्टपरिकरत्वाच्छ्रमादीनां, विद्यानिवृत्तये तेषां, शमदमादीनामप्यवश्यानुष्ठेयत्वाच्च तान्यप्यनुष्ठेयानि । न च करणव्यापार तद् विषयंरूपत्वेन कर्मणां शमदमादीनां च परस्परविरोधः, भिन्नविषयत्वात् विहितेषु करणव्यापारः, अविहितेषु प्रयोजनशून्येषु च तदुपशम इति । न च करणव्यापाररूप कर्मसु वर्तमानस्य वासनावशाच्छ्रमादीनामुपादेयत्वसंभवः, विहितानां कर्मणां परमपुरुषपाराधनतया तत्प्रसादद्वारेण निखिलविपरीतवासनोच्छेदहेतुत्वात् अतो गृहस्थस्य शमदमादयोऽप्यनुष्ठेयाः ।

उक्त मत पर सिद्धान्त कहते हैं—यद्यपि गृहस्थ करणव्यापार रूप कर्मों में ही प्रवृत्त होते हैं फिर भी वे गृहस्थ साधक शमदम आदि साधन कर सकते हैं, विद्या के अंगरूप से उनकी विधि कही गई है—“ऐसे ज्ञानी पुरुष शांत-दांत-उपरति-तिक्षु और समाहित होकर स्वतः ही आत्म-स्वरूप का दर्शन करते हैं ।” ज्ञानोत्पत्ति अर्थात् वित्त समाधानात्मक ज्ञान साधन में, शमदम आदि की प्रत्यक्ष उपयोगिता देखी जाती है । विद्या की उत्पत्ति के लिए शमदम आदि के अनुष्ठान की आवश्यकता है, इसलिए भी उनका अनुष्ठान आवश्यक है । कर्म और शमदम आदि नितांत विपरीत विषयक है इसलिए, करणव्यापार सपादित कर्म और उससे विपरीत रूप वाले शमदम आदि में परस्पर विरोध नहीं हो सकता । विहित विषयों में इंद्रियों के व्यापार को कर्मानुष्ठान तथा निष्प्रयोजन इंद्रियों

के व्यापार को निवृत्ति को उपशम कहते हैं। ऐसा नहीं है कि-करण-व्यापार रूप कर्मों में लगे रहने के कारण वासनावश शमदम आदि का पालन किया जा सके सारे ही कर्म जब परमपुरुष परमात्मा के आराधन में ही नियुक्त रहते हैं तो उनकी कृपा से सागी ही विपरीत वासनाओं का उच्छेद हो जाता है' इसलिए गृहस्थ से भी शमदम आदि अनुष्ठेय हैं।

७. सर्वान्नानुमत्याधिकरणः—

सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ।३।४।२८।।

वाजिनां छंदोगानां च प्राणविद्यायां "न हवा अस्यान्नं दग्धं भवति नानन्नं परिगृहीतं भवति" न हवा एवं विदि किंचनानन्नं भवति" इति प्राणविदः सर्वान्नानुमतिः संकीर्त्यंते' किमिमं प्राण-विद्या निष्ठस्य सर्वान्नानुमतिः सर्वदा, उत प्राणात्ययापत्ताविति विशेषविशेषादुपादानात् सर्वदा—

वाजसनेयी और छंदोग्य की प्राणविद्या में—'ये प्राणोपासकं क्रुद्धं भी अमक्ष्य नहीं खाते' प्राणोपासकों के लिए अमक्ष्य नहीं है "इत्यादि में प्राणोपासकों के लिए सर्वभक्षता कही गई है वह सर्वकालिक विधि है या आपत्कालीन ? विचारने पर तो ऐसा लगता है कि-प्राणो-पासकों के लिए जो विशेष निर्देश किया गया है, उससे तो सावकालिक ही प्रतीत होता है।

सिद्धान्तः—इति प्राप्त उच्यते-प्राणात्यये-इति । च शब्दोऽवघा-
रणे, प्राणात्ययापत्तावेव सर्वान्नानुमत्या, कि पुनः प्राणविदः ।
उपस्तिः किल चाक्रायणो ब्रह्मविदप्रसरो मटचीहतेषु दुभिक्ष-
दूषितोऽप्यभ्यगामे वसन्तनशनेन प्राणसंशयमापन्ने ब्रह्मविद्यानिष्पत्तये
प्राणानामनवसादमाकांक्षमाण इभ्यंकुल्मापान् खादन्तं भिक्ष-
भागस्तन च उच्छिष्टेष्वभ्योऽन्धे न विद्यन्त इति प्रत्युक्तः पुनरपि
"एवंपां मे देहि" इत्युक्त्वा तेन चैभ्येनोच्छिष्टेभ्य मादाय दत्तान्

कुल्माषान् प्रतिगृह्यानुषान्प्रतिग्रहमिभ्येनाथितः “उच्छिष्टं वै मे पोतं स्यात्” इति वदन् चाक्रायणः किमेते कुल्माषा अनुच्छिष्टा इति इभ्येन पर्यनुयुक्तः “न वा अजीविष्यमिमानखादन कामो म उदपानम्” इति कुल्माषा खादने स्वस्यप्राणसंशयापत्तेस्तावन्मात्र-खादनेन घृतप्राणस्य स्वस्योच्छिष्टोदकपान कामकारितं निषिद्धं स्यादित्युक्तवा स्वखादितशेषं जायायै दत्त्वात्तया च रक्षितान् अपरेद्युः याजनेनार्जिजोपया जिगिमिषुः पुनरपि प्राणसशयमापन्नः तानेवेभ्योच्छिष्टान् स्वोच्छिष्टभूतान् पर्युषितांश्चखाद । अतोब्रह्मविदा-मपि प्राणसंशय एव सर्वान्नानुमतिदर्शनादत्राविशेषेण कीर्तितमपि प्राणविदः सर्वान्नीनत्वं प्राणात्ययापत्तावेवेति निरचीयते ।

सिद्धान्तः—प्राण की रक्षा के लिए आपत् धर्म के रूप में ही अभक्ष्य भक्षण की बात कही गई है । मृतस्य वा शब्द अवधारण अर्थ में प्रयुक्त है जिससे तात्पर्य होता है कि—प्राणान्तक आपत्ति के समय ही सब कुछ ग्रहण किया जाना चाहिए । ब्रह्मोपासक मात्र के लिए प्रणान्तक आपत्ति आने पर सर्वभक्षता का उदाहरण मिलता है । केवल प्राणविद्योपासकों के लिए ही ऐसा विधान ही सो बात नहीं है ।

ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ उपस्ति चाक्रायण वज्र दग्ध कुशदेग के अकाल पीड़ित होने पर किसी महावतों के गाँव में जाकर बस गए, अनशन से जब उनकी संशयित दशा हो गई, जीवन का भी ठिकाना न रहा तब उन्होंने उर्द खाने वाले किसी महावत से अन्न की आंकाक्षा की, हस्तिपक ने कहा कि—मैं जो खा रहा हूँ उसके अतिरिक्त मेरे पास कुछ भी नहीं है, इस पर ऋषि ने वे झूठे उर्द ही मांग कर खाए, भोजन के बाद जब हस्तिपक उन्हें अपना झूठा जल देने लगा तब उन्होंने कहा कि मुझे झूठा पीने का पाप लगेगा । इस पर हस्तिपक ने पूछा कि—“बर्षा मेरे उर्द झूठे नहीं थे ?” इस पर ऋषि ने कहा कि—यदि मैं उर्द न खाता तो जीवित न रह पाता, इसलिए उसमें दोष नहीं है, परन्तु जल तो मुझे अन्यत्र भी प्राप्त हो सकता है, इसलिए उसे ग्रहण करने पर मुझे दोष होगा ।

इस प्रसंग में देखा जाता है कि—उर्द भोजन के अभाव में प्राण वियोग की संभावना थी, इसलिए जीवनोपयोगी उर्दों का भक्षण वैध ही रहा परन्तु यदि वह जल पीते तो उन्हें स्वेच्छाचारिता का दोष प्राप्त होता। उन्होंने अपने अर्धभूक्त उर्द स्त्री को दिये उसने उसमें से कुछ खाकर दूसरे दिन के लिए बचा लिये दूसरे दिन भी ऋषि ने उन अवशिष्ट उर्दों से अपने जीवन की रक्षा की। इस प्रसंग से निश्चित होता है कि—ब्रह्म-वेत्ता भी प्राणरक्षा के लिए अभक्ष्य भक्षण कर सकते हैं। इसी प्रकार प्राणोपासक भी अभक्ष्य भक्षण कर सकते हैं। प्राणात्यय काल में ही अभक्ष्य भक्षण की वैधता सिद्ध होती है।

अवाधाच्च ।३।४।२६॥

“आहार शुद्धो सत्त्व शुद्धिः सत्त्व शुद्धो ध्रुवा स्मृतिः” इति ब्रह्मविद्योत्पत्तावाहारशुद्धि विधानावाधादपि ब्रह्मविदां सर्वान्नी-
नत्वामापद्विषयमवगम्यते । एवं ब्रह्मविदामतिशयशक्तीनामपि
सर्वान्नीनत्व स्यापद्विषत्वात् प्राणविदोऽल्पशक्तेः सर्वान्नानुमति-
रामद्विषयेव ।

“आहार शुद्धि से आत्म शुद्धि तथा आत्म शुद्धि से भगवत्स्मृति होती है।” इत्यादि श्रुति में, ब्रह्मविद्या की सिद्धि के लिए, आहार शुद्धि वा महत्त्व बतलाया गया है, भगवच्चित्तन में बाधा न पड़े, इसलिए ब्रह्मवेत्ताओं को प्राणात्यय काल में सर्वभक्षण विहित है। प्राणोपासक तां अत्यल्प शक्तिशाली होते हैं उनके लिए तो उक्तकाल में सर्वभक्षण वैध ही है। आपत्तिकाल में ही अभक्ष्य भक्षण वैध है।

अपि स्मर्यते ।३।४।३०॥

अपि च आपद्विषयमेव सर्वान्नीनत्वं ब्रह्मविदामन्येषां च स्मर्यते—“प्राणसंशयमापन्नो योऽन्नमत्ति इतस्ततः, लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाभसा” इति ।

ब्रह्मवेत्ताओं के लिए, ऐसी आपत्कालीन सर्वान्नभक्षणता स्मृति से भी विहित है जैसे—“जो जीवन के संशयित हो जाने पर इधर उधर

कहीं से भी प्राप्त कर भ्रष्ट खा लेता है, वह कमल के पत्र के समान पाप से लिप्त नहीं होता ।”

शब्दश्चातोऽकामकारे ३।४।३१॥

यतो ब्रह्मविदामभ्येषां च सर्वाग्नीनत्वमापद्विषयमेव, अतएव सर्वेषामकामकारे शब्दः, कामकारस्य प्रतिबोधकः शब्दो वर्तते । अस्ति हि कठानां संज्ञितायां कामकारस्य प्रतिषेधकः शब्दः तस्माद् ब्राह्मण सुरां न पिबति पाप्मना नोत्सृजा इति पाप्मना संस्पृष्टो न भवानिति मत्वा ब्राह्मणः सुरां न पिबतीत्यर्थः ।

ब्रह्मवेत्ता के अतिरिक्त सभी को, आपतकाल में ही सर्वान्न भक्षण की आज्ञा दी गई है । कठ संहिता में स्वेच्छाचरण का स्पष्ट निषेध किया गया है—“मुझे पाप लगेगा ऐसा विचार कर ब्राह्मण सुरा पान नहीं करता ।” इसका तात्पर्य है कि—मैं पाप से स्पृष्ट न होने पाऊँ, इसलिए ब्राह्मण सुरापान नहीं करता ।

८. विहितत्वाधिकरणः—

विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि ।३।४।३२॥

यज्ञादि कर्मांगिकान्ब्रह्मविद्येत्युक्तम्, तानि च यज्ञादीनि कर्माण्यमुमुक्षुणा केवलाश्रमिणाऽप्यनुष्ठेयानि, उत न ? इति चिन्तायां, विद्यांगानां सतां केवलाश्रमशेषत्वे नित्यानित्यसंयोग विरोधः प्रसंज्यत् इति यज्ञादीनां केवलाश्रमधर्मत्वं न संभवति ।

यज्ञादि कर्म, ब्रह्मविद्या के अंग हैं यह बतलाया गया । अब विचार जाता है कि जो लोग आश्रम धर्म का पालन करते हैं, यज्ञादि कर्म उनके लिए भी विहित है कि नहीं ? इस पर विचार करने पर समझ में आता है कि जो लोग विद्योपासक नहीं हैं केवल आश्रम धर्म पालक हैं, वे यदि यज्ञादि कर्म करेंगे तो, नित्यानित्य संयोग रूपी विरोध की उपस्थिति होगी, इसलिए यज्ञादि कर्म केवल आश्रम पालकों के लिए नहीं हो सकते ।

सिद्धान्तः—इति प्राप्त उच्यते—आश्रमकर्मापि-इति । आश्रमस्य कर्मापि भवति । केवलाश्रमिणापि अनुष्ठेयानीत्यर्थः । कुतः ? “यावज्जीवंमग्निहोत्रं जुहोति” इत्यादिना विहितत्वात् जीव निमित्ततया नित्यवत् विहितत्वादित्यर्थः ।

उक्त संशय पर सिद्धान्त रूप से आश्रम कर्मापि सूत्र प्रस्तुत करते हैं, अर्थात् केवल आश्रम धर्म पालन करने वालों के लिए भी यज्ञादि कर्म अनुष्ठेय हैं । “जीवन पर्यन्त अग्निहोत्र करना चाहिए” इत्यादि में, जीवन की दैनिक चर्या की तरह यज्ञादि की नित्यता का विधान बतलाया गया है ।

तथा विद्यांगतया च “तमेतं वेदानुवचनेन” इत्यादिना विहित-त्वाद् विद्याशेषतयाप्यनुष्ठेयानीत्याह—

इसी प्रकार विद्या प्रकरणीय “तमेतं वेदानुवचनेन” इत्यादि श्रुति में यज्ञांगरूप विद्यानुष्ठान का भी विधान बतलाया गया है । यही बतलाते हैं—

सहकारित्वेन च ।३।४।३३।।

विद्योत्पत्तिद्वारेण विद्यासहकारितयाऽप्यनुष्ठेयानि । अग्नि-होत्रादीनामिव जीवनाधिकारस्वर्गाधिकारवत् विनियोगपृथक्त्वे-नोभयार्थत्वं न विरुध्यत इत्यर्थः ।

विद्योत्पादक, विद्या के सहकारी रूप से भी, यज्ञादि अनुष्ठेय हैं, जीवन पर्यन्त होने वाले, स्वर्गादि कामनाओं के प्रदाता, अग्निहोत्रादि की तरह—प्रयोग की पृथक्ता से—विद्या साधनता और आश्रम साधनता, दोनों ही कार्य अविच्छेद रूप से हो सकते हैं ।

सद्वदेव कर्मान्तरत्वमपि नास्तीत्याह—

उसी प्रकार कर्मान्तरता भी न होगी यह बतलाते हैं—

सर्वथापि त एवोभयार्थिणात् ।३।४।३४।।

सर्वथा—विद्यार्थत्वे, आश्रमार्थत्वेऽपि, त एव यज्ञादय इति

प्रतिपत्तव्यम्, न कर्मस्वरूपभेद इत्यर्थः । कुतः ? उभय लिगात्—
उभयत्रश्रुतौ यज्ञादि शब्दैः प्रत्यभिज्ञाप्य विनियोगात् । कर्मस्वरूप-
भेदे प्रमाणाभावाच्च ।

यज्ञादि क्रियायें चाहे विद्यांग हों या आश्रमांग हों, दोनों प्रकार से वह एक ही है, उनमें स्वरूपगत कोई भेद नहीं है । दोनों प्रकारों को श्रुतियों में यज्ञ ही कहा गया है, उनमें जो पृथक्ता है वह प्रयोग ही है । कर्म में स्वरूपगत कोई भेद ही ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता ।

अनभिभवं च दर्शयति । ३।४।३५॥

“धर्मोपापमनुदति” इत्यादिभिश्च तामेव यज्ञादि धर्मं
निदिश्य तै विद्याया अनभिभवं—पापकर्मभिरुत्पत्तिप्रतिबधभावं
दर्शयति । अहरहरनुष्ठीयमानैर्हि यज्ञादिभिर्विशुद्धेऽन्तःकरणे प्रत्यहं
प्रकृष्यमाणा विद्योत्पत्ते । अतस्त एवोभयत्र यज्ञादयः ।

“धर्म से पाप नष्ट होते है” इत्यादि में उन्हीं यज्ञादि धर्मों का उल्लेख करके, यह बतलाया गया है कि—पाप कर्मों से विद्योत्पत्ति में कोई बाधा नहीं होती । नित्य प्रति किये जाने वाले यज्ञानुष्ठानों से विद्युद्ध अन्तःकरण में नित्य विद्योत्पत्ति होती है । इस उदाहरण से स्पष्ट है कि विद्या और आश्रम दोनों जगह, यज्ञादि कर्म एक हैं ।

६ विधुराधिकरणः—

अन्तरा चापि तु तदृष्टेः । ३।४।३६॥

चतुर्णामाश्रमिणां ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्ति, विद्यासहकारिण
आश्रम धर्मा इति चोक्तम् । ये पुनराश्रमानन्तरा वत्तन्ते विधुरादयः
तेषां ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्ति न वा ? इति विषये आश्रम
धर्मोति कर्त्तव्यतारूपत्वाद्ब्रह्मविद्यायाः अनाश्रमिणां चाश्रमधर्माभावात्प्रा-
प्त्याधिकारः ।

चारों आश्रम वालों का ब्रह्म विद्या में अधिकार है तथा आश्रम धर्म विद्या के सहकारी हैं, ऐसा निर्णय हो चुका । अब विचार करते हैं कि जो आश्रम रहित विधुर आदि हैं उन्हें ब्रह्म विद्या में अधिकार है या नहीं? इस पर विचारने पर मत होता है कि—आश्रम धर्म वालों के लिए ही विद्या को कर्त्तव्य रूप से बतलाया गया है, इसलिए आश्रम रहित के लिए विद्या का प्रभाव है अतएव वे उसके अधिकारी नहीं हैं ।

सिद्धान्तः—इति प्राप्त उच्यते—अन्तराचापि तु—इति । तु शब्दः पक्षव्यावृत्त्यर्थः, च शब्दोऽवधारणे अन्तरा वर्त्तमानानाम्—अनाश्रमिणामपि विद्यायामधिकारोऽस्त्येव । कुतः ? यदृष्टेः—दृश्यते हि रैक्व भीष्मसंवर्त्तरीना अनाश्रमिणामपि ब्रह्मविद्यानिष्ठत्वम् न चाश्रम धर्मैरेव विद्यानुग्रह इति शक्यं वक्तुम् । “यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन” इति दानादीनामाश्रमेषु अनैकान्निकानामप्यनुग्राहकत्व दर्शनात् । यथोर्ध्वरेतस्सु विद्यानिष्ठत्वदर्शनादग्निहोत्रादिव्यतिरिक्तैरेव विद्यानुग्रह क्रियते, तथाऽनाश्रमिष्वपि विद्यादर्शनादाश्रमानियतैर्जपोपवासदानदेवताराधनादिभिर्विद्यानुग्रहः शक्यते कर्त्तुम् ।

उक्त संशय पर सिद्धांत रूप से “अन्तरा चापि तु” सूत्र प्रस्तुत करते हैं । तु शब्द पक्ष का व्यावर्त्तक है तथा च शब्द अवधारक है । जिससे निश्चित होता है कि—आश्रम रहित व्यक्तियों को भी ब्रह्म विद्या में अधिकार है, रैक्व, भीष्म, संवर्त्तक आदि आश्रम विहीन व्यक्तियों को ब्रह्म विद्या निष्ठता प्रसिद्ध है । आश्रम धर्म ही विद्या के उपकारक हैं ऐसा नहीं कह सकते । “यज्ञ दान तप और इन्द्रिय प्रत्याहार द्वारा” इत्यादि वाक्य में, आश्रम विशेष में, अनियत दान आदि धर्म से भी विद्या प्राप्ति की बात कही गई है । जैसे कि—ऊर्ध्वरेतस आश्रमों में अग्नि होत्र के बिना, केवल ध्यान आदि उपाय ही, विद्या निष्ठता के उपकारी साधन हैं वैसे ही, आश्रम रहित व्यक्ति भी जप उपवास दान देवताराधन आदि उपासना के उपकारी सामान्य साधनों से विद्या निष्ठ हो सकते हैं ।

अपि स्मर्यते ।३।४।३७।।

अपि च अनाश्रमिणामपि जपादिभिरेव विद्यानुग्रहः स्मर्यते—

“जप्येनापि च संसिध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः, कुर्यादिन्यत्र वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते” इति । संसिध्येत्-जपानुग्रहीतया विद्यया सिद्धो भवतीत्यर्थः ।

विद्या निष्पत्ता के जपानुग्रहों का अनाश्रमियों के लिए, स्मृति, में भी उल्लेख है “ब्राह्मण केवल जप से ही सिद्धि प्राप्त कर सकता है वह कुछ करे या न करे सत्कार उमे मैत्र कह कर ही पुकारेगा । “संसिध्येत्” का तात्पर्य है कि वह जपानुग्रहोपयुक्त विद्या से सिद्धि प्राप्त करते हैं ।

विशेषानुग्रहश्च ।३।४।३८॥

न केवलं न्यायस्मृतिभ्यां अयमर्थः साधनीयः, श्रूयतेचानाश्रम-नियतैर्धर्मविशेषैर्विद्यानुग्रहा “तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्यया आत्मानमन्विष्येत्” इति ।

न केवल युक्ति और स्मृति से ही उक्त मत पुष्ट होता है अपितु अनाश्रम नियत धर्म विशेष का श्रुति में स्पष्ट उल्लेख भी है “तप, ब्रह्म-चर्य, श्रद्धा और विद्या से आत्मानुबंधन करना चाहिए ।

अतस्त्विदं रज्यायो लिगाच्च ।३।४।३९॥

तु शब्दोऽवधारणे, अतः, अनाश्रमित्वात् इतरत् आश्रमित्यमेव ज्याया, अनाश्रमित्वमापद्विषयम्, शक्तस्यत्वाश्रमित्वमेवोपादेय-मित्यथा । भूयोधर्मकाल्पधर्मकयोरतुल्यकार्यत्वात् । लिगाच्च स्मृतेरित्यर्थः । स्मर्यते च शक्तं प्रत्याश्रमन्योपादेयत्वम्-“अनाश्रमी न तिष्ठेत् दनमेकमपि द्विजः” इत्यादिना । निवृत्तब्रह्मचर्यस्य मृतभार्यस्य च अविराग्ये सति दारालाभ आपत् ।

सूत्र में तु शब्द अवधारण अर्थ में प्रयुक्त है । आश्रमिता ही श्रेष्ठ है. अनाश्रमी रहना तो आपत धर्म है । सामर्थ्यवान के लिए तो आश्रम धर्म ग्रहण करना ही उचित है । अधिक गुण संपन्न और अल्प गुण संपन्न में समान कार्य साधकता तो ही नहीं सकती यह स्वभाव मुनिम वात है ।

ऐसा निग अर्थात् स्मृति का प्रमाण भी है "द्विज एक दिन भी आश्रम रहित होकर न रहे" इत्यादि जो व्यक्ति ब्रह्मचर्य से निवृत्त हो गया हो अथवा जिसकी पत्नी का देहांत हो गया हो, उसे किस भी प्रकार स्त्री की प्राप्ति न हो पावे तो वह उसका आपत काल ही है ।

११ तद्भूताधिकरणः—

तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमात्तद्रूपाभावेभ्यः

।३।४।४०॥

नैष्ठिकवैखानसपरिव्राजकाश्रमेभ्यः प्रच्युतानामपि ब्रह्म विद्यायामधिकारोऽसि न ? इति चिन्तायां, विधुरादिवदनाश्रमैकान्तैदीनादिभिर्विद्यानुग्रह संभवादस्थधिकारः ।

ब्रह्मचारी वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम से गिरे हुए पतित व्यक्ति को भी विद्या का अधिकार है या नहीं ? इस पर विचारने से ऐसा मत होता है कि जैसे अनाश्रमी विधुर आदि के लिए, वानादि सामान्य धर्मों से परिपुष्ट ब्रह्म विद्या की निष्ठा बतलाई गई है, वैसे ही इन लोगों को भी हो सकती है इसलिए इनका भी अधिकार है ।

सिद्धान्तः—इति प्राप्त उच्यते—तद्भूतस्य तु नातद्भावः, इति । तु शब्दः पक्षव्यावृत्त्यर्थः, तद्भूतस्य—नैष्ठिकाद्याश्रमनिष्ठस्य, नासद्भावः, अतयाभावः, अनाश्रमित्वेनावस्थानं न संभवति, कुतः ? तद्रूपाभावेभ्यो नियमात्—तद्रूपाणि तेषां नैष्ठिकादीनां रूपाणि, वेपाः धर्मा इत्यर्थः, तेषामभावाः, तद् रूपाभावः, तेभ्यः शास्त्रै नियमात् । नैष्ठिकाद्याश्रमप्रविष्टान् स्वाश्रमधर्मनिवृत्तिभ्यो नियच्छन्ति हि शास्त्राणि "ब्रह्मचर्याचार्यकुलवासी तृतीयोत्पंतमात्मानमाचार्यकुलोऽवसादयन्" इति "अरण्यमियात्ततो न पुनरेयात्" इति 'संन्यस्याग्निं न पुनरावर्चयेत्' इति च । अतो विधुरादिवत् नैष्ठिकादीनामनाश्रमित्वे नावस्थाना संभवान्न तानधिकरोति

ब्रह्मविद्या, जैमिनेरपि—इत्यविगानं दशयन्तुक्तं स्वाभिमतं दृढयति ।

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से उक्त सूत्र प्रस्तुत करते हैं । सूत्रस्य तु शब्द पक्ष का व्यावर्तिक है । ब्रह्मचर्य आदि आश्रमों में निष्ठ व्यक्तियों का अतद्भाव अर्थात् अनाश्रमी होना संभव नहीं है । उन आश्रम के रूपों को धारण करने के बाद उनके त्याग का कही भी विधान नहीं है । उनके रूप का तात्पर्य है उनका वेप अर्थात् धर्म का अभाव, उनके विहित शास्त्रीय नियमों के विरुद्ध है । ब्रह्मचर्य आदि आश्रमों में निष्ठ हो जाने के बाद उनसे च्युत होने का शास्त्र में निषेध किया गया है । “आचार्यं कुलवासी नैष्ठिक ब्रह्मचारी को सदा आचार्य कुल में ही वास करना चाहिए ।—“अग्नि का त्याग कर उसे पुनः नहीं ग्रहण करना चाहिए ।” अरण्य जाने के बाद पुनः नहीं लौटना चाहिए ।” इत्यादि से ज्ञात होता है कि—जो आश्रम धर्म से च्युत हो जाते हैं, उन्हें विधुर आदि की तरह ब्रह्म विद्या में अधिकार नहीं है । जैमिनि की सम्मति के अनुसार सूत्रकार ने अपना भी ऐसा ही दृढ मत स्थिर किया है ।

अथ स्यात्—नैष्ठिकादीनां ब्रह्मचर्यात् प्रच्युतानां प्रायश्चित्तात् अधिकारः संभवति, अस्ति च प्रायश्चित्तमधिकारलक्षणे निरूपितं—“अवकीर्णं पशुश्चतद्वत्” इति, अतः प्रच्युतब्रह्मचर्यस्य प्रायश्चित्त संभवात् कृतप्रायश्चित्तो ब्रह्मविद्यायामधिकरिष्यति—इति—तत्राह—

प्रश्न होता है कि—ब्रह्मचर्य से च्युत नैष्ठिक आश्रमों का प्रायश्चित्त भी तो हो सकता है, अधिकार लक्षण में उसके लिए प्रायश्चित्त का निरूपण करते हुए कहा भी गया है कि—“अतश्च्युत पशुयाग से शुद्ध होते हैं ।” इस प्रकार प्रच्युत ब्रह्मचर्य से व्यक्ति के प्रायश्चित्त के बाद ब्रह्मविद्या का अधिकार हो सकता है । इसका उत्तर देते हैं—

न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात्तद योगात् । ३।४।४१॥

अधिकारलक्षणोक्तमपि प्रायश्चित्तं नैष्ठिकादीनां तदभ्रष्टानां न संभवति, कुतः ? पतनानुमानात्तदयोगात्—नैष्ठिकादीनां प्रच्यु-

तानां पतनस्मृतेस्तस्य प्रायश्चित्तस्यासंभवात्—“आरूढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते द्विजः, प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुष्येत् स आत्महा” इति । अतो अधिकारलक्षणोक्तं प्रायश्चित्तमितर ब्रह्मचारिविषयम् ।

अधिकार लक्षण में जो प्रायश्चित्त का लक्षण है वह ब्रह्मचर्य विच्युत व्यक्तियों के लिए नहीं है, जो लोग नैष्ठिक ब्रह्मचर्य आदि से भ्रष्ट हो जाते हैं वैसे पतितों का कोई प्रायश्चित्त नहीं है । उनके लिए प्रायश्चित्त की असंभावना बतलाई गई है “नैष्ठिक आश्रमों में आरूढ़ होने के बाद जो द्विज पतित हो जाता है उस आत्महत्यारे के लिए कोई प्रायश्चित्त दृष्टिगोचर नहीं होता जिससे कि वह शुद्ध हो सके ।” इससे सिद्ध होता है कि जो अधिकार लक्षण में जिम प्रायश्चित्त का विधान है वह नैष्ठिक आश्रमों के लिए नहीं है ।

उपपूर्वमपीत्येके भावमशनवत्तदुक्तम् । ३।४।४२॥

नैष्ठिकादीनां ब्रह्मचर्यप्रच्यवनमुपपूर्वम्—उपपातकम्, महापात-केष्वपरिगणितत्वादिति तत्र प्रायश्चित्तस्य भावं विद्यमानतामप्येके आचार्या मन्यन्ते, अशनवत्—यथा मध्वदिनिषेधस्त प्रायश्चरां चोपकुर्वाणस्य नैष्ठिकादीनां च समानम्, तदुक्तं स्मृतिकारैः “उत्तरेयां चैतदविरोधि” इति गुरुकुलवासिनो यदुक्तं, तत्स्वाश्रमा-विरोध्युत्तरेषामप्याश्रमिणां भवतीत्यर्थः तद्वदिहापि ब्रह्मचर्यं प्रच्यवने प्रायश्चित्तसंभवाद् ब्रह्मविद्यायोग्यताप्यस्ति ।

किसी आचार्य का मत है कि जो नैष्ठिक आदि का पतन है वह उपपातक है, उसकी महापातकी में गणना नहीं है इसलिए उनका प्रायश्चित्त हो सकता है । जैसा कि मधुपान का निषेध और उसका प्रायश्चित्त उपकुर्वाण और नैष्ठिक दोनों के लिए समान है, वैसे ही यहाँ भी प्रायश्चित्त संभव है । जैसा कि स्मृतिकार का मत भी है कि—“यदि विगोपी न हो तो बाद के आश्रमों में भी यहाँ नियम लागू होगा” अर्थात् गुरुकुलवासी ब्रह्मचारी के लिए जो कहा गया यदि वह आश्रम के विरुद्ध न हो तो

परवर्ती वानप्रस्थ संन्यासी आदि नैष्ठिक में भी संभव है। इसलिए ब्रह्मचर्य से च्युत का प्रायश्चित्त संभव है और ब्रह्मविद्या में अधिकार भी हो सकता है।

बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च ।३।४।४३॥

तु शब्दो मत्तान्तरव्यावृत्त्यर्थः, उपपातकत्वे महापातकत्वेऽप्येते बहिभूता एव ब्रह्मविद्याधिकारिभ्यः, ब्रह्मविद्यामनधिकृता इत्यर्थः । कुतः ? स्मृतेः पूर्वोक्तात्पतनस्मरणात् । यद्यपि कल्मषनिर्हरणाय कैश्चिद्वचनैः प्रायश्चित्ताधिकारो विद्यते तथापि कर्माधिकारानुगुण शुद्धिहेतु प्रायश्चित्तं न संभवति “प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुध्येत् स ग्यात्महा” इति स्मृतेरित्यर्थः । आचाराच्च-शिष्टा हि नैष्ठिकादीन् भ्रष्टान् कृतप्रायश्चित्तानपि वर्जयन्ति, तेभ्यो ब्रह्मविद्यादिक नोपदिशन्ति, अतस्तेषां नास्ति ब्रह्मविद्यायामधिकारः ।

सूत्रस्थ तु शब्द उक्तमतान्तर का व्यावर्तक है। ब्रह्मचर्य स्खलन चाहे उपपातक हो या महापातक किन्तु स्खलित ब्रह्मचारी को ब्रह्मविद्या में अनधिकृत ही माना गया है। पूर्वोक्त स्मृति वाक्य में नैष्ठिक के पतन को प्रधान पातक ही माना है। यद्यपि पापों के प्रायश्चित्त के कुछ वचन प्रायश्चित्ताधिकार में मिलते हैं, फिर भी जिनसे सारा संसार कर्म के अधिकार की शिक्षा प्राप्त करता है उनकी शुद्धि के लिए कोई प्रायश्चित्त संभव नहीं है यही “प्रायश्चित्तं न पश्येत्” इत्यादि वाक्य का तात्पर्य है। पतित नैष्ठिकादिकों के प्रायश्चित्त का शिष्ट लोग भी विरोध करते हैं। उन्हें ब्रह्मविद्या का उपदेश नहीं देते, इसलिए उन लोगों का ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं है।

११. स्वाम्याधिकरणः—

स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ।३।४।४४॥

कर्मांगाश्रमाणि उदगीथादि उपासनानि किं यजमान कर्त्तुं-
काणि उत ऋत्विक्ककर्त्तुंकाणि ? इति चिन्तायां—यजमान

कर्त्तृकाणि इति आत्रेयोमन्यते, कुतः ? फलश्रुतेः, वेदांतविहितेषु
दहराद्युपासनेषु फलोपासनयोरेकाश्रयत्वदर्शनादिह च ऋतुफलाप्रति-
बंधरूपस्योद्गीथोपासनफलस्य यजमानाश्रयत्वश्रवणादित्यर्थः ।
न च गोदोहनादिवदंगाश्रयत्वेन यजमानकर्त्तृकत्वासंभवः गोदो-
हनादिषु हि अर्ध्वर्युकर्त्तृक प्रणयनाश्रयगोदोहनोपादनमन्येना-
शक्यम्, इह तु उद्गातृकर्त्तृकेऽप्युद्गीथे तस्योद्गीथादेः
रसतमत्वानुसंधानं यजमानेनैव कर्त्तृशक्यतं ।

कर्मा गाश्रित उद्गीथ आदि उपासनायें, यजमानकर्त्तृक हैं अथवा
ऋत्विक् ? इस पर आत्रेय का मत है कि यजमानकर्त्तृक हैं ऐसी ही फल-
श्रुति भी है । वेदांत की दहरादि उपासनाओं में उपासक और फलभोक्ता
एक ही व्यक्ति कहा गया है । वैसे ही फलावाप्ति यजमान के लिए
कही गई है इससे ज्ञात होता है कि-उपासना भी यजमान द्वारा ही होनी
चाहिए । यह नहीं कह सकते कि-यज्ञ के अंग गोदोहन आदि कर्म जैसे
यजमान द्वारा संभव नहीं हैं वैसे ही कर्मांग उपासनायें भी संभव नहीं हैं ।
गोदोहन तो अर्ध्वर्यु के लिए ही रूपाक में विहित है, वह अन्य के द्वारा
संभव नहीं है । किन्तु उद्गीथ आदि उपामनाओं में जो क्रियानुष्ठान होते
हैं उनमें उद्गाता कर्त्ता होता है फिर भी उद्गीथ की रसतम रूप से
होनेवाली उपासना तो यजमान से ही संपादित होती है ।

सिद्धान्तः—इति प्राप्तेऽभिधीयते—

इस पर स्वसिद्धान्त वतसाते हैं—

आत्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रियते ।३।४।४५।।

आत्विज्यम्—ऋत्विजः कर्मोद्गीथाद्युपासनमित्यौडुलोमि-
राचार्योमन्यते, कुतः ? प्रयोजनाय ऋत्विक् परिक्रियते, फलसाधन-
भूतस्य सांगस्य ऋतोनुपादानायेत्यर्थः । कर्मविधिषु “ऋत्विजो-
वृणोते” ऋत्विग्भ्यो दक्षिणां ददाति” इति ऋत्विक् कर्त्तृकत्व-

शास्त्रेण फलसाधनभूतं सांगं कर्म ऋत्विग्भिरनुष्ठेयमित्यवगम्यते, तदन्तर्गतानि कायिकानि मानसानि च कर्माणि ऋत्विक्कृतृकाण्डेव, न च शक्यशक्तौ तस्य निवन्धनम् । यद्यपि उद्गीयाद्युपासनं पुरुषार्थः, तथापि ऋत्विधिकृताधिकारत्वात् ऋतोश्च सांगस्य ऋत्विक्कृतृकत्वात् "यदेव विद्याया करोति तदेव वायं वत्तरम्" इति ऋत्विक्कृतृक क्रियोपयोगित्वेन विद्यायाम् नदककृतृकत्व श्रवणात् ऋत्विक्कृतृकान्येतानि दहग्दिपूपापनेषु ऋत्विक्कृतृकत्वाश्रवणात् "शास्त्रफलं प्रयोक्तारि" इति न्यायाच्च फलिकृतृकत्वमेव ।

बौद्धलोमि आचार्य का मत है कि-उद्गीय आदि उपासना ऋत्विक् कृतृक है । प्रयोजन सिद्धि के लिए यजमान ऋत्विक् को खरीद लेता है । अर्थात् फल सिद्धि के उपाय रूप कर्म के सांगोपांग संपादन के लिए उसका वरण करता है । "ऋत्विक् का वरण करता है" "ऋत्विजों को दक्षिणा देता है" इत्यादि कर्मकांडोक्त वाक्यों से ज्ञात होता है कि-फलसाधक कर्म और संपूर्ण कर्मांग ऋत्विजों से ही अनुष्ठेय हैं । उन अनुष्ठानों के अंतर्गत जितने भी कायिक मानसिक कर्म है वे सभी ऋत्विक् कृतृक हैं, यजमान में उनके करने की शक्ति है या नहीं, इसका प्रश्न ही नहीं उठता । यह तो एकमात्र ऋत्विजों का स्वायत्त कर्म है ।

यद्यपि उद्गीय आदि उपासनायें पुरुषार्थ साधक हैं फिर भी वह जब यज्ञाधिकार से अधिकृत है तो उन पर ऋत्विक् का ही अधिकार माना जावेगा "विद्या से जो करता है वह प्रबलतम होता है" इत्यादि में उपासना को यज्ञ की ही उपकारिणी कहा गया है, इसलिए उसका कर्त्ता ऋत्विक् ही निश्चित होता है । दहर आदि उपासनाओं में भी ऋत्विकोंका कृतृत्व बतलाया गया है "शास्त्र का फल प्रयोक्ता में ही होता है" इत्यादि नियम से ज्ञात होता है कि-फलभागी ऋत्विक् ही उपासना का कर्त्ता है ।

१२. सहकार्यन्तरधिकरणः

सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वत्तो विध्यादिवत् । ३।४।४६।।

“अस्माद् ब्राह्मणः पांडित्यं निर्विद्यबाल्येन तिष्ठासेत् बाल्यं च पांडित्यं च निर्विद्याथ मुनिः” इत्यत्र बाल्य पांडित्यवन्मौनमपि विधीयते, उत अनूद्यत ? इति विशये मौनपांडित्यशब्दयोःज्ञानार्थत्वात् “पांडित्यं निर्विद्य” इति विहितमेव ज्ञानं “अथ मुनिः” इत्यनूद्यते, विधि शब्दो नह्यत्र श्रूयत इति ।

“ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति पांडित्य से व्युत्पन्न होकर बाल्य में अवस्थान करे और फिर पांडित्य और बाल्य दोनों से अधिगत होकर मुनि हो जाय” इत्यादि में बाल्य और पांडित्य का जैसा विधान है मुनि का भी वैसा ही विधान होगा या नहीं ? इस संशय पर मत होता है कि—मौन और पांडित्य दोनों ही शब्द ज्ञानार्थक हैं “पांडित्य निर्विद्य” में जो ज्ञान अर्थ विहित है “अथमुनिः” में उसी का अनुवाद मात्र कर दिया गया है विधि बोधक शब्द का प्रयोग नहीं है । इसलिए मौन की विधि नहीं है ।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्ते ब्रूमः, सहकार्यन्तरविधिः, इति । तद्वत्तः विद्यावत्तः, विध्यादिवत् विधीयते इति यज्ञादिः सर्वाश्रम-धर्मः शमदमादिश्च विधिशब्देनोच्यते, आदिशब्देन श्रवणमनने-गृह्येते, सहकार्यन्तरविधिरित्यत्रापि, विधीयत इति विधिः, सहकार्यन्तरं विधश्चेति सहकार्यन्तरविधिः । एतदुक्तं भवति—यथा—“तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदियन्ति यज्ञेन दानेन” इत्यादिना “शांतो दान्तः” इत्यादिना च सहकारी यज्ञादिः शमदमादिश्च विधीयते; यथा च “श्रोतृष्वो मंतव्यः” इति श्रवण-मननेचार्यं प्राप्ते विद्यासहकारित्वेन गृह्येते, तथा “तस्माद् ब्राह्मणा पांडित्यं विधीयते इति ।

उक्त संशय पर सिद्धान्त रूप से "सहकार्यन्तर विधिः" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं। विद्या संपन्न शास्त्रीय यज्ञादि विधि की तरह मौन भी विहित है। जो विहित हो उसे ही विधि कहते हैं इस व्युत्पत्ति के अनुसार सारे ही आश्रम धर्म और शम दम आदि साधन सभी विधि हैं। आदि शब्द से श्रवण और मनन भी ग्राह्य हैं। विधि शब्द का अर्थ है-विहित विधि का विषय। सहकार्यन्तरविधि का तात्पर्य है-जो विधि विहित हो। कहने का तात्पर्य यह है कि-जैसे "ब्रह्मनिष्ठ वेदविहित यज्ञ और दान द्वारा आत्मा को जानने की इच्छा करते हैं" इत्यादि और "शान्तो दान्तः" इत्यादि वाक्यों से सहकारी यज्ञ आदि क्रिया एवं शम दम आदि विहित हैं तथा "श्रोतव्यः मन्तव्यः" इत्यादि से श्रवण और मनन का विधान बतलाया गया है वैसे ही-"तस्माद् ब्राह्मण पांडित्य निर्विद्य" इत्यादि वाक्य से पांडित्य वाल्य और मौन तीनों को ही, विद्या के सहकारी रूप से विहित कहा गया है।

मौनं च पांडित्यादर्यान्तरमित्याह-पक्षेणेति। मुनिशब्दस्य पक्षेण प्रकृष्टमननशीले व्यासादौ प्रयोग दर्शनात् मौनंपांडित्यवात्य-योर्द्वयोः तृतीयम्। यद्यपि "अथ मुनिः" इत्यत्र विधिप्रत्ययो न श्रूयते, तथापि मौनस्याप्राप्तत्वात् विधेयत्वमंगीकरणीयम्-अथ मुनिः स्यात्-इति। इदं च मौनं श्रवणप्रतिष्ठायग्निमननादर्यान्तरमुपासना-लंबनस्य पुनः पुनः संशीलनं तद्भावनारूपम्।

मौन और पांडित्य दोनों भिन्न स्वतंत्र पदार्थ हैं। मुनि शब्द की प्रकृष्ट मनन शील, व्यास आदि में विशेष प्रयोग देखा जाता है जिससे ज्ञात होता है कि मुनि, पांडित्य और वाल्य से भिन्न तीसरी वस्तु है। यद्यपि "अथ मुनिः" में विधि प्रत्यय का प्रयोग नहीं है, फिर भी अथत्र कहीं भी मौन विधि का प्रयोग न होने से इस वाक्यांश में ही विधि प्रत्यय को कल्पना करनी होगी। मुनी हुई वस्तु की धारण के लिए जिस मनन वृत्ति का विधान है, यह मौन उससे भिन्न स्वतंत्र वृत्ति है, यह उपासना के आलंबन की, चिन्ताप्रवाहात्मक उपास्य भावनारूप एक वृत्ति विशेष है।

तदेवं वाक्यार्थः, ब्राह्मणः विद्यावान् पांडित्यं निर्विद्य, उपास्यं ब्रह्मतत्त्वं परिशुद्धं परिपूर्णं च विदित्वा श्रवणमननाभ्यामप्राप्तं वेदनं प्रतिलभ्येत्यर्थः । तच्च भगवद्भक्तिकृतसत्त्वविवृद्धिकृतम् । यथोक्तं—
 “नाहं वेदैः” इत्यारभ्य “भक्त्या त्वनन्यया शक्यः ज्ञातुम्” इति । श्रुतिरच—“यस्य देवे पराभक्तिः” नायमात्मा प्रवचनेन” इत्यादिका । बाल्येन तिष्ठासेत्, बाल्यस्वरूपं चानन्तरमेव वक्ष्यते, बाल्यं च पांडित्यं च निर्विद्याय मुनिः स्यात्—बाल्यपांडित्ये यथावदुपादाय परिशुद्धे परिपूर्णं ब्रह्मणि मननशीलो भवेत्, निदिध्यासनरूपविद्या प्राप्तये । एवमेव त्रितयोपादानेन लब्धविद्यो भवतीत्याह “अमौनं च मौनं च निर्विद्याय ब्राह्मणः” इति । अमौनं मौनेतर सहकारि कलापः, तं च मौनं च यथावदुपादादानो विद्याकाष्ठां तदेक निष्पाद्यां लभेतेत्यर्थः । “स ब्राह्मणः केन स्यात्” उक्तादुपायात् किमन्योऽप्युपायोऽस्तीति पृष्ठे “येन स्यात्तेनेदृश एव” इति येन मौन पर्यन्तेन ब्राह्मणः स्यादित्युक्तम् तेनैवेदृशः स्यात् न केनाप्यन्येनोपायेनेति परिहृतम् ! अतः सर्वेष्वश्रमेषु स्थितस्य विदुषो यज्ञादिस्याश्रमघमं बत् पांडित्यादिकं मौन तृतीयं विद्यायाः सहकार्यन्तरं विधीयते ।

इस प्रकार उक्त वाक्य का अर्थ होगा कि— ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति विद्या-धान, पांडित्य अर्थात् विद्या प्राप्तकर, उपासना द्वारा विदुष्ट परिपूर्ण, उपास्य ब्रह्म सत्त्व को जानकर, श्रवण और मनन से, अप्राप्त वेदन (उपासनात्मक ज्ञान) को प्राप्त करे, जो कि भगवद्भक्तिकृत सत्त्व गुण से बढ़ाया गया है । जैसा कि—“नाहं वेदैः” से लेकर “भक्त्या त्वनन्या-शक्यः ज्ञातुम्” तक गीता में और “यस्य देवे पराभक्ति” नायमात्मा प्रवचनेन’ इत्यादि श्रुतियों में कहा गया है ।

“बाल्यं तिष्ठासेत्” में जो बाल्य का स्वरूप बतलाया गया है उसे भागे बतलावेंगे । “बाल्य और पांडित्य को अच्छी तरह जानकर मुनि होते हैं” इत्यादि का तात्पर्य है कि—बाल्य और पांडित्य के रूप में अभ्यस्त

होकर निदिध्यासन रूप विद्या की प्राप्ति के लिए परिशुद्ध परिपूर्ण ब्रह्म में मननशील होवे। इस प्रकार—वाल्म्य-पांडित्य और मौन के अनुशीलन से आत्मविद्या का ज्ञान होता है यही “अमौन और मौन दोनों से अधिगत होकर ब्रह्मनिष्ठ होते हैं” इत्यादि वाक्य में दिखलाया गया है। मौन के अतिरिक्त विद्या के सहकारी सभी साधन अमौन हैं। जो व्यक्ति मौन और अमौन को विधिपूर्वक ग्रहण करते हैं, वे भगवन्निष्ठात्मक विद्या की पराकाष्ठा को प्राप्त करते हैं। इसके बाद प्रश्न किया गया है कि—“वह ब्रह्मनिष्ठ इन उपायों के अतिरिक्त अन्य किसी उपाय के भी आश्रित होता है या नहीं?” इसका उत्तर दिया गया कि—“येन स्यात् तेनेदृश एव” अर्थात् मौन तक जिन साधनों की सहायता से ब्रह्मनिष्ठ होता है वे ही हैं अन्य नहीं। इसलिए सभी आश्रमों में स्थित उपासकों को यज्ञादि आश्रम धर्मों की तरह, पांडित्य वाल्य मौन आदि विद्या के सहकारी साधनों का पालन करना चाहिए।

अथ स्यात् सर्वेष्व्वाश्रमेषु, स्थितानां विदुषः तत्तदाश्रमधर्मं सहकारिणी मौनतृतीय सचिवा विद्या ब्रह्मप्राप्ति साधनमुच्यते, कथं तर्हि छांदोग्ये—“अभिसमावृत्य कुटुंबे शुचौ देशे” इत्यारभ्य “स खल्वेवं वर्त्तयन्त्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न च पुनरावर्त्तते” इति यावदायुषं गार्हस्थ्यधर्मेण स्थितिदरान्मुपपद्यते। अत आह—

प्रश्न होता है कि यदि सभी आश्रमों में स्थित उपासकों के लिए मौन आदि युक्त विद्या को ही ब्रह्म प्राप्ति का साधन कहा गया है तो छांदोग्य-में “विद्याध्ययन समाप्त कर पवित्र ग्रहस्य आश्रम में—“तया—“वह जीवन पर्यन्त ऐसा करते हुए ब्रह्म लोक की प्राप्ति करता है पुनः सौटकर नहीं आता” इत्यादि से जीवन पर्यन्त ग्रहस्थाश्रम में ही रहने का समर्थन क्यों किया गया है? इसी का उत्तर देते हैं—

कृत्स्नभावात् गृहिणोपसंहारः।३।४।४७॥

तु राब्दरचोद्यं व्यावर्त्तयति, कृत्स्नभावात्—कृत्स्नेषु भावात् कृत्स्नेष्व्वाश्रमेषु विद्यायाः सद्भावात् गृहिणोऽप्यस्तांति तेनोपसंहारः

विद्या के साधन रूपी सर्वोत्कृष्ट कर्मों से विद्या की उत्पत्ति हो जाने पर भी उक्त प्रकार की ही अनियमित फल व्यवस्था है, इस स्थिति में भी प्रतिबन्धाभाव होने पर ही फलावाप्ति ही सकती है, प्रबलतम प्रतिबन्धक कर्म ही प्रतिबन्धी कर्मों को नष्ट कर फलोन्मुख कर सकता है इस पर विशेष शंका यह होती है कि फल की साधक-मुक्ति जिस कर्म से प्रकट होती है, वह कर्म अन्यान्य कर्मों से तो निश्चित ही प्रबलतम होता है, इसलिए अन्य कर्म उसके प्रतिबंधक हो सकते हैं ? उपासक का अपकारी कोई प्रबलतम प्राक्तन कर्म ही प्रतिबंधक होता है । सूत्र में की गई द्विरुक्ति अध्याय समाप्ति की ओतक है ।

तृतीय अध्याय चतुर्थ पाद समाप्त

चतुर्थ-अध्याय

प्रथम पाद

१. आवृत्यधिकरणः--

आवृत्ति सकृदुपदेशात् ।४।१।१॥

तृतीय अध्याये साधनैः सह विद्या चिन्तिता । अथेदानीं विद्या स्वरूपविशोधनपूर्वकं विद्याफलं चिन्त्यते ।

तीसरे अध्याय में साधनों के साथ विद्या पर विचार किया गया । अब विद्या के स्वरूप पर विमंश करते हुए विद्या के फल पर विचार करते हैं ।

तत्र "ब्रह्मविदाप्नोति परम्"—तमेव विदिस्वाऽतिमृत्युमेति "ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति"—यदा पश्यः पश्यते स्वमवर्णं "इत्यादि वेदांत वाक्येषु ब्रह्मप्राप्ति साधनतया विहितंवेदनं किं सकृत-कृतमेव शास्त्रार्थः उत असकृत् आवृत्तमिति ? संशयः, किं युक्तम् ? सकृतकृतमिति "ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति" इति वेदनमात्रस्यैव विधानात्, असकृदावृत्तौ प्रमाणाभावात् । न चावघातादिवद वेदनस्य ब्रह्मापरोक्षं प्रति दृष्टोपायत्वाद्यावत् कार्यमावृत्तिरिति शक्यं वक्तुम्, वेदनस्य दृष्टोपायत्वाभावात् । ज्योतिष्टोमादि कर्माणि, वेदांतविहितं च वेदनं परं पुरुषाराधनरूपम्, आराधि-ताच्च परमपुरुषात् धर्मार्थकाममोक्षाख्यपुरुषार्थावाप्तिरिति हि "फलमत उपपत्तेः" इत्यत्र प्रतिपादितम् । अतो ज्योतिष्टोमादिवद यपाराद्धं सकृतकृतमेव शास्त्रार्थः ।

“ब्रह्मवेत्ता परमपद प्राप्त करता है” उसे जान कर मृत्यु का अतिक्रमण करता है “ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही होता है” जब दृश्य रूक्मवर्ण को देखता है” इत्यादि वेदान्त वाक्यों में ब्रह्म प्राप्ति के साधन रूप से जिस वेदन का विधान बतलाया गया है वह एक बार कर्तव्य है अथवा बार-बार ? ऐसा सशय होने पर विचार होता है कि—“ब्रह्म को जान ब्रह्म ही होता है” इस वाक्य में एक मात्र वेदन का विधान बतलाया गया है, इसलिए एक बार की जानकारी ही विहित है, बार-बार की आवृत्ति का प्रमाण नहीं मिलता। वेदन ऐसा कोई प्रत्यक्ष उपाय तो है नहीं जिससे कि—प्रत्यक्ष ब्रह्म में उसे बार-बार स्पर्श कराया जा सके, ब्रह्म और वेदन दोनों ही परोक्ष हैं जो एक बार ही संभव हैं। ज्योतिष्टोमादि यज्ञ और वेदान्त विहित वेदन दोनों ही परंपुरुष के आराधनरूप उपाय हैं, इनसे परम पुरुष की आराधना करने पर धर्म-अर्थ काम मोक्ष आदि पुरुषार्थ की प्राप्ति होती है, ऐसा “फलमत उपपत्तोः” में प्रतिपादन किया गया है। अतः ज्योतिष्टोम आदि की तरह वेदन भी एक शास्त्रीय साधन (शब्द) है जो कि एक बार ही कर्तव्य है।

सिद्धान्तः—इति प्राप्ते प्रचक्षमहे-आवृत्तिरसकृत्-इति । असकृदा-
वृत्तमेव वेदनं शास्त्रार्थः कुतः? उपदेशात्-ध्यानोपासनपर्यायेण वेदन-
शब्देनोपदेशात् । तत्पर्यायत्वं च विद्युपास्तिध्यायतीनामेकस्मिन्
विषये वेदनोपदेशपरवाक्येषु प्रयोगादवगम्यते । अथाहि—“मनो
ब्रह्मेत्युपासीत्” इत्युपासनोपक्रांतोऽर्थः “भाति च तपति च कीर्त्या
यशसा ब्रह्मवर्चसेन स एवं वेद” इति विदिनोपसंहियते । तथा
“यस्तद् वेद यत्स वेद स मयंतदुक्तः” इत्युपक्रमे विदनोकं रैक्वस्य
ज्ञानम् “अनुम एतां भगवो देवतां शाधि यां देवतामुपास्ते” इत्युपा-
सनोपसंहियते तथा “ब्रह्मविदाप्नोति परम्” इत्यादि वाक्य समाना-
र्थेषु वाक्येषु “आत्मा वा अरे दृष्टव्यः श्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्या-
सितव्यः “ततस्तु तं पश्यति निष्कलं तत ध्यायमानः” इत्यादियु
ध्यायतिना वेदनमभिधीयते ध्यानं च चिन्तनं, चिन्तनं च स्मृति

संततिरूपम्, न स्मृतिमात्रम्, उपास्तिरपि तदेकार्थः एकाग्रचित्तवृत्तिनैरन्तर्ये प्रयोगदर्शनात् तदुभयैकाव्यात् असकृदावृत्तसन्ततस्मृतिरिह ब्रह्मवेद "ब्रह्मैव भवति" ज्ञात्वादेवं मुच्यते सर्वपाशैः इत्यादिवु वेदनादिशब्दैरभिधीयते, इति निश्चीयते ।

उत मत पर सिद्धान्त रूप मे सूत्र प्रस्तुत करने हैं कि-वेदन पुनः पुनः आवृत्ति के अर्थ में ही प्रयुक्त है । शास्त्रों में ध्यान और उपासना आदि शब्दों के पर्याय रूप से वेदन शब्द का प्रयोग किया गया है । वेदनोपदेश परक वाक्यों में, प्रायः, वेदन ध्यान और उपासना आदि शब्द, एक ही अर्थ में प्रयुक्त हैं । जैसे कि-"मनोब्रह्मोऽनुपासीत्" इत्यादि में जो उपासना शब्द मे अभिधेय है वही "भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन एवं वेद" इत्यादि में वेदन शब्द से विधेय है । तथा-"यस्तद वेद" इत्यादि वेद शब्द से उल्लेख्य रैक्व के ज्ञान का "अनुमत्ता भगवो" में उपासना से उपसंहार किया गया है । "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" वाक्य के समानार्थक "आत्मा वा अरे दृष्टव्यः "ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः" आदि वाक्यों में वेदन अर्थ में ध्यान शब्द का प्रयोग किया गया है। ध्यान और चिन्तन समानार्थक हैं, प्रवाहमयी स्मृति को ही चिन्तन कहते हैं, केवल स्मृति को चिन्तन नहीं कह सकते, उपासना शब्द भी इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है । एकाग्रचित्तवृत्ति और निरन्तर दोनों का एक ही अर्थ में प्रयोग किया गया है इसलिए "ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति" "ज्ञात्वादेवं मुच्यते सर्वपाशैः" इत्यादि में प्रयुक्त वेदन आदि शब्द निरन्तर स्मृतिरूप पुनः पुनः आवृत्ति अर्थ के ही जापक हैं ऐसा निश्चित होता है ।

लिगाच्च ॥४१॥२॥

लिंग, स्मृतिश्चायमर्थोऽवगम्यते । स्मर्यते हि मोक्ष साधनभूतं वेदनं स्मृति संततिरूपम् "तद्रूपप्रत्ययेचैका संततिश्चान्य निस्पृहा, तद्ध्यानं प्रथमैः षड्भिरगैर्निष्पाद्यते तथा" इति तस्माद सकृदावृत्तमेव वेदनं शास्त्रार्थः ।

लिंग का तात्पर्य है स्मृति । इसी अर्थ में स्मृति भी वेदन शब्द का प्रयोग करती है । मोक्ष की साधन रूप प्रवाहमयी स्मृति को ही स्मृति

शास्त्र में भी वेदन कहा गया है, जैसे कि—“तद्रूप प्रत्ययेचैका संतति-
श्चान्य निस्पृहा तद्ध्यानं प्रथमैः षड्भिरंगै निष्पाद्यते तथा” इत्यादि ।
इसलिए वेदन शब्द का अर्थ सकृत् आवृत्ति ही निश्चित होता है ।

२ आत्मत्वोपासनाधिकरणः—

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ।४।१।३।।

इदमिदानीं चिंत्यते-किमुपास्यं ब्रह्मोपासितुरन्यत्वेनोपास्यम्,
उतोपासितुरात्मत्वेन-इति । किं युक्तम्? अन्यत्वेनेति कुतः उपासितुः
प्रत्यगात्मनोऽर्थान्तरत्वाद् ब्रह्मणः अर्थान्तरत्वं च “अधिकं तु भेद
निर्देशात् “अधिकोपदेशात् “नेतरोऽनुपपत्तेः” इत्यादिपूपादितम् ।
यथावस्थितं च ब्रह्मोपास्यम्, अययोपासने हि ब्रह्मप्राप्तिरप्ययथा-
भूतास्यात्—“यथाऋतुरस्मिन् लोके भवति तथेतः प्रेत्य भवति” इति
न्यायात् । अतोऽन्यत्वेनोपास्यमिति ।

अब विचारते हैं कि—उपास्य ब्रह्म की, उपासक से भिन्न मानकर
उपासना की जानी चाहिए अथवा उपासक से अभिन्न मानकर? इस पर
विचारने से मत होता है कि—भिन्न मानकर ही करनी चाहिए क्योंकि
उपासक जीवात्मा की परमात्मा से स्वाभाविक भिन्नता है,
“अधिकं तु भेद निर्देशात् “अधिकोपदेशात्” “नेतरोऽनुपपत्तेः” इत्यादि
सूत्रों में इन दोनों की भिन्नता का समर्थन भी किया जा चुका है । ब्रह्म
की उपासना एक निश्चित वस्तु है यदि उपासना को निश्चित नहीं
मानेंगे तो, ब्रह्म भी अनिश्चित हो जायेगा, ऐसा ही “जैसा इस लोक में
आचरण करता है वंसा ही मृत्यु के बाद होता है” इस नियम से ज्ञात
होता है । इसलिए भिन्न मानकर ही उपासना करनी चाहिए ।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्तेऽभिधीयते-आत्मेति तु-इति । तु शब्दोऽव-
धारणे, उपासितुरात्मत्वेनोपास्यम्, उपासिता प्रत्यगात्मा स्वयं
स्वरात्तोरस्य यथा आत्मा, तथा स्वात्मनोऽपि परं ब्रह्मात्मत्वेनोपासो-
त्यर्थः । कुतः? एवं हि उतगच्छन्ति पूर्वं उपासितारः—“त्वं वा महमस्मि

भगवो देवते ग्रहं वै त्वमसि" इति । उपासितुरर्थान्तरभूतं ब्रह्मोपासितारोऽहमिति कथनमप्युपगच्छंतीत्यत्राह-ग्राहयन्ति च-इति । इममर्थं मविरुद्धमुपासितु न ग्राहयन्ति शास्त्राणि-तान् प्रत्युपादयन्तीत्यर्थः ।

सिद्धान्त-उक्त मत पर सूत्रकार कहते हैं "आत्मेति शु" तु शब्द अवधारणार्थक है उपासक की आत्मा में ही उपास्य का चिन्तन करना चाहिए । उपासक जीवात्मा जैसे अपने शरीर का आत्मा है, वैसे ही उसका आत्मा, परमात्मा है जो कि उपास्य है । ऐसा ही "हे भगवो देवते! तू ही मैं हूँ और मैंही तुम हो" इत्यादि पूर्व उपासकों के भाव से ज्ञात होता है । उपासक से भिन्न परब्रह्म को उपासक, मैं हूँ "ऐसा कैसे कह सकता है । इस पर सूत्रकार कहते हैं "ग्राहयन्ति च" अर्थात् उपासक का ही ऐसा भाव नहीं है अपितु इसी अर्थ का शास्त्र भी प्रतिपादन करते हैं ।

"य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" इति तथा-"सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः ऐतदात्म्यमिदं "सर्वम् "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तत्त्वानिति" इति च सर्वस्यचिदचिद्वस्तुनस्तत्त्वात्सत्त्वलत्यादनत्वात्तन्नियाम्यत्वाच्छरीरत्वाच्च सर्वस्यायमात्मा, अतः स आत्मा, अतो यथा प्रत्यगात्मनः स्वशरीरं प्रत्यात्मत्वात् "देवोऽहं मनुष्योऽहम्" इत्यनुसंधानं, तथा प्रत्यगात्मनोऽप्यात्मात्वात् परमात्मनः तस्याप्यहमित्येवानुसंधानं युक्तमिति ।

"जो आत्मा में स्थिर है, जिसे आत्मा नहीं जानता आत्मा ही जिसका शरीर है जो कि आत्मा का संयमन करता है वही अमृत अन्तर्यामी आत्मा है" तथा "हे सोम्य! ये सारी प्रजा सन्मूला सदायतना और सत्प्रतिष्ठा है यह सारा जगत आत्म्य है" यह सब कुछ ब्रह्म है, उसी से उत्पन्न रक्षित और उसी में लीन है "इत्यादि वाक्यों में समस्त चिदचिद् वस्तु को उस परमात्मा से उत्पन्न रक्षित और उसी में लीन बतलाते हुए उसी से नियत और उसका शरीर स्थानीय दिखलाया गया है, जिससे सिद्ध होता है कि यह परमात्मा सब की आत्मा है ।

जैसे कि-जीवात्मा अपने शरीर का आत्मा होने के कारण "मैं देवता हूँ, मैं मनुष्य हूँ" इत्यादि अनुभव करता है वैसे ही जीवात्मा अपने आत्मा परमात्मा में भी "तुम मैं हो" ऐसी अनुभूति करता है तो क्या असंगति है।

एवं शाल्लैरुपादितं सर्वबुद्धीनां ब्रह्मैकनिष्ठत्वेन सर्वशब्दानां ब्रह्मैकनिष्ठत्वमुपगच्छंतः "स्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि भगवो देवते" इति व्यतिरेकेणोक्तवन्तः, एवं च "अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद"-प्रकृतस्नो ह्येष आत्मेत्येवोपासीत्"- "सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद" इत्यात्मत्वानुसंधान निषेधः। "पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा" इति पृथक्त्वानुसंधानविधानं चाविरुद्धम् अहमिति स्वात्मतयाऽनुसंधानादन्यत्वानुसंधाननिषेधो रक्षितः, स्वशरीरात्मनोऽधिकत्वानुसंधानवत् स्वात्मनोऽपि परमात्मनोऽधिकत्वानुसंधानात् पृथक्त्वानुसंधानविधानं च रक्षितम्। अधिकस्य ब्रह्मणः प्रत्यगात्मन आत्मत्वात्तस्य च ब्रह्मशरीरत्वात् निषेध वाक्ये "अकृतस्नो ह्येषः" इत्युक्तम्। अत उपासितुरात्मत्वेन ब्रह्मोपास्यमिति स्थितम्।

"हे भगवो देवते ! तुम मैं हूँ, और मैं तुम हो" इत्यादि में जो व्यतिरेक भाव से अभिन्नता दिखलाई गई है, वह सभी बुद्धियों की ब्रह्मैकनिष्ठता और सभी शब्दों की ब्रह्मैकनिष्ठता परिलक्षित करती है तथा "जो देवता की भिन्न भाव से उपासना करते हुए यह विचारता है कि मैं भिन्न हूँ वह नहीं जानता" इत्यादि में आत्मत्व के अनुसंधान न करने का निषेध किया गया है। "आत्मा और प्रेरिता को पृथक् मानकर" इत्यादि में जो पृथक्ता के अनुसंधान का विधान बतलाया गया है वह अविरुद्ध है। अहं से किये गये अपने आत्मा के अनुसंधान से अन्यत्व के अनुसंधान का निषेध हो जाता है तथा अपने शरीर से श्रेष्ठ अपने आत्मा के अनुसंधान की तरह अपने आत्मा से भी श्रेष्ठ परमात्मा के अनुसंधान के विधान से पृथक्ता के अनुसंधान की बात भी बन जाती है। परमात्मा जीवात्मा से श्रेष्ठ है तथा जीवात्मा उसका

शरीर है, यही बात "अकुरस्नो ह्येष" इत्यादि निषेध वाक्य में बतलाई गई है। इससे सिद्ध होता है कि—उपासक के आत्मा के रूप में ही ब्रह्म की उपासना करनी चाहिए।

३. प्रतीकाधिकरणः—

न प्रतीके न हि सः ।४।१।४॥

"मनो ब्रह्मेत्युपासीत्" स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते "इत्यादि प्रतीकोपासनेष्वप्यात्मत्वानुसंधानं कार्यम्, उत न ? इति चिन्तायां" मनो ब्रह्मेत्युपासीत्" इति ब्रह्मोपासनत्वसाम्याद्-ब्रह्मणश्चोपासितुरात्मत्वादात्मेत्येवोपासीतेति ।

"मन की ब्रह्मरूप से उपासना करनी चाहिए" इत्यादि में जो प्रतीकोपासना बतलाई गई है उनमें आत्मत्व का अनुसंधान करना चाहिए या नहीं? इस पर विचारने पर मत होता है कि—"मनोब्रह्मेत्युपासीत्" इत्यादि में ब्रह्मोपासनत्व का साम्य है इसलिए उपासक के आत्मा ब्रह्म की, मन में, आत्मा रूप से ही उपासना करनी चाहिए।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्तेऽभिधीयते—न प्रतीके—इति । प्रतीके-नात्मत्वानुसंधानं कार्यम्, न हि सः, न हि उपासितुरात्मा प्रतीकः । प्रतीकोपासनेषु प्रतीकैवोपास्यः, न ब्रह्म । ब्रह्म तु तत्र दृष्टिविशेषणमात्रम् प्रतीकोपासनं हि नाम अब्रह्मणि ब्रह्म दृष्ट्या-नुसंधानम्, तत्रोपास्यस्य प्रतीकस्योपासितुरात्मत्वाभावात् तथाऽनुसंधेयम् ।

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से "न प्रतीके" सूत्र प्रस्तुत करते हैं, कहते हैं कि— प्रतीक में आत्मत्व का अनुसंधान नहीं करना चाहिए, प्रतीक उपासक की आत्मा नहीं है। प्रतीकोपासना में प्रतीक ही उपास्य होता है ब्रह्म नहीं होता। उसमें तो ब्रह्मदृष्टि मात्र होती है अब्रह्म वस्तु में, ब्रह्म दृष्टि के अनुसंधान को ही प्रतीकोपासना कहते हैं। प्रतीक में आत्मत्व का अभाव है इसलिए उसमें उपासक के आत्मत्व का अनुसंधान नहीं करना चाहिए।

तन्वत्रापि ब्रह्मैवोपास्यम्, ब्रह्मणउपास्यत्वसंभवे मन
 आदीनामचेतनानामल्पशक्तीनां चोपास्यत्वाश्रवणस्यान्याय्यत्वात् ।
 अतो मन आदि दृष्ट्या ब्रह्मैवोपास्यमिति—अत आह—

(तर्क) प्रतीकों में भी ब्रह्म ही उपास्य है यदि प्रतीकों को ब्रह्म
 मानकर उपासना नहीं करेंगे तो मन आदि अत्यल्प शक्तिवाले अचेतनों
 को उपास्य मानना असंगत होगा, इसलिए मन आदि दृष्टि से ब्रह्म को
 ही उपास्य समझना चाहिए । इस पर कहते हैं—

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ।४।१।५॥

मनआदिषु ब्रह्मदृष्टिरेव युक्ता, न ब्रह्मणि मन आदि दृष्टिः
 ब्रह्मणो मन आदिभ्य उत्कर्षात्, तेषां च विपर्ययात् । उत्कृष्टे हि
 राजनि भृत्यदृष्टिः प्रत्यवायकरी, भृत्ये तु राजदृष्टिरभ्युदयाय ।

मन आदि प्रतीकों में ब्रह्म दृष्टि करना ही सुसंगत है ब्रह्म में मन
 आदि दृष्टि करना संगत नहीं है क्योंकि—ब्रह्म, मन आदि से उत्कृष्ट
 तत्त्व है, वह मन आदि से श्रेष्ठ व्यापक है । श्रेष्ठ राजा में भृत्य दृष्टि
 करना अपराध है, भृत्य में राज दृष्टि की जा सकती है वह भृत्य के
 उत्कर्ष की द्योतिका है ।

४. आदित्यादिमत्यधिकरणाः—

आदित्यादिमतयश्चांग उपपत्तेः ।४।१।६॥

“य एवासौ त पति तमुद्गीयमुपासोत्” इत्यादिषु कर्मांगा-
 श्रयेषु उपासनेषु संशयः, किमुद्गीयादौ कर्मांगे आदित्य दृष्टिः
 कर्त्तव्या उत आदित्यादिषु उद्गीयादि दृष्टिः ? इति । उत्कृष्ट
 दृष्टिनिष्कृष्टे कर्त्तव्येति न्यायात् उद्गीयादीनां च फलसाधनभूत
 कर्मांगत्वेनाफलेभ्य आदित्यादिभ्यः उत्कृष्टत्वादादित्यादि-
 पूद्गीयादिदृष्टिः ।

“य एवासी तपति” इत्यादि कर्मिंगाश्रित उपासनाओं के कर्मिंग उद्गीथ आदि में आदित्य दृष्टि करना चाहिए अथवा आदित्य आदि में उद्गीथ आदि दृष्टि करनी चाहिए ? निकृष्ट में उत्कृष्ट दृष्टि करना चाहिए, इस नियम के अनुसार और कर्मिंग होने से फलसाधनभूत उद्गीथ आदि आदित्य आदि से उत्कृष्ट ही निश्चित होते हैं इसलिए उद्गीथ आदि दृष्टि ही समीचीन प्रतीत होती है

सिद्धान्तः—एवं प्राप्तेऽभिधीयते—आदित्यादिमतयश्चांगे-इति च शब्दोऽवधारणे, ऋत्वंगे उद्गीथादावादित्यादिदृष्टय एव कार्याः, कुतः उपपत्तेः, आदित्यादीनामेवोत्कृष्टत्वोपपत्तेः, आदित्यादि देवताराधन द्वारेण हि कर्मणामपि फलसाधनत्वम्, अतस्त-दृष्टिरुद्गीथाद्यंगे ।

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से “आदित्यादिमतय” इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि— ऋत्वंग उद्गीथ आदि में आदित्य आदि दृष्टि ही करना चाहिए, आदित्य आदि ही उत्कृष्ट, निश्चित होते हैं। आदित्य आदि देवताओं के आराधना के द्वारा ही कर्म की फल साधनता होती है, इसलिए उद्गीथ आदि अंगों में उनकी दृष्टि करना ही युक्ति युक्त है।

५. आसीनाधिकरणः—

आसीनः संभवात् । ४।१।७॥

भोक्षसाधनतया वेदांतशास्त्रैर्विहितं ज्ञानं ध्यानोपासनादि शब्दवाच्यमसकृदावृतं संततस्मृतिरूपमित्युक्तम् । तदनुतिष्ठन्नासीनः शयानः तिष्ठन् गच्छंश्च विशेषाभावादनियमेनानुतिष्ठेत् ।

भोक्ष साधक होने से, वेदांत शास्त्र विहित-ध्यान उपासना आदि शब्द वाच्य ज्ञान को निरन्तर स्मृति स्वरूप अभ्यास बतलाया गया है, जो कि उठते बंठते धलते फिरते सोते, बिना किसी नियम के ही हो सकता है।

सिद्धान्तः—इति प्राप्त उच्यते—आसीनः, इति । आसीन उपासनमनुतिष्ठेत् कुतः ? संभवात् आसीनस्यैव हि एकाग्रचित्तता-संभवः, स्थितिगत्योः प्रयत्नसापेक्षत्वात्, शयनेन निद्रा संभवात् । परधार्धधारणप्रयत्ननिवृत्तये सापाश्रये आसीनः कुर्यात् ।

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से सूत्र प्रस्तुत करते हैं "आसीनः संभवात्" अर्थात् बैठकर ही उक्त प्रकार का अभ्यास संभव हो सकता है, बैठने पर ही चित्त की एकाग्रता हो सकती है, खड़े होकर या चलते-फिरते अभ्यास का होना तो, प्रयास करने पर ही संभव हो सकता है । सोते हुए करना निद्रा के कारण संभव नहीं है । बिना किसी प्रयास और चेष्टा के अभ्यास की सिद्धि तो बैठकर ही हो सकती है, इसलिए बैठकर ही अभ्यास करना चाहिए ।

ध्यानाच्च ।४।१।८॥

"निदिध्यासित्तव्यः" इति ध्यानरूपत्वादुपासनस्य, एकाग्र-चित्तताऽवश्यम्भाविनी । ध्यानं हि विजातीयप्रत्ययान्तराव्यवहित-मेकचिन्तनमित्युक्तम् ।

"निदिध्यासित्तव्यः" कहकर उपासना को ध्यान रूप बतलाया गया है, इसलिए ध्यान रूप उपासना में एकाग्रचित्तता अवश्य होनी चाहिए । ध्येय के अतिरिक्त किसी अन्य का स्मरण न होकर एकमात्र ध्येय का ही अखंड चिन्तन होना ही ध्यान कहलाता है ।

अश्चलत्वं चापेक्ष्य ।४।१।९ ॥

निश्चलत्वं चापेक्ष्य पृथिव्यन्तरिक्षादिषु ध्यानवाचोयुक्तिर्दृश्यते, "ध्यायतीव पृथ्वी, ध्यायतीवांतरिक्षं, ध्यायतीव द्यौः, ध्यायन्ती-वापो, ध्यायन्तीव पर्वताः" इति । अतः पृथिवीपर्वतादिवदेकाग्र-चित्ततया निश्चलत्वमुपासकस्यासीनस्यैव संभवेत् ।

ध्यान में निश्चलता अपेक्षित है यही बात "ध्यान करती सी पृथ्वी, ध्यान करता सा आकाश, ध्याव करता सा जल, ध्यान करते छे

पर्वत" इत्यादि में दिखलाया गया है। पृथ्वी पर्वत आदि की तरह निश्चल होने पर ही उपासक में एकाग्रचित्तता संभव है जो कि बैठने पर ही हो सकती है।

स्मरंति च ।४।१।१०॥

स्मरंति चासीनस्यैव ध्यानं "शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्"—तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः, उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ।" इति ।

स्मृति में भी बैठकर ही ध्यान करने का विधान मिलता है— "पवित्र स्थान में न अति ऊँचे न अति नीचे कुश अजिन वस्त्र वाले स्थिर आसन पर बैठकर मन को एकाग्र करके आत्म शुद्धि के लिए चित्त और इन्द्रियों की चेष्टाओं का संयमन करना चाहिए" इत्यादि ।

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ।४।१।११॥

एकाग्रतातिरिक्त देशकालविशेषाश्रवणादेकाग्रतानुकूलो योदेशः कालश्च, स एवोपासनस्य देशः कालश्च । "समे शुचौ शकंरावह्नि-बालुकाविर्वाजते" इति वचनमेकाग्रतैकान्तदेशमाह, न तु देशं नियच्छति "मनोऽनुकूले" इति वाक्यशेषात् ।

मन की एकाग्रता के अनुकूल जो स्थान और समय हो वही उपासना का स्थान और समय है, किसी विशेष स्थान और समय का उल्लेख नहीं मिलता । "सम पवित्र कंकड़ों, बालू अग्नि आदि से रहित स्थान में" इत्यादि वाक्य में जो स्थान का निर्देश किया गया है वह एकाग्रता के अनुकूल स्थान का ही सूचक है किसी स्थानविशेष का निर्धारक नहीं है । उक्त वाक्य के अन्त में "मनोऽनुकूले" कह कर उक्त आशय को स्पष्ट कर दिया गया है ।

६. आप्रयाणाधिकरणः—

आप्रयाणात्तत्रापि हि दृष्टम् ।४।१।१२॥

तदिदमपवर्गसाधनमुक्तलक्षणमुपासनमेकाह एव संपाद्यम्, उत आप्रयाणात्प्रत्यहगनुवर्त्तनीयम् ? इति विशये, एकस्मिन्नेवाहनि शास्त्रार्थस्य कृतत्वात्तावतैव परिसमापनीयम् ।

मोक्ष साधक यह उपासना एक दिन ही करना चाहिए या जीवन पर्यन्त करनी चाहिए ? इस संशय पर मत होता है कि एक बार ही शास्त्र के अर्थ के द्वारा समझ कर उपासना कर लेना चाहिए बार बार करने की क्या आवश्यकता है ?

सिद्धान्तः—इति प्राप्त उच्यते—आप्रयाणात्—इति, आमरणा-दनुवर्त्तनीयम्, कुतः ? तत्रापि हि दृष्टम्, उपासनोद्योग प्रभृत्या-प्रयाणान्मध्ये यः कालः तत्र सर्वत्रापि दृष्टमुपासनम्” स खल्वेवं-वर्त्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते ।” इति ।

उक्त मत पर सूत्रकार कहते हैं कि—मृत्युपर्यन्त उपासना करनी चाहिए, शास्त्रों में, साधना को जब से प्रारंभ करो तब से लेकर मृत्यु-पर्यन्त करो, ऐसा उल्लेख मिलता है “यह साधना का आश्रय लेकर जीवन व्यतीत कर ब्रह्मलोक की प्राप्ति करता है”, इत्यादि ।

७. तदधिगमाधिकरणः

तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशीतवृष्यपदेशात् ।४।१।१३॥

एवं विद्या स्वरूपं विशोध्य विद्याफलं चिन्तयतुमारभते । ब्रह्मविद्या प्राप्ती पुरुषस्योत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशी श्रूयते—“तद्यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्ते एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यन्ते” तस्यैवाऽऽमा पदवित्तं विदित्वा न कर्मणा लिप्यते पापकेन” इत्युत्तराधारश्लेषः “तद्यथेपोकतूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैव

हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते" क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे" इति पूर्वाधविनाशः । एतावदश्लेषविनाशौ विद्याफल-भूतावुपपद्येते नेति ? संशयः ।

विद्या के स्वरूप पर विचार कर अब, विद्या के फल पर विचार प्रारंभ करते हैं । ब्रह्मविद्या की प्राप्ति होने पर उपासक के आगत और अतीत पापों का अश्लेष और विनाश बतलाया गया है—“जिसे जानने वाले से पापों का बैसे ही श्लेष नहीं होता जैसे कि कमलपत्र से जल का संबंध नहीं होता” उस आत्म तत्त्व को जानने वाले के कर्म पाप से लिप्त नहीं होते” इत्यादि में आगत पापों का अश्लेष बतलाया गया है । “जैसे कि सोंक का अगला भाग अग्नि में घुसाते ही भस्म हो जाता है वैसे ही उपासक के सारे पाप भस्म हो जाते हैं” उस परावर तत्त्व को जान लेने पर उपासक के सारे कर्म क्षीण हो जाते हैं” इत्यादि में अतीत पापों के विनाश की बात धाई है । इस पर संशय होता है कि—यह पापों का अश्लेष और विनाश विद्या के फल स्वरूप होता है या नहीं ?

कि युक्तम् ? नोपपद्येते इति, कुतः ? “नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि” इत्यादि शास्त्रविरोधात् । अश्लेषविनाशव्यपदेशस्तु मोक्षसाधनभूतविद्याविधायिवाक्यशेषगतः कथंचिद् विद्यास्तुति प्रतिपादनेनाप्युपपद्यते । न च विद्या पूर्वोत्तराद्योः प्रायश्चित्ततया विधीयते, येन प्रायश्चित्तेनाथ विनाशोच्यते । विद्याहि “ब्रह्मविदाप्नोति परम्” ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति” इति ब्रह्मप्राप्त्युपायतया विधीयते । अतो विद्यार्थवादोऽयमथविनाशाश्लेषव्यपदेश इति ।

उक्त संशय पर मत होता है कि—विद्या से अश्लेष विनाश नहीं हो सकता “विना भोगे करोड़ों कल्पों में भी कर्म का क्षय नहीं हो सकता” इस शास्त्र वाक्य से ऐसा ही ज्ञात होता है । मोक्ष की साधन स्वरूप विद्या के विश्लेष वाक्यों के अंत में, पाप के अश्लेष विनाश की बात आई है, जो कि—विद्या की प्रशंसा के लिए कही गई प्रतीत होती है । आगत अतीत पापों का प्रायश्चित्त विद्या से होता है, ऐसा विधाव बतलाया

गया हो, यह समझ में नहीं आता। विद्या को तो, ब्रह्म प्राप्ति के उपाय रूप से "ब्रह्मविदानोतिपरं" इत्यादि वाक्यों में बतलाया गया है, इसलिए विद्या से होने वाले पापों के अश्लेष विनाश की बात को अर्थवाद मात्र मानना चाहिए।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्तेऽभिधीयते-तदधिगमे इति। विद्याप्राप्तौ पुरुषस्य विद्या माहात्म्यादुत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशावुपपद्येते, कुतः एवंविधं हि विद्यामाहात्म्यवगम्यते "एवं विदि पापं कर्म न शिलष्यते" "एवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते" इत्यादि व्यपदेशात्।

उक्त मत पर सूत्रकार सिद्धान्त रूप से—"तदधिगमे" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं; वे कहते हैं कि-विद्या की प्राप्ति हो जाने पर उपासक के सारे पापों का संश्लेष समाप्त हो जाता है जो कि विद्या का ही माहात्म्य है। शास्त्रों में विद्या का ऐसा ही माहात्म्य वर्णन किया गया है-"ऐसा जानकर पाप कर्म से आश्लिष्ट नहीं होता" उसके सारे पाप भस्म हो जाते हैं" इत्यादि।

न च-"नाभुक्तं क्षीयते कर्म" इत्यनेन शास्त्रेणास्य विरोधः, भिन्नविषयत्वात्। तद् हि कर्मणां फलजननसामर्थ्यद्रष्टिमविषयम्, एतत्तूत्पन्नाया विद्यायाः प्राक्कृतानां पाप्मनां फलजननशक्तिविनाश सामर्थ्यमुत्पत्त्यमानानां च फलजननशक्त्युत्पत्तिप्रतिबंधकरण सामर्थ्यं च प्रतिपादयतीति द्वयोर्विषयोर्भिद्यते। यथा अग्निजलयो रौष्यतन्निवारणसामर्थ्यंविषययोर्द्वयोः प्रमाणयोरपि विषयभेदात् प्रामाण्यम्, एवमत्रापीति न कश्चिद् विरोधः।

"बिना भोग के कर्मों का क्षय नहीं होता" इस शास्त्र वाक्य से उक्त वाक्य का विरोध भी नहीं होता, क्योंकि दोनों भिन्न विषयक वाक्य हैं। यह वाक्य, कर्मों की फलजनन शक्ति की महत्ता का द्योतक है तथा "पापभस्म हो जाते हैं" इत्यादि वाक्य, विद्या की उत्पत्ति होने पर, अतीत पापों की फलजनन शक्ति के विनाश तथा भागत पापों की फलजनन शक्ति के प्रतिरोध की सामर्थ्य का प्रतिपादन करता है। इस प्रकार दोनों वाक्य भिन्न विषयक हैं। जैसे कि अग्नि और जल की उष्णता और

शीतलता को प्रमाणित करने वाले, प्रमाणों के विषय में भेद होने से उदाहरणों में विभिन्नता होती है वैसे ही उक्त वाक्यों के विषय में भेद है, इसलिए इनमें परस्पर विरुद्धता का प्रश्न ही नहीं उठता ।

अघस्याश्लेषकरणं-वैदिककर्मयोग्यतावासनाप्रत्यवायहेतु शक्त-
युत्पत्ति प्रतिबंधकरणम् । अधानि हि कृतानि पुरुषस्य वैदिक
कर्मयोग्यतां सजातीयकर्मन्तरारंभर्हचि, प्रत्यवायं च कुर्वन्ति ।
अघस्य विनाशकरणं-उत्पन्नायास्तच्छक्तेर्विनाशकरणम् । शक्तिरपि
परंपुरुषाप्रोतिरेव । तदेवं विद्या वेदितुर्वेद्यात् अर्थंप्रियत्वेन
स्वयमपि निरतिशय प्रिया सती वेद्यभूतपरमपुरुषाराधनस्वरूपा
पूर्वकृताघसंचयजनित परंपुरुषाप्रोति विनाशयति, सैव विद्या
स्वोत्पत्त्युत्तरकालभाव्यघनिमित्तपरंपुरुषाप्रोत्युत्पत्तिं च प्रतिबध्नाति ।
तदिमश्लेषवचनं प्रामादिकविषयं मंतव्यम् । "नाविरतो दुश्चरितात्"
इत्यादिभिः शास्त्रैराप्रयाणादहस्तपद्यमानाया उत्तरोत्तरातिशय-
भागिन्याः विद्यायाः दुश्चरितविरतिनिष्पाद्यत्वावगमात् ।

वैदिक कर्मों की ओर से मन को हटाने वाली वासना ही इतनी प्रबलतम शक्ति है जो कि पापों की ओर उन्मुख करती है, उसी के वशीभूत होकार मनुष्य पापों से आश्लेष्य होते हैं । पापों से मनुष्य, वैदिक कर्मों के प्रति घृणा का भाव तथा पाप कर्मों के प्रति अभिर्हचि एवं प्रमाद करने लगता है । ऐसा पाप के विनाश का तात्पर्य है, उस पाप से होने वाली शक्तिशाली प्रवृत्ति का विनाश होना । परमात्मा के प्रति होने वाली अनास्था ही पाप जन्य शक्तिशाली प्रवृत्ति है । ग्रह्य विद्या ऐसी शक्तिशाली बूटी है जो कि आनन्दमयी प्रणाली से परमात्मा के प्रति होने वाली अनास्था का निवारण करके जो कि अतीत पापों के फलस्वरूप होती है, आगत पापों से संभाव्य अनास्था का भी, संहार कर देती है । इस प्रकार विद्या का फल बतलाने वाला जो अश्लेषवचन है वह, प्रमाद के निवारण की बात बतला रहा है यही मानना चाहिए । "नाविरतो दुश्चरितात्" इत्यादि शास्त्र वचन से, जीवन पर्यन्त अनुष्ठित

विद्या के प्रभाव से उत्तरोत्तर दुश्चरितों से छुटकारा मिलता है, यही भाव दिखलाया गया है।

८ इतराधिकरणः—

इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ।४।१।१४॥

उत्तरपूर्वाधयोर्विद्यया अश्लेषविनाशावुक्तौ, इतरस्यपुण्यस्यापि एवम्, उक्तेनन्यायेनाश्लेषविनाशौ विद्ययास्याताम्, विद्याफल विरोधित्व सामान्यादव्यपदेशाच्च । भवति च व्यपदेशः, उभेसुकृत-दुष्कृते निर्दिश्य "सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्ते" इति, "तत्सुकृतदुष्कृते-धुनुते" इति च । मुमुक्षोरनिष्टफलत्वात् सुकृतस्यापि पाप्मशब्देन व्यपदेशः । सुकृतस्यापि शास्त्रीयत्वात्तत्फलस्य केषांचिदिष्टदर्शनाच्च विद्याया अविरोध शंकां निवर्तयितुमितिदेशः ।

ननु विदुषोऽपि सेतिकर्त्तव्यताकोपासननिवृत्तयेवृष्ट्यन्नादि फलानीष्टाम्येव, कथं तेषां विरोधात् विनाश उच्यते? तत्राह "पाते तु" इति । शरीरपाते तु तेषां विनाशः, शरीरपातादूर्ध्वं तु विद्यानुगुणदृष्टफलानि सुकृतानि नश्यन्ति, इत्यर्थः ।

जागत और अतीत पापों के अश्लेष और विनाश की बात कह दी गई । ऐसी ही पुण्य को भी व्यवस्था है, उसी नियम से विद्या के द्वारा जागत अतीत पुण्यों का अश्लेष विनाश होता है शास्त्रों में पुण्य को भी मोक्ष का विरोधी बतलाया गया है । सुकृत और दुष्कृत दोनों का निर्देश करते हुए बतलाया गया कि— उसके सारे पाप विद्या से निवृत्त हो जाते हैं "वह सुकृत दुष्कृत दोनों का परित्याग कर देता है" इत्यादि । मुमुक्षु के लिए पुण्य भी अनिष्टकारी होते हैं, इसलिए उन्हें भी पाप शब्द से निर्देश किया गया है । शास्त्रीय पुण्य कर्मों का उत्तम फल होता है इसलिए किसी प्रकार के विद्या के सहकारो हो सकते हैं, ऐसी शंका के निवारण के लिए "सुकृतदुष्कृतेधुनुते" ऐसा विशेष निर्देश करा गया है ।

(शंका) उपासक के भी कर्तव्य रूप से अनुष्ठित पुण्य कर्म प्रतिफलित होते देखे जाते हैं और इष्ट से प्रतीत होते हैं, उन्हें विरोधी कैसे कह सकते हैं, यदि वह विरोधी है तो उनका विनाश कब होता है? इस पर सूत्रकार कहते हैं "पाते तु" अर्थात् शरीरपात हो जाने पर उनका विनाश हो जाता है, शरीरपात के बाद उन पुण्यों का विनाश होता है जो कि विद्या के अनुरूप प्रत्यक्ष फल देते हैं ।

६ अनारब्धकार्याधिरणः-

अनारब्ध कार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ४।१।१५॥

ब्रह्मविद्योत्पत्तेः पूर्वोत्तरभाविनोः सुकृतदुष्कृतयोरश्लेषविनाशावुक्तौ, ततः पूर्वभाविनोः सुकृतदुष्कृतयोः किमविशेषेण विनाशः, उतानारब्धकार्ययोरेव? इति विशये "सर्वेषाम्मानः प्रदूयन्ते" इति विद्याफलस्याविशेषश्रवणात् विद्योत्पत्त्युत्तरकालभाविन्याश्च शरीरस्थितेः कुलालचक्रभ्रमणादिवत् संस्कारवशादप्युपपत्तेरविशेषेण ।

ब्रह्मविद्या की उत्पत्ति से, आगत अतीत सुकृतदुष्कृतों का अश्लेष विनाश बतला दिया गया । अब संदेह होता है कि-सभी पापपुण्यों का अश्लेष विनाश होता है अथवा जिनका फल अभी प्रारंभ नहीं हो पाया है उन्हीं का होता है? इस पर मत होता है कि-"सभी पाप भस्म हो जाते हैं" इस वचन से ऐसा ही जात होता है कि-विद्या से सभी पापपुण्यों का विनाश हो जाता है, जैसे कि कुम्हार का चक्का चलता है तब सभी कुछ उसमें भ्रमित होता रहता है वैसे ही विद्योत्पत्ति के बाद होने वाले सभी अनारब्ध अनारब्ध पुण्यपाप, विद्या संस्कार के वश विनष्ट हो कर कुम्हार निमित्त नूतन पात्र की तरह हो जाते हैं ।

सिद्धान्तः—इति प्राप्ते उच्यते-अनारब्ध कार्ये एव तु पूर्वे-इति, विद्योत्पत्तेः पूर्वे सुकृतदुष्कृते अनारब्धकार्ये अप्रवृत्ताफले एव विद्ययाविनश्यतः, कुतः? तदवधेः, "तस्यतावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अपसंपत्स्ये" इति शरीरपातविलम्बावधिश्रुतेः न च

पुण्यकर्मजन्यभगवत्प्रीत्यप्रीतिव्यतिरेकेण
संस्कारसद्भावे प्रमाणमस्ति ।

शरीरस्थितिहेतुभूत

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से सूत्र प्रस्तुत किया गया “अनारब्ध कार्ये एवतु पूर्वे” अर्थात् विद्या से उन्हीं का विनाश होता है जो कि-विद्योत्पत्ति के पूर्व के हैं जिन्य पुण्यपापों का फल अभी प्रारंभ नहीं हुआ है । जो कर्म फल दे रहे हैं उनके विनाश की भवधि बतलाई गयी है । “उनके विनाश में तभी तक की देर है जब तक इस शरीर से मुक्ति नहीं मिलती” इस शरीर पात विलम्बावधि बोधक श्रुति से उक्त बात निश्चित होती है । शरीर में विद्या संस्कार से समुत्पन्न संस्कारों को, पुण्य पाप जन्य भगवत् प्रीति अप्रीति के आधार पर प्रमाण नहीं माना जा सकता, इस विषय में तो शास्त्र ही प्रमाण है ।

१०. अग्निहोत्राद्यधिकरणः—

अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् ।४।१।१६॥

“इतरस्याप्येवमसंश्लेषः” इति विद्याबलात् सुकृतस्याप्य-
संश्लेष उक्तः अग्निहोत्रादीनां नित्यनैमित्तिकानां स्वाश्रमधर्माणा-
मपि सुकृतत्वसामान्येन तत्फलस्याश्लेषादनिच्छतोऽनुष्ठाने ।

“इतरस्याप्यसंश्लेषः” सूत्र से बताया गया कि-विद्या के प्रभाव से पुण्यों का भी असंश्लेष हो जाता है । यदि ऐसा ही है तो नित्य नैमित्तिक अग्नि होत्रादि आश्रमधर्म जो कि पुण्य कर्म ही हैं उनका भी असंश्लेष होगा, तो उसके अनुष्ठान में प्रवृत्ति ही क्यों होगी ?

सिद्धान्तः—इति प्राप्त उच्यते—“अग्निहोत्रादि तु” इति । तु शब्दः सुकृतान्तरेभ्यो विशेषणार्थः, अग्निहोत्रादिआश्रमधर्माः फलार्लेपासंभवादनुष्ठेया एव, तदसंभवश्च तत्कार्यायैवत्वात्सोपाम् विद्यास्य कार्यायैव हि विदुषोऽग्निहोत्राद्यनुष्ठानम् । कथमिदमवगम्यते ? तद्दर्शनात्, दूरयते हि—“तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिपति यज्ञेन दानेन तपसा नाशकेन” इत्यादिनाऽग्निहोत्रादीनां विद्यासाधनत्वम् । विद्यायाश्चाप्रयाणादभ्याससाधेयातिशयाया

अहरहस्त्याद्यत्वात्तदुत्पत्त्यर्थमाश्रमकर्मण्यहरहरनुष्ठेयमेव अन्यथा-
ऽश्रमकर्मलोपे दूषितान्तः करणस्य विद्योत्पत्तिरेव न स्यात् ।

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से अग्निहोत्रादि तु इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं । अर्थात् अग्निहोत्र आदि आश्रम कर्मों के फल का असंश्लेष नहीं होता इसलिए उनका अनुष्ठान करना चाहिए, उनका फल विद्या कायं में सहयोगी ही होता है इसलिए विद्वान् उपासक उनका अनुष्ठान करते हैं । 'यज्ञ दान तप द्वारा वे परमात्मा को जानने की इच्छा करते हैं इत्यादि वाक्यों में अग्निहोत्रादि को विद्या का साधक बनलाया गया है जीवन पर्यन्त किये जाने वाले विद्या के अभ्यास में, अग्निहोत्रादि कर्मों से उत्कर्ष ही होता है इसलिए आश्रम कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए यदि आश्रम कर्मों का लोप हो जायेगा तो उमसे अन्तःकरण दूषित होगा, जिससे विद्योत्पत्ति ही ही नहीं सकेगी ।

यदि अग्निहोत्रादि साधुकृत्या विद्योत्पत्त्यर्थाः, विद्योत्पत्तोः प्राचीनं च सुकृतं "यावत्संपातमुषित्वा" प्राप्यातं कर्मणः "इत्यनु-
भवेन विनष्टम्, भुक्तशिष्टं च प्रारब्धफलं "सुहृदः साधुकृत्याम्,
इत्यस्य को विषयः ? तत्राहः—

(शंका) यदि अग्निहोत्रादि पुण्यकर्मों को विद्योत्पत्ति का सहायक मान लेंगे और अतीत पुण्यों को विद्या से विनष्ट मान लेंगे तथा प्रारब्ध फल को शरीरपात तक भोग्य मान लेंगे तो "पुण्य कर्म मित्र को मिलते हैं" इत्यादि वाक्य किन कर्मों के लिए कहा गया है ? इसका उत्तर देते हैं—

अतोऽन्यापि हि ए ऽपामुभयोः ।४।१।१७॥

अतः—अग्निहोत्रादि साधुकृत्यायाः विद्योत्पत्त्यर्थायाः अन्यापि
विद्याधिगमात् पूर्वोत्तरयोरुभयोरपि पुण्यकर्मणोः प्रबलकर्म प्रतिबद्ध
फला साधुकृत्याऽनन्तासंभवत्येव, तद्विषयमिदमेकेपांशास्त्रिणां
वचनं "तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्याम्" इति । विद्या
अश्लेषविनाश श्रुतिश्च तद्विषया ।

अग्निहोत्रादि विद्योत्पत्ति के सहायक पुण्यकर्मों से भिन्न विद्या प्राप्ति के पहिले और वाद के पुण्य कर्मों के फल को भी बाध करने वाले कुछ ऐसे प्रबलतम फल दायक कर्म होते हैं जो कि विद्याभ्यास से अवरुद्ध नहीं होते, उन्हीं के लिए वेद की एक शाखा में कहा गया कि— “उस उपासक का दायभाग तो पुत्र प्राप्त करते हैं और पुण्य कार्य मित्र प्राप्त करते हैं। विद्या से अश्लेष विनाश को बतलाने वाली श्रुति तो उक्त विषयक ही है।

अनुष्ठितस्यापि कर्मणः फलप्रतिबंधसंभवं पूर्वोक्तं स्मारयति—

अनुष्ठित कर्मों की फलावरोध की बात का पुनः उल्लेख करते हैं—

यदेव विद्यमेति हि ।४।१।१८॥

“यदेव विद्याया करोति तदेव वीर्यवत्तरम्” इत्युद्गीष विद्यायाः क्रतुफलाप्रतिबन्धफलत्ववचनेनानुष्ठितस्यापि कर्मणः फलप्रतिबंधः सूच्यते हि । अतो विदुषोऽनुष्ठितप्रतिबद्ध फलविषयं “सुहृदः साभुकृत्याम्” इति शाट्यायनकम् ।

“जो विद्या से किया जाता है वह प्रबलतम होता है” इस उद्गीष विद्या के यज्ञफल की प्रबलता को बतलाने वाले वचन से अनुष्ठित कर्म की प्रबलता ज्ञात होती है। ऐसे प्रबलतम शुभ कर्मों की प्राप्ति की बात ही “सुहृदः साभुकृत्याम्” में कही गई है। अर्थात् उपासक विद्या के अभ्यास से मुक्त हो जाता है, पर जो अनुष्ठान करता है उसका पुण्य उसे जन्म के चक्र में नहीं डालता उसके (आश्रम धर्मों का) पुण्य सुहृदों को मिल जाता है।

११ इतरक्षपणाधिकरणः—

भोगेनत्वित्तरे क्षपमित्वाऽय संपद्यते ।४।१।१९॥

ययोः पुण्यपापयोरश्लेषविनाशावुक्ती, साम्यामितरे आरब्धकार्ये पुण्यपापे किं विद्यायोनिशरोरावसाने, उत तच्छरीरावसाने शरीरान्तरावसाने वा इत्यनियमः ? इति संशये “तस्यतावदेव चिरं

यावन्न विमोक्ष्ये" इति तच्छरीरविमोक्षावसानत्वश्रवणात्तदवसाने ।

जिन पुण्य पापों के अश्लेष विनाश की बात कही गई उनसे भिन्न जो प्रारब्ध पुण्य पाप हैं जो कि मुक्त होने पर ही छूटने हैं वे कब छूटते हैं ? क्या वे इस शरीर के समाप्त होने पर छूट जाते हैं जिससे विद्या प्राप्त की गई अथवा अन्य शरीर धारण करके भोगने पर छूटते हैं अथवा इसका कोई नियम नहीं है ? इस मंशय पर मत होता है कि—“तस्य तावदेव चिर” से तो ऐसा ज्ञात होता है कि— विद्या प्राप्त होने वाले शरीर से होने वाली उपासना के साथ साथ ही उनसे छूटकारा मिल जाता है ।

सिद्धान्तः—इति प्राप्त उच्यते—भोगेन तु इति । तु शब्दः पक्ष व्यावृत्त्यर्थः, इतरेप्रारब्धकार्ये पुण्यपापे स्वारब्धफलभोगेन क्षपयित्वा तत्फलभोगसमाप्त्यनंतरं ब्रह्म संपद्यते, ते च पुण्यपापे एकशरीरोपभोग्य फलेचेत् तच्छरीरावसाने संपद्यते, अनेकशरीर-भोग्यफले चेत् तदवसाने संपद्यते, भोगेनैव क्षपयितव्यत्वादारब्ध-फलयोः कर्मणोः । “तस्य तावदेव चिर यावन्न विमोक्ष्ये” इति च भोगेन तयोः कर्मणोः विमोक्ष उच्यते, देहावधि नियमाश्रवणात् ।

तदेवं ब्रह्मविद्यायाः प्रागनुष्ठितमभुक्तफलमनारब्धफलं पुण्यपापरूपं कर्मानादिकालसंचितमनंतं विद्यामाहात्म्याद् विनश्यति, विद्यारम्भोत्तरकालमनुष्ठितं च न शिलष्यति, तत्र पुण्य रूपं सर्वविदुषः सुहृदो गृह्णन्ति, पापं च द्विपन्त इति निरवद्यम् ।

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से “भोगेन तु” सूत्र प्रस्तुत करते हैं सूत्र में तु शब्द पक्ष का व्यावर्त्तक है । इतर जो प्रारब्ध पुण्य पाप के फल हैं वह अपने प्रारंभ फल भोग की समाप्ति होने पर ही छूटते हैं

तभी मोक्ष होता है। वे पुण्य पाप यदि एक शरीर में भोगने योग्य होते हैं तो उस शरीर के साथ ही समाप्त हो जाते हैं और यदि अनेक शरीरों में भोगने योग्य होते हैं तो मुक्त होने पर अन्य शरीरों के अवसान पर छटते हैं प्रारब्ध पुण्य पाप कर्मों के फल भोग की बात कही गई है, देह की अवधि का नियम तो बतलाया वहीं गया है।

इस प्रकार निश्चित होता है कि- ब्रह्मविद्या के प्रथम किये गये जो कर्म हैं जिनका कि फल आरंभ नहीं हुआ है वे, अनादि काल संचित पुण्य पाप कर्म, विद्या के प्रभाव से बिना फलोपभोग के ही नष्ट हो जाते हैं, तथा विद्या प्राप्ति के बाद होने वाले जो भावी पुण्य पाप कर्म हैं उनका फल ही उपासक से आश्लिष्ट नहीं होता अपितु विद्या प्राप्ति के बाद वह जो कुछ भी शुभ कर्म करता है उसका फल उसके मित्रों को तथा अशुभ कर्मों का फल उसके शत्रुओं को प्राप्त होता है।

चतुर्थ अध्याय प्रथम पाद समाप्त

चतुर्थ अध्याय

द्वितीय पाद

१ वागाधिकरणः—

वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ।४।२।१॥

इदानीं विदुषो गतिप्रकारं चिन्तयितुमारभते । प्रथमं तावदुत्क्रांतिश्चिन्त्यते । तत्रेदमाम्नायते “अस्य सौम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि संपद्यते मनः प्राण्ये प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्” इति । अत्र “वाङ्मनसि संपद्यते” इति वाचो मनसि संपत्तिश्रुतिः किं वाग्वृत्तिमात्रविषया, उत वाग्विषया? इति विशये वृत्तिमात्रविषयेति युक्तम् कुत.? मनसोवाक् प्रकृतित्वाभावात्तत्र वाक्स्वरूपसंपत्त्यसंभवात् । वागादिवृत्तीनां मनोऽधीनत्वेन वृत्तिसंपत्तिश्रुतिः कथंचिदुपपद्यत इति ।

अब उपासक की गति के प्रकार का विचार प्रारंभ करते हैं पहिले उत्क्रांति पर विचारेंगे । श्रुति है कि—“हे सौम्य ! इस उपासक के जाते समय वाणी मन से मन प्राण से, प्राण तेज से और तेज पर देवता से संलग्न होता है ।” इसमें जो कहा गया कि “वाणी मन से संलग्न होती है” सो यह कथन वाणी की वृत्ति मात्र के लिए है या वाणी के लिए है? इस पर विचारने से तो ऐसा मत होता है कि वृत्तिमात्र के लिए ही है, क्योंकि मन में वाक् प्रकृति का अभाव है इसलिए वाणी का स्वरूप तो उसमें संलग्न हो नहीं सकता, वाणी आदि की वृत्तियाँ मन के अधीन रहती हैं, इसलिए, वृत्ति की संलग्नता की बात ही किसी प्रकार मानी जा सकती है ।

एवं प्राप्तोऽभिधीयते-वाङ्मनसि इति । वाक्स्वरूपमेव मनसि संपद्यते । कुतः? दर्शनात् दृश्यते हि वागिन्द्रिय उपरतेऽपि मनः प्रवृत्तिः । वृत्तिमात्रं संपत्त्यापि तदुपपद्यत इति चेत् तत्राह-शब्दाद्येति "वाङ्मनसि संपद्यते" इति वाक्स्वरूपं संपत्तावेव हि शब्दः, न वृत्तिमात्रसंपत्तौ । नहि तदानीं वृत्त्युपरमे वागिन्द्रियं प्रमाणा-न्तरेणोपलभ्यते, येन वृत्तिमात्रमेव संपद्यत इत्युच्येत । यदुक्तं मनसो वाक् प्रकृतित्वाभावाद्वाचो मनसिसंपत्तिर्नोपपद्यत इति, तत् "वाङ्मनसि संपद्यते" इति वचनान्मनसा वाक् संयुज्यते न तु तत्र लीयत इति परिहर्तव्यम् ।

उक्तं मत पर "वाङ्मनसि" सूत्र कहते हैं । अर्थात् वाणी का स्वरूप ही मन से संलग्न होता है । ऐसा देखा भी जाता है कि-वागिन्द्रिय के उपरत होने पर भी मन की प्रवृत्ति बनी रहती है । यदि कहें कि-वह तो वृत्तिमात्र की संलग्नता में भी रहती है? इन पर सूत्रकार कहते हैं "शब्दा-च्च" अर्थात् शास्त्र का भी यही कथन है "वाङ्मनसि" में स्पष्ट रूप से वाणी के स्वरूप का उल्लेख किया गया है, वृत्ति की चर्चा भी नहीं है । यह नहीं कह सकते कि वृत्ति का स्पष्ट उल्लेख नहीं है पर वृत्ति का भाव निहित है; ऐसा तो तभी माना जा सकता है जबकि कहीं अन्यत्र भी वृत्तिमात्र के संलग्न होने की चर्चा आई हो, सभी जगह वाणी की संलग्नता का ही उल्लेख है । जो यह कहा कि मन में वाक् प्रकृतित्व का अभाव है इसलिए मन में वाणी की संलग्नता संभव नहीं है, तो "वाङ्मनसि संपद्यते" में वाणी का मन में संयोग मात्र ही बतलाया गया है, लीन होने की बात नहीं कही गई है ।

उ.तएवसर्वाप्यनु । ४।२।२॥

यतो वाचो मनसा संयोगमात्रं संपत्तिः, ननु सद्यः, अतएव वाचमनु सर्वेषामिन्द्रियाणां मनसि संपत्तिश्रुतिरुपपद्यते "तस्मादुप-शान्ततेजा अपुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि संपद्यमानैः "इति ।

जैसे कि वाणी का मन से संलग्न मात्र होना संपत्ति बतलाया गया, तय होना नहीं कहा गया, वैसे ही वाणी के पीछे सभी इन्द्रियों का मन में संलग्न होना श्रुति से ही ज्ञात होता है "इस प्रकार तेज के संलग्न हो जाने पर इन्द्रियों सहित सब के मन में संलग्न हो जाने पर" इत्यादि ।

२ मनोऽधिकरणः—

तन्मनः प्राण उत्तरात् ।४।२।३॥

तत्-सर्वेन्द्रियसंयुक्तं मनः प्राणे संपद्यते-प्राणेन संयुज्यसे, न मनोवृत्तिमात्रम्, कुतः? उत्तरात्—"मनः प्राणे" इति वाक्यात् ।

फिर सभी इन्द्रियों से संसक्त वह मन प्राण में मिल जाता है । "मनः प्राणे" इस उत्तर वाक्य से ज्ञात होता है कि मन ही संसक्त होता है, मनोवृत्तिमात्र का ही संयोग नहीं होता ।

अधिकाशंका तु—"अन्नमयं हि सोम्य मनः" इति वचनान्मन-सोऽन्न प्रकृतित्वमवगम्यते, अन्नस्य च "ता अन्नमसृजंत" इत्यन्न-मयत्वं सिद्धम् "आपोमयः प्राणः" इति चाप्रकृतित्वं प्राणस्यावगम्यते, अतो मनः प्राणे संपद्यत इत्यत्र प्राणशब्देनप्राणप्रकृतिभूता अपोनिर्दिश्य तासु मनः संपत्ति प्रतिपादने परम्परया स्वकारणे लय इति सम्पत्तिवचनमुपन्नं भवति—इति ।

इस पर विशेष शंका हातो है कि—'हे सोम्य! मन अन्नमय है' इस वचन से मन का अन्न प्रकृतित्व ज्ञात होता है "ता अन्नमसृजंत" से उनको अन्नमयता सिद्ध होती है । इसी प्रकार "प्राण जलमय है" इस वचन से प्राण का जल प्रकृतित्व ज्ञात होता है ; जो मन को प्राण में संलग्नता बतलाई गई, उसमें प्राण शब्द से प्राण प्रकृति रूप जल का निर्देश करके उसमें मन की संलग्नता दिखलाई गई उससे तो परम्परा से अर्पण कारण में लय की बात ही संपत्ति द्वारा दिखलाई गई प्रतीत होता है ।

परिहारस्तु—"अन्नमयं हि सोम्य मनः, आपोमयः प्राणः" इति मनः प्राणयोरन्नेनाद्भिरचाप्यायनमूच्यते, न तत्प्रकृतित्वं, आद्भ-

कारिकत्वान्मनसः, आकाशविकारत्वाच्च प्राणस्य । प्राणशब्देन
अर्था लक्षणा च स्यात्—इति ।

समाधान—“हे सोम्य! मन अन्नमय और प्राण जलमय हैं” इत्यादि
वाक्य में मन और प्राण का अन्न और जल से संसर्ग बतलाया गया
है, अन्न और जल को उनकी प्रकृति नहीं कहा गया है, आहंकारिक होने
से मन को अन्नमय होना तथा आकाश के विकार से होने के कारण प्राण
का जलमय होना कहा गया है । प्राण शब्द से जल में लक्षणा है, प्राण
का अभिधायक जल नहीं है ।

३ अध्यक्षाधिकरणः—

सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ।४।२।४॥

यथा—“वाङ्मनसि संपद्यते मनः प्राणे” इतिवचनानुरोधेन
मनः प्राणयोरेव वाङ्मनसयोः संपत्ति, तथा “प्राणस्तेजसि” इति
वचनात् तेजस्येव प्राणः संपद्यते ।

जैसे कि—“वाङ्मनसि” इत्यादि से ज्ञात होता है कि मन और प्राण
में वाणी और मन की संलग्नता है, वैसे ही “प्राणस्तेजसि” इत्यादि से
ज्ञात होता है कि—प्राण की तेज से संलग्नता होती होगी ।

सिद्धान्तः—इति प्राप्त उच्यते—“सोऽध्यक्षे” इति । स प्राणः,
अध्यक्षे—कारणाधिपे—जीवे संपद्यते । कुतः ? तदुपगमादिभ्यः
प्राणस्य जीवोपगमः तावच्छ्रूयते “एवमेवेममात्मानमन्तकाले
सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति” इति । तथा जीवेन सह प्राणस्योत्क्रांति
श्रूयते—“तमुत्क्रांत प्राणोऽनूत्क्रामति” इति । प्रतिष्ठा च जीवेन
सह श्रूयते—“कस्मिन्नुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन् वा
प्रतिष्ठते प्रतिष्ठास्यामि” इति । एवं जीवेन संयुज्य तेन सह तेजः
संपत्तिरपि “प्राणस्तेजसि” इत्युच्यते, यथा यमुनायाः गंगया

संयुज्य सागरगमनेऽपि “यमुना सागरं गच्छति” इति वचो न विरुध्यते तद्वत् ।

उक्त कथन पर सिद्धान्त रूप से ‘सोऽन्यक्षे’ इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं । कहते हैं कि वह प्राण, अर्थात् इन्द्रियों के स्वामी जीव में संलग्न हो जाता है । प्राण का जीवोपगम बतलाया भी गया है—जब जीव की ऊर्ध्व श्वस चलने लगती है तो सारे प्राण इस आत्मा के अभिमुख होकर इसके साथ जाते हैं । तथा प्राण के साथ जीव की उत्क्रांति का भी वर्णन मिलता है “उसके उत्क्रमण करने पर प्राण भी उत्क्रमण करते हैं ।” जीव के साथ प्राण की प्रतिष्ठा का भी वर्णन मिलता है “किसके निकलने पर मैं निकला हुआ सा हो जाऊँगा, तथा किसके रहने पर मैं स्थित रहूँगा (उसने ऐसा विचार किया) “इसी भाव के अनुसार जीव से संयुक्त प्राण की तेज से संपत्ति बतलाई गई है जैसे कि यमुना गंगा से संलग्न होकर सागर में जाती है, पर यह “यमुना सागर में जा रही है” यह कथन भी—असंगत नहीं वैसे ही, प्राण जा रहें हैं, बात भी है ।

४ भूताधिकरणः—

भूतेषु तच्छ्रुतेः ।१।२।५॥

“प्राणस्तेजसि” इति जीवसंयुक्तस्य प्राणस्य तेजसि संपत्तिरुक्ता, सा संपत्तिः किं तेजोमात्रे, उत संहतेषु सर्वेषु भूतेषु ? इति संशये तेजोमात्र श्रवणात्तेजसि ।

“प्राणतेज में” इत्यादि में जीव संयुक्त प्राण की तेज में संपत्ति बतलाई गई है । अब प्रश्न होता है कि यह संपत्ति केवल तेज में ही होती है अथवा संयुक्त सभी भूतों में होती है ? तेज का ही नाम आता है, इससे तो केवल तेज में होने की बात ही समझ में आती है ।

सिद्धान्तः—इति प्राप्त उच्यते—भूतेषु इति, भूतेषु संपद्यते, कुतः ? तच्छ्रुतेः “पृथिवीमयः, आपोमयः तेजोमयः” इति जीवस्य

संचरतः सर्वभूतमयत्वश्रुतेः ।

उक्त मत पर "भूतेषु" इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं—भूतों में संपत्ति होती है, "पृथिवी मयः आपोमयः तेजोमयः" इत्यादि श्रुति में जीव की सर्वभूतमयता बतलाई गई है ।

ननु तेजः प्रभृतिष्वेकैकस्मिन् क्रमेण संपत्तावपि "पृथिवीमयः" इत्यादिका श्रुतिरूपपद्येते—अत आह—

लगता है "पृथिवीमयः" इत्यादि श्रुति, तेज आदि एक-एक की क्रमशः संपत्ति का वर्णन कर रही है । इसका उत्तर देते हैं—

नैकस्मिन् दर्शयतो हि ।४।२।६॥

नैकस्मिन्, एकैकस्य कार्याक्षमत्वात् । दर्शयतो हि अक्षमत्वं श्रुतिस्मृती—“अनेन जीवेनाऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैककां करवाणि” इति नामरूपव्याकरण-योग्यत्वाय त्रिवृतकरणमुपदिश्यते ।” नानावीर्याः पृथग्भूतः ततस्ते संहतिं विना, नाराकनुवन प्रजाः सृष्टमसमागम्यकृत्स्नराः । समेत्यान्योन्यसंयोगं परस्परसमाश्रयः, महदाद्याविशेषान्ता हि अंडमुत्पादयति ते” इति । अतः “प्राणस्तेजसि” इति तेजः शब्देन भूतांतरसंसृष्टमेव तेजोऽभिधीयते । अतो भूतेष्वेव संपत्तिः ।

इन भूतों में अकेले कार्य करने की क्षमता नहीं है । इनकी अक्षमता श्रुति स्मृति में बतलाई गई है—“इस जीव में आत्मरूप से प्रविष्ट होकर नामरूप का विस्तार करूँ ऐसा विचार करके उसने तीन-तीन का एक-एक मूय बनाया ।” इसमें नामरूप के विस्तार की योग्यता के लिए त्रिवृत-करण का उल्लेख है । “विभिन्न शक्ति वाले वे बिना मिले, अलग-अलग रहकर समस्त सृष्टि की रचना करने में सक्षम नहीं हैं, वे परस्पर मिलकर एक दूसरे के आश्रय से महत आदि से लेकर अंड तक का उत्पादन करते हैं ।” इससे शत होता है कि—“प्राणस्तेजसि” में तेज

शब्द से, अन्य भूतों से संलग्न तेज ही अभिधेय है। इसलिए भूतों में ही जीव की संपत्ति होती है यही मानना चाहिए।

५ आसृत्युपक्रमाधिकरणः—

समानाचासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य ।१।२।७॥

इयमुत्क्रान्तिः किं विद्वदविदुषोः समाना, उत अविदुष एव ? इति चिन्तायां, अविदुष एवेति प्राप्तम्, कुतः ? विदुषोऽत्रैवामृतत्व-वचनादुत्क्रान्त्यभावात् । विदुषो हि अत्रैवामृतत्वं श्रावयति—“यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः, अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते” इति ।

ऊपर जिस उत्क्रान्ति की चर्चा आई है क्या ये उपासक अनुपासक दोनों की समान रूप से होती है अथवा अनुपासक की ही होती है ? इस पर विचारने से तो ऐसा ही ज्ञात होता है कि अनुपासक की ही होती है, उपासक तो इस लोक में ही मुक्त हो जाता है जैसा कि—“जब उपासना करते हुए इसकी हृदयस्य समस्त कामनायें नष्ट हो जाती हैं तब यह मर्त्य इस लोक में ही मुक्त होकर ब्रह्म प्राप्ति कर लेता है” इस श्रुति से निश्चित होता है।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्तेऽभिधीयते—समानाचासृत्युपक्रमात् इति । विदुषोऽप्यसृत्युपक्रमादुत्क्रान्तिः समाना । आसृत्युपक्रमात्-आगत्युपक्रमात्—नाडीप्रवेशात् प्रागित्यर्थः । विदुषो हि नाडीविशेषेणोत्क्रम्य गतिः श्रूयते—“शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका, तयोर्धमापन्नमृतत्वमेति विष्वङ्मया उत्क्रमणे भवंति” इति । एवं नाडीविशेषेण गतिश्रवणात् विदुषोऽप्युत्क्रान्तिरवर्जनीया । सा च नाडी प्रवेशात् प्राग्विशेषा श्रवणात् समाना । तत्प्रवेशदशायां च विशेषः श्रूयते—“तेन प्रद्योतेनैवमात्मा निष्क्रामति यज्ञूपो वा मूर्धो वा अन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः” इति । “शतं

चंका च हृदयस्य' इत्यनया श्रुत्यैकाग्र्यान्मूर्ध्ना निष्क्रमणं विद्वद-
विषयम्, इतरद्विद्वद विषयम् ।

उक्त मत पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं कि-जसूति उपक्रम अर्थात् नाडी प्रवेश के प्रथम तक उपासक अनुपासक दोनों की समान उत्क्रांति होती है। उपासक की नाडी विशेष से गति बतलाई गयी है—“हृदय से ससक्त एक मौ एक नाडियों में से एक मूर्धा की ओर जाती है उसके आश्रय से उपासक ऊपर की ओर जाकर उत्क्रमण करके अमृतत्व प्राप्त करता है।” इस नाडी विशेष की गति के वर्णन से, उपासक की उत्क्रा-
न्ति तो निश्चित हो ही जाती है। इस नाडी के प्रवेश के प्रथम तो उपासक अनुपासक दोनों की समान रूप से उत्क्रान्ति प्रक्रिया चलती है। इस नाडी में प्रवेश काल का कुछ विशेष वर्णन मिलता है “उप नाडी में प्रवेश करके यह आत्मा नेत्र मूर्धा या किसी अन्य स्थान विशेष से निष्क्रमण करता है” “शतं चंका च हृदयस्य” इत्यादि से जिसके निष्क्रमण की चर्चा की गई है वह उपासक की ही है, उससे भिन्न जो निष्क्रमण की चर्चा मिलती है वह उपासक के अतिरिक्त सभी की है।

यदुक्तं-विदुषोऽत्र वामृतत्वं श्राव्यते-इति, तत्रोच्यते अमृतत्वं
चानुपोष्य-इति । च शब्दोऽवधारणे । अनुपोष्य शरीरेन्द्रियादि
संबन्धमदग्भ्यैव, यदमृतत्वम् उदारपूर्वाद्योरश्लेषविनाशरूपं प्राप्यते,
तदुच्यते “यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते” इत्यादिकया श्रुत्येत्यर्थः । “अत्र
ब्रह्मसमश्नुते” इति च उपासनवेलायां यो ब्रह्मानुभवः, तद्विषय-
मित्यभिप्रायः ।

जो यह कहा कि-उपासक का इस लोक में ही मोक्ष का वर्णन मिलता है, उन पर सूत्रकार का कथन है “अमृतत्वं चानुपोष्य” अर्थात् शरीर इन्द्रिय आदि का संबन्ध नहीं छूटता इस स्थिति में भी तो अमृतत्व की बात है वह आगत और अतीत पापों के अश्लेष विनाश की ही बात है अर्थात् अश्लेष विनाश ही मुक्ति है “यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते” इत्यादि श्रुति से यही दिखलाया गया है “यहीं ब्रह्म प्राप्ति कर लेता है” का तात्पर्य

हे कि उपासना के समय जो ब्रह्मानुभूति होती है, वही ऐहलौकिक ब्रह्म प्राप्ति है ।

तदापीतेः संसार व्यपदेशात् । ४।२।८॥

अवश्यं च तत्-अमृतत्वमदग्धदेहसंबंधस्यैवेति विज्ञेयम् ।
कुतः ? आपीतेः संसारव्यपदेशात्-अपीतिः-अप्ययः-ब्रह्म प्राप्तिः ।
साचाचिरादिनामार्गेण देशविशेषं गत्वेति वक्ष्यते । आतदवस्था-
प्राप्तेः संसारः, देहसंबंधलक्षणो हि व्यपिदश्यते--“तस्यतावदेव चिरं
यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये” इति “अश्व इव रोमाणि विधूय पापं
चन्द्र इव राहोर्मुखात् प्रमुच्य, घृत्वाशरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्म-
लोकमभिसंभवानि” इति च ।

ऊपर जिस अमृतत्व प्राप्ति की चर्चा की गई है, निश्चित ही वह देह संबंध के बिना नष्ट हुए ही मिलती है अचिरादिमार्ग से जाने पर जिस देश विशेष की प्राप्ति होती है वही ब्रह्म प्राप्ति है, उस मार्ग में जाने के प्रथम तक देह संबंध रूप संसार का संबंध बना रहता है “उसकी ब्रह्म प्राप्ति में तभी तक का विलंब है जब तक प्रारब्ध भोग कर इस शरीर से नहीं छूट जाता” जैसे कि घोड़ा रीयों को झाड़कर चंतन्य हो जाता है वैसे ही उपासक पापों को झाड़ कर राहु से मुक्त चन्द्रमा के समान स्वच्छ हाकर ब्रह्म लोक को प्राप्त करता है ।” इत्यादि से उक्त बात निश्चित होती है ।

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तयोपलब्धेः । ४।२।९॥

इतश्च विदुषोऽपि बंधो नात्र दग्धः पत्तत्सूक्ष्मं शरीरमनु-
वृत्तंते । कुत इदमवगम्यते ? प्रमाणतस्तथोपलब्धेः उपलभ्यते हि
देवयानेन पथा गच्छतो विदुषः ‘तं प्रतिब्रूयात्” “सत्यं ब्रूयात्”
इति चन्द्रमसा संवाद वचनेन शरीरसद्भावः । अतः सूक्ष्मशरीर
मनुवृत्तंते । अतश्च बंधो न दग्धः ।

प्रकार बतलाकर—“दूसरे नवीन और कल्याणतर (अधिक सुन्दर) रूप को रचना करता है” इत्यादि से उसके देहान्तर परिग्रह को बतलाकर “इस लोक में यह जो कुछ करता है उस कर्म का फल प्राप्त कर उस लोक से कर्म करने के लिए पुनः इस लोक में आ जाता है कामना करने वाले पुरुष की ऐसी ही गति होती है” यहाँ तक अनुपासक के विषय में कहकर “जो आकाम निष्काम और आप्तकाम होता है उसको प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता वह ब्रह्म ही रहकर ब्रह्म को प्राप्त होता है” इत्यादि से उपासक की उत्क्रांति का प्रतिषेध किया गया है। इसी प्रकार आर्त्तभाग के प्रश्न में भी उपासक की उत्क्रांति का प्रतिषेध मिलता है—“याज्ञवल्क्य ने कहा-पुनर्भूत्यु का पराजय होना है” इत्यादि से उपासक का प्रसंग प्रस्तुत करने पर आर्त्तभाग ने पूछा-याज्ञवल्क्य ! जिस समय यह मरता है उस समय उसको प्राणों का उत्क्रमण होता है या नहीं ?” याज्ञवल्क्य ने कहा “नहीं-नहीं वे यहाँ ही लीन हो जाते हैं वह वायु को खींच कर यहीं मृत होकर सोता है।” इत्यादि से ज्ञात होता है कि उपासक इस लोक में ही अमृतत्व प्राप्त करता है।

तन्न, शारीरात्-प्रत्यगात्मनः, प्राणानामुत्क्रांतिर्ह्यत्र प्रतिषि-
ध्यते, न शारीरात् “न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति” इत्यत्र तच्छब्देन
“अथाकामयमानः” इति प्रकृतः शारीर एव परामृश्यते नाश्रुतं
॥१०२५॥ “तस्य” इति षष्ठ्या प्राणानां संबन्धित्वेन शारीरी
निर्दिष्टं न तुत्क्रान्त्यपादनत्वेन । उत्क्रान्त्यपादानं तु शरीरमेवेति
चेत्, न-अपादानापेक्षायामश्रुताच्छरीरात्संबन्धितया श्रुतस्यात्मन
एव सन्निहितत्वेनापादानतयापि ग्राह्यत्वात् ।

जैसी धारणा की गई बात वंसी नहीं है, उक्त प्रसंग में जीवात्मा के प्राणों के उत्क्रमण का निषेध किया गया है शरीर के अनुत्क्रमण की चर्चा नहीं है “न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति” इस वाक्य में तत् शब्द से “अथाकामयमानः” में कहे गये जीवात्मा का ही उल्लेख है शरीर का नहीं। “तस्य” इस षष्ठी पद से प्राणों का संबंध दिखलाया है जिसमे जीवात्मा का ही निर्देश निश्चित होता है, यदि जीव के शरीर से अलग न होने की बात होती तो अपादान पंचमी का प्रयोग तो शरीर में होता,

शरीर शब्द तो इस वाक्य में लुप्त है (अर्थात् “नतस्य शरीरात् प्राणा उत्क्रामन्ति” के स्थान पर केवल न तस्य प्राणानुत्क्रामन्ति” कहा गया है) सो आपका यह कथन भी व्याकरण नियम के विरुद्ध है, यदि लुप्त शरीर शब्द के संबंध की बात होती तो शरीर शब्द से निकटस्थ तत् शब्द में भी अपादान का ही प्रयोग दिखलाई देता (अर्थात् “न तस्मात् शरीरात् प्राणात् उत्क्रामन्ति” ऐसा प्रयोग किया गया होता,) सो तो है नहीं।

किं च प्राणानां जीवसंबन्धितयैव प्रज्ञातानां तत्संबन्धकथने प्रयोजनाभावात् संबन्धमात्र वाचिन्या पठ्या अपादानमेव विशेष इति निश्चीयते। यथा “नटस्य शृणोति” इति। न चात्र विवदितव्यं स्पष्टो हि एकेषां माध्यन्दिनानामाज्ञाये शारीरो जीव एवापादानमिति--“योऽकामो निष्काम आसकामो आत्मकाम न तस्मात् प्राणा उत्क्रामन्ति” इति।

(तर्क प्राणों का संबंध तो जीव से ही है इसलिए कोई प्रयोजन तो है नहीं कि जीव का पृथक् निर्देश किया जाता, संबंध मात्र को बतलाने के लिए ही पठ्ठी विभक्ति का प्रयोग किया गया है जो कि अपादान स्थानीय ही है, जैसे कि--“नटस्य शृणोति” इत्यादि में किया जाता है [उत्तर] यहाँ विशेष विवाद की आवश्यकता नहीं है, यहाँ तो माध्यन्दिन आम्नाय की एक शाखा में स्पष्ट रूप से जीव का ही अपादान प्रयोग किया गया है--“जो अकाम, निष्काम, आप्तकाम और आत्मकाम है, उससे प्राण उत्क्रमण नहीं करते।”

शारीरात् प्राणानामुत्क्रान्तिप्रसंगाम्भावात्तन्निषेधो नोपपद्यत इति चेत्, न “तस्य तावदेव चिरं” इति विदुषः शरीरवियोग काले ब्रह्मसंपत्ति वचनेन प्राणानामपि तस्मिन् काले शरीराद् विदुषो वियोगः प्रसज्यते, ततश्च देवयानेन पथा ब्रह्मसंपत्तिर्नोपपद्यत इति। “न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति” देवयानेन पथा ब्रह्मप्राप्तेः प्राग्जीवाद् विदुषोऽपि प्राणा न विरिलप्यन्तीत्युच्यते। आतंभाग प्रश्नोऽपि यदा

विद्वद्विषयः तदा अयमेव परिहारः, सत्त्वविद्वद्विषयः, तत्र प्रश्न प्रतिवचनयोः ब्रह्मविद्या प्रसंगादर्शनात्, तत्रहि प्रहातिग्रहरूपेणेन्द्रियेन्द्रियार्थ स्वभावः, अपामग्न्यन्नत्वं, त्रियमाणस्य जीवस्य प्राण परित्यागः, मृतस्यनामवाच्यकीर्त्येऽनुवृत्तिः, तस्य च पुण्यपापानुगुणगतिप्राप्तिरित्येतेऽर्थाः प्रश्नपूर्वकं प्रत्युक्ताः । तत्र च “अपपुनर्मृत्युंजयति” इति अपामग्न्यन्नन्व ज्ञानादग्निजय एव मृत्युजय उच्यते । अतो नात्र विदुषः प्रसंगः अविदुषस्तु प्राणानुत्क्रांतिवचनं-स्थूल-देहवत्प्राणा न मुच्यति अपि तु भूतसूक्ष्मवज्जीवं परिष्वज्य गच्छन्ति, इति प्रतिपादयतीति निरवद्यम् ।

(तर्क) यदि कहें कि-उक्त प्रसंग में जीव से प्राणों की उत्क्रांति का अभाव मान लेंगे तो, उसके निषेध का प्रश्न ही क्या है?(उत्तर) “तस्य तावदेव चिरम्” इत्यादि शरीर विद्योग काल में उपासक को ब्रह्म संमत्ति बतलाने वाले वचन से ज्ञात होता है कि उपासक का उसी समय प्राणों से भी विद्योग होता है, इसीलिए देवयान में ब्रह्मसंपत्ति नहीं होती। “न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति”-से भी यही बतलाते हैं कि देवयान मार्ग से जाते हुए उपासक जीव के प्राण भी, ब्रह्म प्राप्ति के पूर्व तक उससे नहीं छूटते । आतं भाग के प्रश्न में भी यही बात कही गई है वहाँ उपासक जीव का प्रसंग ही नहीं है, वह तो अनुपासक जीव का विषय है, वहाँ प्रश्नोत्तरों में ब्रह्मविद्या को प्राप्त न करने वालों के विषय में उनकी इन्द्रियों और उनके स्वभाव की जलअग्नि अन्नरूपता, त्रियमाण जीव की प्राण परित्याग का प्रकार, मृत जीव का स्वाभाविक अनुवृत्ति का प्रकार, उसके अनुसार पुण्यपापानुरूपगति प्राप्ति इत्यादि का विवेचन किया गया है वहाँ जो “अपपुनर्मृत्युंजयति” कहा गया है वह तो ज्ञान से अग्निजय को ही मृत्युजय कहा गया है । इसलिए उमे उपासक जीव का प्रसंग समझना ही नहीं चाहिए । अनुपासक जीव के प्राणों की उत्क्रांति का जहाँ प्रसंग है, उसमें भी यही दिखलाया गया है कि-स्थूल शरीर की तरह प्राण, उसको एकाएक नहीं छोड़ देते अपितु सूक्ष्मरूप में संसक्त होकर उस जीव के साथ जाते हैं ।

स्मर्यते च ।४।२।१३॥

स्मर्यते च विदुषोऽपि मूर्धनाड्योत्क्रांतिः “ऊर्ध्वमेक स्थितस्तेषां यो भित्त्वा सूर्यमंडलं, ब्रह्मलोकमतिक्रम्य तेन याति परांगतिम्” इति ।

उपासक की मूर्धा की नाडी से उत्क्रांति की बात स्मृति में भी कही गई है ‘ऊपर की एक नाडी में स्थित वह जीव, सूर्यमंडल का अतिक्रमण करते हुए ब्रह्म लोक को भी अतिक्रमण कर परं गति गोलोक की प्राप्ति करता है ।’

६ परसंपत्त्यधिकरणः

तानि परे तथाह्याह ।४।२।१४॥

सकरग्रामः, स प्राणः, करणाध्यक्षः प्रत्यगात्मा उत्क्रांति वेलायां तेजः प्रभृति भूतसूक्ष्मेषु संपद्यत इत्युक्तम्, सैषा संपत्ति-विदुषो न विद्यत इति आशङ्क्य परिहृतम्, तानि पुनर्जीवपरिष्वक्तानि भूतसूक्ष्माणि किं यथाकर्म यथाविद्यं च स्वकार्याय गच्छन्ति, उत परमात्मनि संपद्यन्ते? इति विशये मध्ये परमात्म संपत्तौ सुखदुःखोपभोगरूपकार्यदर्शनात् तदुपभोगानुगुण्येन यथाकर्म यथाविद्यं च गच्छन्ति ।

इन्द्रिय प्राणों सहित इन्द्रियों का स्वामी जीवात्मा उत्क्रांति के समय तेज आदि सूक्ष्म भूतों से संसक्त रहता है यह बतलाया गया, ऐसी आसक्ति उपासक की नहीं होती ऐसी शंका करते हुए उसका समाधान भी किया गया । अब प्रश्न होता है कि—जीव की मुक्ति हो जाने पर वे सूक्ष्मभूत जीव के कर्मानुसार उनके साथ ही रहते हैं अथवा, परमात्मा में लीन हो जाते हैं? इस संशय पर विचारने से ज्ञात होता है कि वे परमात्मा में भिन्न नहीं सकते क्योंकि परमात्मा में सुखदुःख के उपभोग नहीं हैं, इसलिए वे जीव में संसक्त रहते हैं ।

इति प्राप्त उच्यते-तानि परे इति, तानि परस्मिन्नात्मनि संपद्यन्ते, कुतः? तथाह्याह श्रुतिः-“तेजः परस्यां देवतायाम्” इति । ययाह श्रुतिः तदनुगुणकार्यं कल्प्यमित्यर्थः । सुषुप्तिप्रलयोर्यथा परमात्मसपत्या सुखदुःखोपभोगायासविश्रमः तद्वद इहापि ।

उक्त मत पर सूत्रकार कहते हैं कि वे परमात्मा में संसक्त हो जाते हैं, “तेज परमात्मा में चला जाता है” इत्यादि श्रुति में इनकी परमात्मा में मिलने की बात स्पष्टतः कही गई है, इन भूतों के जो कर्मानुसार कार्य होते हैं, वे सृष्टि में ही होते हैं, यही श्रुति का तात्पर्य है । सुषुप्ति और मूर्च्छा में जैसे जीवात्मा, आत्मस्थ परमात्मा से संसक्त हो जाता है उस समय उसके सुखदुःखोपभोग के सारे क्रिया कलाप तटस्थ रहते हैं, वैसे ही मुक्तावस्था में भी जीवात्मा के परमात्मा में संसक्त रहते हैं [सृष्टिकाल में वे पुनः जीवात्मा के साथ अपने क्रिया कलाप के विस्तार के लिए सचेष्ट होते हैं]

७ अविभागाधिकरणः-

अविभागोवचनात् १४।१।१५

सेयं परमात्मनि संपत्तिः किं प्राकृतलयवत् कारणापत्तिरूपा, उत “वाङ् मनसि” इत्यादिवत् अविभागरूपा? इति चिन्तायाम्-परमात्मनः सर्वेषां योनिभूतत्वात् कारणापत्तिरूपा ।

यह जो भूतों की परमात्मा में संलग्नता की बात कही गई वह किस प्रकार की है, क्या वह प्राकृतलय की तरह कारणापत्तिरूपा अर्थात् कारण में कार्य के मिलने की बात है अथवा “वाङ्मनसि” की तरह तद्रूप होकर चिपके रहने की बात है? इस पर विचारने से-परमात्मा सभी के कारण है इसलिए, कारण में कार्य के मिलने की बात, समझ में आती है ।

सिद्धान्तः-इति प्राप्त उच्यतेः-“अविभागः” इति । अपृथग्भावः पृथग्व्यवहारानहं संसर्ग इत्यर्थः । कुतः? वचनात् “तेजः परस्यां देवतायाम्” इत्यत्रापि “वाङ् मनसि संपद्यते” इत्यतः संपद्यते इति

वचनस्यानुषंगत्, तस्य च संसर्गविशेष वाचित्वात्, अनुपक्त स्याभिधानवैरूप्यप्रमाणाभावात्, उत्क्रांतिवैलायां कारणापत्ति प्रयोजनाभावात् पुनस्तत्राव्यक्तादिसृष्ट्यवचनाच्च ।

उक्त मत पर सूत्रकार कहते हैं कि—इन सूक्ष्म भूतों का परमात्मा से जो सम्मेलन होता है वह इतना सूक्ष्म होता है कि—उसे पृथक् कहना कठिन है । “तेजः परस्यां देवतायाम्” इस वचन से ही उक्त बात समझ में आ जाती है । “वाङ्मनसि संपद्यते” में जो अनुपक्त होने की बात कही गई है, वह विशेष प्रकार के संसर्ग का ही बोध कराती है । परमात्मा में अनुपक्त, इन सूक्ष्म भूतों के नामभेद का तो, उल्लेख मिलता नहीं, और न उत्क्रांति के समय इनका कारण में लीन होने का कोई प्रयोजन ही समझ में आता है, तथा इन अव्यक्त आदि का उस अवस्था में सचेष्ट होकर संचालित होने का प्रमाण ही मिलता है, जिससे इन्हे भिन्न या अभिन्न कुछ कहा जा सके, इनकी तो एक विशेष प्रकार की अनिर्वचनीय अभिन्नता ही रहती है ।

२ तदोक्तोऽधिकरणः—

तदोक्तोऽप्रज्वलनं तत् प्रकाशितद्वारा विद्यासामर्थ्यात्तिच्छेपगत्यनु-
स्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया । ४।२।१६॥

एवं गत्युपक्रमावधि विद्वद्विदुषोः समानाकार उत्क्रांति प्रकार उक्तः, इदानीं विदुषो विशेष उच्यते, तत्रेदमाम्नायते—“शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिन्ःसृतैका तयोर्ध्वंमा-
पन्नमृतत्वमेति विष्वङ्न्या उत्क्रमणे भवन्ति” इति । अनया नाडीनां शताधिकया मूर्धन्यनाड्यैव विदुषो गमनं ग्रन्थाभिरेव चाविदुषो गमनमित्ययं नियम उपपद्यते, न ? इति संशयः किं युक्तम् ? नियमो नोपपद्यत इति, कुतः ? नाडीनां भूयस्त्वादतिसूक्ष्मत्वाच्च दुर्विवेचतया पुष्पेणोपादातुमशक्यत्वात् । “तयोर्ध्वंमापन्नमृतत्वमेति विष्वङ्न्या

उत्क्रमणे भवन्ति" इति यादृच्छिकीभुत्क्रांतिमनुवदतीति युक्तमिति ।

नाडी विशेष में प्रवेश करने के प्रथम तक उपासक और अनुपासक की समान उत्क्रांति दिखलाई गई, अब नाडी में प्रवेश करने के बाद उपासक की विशेष प्रकार की उत्क्रांति का वर्णन करते हैं। जैसा कि कठोपनिषद् में कहा गया कि—“हृदय की एक सौ एक नाडियाँ हैं, उनमें से एक कपाल की ओर निकली है, उसके सहारे ऊपर के लोकों में जाकर अमृतत्व को प्राप्त हो जाता है दूसरी एक सौ नाडियाँ मरण काल में अनेक प्रकार की योनियों में जाने की हेतु होती हैं” इत्यादि। सौ नाडियों से विशिष्ट मूर्धन्य सुपुम्ना नाडी से उपासक की उत्क्रांति तथा अन्य सौ नाडियों से अनुपासक की उत्क्रांति का नियम बतलाया गया है या नहीं? इस संशय पर मत होता है कि—नाडियाँ अनेक और अति सूक्ष्म हैं, उनकी जानकारी बहुत कठिन है जीव के द्वारा उनको ग्रहण करना अति कठिन है “तयोर्ध्वंमापन्नमृतत्वमेति” इत्यादि में सामान्य उत्क्रांति का ही वर्णन है, यही मानना युक्ति युक्त है।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे-शताधिकया इति । विद्वान् शताधिकया मूर्धन्यैव नाड्योत्क्रामति । न चास्याः विदुषो दुर्विवेचत्वं, विद्वान् हि परं पुरुषाराधनभूतात्यर्थं प्रियविद्या सामर्थ्यात् विद्याशेषभूततयाऽमनोऽत्यर्थं प्रियगत्यनुस्मरणयोगाच्च प्रसन्नेन हार्देन परमपुरुषेणानुगृहीतो भवति, ततश्च तदोकः तस्य जीवस्य स्थानं हृदयं अग्रज्वलनं भवति, अग्रज्वलनं प्रकाशनं यस्य, अग्रज्वलनम् । परमपुरुषप्रसादात् प्रकाशितद्वारो विद्वान् तां नाडीं विजानातीति, तथा विदुषो गतिरुपपद्यते ।

उत मत पर सिद्धान्तरूप से “शताधिकया” आदि सूत्र प्रस्तुत करते हैं—कहते हैं कि—उपासक, सौ नाडियों से विशिष्ट मूर्धन्य नाडी से ही उत्क्रमण करता है। उपासक के लिए नाडियों की जानकारी कठिन नहीं होती। उपासक, परंपुरुष की आराधना रूप प्रिय ब्रह्मविद्या के

सामर्थ्य से, विद्या के फलस्वरूप होने वाली प्रिय इष्ट प्राप्ति को स्मरण कर अत्यंत प्रसन्न होता है, उसे परमात्मा का अनुग्रह प्राप्त हो जाना है, इसलिए उसके हृदय का अग्रभाग (जो कि सुषुम्ना नाडी की ओर जाता है) प्रज्वलित अर्थात् प्रकाशित हो जाता है, प्रभु की कृपा से वह उपासक प्रकाशित मार्ग से नाडी के मार्ग की जानकारी कर लेता है, उसी मार्ग से उपासक की गति होती है ।

६. रश्म्यनुसाराधिकरणः—

रश्म्यनुसारो ।४।२।१७।।

विदुषो हृदयाच्छताधिक्रया मूर्धन्यनाड्या निगंतस्यादित्य रश्मीननुसृत्यादित्यमंडलगतिः श्रूयते "अथ यत्रैदस्माच्छरीरादुत्क्राम-
त्यथैतैरेव रश्मिभिर्बुध्नाक्रामते" इति । तत्र रश्म्यनुसारेणैवेत्ययं गति नियमः संभवति न वा ? इति चिन्तायां, निशिमृतस्य विदुषो रश्म्यनुसारासंभवादनियमः । वचनन्तु पक्षपात विषयम् ।

हृदय से निसृत एक सी एक नाडियों में सर्वश्रेष्ठ मूर्धन्य नाडी से निकलकर सूर्य की किरणों का अनुसरण कर सूर्य मंडल में जाने की बात उपासक के विषय में सुनी जाती है—“इस शरीर से उत्क्रमण कर, इन सूर्य की रश्मियों के ही सहारे ऊपर आक्रमित होता है”, इस पर विचार होता है कि—क्या सूर्य रश्मियों के सहारे ही इस गति के होने का नियम है, अथवा कोई नियम नहीं है? मनन करने से तो ऐसा कोई नियम समझ में नहीं आता, क्योंकि जब उपासक की मृत्यु रात्रि में होती है तब क्या उसकी ऊर्ध्वगति नहीं होती? यदि होती है तो कैसे होती है? उक्त वचन पक्ष विशेष के लिए प्रतीत होता है ।

सिद्धान्तः—इति प्राप्त उच्यते—“रश्म्यनुसारो” इति, रश्म्यनु-
सार्यत्र विद्वानूर्ध्वं गच्छति, कुतः ? “अथैतैरेव रश्मिभिः” इत्यव-
धारणात् पाक्षिकत्वे ह्येवाकारोऽन्येकः स्यात् । यदुक्तं निशिमृतस्य
रश्म्यसंभवात् रश्मीननुसृत्य गमनं नोपपद्यत इति, तत्र, निशयवि

सूर्यरश्म्यनुसारः संभवति, लक्ष्यते हि निश्चयपि निदाघ समये ऊष्मोपलब्ध्या रश्मिसद्भावः, हेमन्तादौ तु हिमाभिवादा दृदिन इवोष्मानुपलम्भः, श्रूयते च नाडी रश्मीनां सर्वदाऽन्योन्यान्वयः- 'तद्यथामहापथ घ्रातत उभौ लोकौ गच्छतीमं घामुं च ग्रामुष्मादा-दित्यात्प्रतायंते त आसु नाडी सुसप्ताः ग्राम्यो नाडोभ्यः प्रतायंते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सप्ताः" इति । तस्मान्निश्चयपि रश्मि संभवान्निशि मृतानामपि विदुषां रश्म्यनुसारेणैव ब्रह्मप्राप्तिरस्त्येव ।

उक्त मत पर सिद्धान्त कहते हैं कि-रश्मियों के सहारे ही उपासक की ऊर्ध्व गति होती है । "उन्हीं रश्मियों के सहारे" इस अवधारक पद से यह बात निश्चित हो जाती है । यदि इस वाक्य को पक्ष विशेष के लिए मानेंगे तो वाक्यगत "एव" पद की ध्येयता सिद्ध होगी । जो यह कहा कि-रात्रि में मृत उपासक का रात्रि में रश्मि न होने से, रश्म्यनुसार ऊर्ध्व गमन नहीं हो सकता; सो बात नहीं है, रात्रि में भी रश्म्यनुसार गमन संभव है; गर्मों के दिनों में रात्रि में ऊष्मा होती है जिससे सूर्यरश्मियों का सद्भाव निश्चित होता है, हेमन्त आदि में, हिम से आच्छादित होने के कारण, मेघाच्छादित दिन की तरह ऊष्मा की अनुपलब्धि रहती है । नाडी और रश्मियों का, एक दूसरे से संबंध होने का उल्लेख भी मिलता है । "जिस प्रकार कोई विस्तीर्ण महापथ इस (समीपवर्ती) और उस (दूरवर्ती) दो गावों को जाता है, वैसे ही सूर्य की किरणें, इस पुरुष और आदित्य मंडल, दोनों में प्रविष्ट हैं । जो निरन्तर उस आदित्य से निकलती है वो इन नाडियों में व्याप्त हैं, तथा जो इन नाडियों से निकलती है वो आदित्य में व्याप्त हैं ।" इत्यादि । इसलिए, रात्रि में भी रश्मियों के सद्भाव के कारण, रात्रि में भी मृत उपासक की, रश्मि अनुसार ही ब्रह्म प्राप्ति होती है ऐसा मानना चाहिए ।

१० निशाधिकरणः—

निशिनेति चेन्न संबंधस्ययावद्^१हभावित्यात् दर्शयति च । ४।२।१६॥

इदमिदनाती चिन्त्यते-विदुषो निशि मृतस्य ब्रह्मप्राप्तिरस्ति,

नेति? यद्यपि निशायां सूर्यरश्मिसंभवाद्दृश्यनुसारेण गतिर्निशाया-
मपि संभवति, तथापि निशामरणस्य शास्त्रेषु गहितत्वात्
परमपुरुषार्थं लक्षणं ब्रह्मप्राप्तिर्निशामृतस्य न संभवति । शास्त्रेषु
दिवामरणम् प्रशस्तम्, विपरीतं निशामरणम्—“दिवा च शुक्लपक्षश्च
उत्तरायणमेव च, मुमूर्षतां प्रशस्तानि विपरीतं तु गहितम्” इति ।
दिवामरणनिशामरणयोः प्रशस्तत्वं विपरीतत्वे चोत्तमाधमगति
हेतुत्वेन स्याताम् । अतो निशामरणमधोगति हेतुत्वात् ब्रह्म
प्राप्तिरिति चेत् ।

अब यह विचारते हैं कि— रात्रि में मृत उपासक की ब्रह्म प्राप्ति
होती है या नहीं ? यद्यपि रात्रि में भी सूर्य रश्मियों के रहने से, रश्मियों
के सहारे रात्रि में भी ऊर्ध्वं गमन होता है, फिर भी रात्रि मरण की
शास्त्र में गहृणा की गई है, इसलिए—रात्रि में मृत व्यक्ति की ब्रह्म प्राप्ति
रूप मुक्ति नहीं हो सकती । शास्त्र में स्पष्ट रूप से दिवामरण को प्रशस्त
तथा निशामरण को गहित कहा गया है—“दिन, शुक्ल पक्ष और उत्तरायण,
मुमुक्षुओं के लिए प्रशस्त हैं, इससे विपरीत रात्रि, कृष्णपक्ष और
दक्षिणायन, गहित है” इत्यादि । दिवामरण और निशामरण के प्रशस्त
और गहित होने की बात उत्तम और अधोगति के आधार पर ही कही गई
है इसलिए रात्रि मरण में अधोगति होती है, इस आधार पर ब्रह्म प्राप्ति
नहीं होती, ऐसा समझ में आता है ।

तन्न, विदुयः कर्मसंबन्धस्य यावद्देहावित्वात् । एतदुक्तं
भवति—अनाद्यकार्याणामधोगति हेतुभूतानां कर्मणां विद्यासंबन्धेनैव
विनाशादुत्तरेषां चारत्वेणाद् प्रारब्ध कार्यस्य च चरमदेहावधित्वाद्
बन्धहेत्वभावाद्विदुषो निशामृतस्यापि ब्रह्मप्राप्तिः सिद्धैव । दशयति
च श्रुतिः “तस्यतावदेवं चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ संपत्स्ये” इति
“दिवा च शुक्लपक्षश्च” इत्यादिवचनमविद्वद्विषयम् ।

उक्त बात ठीक नहीं है, उपासक का कर्म संबंध तो शरीर के रहने तक ही रहता है। कथन यह है कि-अधोगति को देने वाले अनेकानेक जन्मों के संचित कर्मों का तथा भविष्य में फलित होने वाले कर्मों का तो विद्या के संबंध से ही विनाश और अश्लेष हो जाता है, प्रारब्ध कर्मों के फल का संबंध भी देह की समाप्ति तक ही रहता है, बंधन में डालने वाले कोई कर्म शेष तो रहते नहीं, इसलिए उपासक की रात्रि में मृत्यु होने पर भी, ब्रह्मप्राप्ति तो निश्चित ही है। श्रुति का कथन भी है कि—“उसकी मुक्ति में तभी तक का विलंब है, जब तक शरीर से नहीं छूट जाता।” “दिवा च शुक्लपक्षश्च” इत्यादि वचन तो अनुपासकों के लिए है।

११. दक्षिणायनाधिकरणः—

अत्ररचायनेऽपि दक्षिणे १४।२।१६॥

निशि मृतस्यापि विदुषो ब्रह्मप्राप्तौ यो हेतुरुक्तः, तत एव हेतुर्दक्षिणेऽप्ययने मृतस्य ब्रह्मप्राप्तिः यनेसिद्धा ।

अधिका शंका तु “अथ यो दक्षिणे प्रमोयते पितृणामेव महिमानं गत्वा चन्द्रमसः सायुज्यं गच्छति” इति दक्षिणायनेन मृतस्य चंद्रप्राप्ति श्रवणात् चन्द्रप्राप्तानां च “तेषां यदा तत्पर्यवैत्यथैतमेवाध्वानं पुनर्निवसन्ते” इति पुनरावृत्ति श्रवणात् भीष्मादीनां च ब्रह्मविद्यानिष्ठानां उत्तरायणप्रतीक्षा दर्शनात् दक्षिणायने मृतस्य ब्रह्मप्राप्तिर्न संभवति इति ।

रात्रि में उपासक को ब्रह्म प्राप्ति में जो कारण बतलाया गया, उसी कारण के आधार पर दक्षिणायन में भी मृत उपासक की ब्रह्मप्राप्ति स्वभाव सिद्ध है।

इस पर विशेष शंका यह होती है कि—“जो लोग दक्षिणायन में मरते हैं वे पितरों की महिमा को प्राप्त होकर चन्द्रमा का सायुज्य प्राप्त करते हैं” इत्यादि में दक्षिणायन में मरने वाले को चन्द्र प्राप्ति बतलाई

गई है तथा चन्द्र प्राप्त जीव को, "वे जिस मार्ग से गए थे उसी मार्ग से पुनः लौट आते हैं" इत्यादि में पुनारावृत्ति बतलाई गई है तथा ब्रह्मविद्या-निष्ठ भीष्म आदि के उत्तरायण की प्रतीक्षा के उल्लेख से ऐसा लगता है कि दक्षिणायन में मृत व्यक्ति की ब्रह्म प्राप्ति संभव नहीं है ।

परिहारस्तु—अविदुषां पितृयाणेन पथा चन्द्रं प्राप्तानामेव पुनरावृत्तिः, विदुषस्तु चंद्र प्राप्तस्यापि "तस्माद् ब्रह्मणो महिमान-माप्नोति" इति वाक्यशेषात्तस्य दक्षिणायन मृतस्य चन्द्रप्राप्तिः ब्रह्मप्रपित्सतो विश्रमहेतुमात्रमिति गम्यते, वाक्यशेषाभावेऽपि पूर्वोक्तादेव बंधहेत्वभावात् विदुषश्चन्द्रप्राप्तस्यापि ब्रह्मप्राप्तिर-निवार्या । भीष्मादीनां योगप्रभावात् स्वच्छंदमरणानां धर्म प्रवर्तनायोत्तरायण प्राशस्त्यप्रदर्शनायंस्तथाविधाचारः ।

उक्त संशय का परिहार यह है कि—पितृयान से जाकर चन्द्रमसी गति प्राप्त करने वाले अनुपासक की ही पुनरावृत्ति होती है, उपासक की कभी चान्द्रमसी गति होती भी है तो, "वहाँ से वह ब्रह्म की महिमा को प्राप्त करते हैं" इत्यादि वचन से ज्ञात होता है कि, दक्षिणायन में मृत उपासक की वह चंद्र प्राप्ति ब्रह्म मार्ग में जाते हुए विश्राम के लिए होती है । यदि यह वचन न भी हो तो भी उपासना के कारण उसमें बंधन के हेतु का तो अभाव रहता ही है, जिससे चन्द्र प्राप्त उपासक की ब्रह्म प्राप्ति अनिवार्य हो जाती है । भीष्मादि के उत्तरायण प्रतीक्षा की जो बात है, वह तो उत्तरायण की श्रेष्ठता प्रदर्शित करने के लिए और धर्म प्रवर्तन के लिए, योग प्रभाव से स्वच्छंद मरण की बात है ।

ननु च विदुषो मुमूर्षून् प्रति पुनरावृत्ति हेतुत्वेन कालविशेष विधिदृश्यते "यत्रकालेस्वनावृत्तिमावृत्ति चैव योगिनः प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभः । अग्निज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्, तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदोजनाः । धूमो रात्रिस्तथाकृष्णः षण्मासादक्षिणायनम्, तत्रचान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तन्ते । शुक्लकृष्णे गतीह्येते जगतः शारवते मते, एकया पात्यनावृत्तिमन्ययाऽवर्तन्तेपुनः" इति । तत्राह—

मुमुक्षु उपासकों के लिए तो पुनरावृत्ति के हेतु कालविशेष का वर्णन मिलता है? जैसे—“हे भरतर्षभ! जिस समय योगी की आवृत्ति और अनावृत्ति होती है, उसका नियम बतलाता हूँ, सुनो—अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्ल पक्ष, उत्तरायण के छः महीने के दिनों में जाने वाले ब्रह्मविद ब्रह्म को प्राप्त करते हैं तथा धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष दक्षिणायन के छः महीनों में जाने वाले योगी चान्द्रमसी ज्योति को प्राप्त कर पुनः लौटते हैं इस प्रकार की शुक्ल और कृष्ण की गतियाँ, जगत में शाश्वत काल से चली आ रही हैं, जिनमें से एक में जाने पर आवृत्ति होती है। “इत्यादि, इसका समाधान करते हैं—

योगिनः प्रति स्मर्यंते स्मार्त्तं चंते ।४।२।२०॥

नात्र मुमूर्षून् प्रति मरण काल विशेषोपादानं स्मर्यंते अपितु योगिनः, योग निष्ठान् प्रति स्मार्त्तं-स्मृति विषयभूते स्मत्तंघ्ये देवयान पितृयानाख्ये गतो स्मर्यंते, योगांगतयाऽनुदिनं स्मर्त्तुम् । तथाहि उपसंहारः—“नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति करचन् तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवाजुंन” इति “अग्निज्योती” “धूमो रात्रिः” इति च देवयान पितृयाणे प्रतिभिज्ञायेते उपक्रमे च “यत्र काले तु” इति काल शब्दः कालाभिमानिदेवतातिवाहिकपरः, अग्न्यादेः कालत्वासंभवात् । अतः “तेऽर्चयमभिसंभवन्ति” इति विदितदेवयानानुस्मृतिरत्र विद्यानिष्ठान्प्रति विधीयते, न मुमूर्षून् प्रति मरणकालविशेषः ।

उक्त प्रसंग में मुमुक्षु उपासकों, के मरण काल विशेष का उल्लेख नहीं है, अपितु कर्म योग में संलग्न व्यक्तियों की गति का उल्लेख है । स्मृतियों में जो, देवयान पितृयान नामक गतियों का उल्लेख है वह, कर्म-योग के अंग विशेष रूप से सदैव ज्ञातव्य है । जैसा कि उक्त प्रसंग के उपसंहार में स्पष्ट कहा गया कि—“हे भर्जुन ! उक्त दोनों गतियों को

जानकर कर्मयोगी कभी मोह में नहीं पड़ते, इसलिए तुम सदैव कर्मयोग में संलग्न रहो ।” इत्यादि “अग्नि ज्योति” और “धूमो रात्रिः” इत्यादि से देवयान और पितृयान मार्ग का उल्लेख है। उपक्रम में जो “यत्र काल” कहा गया है, वहाँ काल शब्द कासाभिमानी देवता अतिवाहक का वाचक है, अग्नि इत्यादि में कालत्व नहीं हो सकता है । “तेर्चिषममिसंभवन्ति” इत्यादि में, विद्या निष्ठों के लिए, देवयान मार्ग प्राप्ति का उल्लेख किया गया है । मुमुक्षुओं के मरण काल विशेष का प्रसंग नहीं है ।

चतुर्थ अध्याय द्वितीय पाद समाप्त

है, वह आदित्य लोक को जाता है, वह इन्द्रलोक को जाता है, वह प्रजापति लोक को जाता है, वह ब्रह्मलोक को जाता है । "इत्यादि तथा बृहदारण्यक में वर्णन मिलता है—"जो इस प्रकार इसे जानते हैं अथवा जीवन में श्रद्धा से सत्य ब्रह्म को उपासना करते हैं, वे ज्योति के अभिमानी देवताओं को प्राप्त होते हैं, ज्योति के अभिमानी देवताओं से दिन के अभिमानी देवताओं को दिन के अभिमानी देवता से शुक्ल पक्षाभिमानो देवता को पक्षाभिमानो देवता से जिन छः महीनों में सूर्य उत्तर की ओर रहता है उन छ महीनों के अभिमानी देवताओं को प्राप्त होते हैं, षणमासाभिमानो देवताओं से देवलोक को, देवलोक से आदित्य को, और आदित्य से विद्युत्संबंधी देवताओं को प्राप्त होते हैं उन व्रंछुत देवों के पास एक अमानव पुरुष आकर इन्हें ब्रह्मलोकों में ले जाता है "इत्यादि उसी उपनिषद में पुनः भिन्न प्रकार से वर्णन किया गया है—" जब पुरुष मर कर इस लोक से जाता है वह वायु को जाता है वहाँ वह वायु छिद्रयुक्त होकर मार्ग दे देता है जैसा कि रथ के पहिए का छिद्र होता है । उसके द्वारा वह ऊर्ध्व होकर चढ़ता है, वह सूर्य लोक में पहुँच जाता है, वहाँ सूर्य उसके लिए वैसा ही छिद्रयुक्त मार्ग देता है, वैसा कि डम्बर का छिद्र होता है, उससे वह ऊपर की ओर चढ़ता है, वह चन्द्र लोक में पहुँच जाता है, वहाँ चन्द्रमा भी उसे छिद्र दे देता है जैसा कि दुदुभी का छिद्र होता है, उसके द्वारा वह ऊपर की ओर चढ़ता है, वह भशोक और अहिम लोक में पहुँच जाता है उसमें सदा—" इत्यादि । इस पर संशय होता है कि— अचिरादि के एक ही मार्ग का इन श्रुतियों में प्रतिपादन किया गया है, जिससे कि उपासक ब्रह्म को प्राप्त करता है, अथवा भिन्न भिन्न मार्गों का प्रतिपादन है ? अथवा इन भिन्न मार्गों में से किसी से भी जाने का अनियम दिखलाया गया है ? विचारने पर अनियम ही तमज्ञ में आता है क्योंकि अनेक मार्गों का उल्लेख कोई विशेष अपेक्षित मार्ग तो बतलाया नहीं गया है ।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्तेर्भ्रमणीयतो—अचिरादिना इति । अचिरादिरेक एवं मार्गः सर्वत्र प्रतिपाद्यते । अतोर्गचिरादिनैव गच्छति । कुतः ? तत्प्रयितेः तस्यैव सर्वत्र प्रयितेः । प्रयितिः प्रसिद्धिः, तस्यैव सर्वत्र प्रत्यभिज्ञानात् स एव मार्गः सर्वत्र न्यूनाधिकभावेन प्रतिपाद्यत

इति विद्यागुणोपसंहारवदन्यत्रोक्तानामन्यत्रोपसंहारः क्रियते ।
 छांदोग्ये तावदुपकोसलविद्यायां पंचाग्निविद्यायां चैकरूप एवा-
 न्नायते, वाजसनेयके च पंचाग्निविद्यायां तथैवाचिरादिः,
 अल्पान्तरमाम्नायते, अतस्तत्रापि स एवेति प्रतीयते । अन्यत्रापि
 सर्वत्राग्न्यादित्यादयः प्रत्यभिज्ञायन्ते ।

उक्त संशय पर सिद्धान्त रूप से “अचिरादिना” इत्यादि सूत्र
 प्रस्तुत करते हैं । एक ही अचिरादि मार्ग का सब जगह प्रतिपादन किया
 गया है । उपासक अचिरादि मार्ग से ही जाता है । उसी मार्ग से उसके
 जाने की सर्वत्र प्रसिद्धि है । उमी एक मार्ग का सर्वत्र न्यूनधिक रूप से
 वर्णन किया गया है । विद्याओं के गुणोपसंहार की तरह इसका भी अन्यत्र
 जो उल्लेख है उसका अन्यत्र उपसंहार किया गया है । जैसे कि छांदोग्य
 की उपकोसल और पंचाग्नि विद्या के प्रसंग में उक्त मार्ग का एक-सा
 वर्णन किया गया है, वाजसनेयक की पंचाग्नि विद्या में इस अचिरादि
 का कुछ थोड़े से अन्तर से वर्णन है, इसलिए वहाँ भी उसी का वर्णन
 प्रतीत होता है । अन्यत्र भी अग्नि आदित्य आदि की प्राप्ति प्रायः
 समान रूप से ही दिखलायी गई है ।

२ वायवधिकरणः—

वायुमन्वादाविशेष विशेषाम्याम् । ४।३।२॥

अचिरादिनैव गच्छन्ति विद्वांस इत्युक्तम्, तत्राचिरादिके मार्गे
 छांदोग्याः मासादित्योरन्तराने संवत्सरमधीयेते—“मासेभ्यः संवत्सरं
 संवत्सरादादित्यम्” इति । वाजसनेयिनस्तुतयोरेवान्तराले देवलोकं—
 “मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यम्” इति । उभयत्रापि मार्ग
 स्यैकत्वादुभयत्रोपसंहारौ । तत मासाद्दूर्ध्वमभिहितायोः संवत्सर
 प्रथितेः । प्रथितः प्रसिद्धिः, तस्यैव सर्वत्र प्रत्यभिज्ञानादित्यर्थः
 देवलोकयोः पंचम्याभिहितस्य श्रौतक्रमस्य तुल्यत्वे हि—“अचिंपोऽह-
 रह अपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षद्यान् पडुदंगेति मासास्तान्”

इत्यधिककालानां न्यून कालेभ्य उत्तरोत्तरत्वेन निवेशदर्शनात्
संवत्सरस्यैव मासादनंतरं बुद्धौ विपरिवृत्तेः संवत्सर एव मासा-
दूर्ध्वं निवेशयित्तव्य इति तदा ऊर्ध्वं देवलोक इति निश्चोयते ।

उपासक अचिरादि पय से जाते हैं यह बतलाया गया । अचिरादि
मार्ग के वर्णनों में कुछ भेद है उस पर विचार करते हैं जैसे कि-छांदोग्य
में माम और आदित्य के बीच संवत्सर का वर्णन है—“मास से संवत्सर
संवत्सर से आदित्य ।” वाजसनेयी में उन दोनों के बीच देवलोक
का वर्णन है—“मासों से देवलोक देवलोक से आदित्य ।” मास से
ऊपर जिन संवत्सर और देवलोक का पंचमी विभक्ति से उल्लेख किया
गया है वह श्रौतक्रम के अनुसार ही है । “अचि अभिमानी से दिवसा-
भिमानी को, दिवसाभिमानी से शुक्लपक्षाभिमानी को दिवसाभिमानी
से उत्तरायण के महीनों को, उत्तरायण के महीनों से संवत्सर को, संवत्सर
से” इत्यादि में जो-समय के न्युनाधिक क्रम का उत्तरोत्तर वर्णन किया
गया है उससे, मास से बाढ़ संवत्सर की स्थिति ही समीचीन प्रतीत
होती है मास से संवत्सर में प्रवेश करने की बात ही बुद्धिगम्य होती है,
उमके ऊपर देवलोक की स्थिति निश्चित होती है ।

अन्यत्र वाजसनेयिनः “यदा वै पुरुषोऽस्माह्लोकात् प्रैति स
वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथ चक्रस्य खंतेन
स ऊर्ध्वमाक्रमते स आदित्यमागच्छति” इत्यादित्यात्पूर्वं वायुम-
धीयते । कौपीतकिनस्तु—“स ए देवयानं पंचानमापद्याग्नि
लोकमागच्छति स वायुलोकम्” इत्यग्निलोकशब्द निर्दिष्टार्चिषः
परं वायुमधीयते । तत्र कौपीतकिनां पाठक्रमेणार्चिषः परत्वेन
प्राप्तस्य वायोः वाजसनेयिनां “तेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स आदित्य-
मागच्छति” इत्यूर्ध्वशब्द निर्दिष्ट श्रौतक्रमेण पाठक्रमाद् बलीयसा
आदित्यात्पूर्वंप्रवेशो निश्चोयते ।

दूसरी जगह वाजसनेयी में “यदा वै पुरुषो” इत्यादि में आदित्य के
पूर्वं वायुलोक प्राप्ति की बात कही गई है । तथा कौपीतकि में—“स एतं
देवयानं” इत्यादि में अग्निलोक शब्द से निर्दिष्ट अचि के बाद वायु-

लोक के वर्णन से वाजसनेयी का "तेन स ऊर्ध्वं" इत्यादि वर्णन श्रौतक्रम से निर्दिष्ट ऊर्ध्वं पद के पाठ के कारण श्रेष्ठ होता है, जिससे आदित्य से प्रथम वायुलोक में प्रविष्ट होना निश्चित होता है।

अत आदित्यात्पूर्वं संवत्सरादूर्ध्वं देवलोकोवायुश्चप्राप्तौ, तत्रेदं चिन्त्यते, किं देवलोकोवायुश्चार्थान्तरभूतो यथेष्टक्रमेण विद्वान् अभिगच्छेत् उतानर्थान्तरत्वेन संवत्सरादूर्ध्वं देवलोकं संतं वायुमभिगच्छेत् ? किं युक्तम् ? भिन्नार्थत्वं प्रसिद्धेः । भिन्नार्थत्वेचोर्ध्वंशब्देन पंचम्या चोभयोः संवत्सरादित्यान्तराले श्रुतिक्रमेण प्राप्तत्वात् विशेषाभावाच्च यथेष्टम् ।

इस प्रकार भिन्न प्रकरणों में संवत्सर के ऊपर आदित्य से प्रथम देवलोक और वायु का उल्लेख मिलता है। इस पर विचार होता है कि—देवलोक और वायु दोनों एक ही हैं जिनसे होकर उपासक जाता है अथवा संवत्सर से ऊपर देवलोक को पार कर वायु को जाता है ? वैसे दोनों की भिन्न अर्थों में ही प्रसिद्धि है, दोनों के लिए ही पंचमी का प्रयोग किया गया है, तथा दोनों की संवत्सर के ऊपर आदित्य के पहिले स्थिति बताई गई है इसलिए दोनों में किमी को भी माना जा सकता है, दोनों को भी माना जा सकता है।

सिद्धान्तः—इति प्राप्त उच्यते—वायुमब्दात् इति वायुं संवत्सरादूर्ध्वंमभिगच्छेत् । कुतः ? अविशेष, विशेषाभ्यां वायोरेव निर्दिष्टत्वात् । देवलोक शब्दो हि अविशेषेण, सामान्येन देवानां लोक इत्यनेन रूपेण वायुमभिघत्ते । "सवायुमागच्छति तस्मै स तत्र" इति वायुशब्दो विशेषेण वायुमभिघत्ते । अतो देवलोक वायुशब्दाभ्यां अविशेष विशेषाभ्यां वायुरेवाभिघोयत इति संवत्सरादूर्ध्वं वायुमेवाभिगच्छेत् । कौपीतकिना वायुलोक शब्दश्चाग्निलोकशब्दवत् वायुश्चासौ लोकश्चेति व्युत्पत्त्या वायुमेवाभिघत्ते । वायुश्चदेवानामावासभूत इत्यन्यत्र श्रूयते—"योऽयं पवत एष देवानां ग्रहाः" इति ।

उक्त चिन्तन पर सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं कि-संवत्सर से ऊपर वायु को ही जाते हैं। देवलोक और वायु का अविशेष और विशेष रूप से वर्णन किया गया है, विशेषता वायु का ही निर्देश है। देवलोक शब्द अविशेष है, देवताओं का लोक इस व्युत्पत्ति के अनुसार वायु का ही देवलोक के रूप में वर्णन किया गया है। "स वायुमागच्छति", इत्यादि में वायु शब्द का विशेषोल्लेख है, इसलिए वायु की बात ही ठीक है। देवलोक और वायु शब्दों के अविशेष और विशेषरूप से उल्लेख होने से संवत्सर से ऊपर वायु की स्थिति ही निश्चित होती है। कौपीतिकि में जिस वायु का उल्लेख है, वह अग्नि लोक की तरह वायु लोक का ही है। वायु को देवताओं का आवास स्थान कहा भी गया है-"जो यह वायु है वह देवताओं का आवास स्थान है" इत्यादि।

३ वरुणाधिकरणः-

तदितोऽधिवरुणः संवन्धात् । ४।३।३॥

कौपीतिकिनां "स एतं देवयानं पंथानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं, स वरुणलोकं, स आदित्यलोकं स इन्द्रलोकं, स प्रजापतिलोकं, स ब्रह्मलोकम्" इत्याग्नि लोक शब्दस्याधिः पर्यायत्वेन प्राथम्यविगीतम् । वायोश्च संवत्सरादूर्ध्वं निवेश उक्तः । आदित्यस्याप्यत्र प्राप्त पाठक्रमवाधेन "देवलोकादादित्यमादित्याद-वैद्युतम्" इति वाजसनेयकोक्त श्रुतिक्रमादेवलोक शब्दाभिहिताद-वायोरुपरि निवेशः सिद्धः । इदानीं वरुणेन्द्रादिषु चिन्ता । किमेते वरुणादयो यथापाठ वायोर्ध्वं निवेशयितव्याः, आहोस्वित् विद्युतोऽधीति दिशये अर्चिः प्रभृतिषु सर्वेषु "अर्चिपोऽहः" इत्यादि श्रुतिक्रमोपरोधाद् विद्युतः परस्ताच्च "तत्पुरुषोऽमानवः स एवान् ब्रह्म गमयति" इति विद्युतपुरुषस्य ब्रह्मगमयितृत्व श्रवणात् सर्वत्रावकाशाभावेना ग्राही च उपदेशा वैयर्थ्यायावश्यं कस्यचिद्

बाध्यत्वे पाठक्रमानुरोधेन वायोरनन्तरं वरुणो निवेशयितव्यः
वाय्वादित्ययोः क्रमस्य बाधितत्वेनेन्द्रप्रजापतो अपि हि अत्रैव
निवेशयितव्यौ ।

कौपीतकी में वर्णन आता है—“वह इस देवपथ पर आरूढ़ होकर
अग्नि लोक पहुँचता है, फिर वह क्रमशः वरुण लोक, आदित्य लोक, इन्द्र
लोक, प्रजापति लोक, होकर ब्रह्म लोक पहुँचता है” इत्यादि । इसमें
अग्नि लोक शब्द अर्चि का पर्यायवाची है इसलिए उसका सर्वप्रथम
वर्णन किया गया है । पहिले वायु का मवत्सर से ऊपर निवेश बतलाया
गया है । “देवलोकात् आदित्यम आदित्याद् वैद्युतम्” इत्यादि वाजसनेयी
श्रुति क्रम से भी, देव लोक शब्द वाची वायु के ऊपर सूर्य लोक का निवेश
निश्चित होता है जब कि उक्त कौपीतकी वाक्य में आदित्य का पाठ्य
क्रम भी बदला है इस वाक्य में वरुण इन्द्र आदि का विशेषोल्लेख है
इस पर विचारना यह है कि इन वरुण इन्द्रादि को पाठ्यक्रम के अनुसार
वायु के ऊपर निश्चित किया जाय अथवा विद्युत् लोक के नीचे ? समझ
में तो यही आता है कि—“अर्चिपोह” में जो क्रम दिया गया है उसके
अनुसार तो विद्युत् के बाद ही इनका निवेश होना चाहिए “तत्पुरुषोऽ-
मानवः” इत्यादि में जिस अमानवीय विद्युत् पुरुष की ब्रह्म लोक तक
पहुँचाने की चर्चा आई है उससे तो विद्युत् से प्रथम किसी के होने का
अवसर ही नहीं है, साथ ही ऐसा न मानने पर उपदेश भी व्यर्थ सिद्ध
होता है, इसलिए पाठक्रमानुसार वायु के बाद ही वरुण को प्रवेश करना
चाहिए तथा वायु और आदित्य के क्रम में बाधा न हो इसलिए इन्द्र
और प्रजापति को भी यहीं प्रविष्ट करना चाहिए ।

सिद्धान्तः—इति प्राप्त उच्यते—“तरितोऽधिवरुणः” इति ।
वरुणः तावद् विद्युत् उपरिष्ठात् निवेशयितव्यः । कुतः ? संबंधात्-
मेघोदरवत्त्वात् विद्युतो वरुणेन संबन्धो लोक वेदयोः प्रसिद्धः ।
एतदुक्तं भवति—वरुणादीनामुपदेरावैयर्थ्याच्च अर्चिन्निवेशयितव्यत्वे
सति पाठक्रमादयं क्रमस्य बलीयस्त्वाद् विद्युतोऽधिवरुणो निवेशयि-
तव्यः, तत्र चामानवस्य गमयितृत्वं व्यवधानसहमित्यवगम्यते ।

तस्य च व्यवधानसहत्वात् इन्द्रादेशचोपदिष्टस्यावश्यनिवेशयितव्यस्य
वरुणादुपर्युपदिष्टत्वादागतूनामन्ते निवेशयितव्यत्वान्च वरुणादुपरो-
न्द्रादिनिवेशयितव्य इति ।

उक्त मत पर सिद्धान्त कहते हैं कि-वरुण को विद्युत के नीचे
निविष्ट करना चाहिए, क्योंकि लोक और वेद में, मेघ के उदर में व्याप्त
होने से, विद्युत का वरुण के साथ, प्रसिद्ध संबंध है । कथन यह है कि-
वरुण आदि का जो देवयान पथ में उल्लेख किया गया है वह व्यर्थ न होने
पावे, उन्हें कहीं तो स्थान देना ही होगा, इसलिए पाठक्रमसे अर्थक्रम बल-
वान होता है इस सिद्धान्त के अनुसार वरुण को विद्युत के नीचे निविष्ट
करना चाहिए तभी अमानव पुरुष के ले जाने की बात व्यवधान के साथ
वन सकेगी । उसका जो व्यवधान है उसी में इन्द्र आदि का निवेश किया
जाना चाहिए । वरुण से ऊपर उन सबका उल्लेख किया गया है इसलिए
वरुण से ऊपर ही इन्द्र आदि का निवेश होना चाहिए ।

४. आतिवाहिकाधिकरणः—

आतिवाहिकास्तल्लिगात् ।४।३।४॥

इदमिदानीं चिन्त्यते, किमचिरादयोः मार्गचिन्हभूतः उत
भोगभूमयः, अथवा विदुषां ब्रह्म प्रेषितामतिवोढारः ? इति किं
तावदपुक्तम् ? मार्ग चिन्हभूता इति, कुतः ? उपदेशस्य तथा
विधत्वात्, दृश्यते हि लोके ग्रामादीनप्रति गंतूणामेवविधो
दैशिकरूपदेशः—“इतोनिष्काभ्यामुक्तं वृक्षं अमुकां नदीं अमुकं च
पर्वतपाश्वं गत्वाऽमुकं ग्रामंगच्छ” इति ।

अथवा भोगभूमयणाः स्युः, काल विशेषतया—प्रसिद्धानाम-
हरादीनां मार्गहित्वानुपपत्तेरन्यस्य च मार्गचिह्नभूतस्यैतेषा-
मनिधायकत्वात् । भोगभूमित्वं च “एत एव लोका यदहोरात्राप्यधर्म
मासा मासा ऋतवः संवत्सराः” इत्यहरादीनां लोकत्ववचनादुपपद्यते ।

अतएव च कौषीतकिनः “अग्निलोकमागच्छति” इत्यादिना लोकशब्दानुविधानेनाचिरादोन् पठन्तीति ।

अब यह विचारते हैं कि—यह अचिरादि केवल मार्ग के चिह्नमात्र हैं अथवा भोगभूमियाँ हैं अथवा उपासक को ब्रह्म की ओर ले जाने वाले दूत हैं ? मार्ग के चिह्न हो सकते हैं, ऐसा देखा जाता है कि—गाँव की ओर जाने वाले पथिक को प्रायः बतलाया जाता है कि—‘यहाँ से निकल कर अमुक वृक्ष पड़ेगा तब आपको एक नदी दीखेगी उससे पर्वत के किनारे किनारे जाकर धो गाँव पड़ेगा’ वैसे ही ब्रह्मलोक की ओर जाने वाले उपासक के लिए ये अचिरादि परिचायक चिह्नमात्र ही हैं ।

अथवा भोगभूमि भी हो सकती हैं । कालविशेष रूप से प्रसिद्ध दिनमास आदि मार्ग के चिह्न नहीं हो सकते, मार्ग-के चिह्नरूप से इनका उल्लेख भी नहीं मिलता भोग्य भूमि के रूप में तो इनका वर्णन आता भी है—‘ये रात्रि दिन, मास, ऋतुएं और संवत्सर सब लोक है’ इत्यादि । इसी प्रकार कौषीतकी में भी—‘अग्निलोक में पचहुँता है’ इत्यादि से अचिरादि को लोक रूप से बतलाया गया है । इसलिए ये सब लोक भोग्य भूमि ही हैं ।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्ते ब्रूमः—“आतिवाहिका” इति । विदुषामतिवाहे परंपुरुषेण नियुक्ताः, आतिवाहिकाः देवताविशेषा एते अचिरादयः । कुतः ? तल्लिगात्—अतिवहन लिगात् । अतिवहनं हि गन्तॄणां गमयितृत्वम् । गमयितृत्वं च—“तत्पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयति” इत्युपसंहारे श्रूयमाणं पूर्वेपामप्यविशेष श्रुतानां स एव संबंध इति गमयति । वदंति चाचिरादयः शब्दाः, अचिराद्यश्मभूतानभिमानिदेवताविशेषान् । “तं पृथिव्यप्रवीत्” इतिवत् ।

उक्त मत पर सिद्धान्त रूप से—“आतिवाहिका” इत्यादि सूत्र प्रस्तुत करते हैं, उपासक को ले जाने वाले, परंपुरुष की ओरसे नियुक्त, आतिवाहिक देवताविशेषों को ही अचिरादि नाम से बतलाया गया है । अतिवहन का चिह्न भी इनमें पाया जाता है । जाने वाले को ले जाने

के सामर्थ्य को अतिबहन कहते हैं। जैसा कि—“वह अमानव पुरुष इन्हे ब्रह्म की ओर पहुँचाता है” इत्यादि उपसंहार के वाक्य से ज्ञात होता है। अचिरादि शब्द, अचिरादि के आत्मभूत अभिमानी देवता विशेष के परिचायक हैं। जैसे कि—“उससे पृथ्वी बोलो” इत्यादि।

यद्येवं “तत्पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयति” इति वैद्युतस्यैव पुरुषस्य ब्रह्मगमयितृत्व श्रुतेर्विद्युतः परेषां वरुणादीनां कथमातिवाहिकत्वेनान्वय इत्यत्राह—

“वह अमानव पुरुष इन्हें ब्रह्म की ओर पहुँचाता है” में तो केवल, वैद्युत पुरुष को ही ब्रह्म की ओर ले जाने की बात आती है, फिर विद्युत से भिन्न वरुणादि का अतिवाहिक के रूप से समन्वय कैसे संभव है?

वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ।४।३।५ ।

ततः विद्युत उपरि, वैद्युतेन—अमानवेनैवातिवाहिकेन विदुषामाब्रह्मप्राप्तेर्गमनम् । कुतः ? तच्छ्रुतेः “स एनान् ब्रह्म गमयति” इति तस्यैव गमयितृत्वश्रुतेः । वरुणादयस्त्वनुग्राहका इति तेषामप्यातिवाहिकत्वेनान्वयो विद्युत इति ।

विद्युत से ऊपर—उस अमानव अतिवाहक वैद्युत पुरुष की, उपासक को, ब्रह्म की ओर ले जाने की बात आती है। “स एनान् ब्रह्म गमयति” इत्यादि श्रुति उसका ही अतिवाहकत्व वहाँ पर बतलाती है। वरुण इत्यादि तो उसके अनुग्राहक मात्र हैं इसलिए उनका भी अतिवाहक रूप से अन्वय हो सकता है।

५. कार्याधिकरणः—

कार्यं वावरिरस्य गत्युपपत्तोः ।४।३।६॥

अचिरादिरैव गच्छति विद्वान्, अचिरादिरमानवांतरश्च गण आतिवाहिको विद्वान्सं ब्रह्म गमयतीत्युक्तम् । इदं इदानीं चिन्त्यते—किमयमर्चिरादिको गणः कार्यं हिरण्यगर्भमुपासीतान्नयति, उत् परमेव

ब्रह्म उपासीनान्, अथ परंब्रह्मोपासीनान्, प्रत्यगात्मानं ब्रह्मात्मकं तयोपासीनांश्च ? इति विशये—कार्यमुपासीनानेव गमयति इति वादिराचार्यों मन्यते । कुतः ? अस्य हिरण्यगर्भमुपासीनस्यैव गत्युपपत्तेः, न हि परिपूर्णं सर्वज्ञं सर्वगतं सर्वात्मभूतम् परं ब्रह्मोपासीनस्य तत्प्राप्तये देसान्तरगतिरूपपद्यते, प्राप्तत्वादेव नित्यं प्राप्त परब्रह्म विषयाविद्या निवृत्तिमात्रमेव हि परविद्याकार्यम् । कार्यं तु हिरण्यगर्भरूपं ब्रह्मोपासीनस्य परिच्छिन्नदेशवर्तिं प्राप्स्यथं गमनमुपपद्यते । अतोऽचिरादिरातिबाहिकगणस्तमेव नयति ।

उपासक अचिरादि द्वारा जाता है, अमानव अचिरादि आतिबाहिक गण, उपासक को ब्रह्म तक पहुँचाते हैं यह बातलाया गया । अथ विचार यह होता है कि—अचिरादिगण, कार्यब्रह्म हिरण्यगर्भ के उपासकों को पहुँचाते हैं अथवा परब्रह्म के उपासकों को अथवा उपासकों में उनको ही पहुँचाते हैं जो ब्रह्मात्मक भाव से उपासना करते हैं ? इस मंग्य पर बादरि आचार्यों का मत है कि—कार्यब्रह्म के उपासकों को ही पहुँचाते हैं । हिरण्यगर्भ के उपासक के गमन की बात ही सकती है, परिपूर्ण सर्वज्ञ सर्वगत, सर्वात्मभूत परब्रह्म के उपासकों को उसे प्राप्त करने के लिए अन्यत्र जाने की आवश्यकता ही क्या है, यह तो उन्हें प्राप्त ही है, नित्य प्राप्त परब्रह्म के विषय में जो अविद्या है उसकी निवृत्ति करना ही तो परविद्या का कार्य है, उसकी निवृत्ति होते ही सर्वत्र ब्रह्मानुभूति होने लगती है । हिरण्यगर्भ रूप कार्यब्रह्म के उपासक को ही, देश-विशेष ब्रह्मलोक में जाने की बात हो सकती है । अतः अचिरादि आतिबाहिक गण उन्हीं को ले जाते हैं ।

विशेषितत्वाच्च ।४।३।७॥

“पुरुषोऽमानव एत्य ब्रह्मलोकान्गमयति” इति लोक शब्देन बहुवचनेन च लोकविशेष वर्तिनं हिरण्यगर्भमुपासीनमेवामानवो गमयतीति विशेष्यते । किं च “प्रजापतेः समां वेश्म प्रपद्ये, इति

कार्यस्य हिरण्यगर्भस्य समीपगमनमर्चिरादिना गतः प्रत्यभि-
संघत्ते ।

“अमानव पुरुष लेकर ब्रह्म लोक जाता है” इत्यादि वाक्य में जो लोक शब्द में बहुवचन का प्रयोग किया गया है, वह लोक विशेषवर्ती हिरण्यगर्भ के उपासक को ही ले जाता है, इस भाव का द्योतक है। “प्रजापति के सभामंडल में उपस्थित होते हैं” इत्यादि में, स्पष्ट रूप से अर्चिरादि द्वारा, कार्यब्रह्म हिरण्यगर्भ के निकट ले जाने की बात कही गई है।

नन्वेवं “तत्पुरुषोऽमानवः” स एनान् ब्रह्मगमयति” इत्ययं निर्देशो नोपपद्यते, हिरण्यगर्भेनयने हि “स एनान् ब्रह्माणं गमयति” इति निर्देष्टव्यं स्यात् । अत आह—

“वह अमानव पुरुष इन्हें ब्रह्म के पास ले जाता है” ऐसा निर्देश नहीं हो सकता, हिरण्यगर्भ के पास ले जाने के प्रसंग में तो उक्त वाक्य के स्थान पर “वह इन्हें ब्रह्मा के पास ले जाते हैं” ऐसा पाठ होना चाहिए। इसका उत्तर देते हैं—

सामीप्यास्तु तद्व्यपदेशः ।४।३।८॥

“यो ब्रह्माणं विदधाति” इति हिरण्यगर्भस्य प्रथमजत्वेन ब्रह्म सामीप्यास्तस्य ब्रह्मशब्देन व्यपदेश इति गत्यनुपपत्ति विशेषणा-
दिभिरुक्तैर्हेतुभिर्निश्चीयत इत्यर्थः ।

“यो ब्रह्माणं विदधाति” इत्यादि में हिरण्यगर्भ का सर्वप्रथम अंश-
रूप से वर्णन किया गया है, तथा ब्रह्म के समीपवर्ती होने से उन्हें भी ब्रह्म ही कहा गया है इसलिए उनके निकट ले जाने की बात को भी “ब्रह्म के पास ले जाते हैं” ऐसा कहा गया है।

अथ स्थात्-अर्चिरादिना हिरण्यगर्भप्राप्तौ “एषदेवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावत्तं नावत्तन्ते “तयो-
ध्वंमापन्नमृतत्वमेति” इत्यमृतत्वप्राप्त्यपुनरावृत्ति व्यपदेशो नोपपद्यते,
हिरण्यगर्भस्य कार्यभूतस्य द्विपरार्धं कालावसाने त्रिनाश शास्त्रात्

“प्राब्रह्म भुवनांल्लोकाः पुनरावर्त्ति नोऽर्जुनः” इति वचनात्
हिरण्यगर्भं प्राप्तस्य पुनरावृत्तेखर्जनीयत्वात्—इति । तत्राह—

यदि अचिरादि द्वारा हिरण्यगर्भं की प्राप्ति मानेंगे तो “इस देवमार्गं ब्रह्मपथ को प्राप्त मानव इस संसार में लौटकर नहीं आता” उससे ऊपर जाकर अमृतत्व प्राप्त करता है । इत्यादि फलश्रुति की संगति नहीं होगी । कार्यभूत हिरण्यगर्भ का तो द्विपरार्थ के अवसान में, शास्त्र से ही विनाश निश्चित है—” हे अर्जुन ! ये ब्रह्मसहित सारे लोक पुनरावर्त्त होते हैं” इत्यादि से, हिरण्यगर्भं को प्राप्त व्यक्ति को पुनरावृत्ति निश्चित हो जाती है । इसका उत्तर देते हैं—

कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ।४।३।६॥

कार्यस्य—ब्रह्मलोकस्यात्यये तदध्यक्षेण—हिरण्यगर्भेणाधिकारिके
णावसिताधिकारेण विदुषासह स्वयमपि तत्राधिगतविद्यः भूतः
कार्याद् ब्रह्मलोकात् परंब्रह्म प्राप्नोतीत्यचिरादिना गतस्यामृतत्व-
प्राप्त्यपुनरावृत्त्यभिधानात् “ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात्
परिमुच्यन्ति सर्वे” इति वचनाच्चावगम्यते ।

कार्यं ब्रह्मलोक के अवसान होने पर उसके अध्यक्ष के सहित
उपासक भी कृतार्थ होकर अचिरादि द्वारा पुनरावृत्ति रहित अमृतत्व
प्राप्त करता है ऐसा—“वे ब्रह्मलोक से परार्थकाल में मुक्त होकर अमृतत्व
प्राप्त करते हैं” इत्यादि से ज्ञात होता है ।

स्मृतेश्च ।४।३।१०॥

स्मृतेश्चायमर्थोऽवगम्यते—“ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रति
संचरे, परस्यान्ते कृतात्मनः प्रविशन्ति परं पदम्” इति । भूतः
कार्यमुपासीनमेवाचिरादिकोगणो नयतीति बादरेमंतम् ।

स्मृति से भी उक्त कथन का पुष्टि होती है—“प्रत्येक प्रलय में वे
सब ब्रह्मा के साथ कृतार्थ होकर परंपद प्राप्त करते हैं” इसलिये कार्य-
ब्रह्म के उपासकों को ही अचिरादि गण ले जाते हैं, ऐसा बादरि का
मत है ।

अथ जैमिनिः पक्षान्तरं परिग्रहेण प्रत्यवतिष्ठते—

इस पर उत्तर पक्ष को लेकर जैमिन उपस्थित होते हैं—

परंजैमिनिमुह्यत्वात् ।४।३।११।।

परं ब्रह्मोपासीनानर्चिरादिर्नयतीति जैमिनिराचार्यो मन्यते, कुतः ? मुख्यत्वात् “तत्पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयति” इति ब्रह्म शब्दस्य परस्मिन्नेव ब्रह्मणि मुख्यत्वात् । प्रमाणान्तरेण कार्यस्य निश्चये सत्येव हि लाक्षणिकत्वं युक्तम् । न च गमनानुपत्तिः प्रमाणम् परस्यब्रह्मणः सर्वगतत्वेऽपि विदुषो विशिष्टदेशगतस्येवाविद्या निवृत्तिः शास्त्रात् । यथा हि विद्योत्पत्तिवर्णाश्रमधर्मशौचाचारदेशकालाद्यपेक्षा—“तमेतं वेदानुवचनेन” इत्यादि शास्त्रादवगम्यते, तथा निःशेषाविद्यनिवर्तनरूपविद्या निष्पत्तिरपि विशिष्टदेशगतिसापेक्षेति गतिशास्त्रादवगम्यते । विदुष उक्तांति प्रतिषेधादि तु पूर्वमेव परिहृतम् ।

परब्रह्म के उपासकों को ही अर्चिरादिगण ले जाते हैं ऐसा जैमिनी आचार्य का मत है “तत्पुरुषोऽमानवः” इत्यादि में ब्रह्म शब्द का परब्रह्म में ही मुख्यार्थ है । प्रमाणान्तरो से कार्यब्रह्म का जो निर्णय होता है वह लाक्षणिक अर्थ है । जो यह कहा कि—सर्वगत परब्रह्म को प्राप्त करने का प्रश्न ही नहीं उठता, वह अतंगत बात है, शास्त्र तो विशिष्ट देश की प्राप्ति होने पर ही उपासक की अविद्या निवृत्ति बतलाते हैं । जैसे कि—विद्योत्पत्ति में, वर्णाश्रम धर्म शौच आचार देश काल आदि अपेक्षित है “तमेतं वेदानुवचनेन” से स्पष्ट है, वैसे ही-सम्पूर्ण अविद्या की निवृत्ति के लिए विशिष्ट देश की गति अपेक्षित है जो कि गति वर्णन करने वाले शास्त्र से ज्ञात होता है । उपासक की उक्तांति के प्रतिषेध आदि का तो पहिले ही परिहार ही चुका है ।

यत्तु “ब्रह्मलोकान्” इति लोकशब्द बहुवचनाभ्यां विशेषणात् कार्यभूतहिरण्यगर्भप्रतीतिरिति, तदयुक्तम् निपादस्यपत्तिन्यायेन

ब्रह्मैव लोक इति कर्मधारयस्यैव युक्तत्वात्, अर्थस्य चैकत्वे निश्चिते सति बहुवचनस्य "अदितिः पाशान्" इति बहुवचनोः, परस्य ब्रह्मणः परिपूर्णस्य सर्वगतस्य सत्यसंकल्पस्य स्वेच्छापरिकल्पिताः स्वासाधारणा अप्राकृताश्च लोका नात्यन्ताय न संति, श्रुतिस्मृती-तिहासपुराणप्रामाण्यात् ।

जो यह कहा कि-लोक शब्द और बहुवचन के प्रयोग से कार्यभूत हिरण्यगर्भ की ही प्रतीति होती है, यह कथन की असंगत है, निपादस्वप्ति न्याय की तरह कर्मधारय करना ही सुसंगत है, एकार्थता के निश्चित हो जाने पर "अदितिः पाशान्" की तरह बहुवचन की उपपत्ति हो जायेगी । श्रुतिस्मृति इतिहास पुराण के प्रमाणों से ज्ञात होता है कि-यह विशिष्ट लोक सर्वगत सत्यसंकल्प, परिपूर्ण परब्रह्म की स्वेच्छित परिवर्तन ही है, इस ब्रह्मलोक से भिन्न कोई भी असाधारण अप्राकृत लोक आत्यंतिक मुक्ति नहीं दे सकते ।

दर्शनाच्च ।४।३।१२॥

दर्शयति श्रुतिः मूर्धन्यनाड्या निष्क्रम्य देवयानेन गतस्य परब्रह्म प्राप्तिम्—“एष संप्रसादोस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरूपं संपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते” इति ।

मूर्धन्य नाडी से निकलकर देवयान मार्ग से जाने वाले उपासक की ब्रह्मप्राप्ति का श्रुति इस प्रकार वर्णन करती है "यह जीव इस शरीर से उठकर परब्रह्म की सौ ज्योति प्राप्ति कर अपने स्वरूप में व्यज जाता है ।

यदुक्तं—“प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये” इत्यचिरादिना गतस्य कार्ये प्रत्यभिसंधिदुश्यते इति—तत्रोत्तरम्—

जो यह कहा कि—“प्रजापति के सभामंडप को प्राप्त होते हैं” इत्यादि वर्णन से यह निश्चित होता है कि-अचिरादि कार्यब्रह्म की ओर ही ले जाते हैं । इसका उत्तर देते हैं—

न च कार्यप्रत्यभिसंधिः । ४।३।१३।।

न चार्यं प्रत्यभिसंधिः कार्यं हिरण्यगर्भं, अपितु परस्मिन्नेव ब्रह्मणि वाक्यशेषे—“यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानाम्” इति तस्याभिसंधातुः सर्वाविद्याविमोक्तपूर्वक सर्वात्मभावाभिसंधानात् “अश्वशरीरमकृतं इवरोमाणि विधूयपापं चंद्र इव राहौर्मुखात् प्रमुच्य, धृत्वा कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसंभवामि” इत्यभिसंभाव्यस्य ब्रह्मलोकस्याकृतत्वश्रवणात्, सर्वबन्धविनिर्माकस्य च साक्षाच्छ्रवणात् । अतः परमेव ब्रह्मोपासीनमचिरादिरातिवाहिको गणोनयतीति जैमिनेर्मतम् ।

उक्त अभिसंधि कार्यं हिरण्यगर्भं संबन्धी नहीं है अपितु परब्रह्म संबन्धी ही है, उक्त वाक्य के अंत में जो यह कहा गया कि—“मैं ब्राह्मणों का यश होता हूँ” इत्यादि, का तात्पर्य परमात्मा से अभिसंधान करने वाले की सारी अविद्या नष्ट हो जाती है और वह सर्वात्मभाव की भूमि पर पहुँच जाता है । “घोड़े की तरह पाप रूपी रीियों को झाड़कर राहु के मुख से मुक्त चन्द्र की तरह शरीर के पापों को धोकर कृतार्थ उपासक को ब्रह्मलोक ले जाता हूँ” इत्यादि में ब्रह्मलोक में जाने वाले के निष्पापता के वर्णन से तथा अविद्या के बधनों की मुक्ति के वर्णन से यह निश्चित होता है कि परब्रह्म के उपासक को ही, अचिरादि आतिवाहिक गण ले जाते है, ऐसा जैमिनि का मत है ।

इदानीं वादरायणस्तु भगवान् स्वमतेन सिद्धान्तमाह—

अब भगवान् वादरायण अपने मतानुसार सिद्धान्त कहते हैं—
अप्रतीकालंबनान्नयतीति वादरायण उभयथा च दोषात्तत्कतुश्च

। ४।३।१४३।।

अप्रतीकालम्बनान् प्रतीकालम्बनव्यतिरिक्तान् नयत्यचिरादि रातिवाहिकोगण इति भगवान् वादरायणो मन्यते, एतदुक्तं भवति-
कार्यमुपासीनान्नयतीति नायं पक्षः संभवति, परमेवोपासीनानित्य-

यमपिनियमो नास्ति, न च प्रतीकालंबनानपि नयति, अपितु ये परंब्रह्मोपासते । ये चात्मानं प्रकृतिवियुक्तं ब्रह्मात्मकमुपासते, तानुभयविधान्नयति । ये तु ब्रह्मकार्यान्तर्भूतनामादिकं वस्तु देवदत्तादिषु सिंहादिदृष्टवत् ब्रह्मदृष्ट्या, केवलं वा तत्तद्वस्तुपासते न तान्नयति । अतः परंब्रह्मोपासीनानात्मानं च प्रकृतिवियुक्तं ब्रह्मात्मकमुपासीनान्नयति—इति ।

जो प्रतीकालम्बन नहीं करते, अचिरादि आतिवाहिक गण उन्हें ही ले जाते हैं, ऐसी भगवान् बादरायण की मान्यता है । कहने का तात्पर्य यह है कि—कार्य ब्रह्म के उपासकों को ले जाते हैं यह तो कदापि संभव नहीं है, परब्रह्म के उपासकों को ही ले जाते हैं ऐसा कोई नियम नहीं है और न प्रतीकालम्बन वालों को ही ले जाते हैं, अपितु जो पर ब्रह्म के उपासक हैं या प्रकृति वियुक्त अपने आत्मा की ब्रह्मात्मभाव से उपासना करते हैं, इन दोनों को ले जाते हैं । जो लोग, देवदत्त में सिंह आदि दृष्टि की तरह ब्रह्म दृष्टि रखकर, व्यक्ति पूजा करते हैं, उनको नहीं ले जाते [अर्थात् जैसे कि—देवदत्त सिंह है इत्यादि भाव की तरह अमुक व्यक्ति भगवान् है ऐसे भाव से जो लोग व्यक्ति पूजा करते हैं] इसका निष्कर्ष यह है कि—परब्रह्म के उपासक को तथा प्रकृति वियुक्त ब्रह्मात्मभाव के उपासक को ही ले जाते हैं ।

कुतः ? उभयथा च दोषात् । कार्यामुपासीनान्नयतीति पक्षे “अस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य” इत्यादिका श्रुतयः प्रकुप्येयुः परमेवोपासीनानिति नियमे—“तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरप्ये श्रद्धात्प इत्युपासते तेऽर्चिपमभिसंभवन्ति” इति पंचाग्निविदोऽर्चिरादिगणोनयतीति श्रुतिः प्रकुप्येत् । अतः, उभयस्मिन्नपि पक्षे दोषः स्यात् । तस्मादुभयविधान्नयतीति । तदेतदाह ऋतुरच-इति । तत्क्रतुः तथोपासीनस्तथैव प्राप्नोतीत्यर्थः “यथाऋतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति “तं यथायथोपासते” इति न्यायात् । पंचाग्निविदोऽप्यर्चिरादिना गति श्रवणात्, अर्चिरादिना

गतस्य ब्रह्मप्राप्त्यपुनरावृत्ति श्रवणात् । अतएव तत्क्रतुन्यायात्
 प्रकृतिविनिर्मुक्त ब्रह्मात्मकात्मानुसंधानं सिद्धम् । नामादि प्राणपर्यन्त
 प्रतीकालम्बनानां त्वभयविघ्नश्रुतिसिद्धोपासनाभावादचिन्मिश्रोपासने
 तत्क्रतुन्यायाच्चाचिरादिना गतिः ब्रह्मप्राप्तिश्च न विद्यते ।

उक्त दोनों मतों में ही दोष है । कार्यब्रह्म के उपासकों को ले जाने
 वाले पक्ष को मानने से "इस शरीर से उठकर परंज्योति से संपन्न होकर"
 इत्यादि श्रुतियों से विरुद्धता होती है । तथा परब्रह्म के उपासकों को ही
 ले जाते हैं इसको मानने पर—"तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये" इत्यादि,
 पंचाग्नि विद्या के ज्ञाताओं को अचिरादि गणों द्वारा पहुँचाने वाली श्रुति
 से विरुद्धता होती है । इस प्रकार दोनों ही पक्षों में दोष है । इससे यह
 सिद्ध होता है कि दोनों ही प्रकार के उपासकों को ले जाते हैं । उसकी
 जिस प्रकार उपासना की जाती है, उसकी वैसे ही गति होती है जैसा
 कि—"इस लोक में जैसी उपासना करते हैं, मरने पर वैसे ही गति पाते
 हैं" इत्यादि । पंचाग्नि विद्या के ज्ञाताओं की भी अचिरादि गति का
 उल्लेख है तथा अचिरादिकों द्वारा पहुँचाये जाने पर ब्रह्म प्राप्ति होने
 पर पुनरावृत्ति नहीं होती इसका भी उल्लेख मिलता है । इसलिए
 उपासनानुसार गति होती है इस नियम से, प्रकृतिविनिर्मुक्त ब्रह्मात्मभाव
 वाले उपासक की मुक्ति भी सिद्ध है । नाम से लेकर प्राण तक प्रतीक का
 आश्रय लेकर उपासना करने वालों की अचिरादि गति नहीं होती,
 क्योंकि—जो दो प्रकार की अचिरादि गति बतलाई गई है उससे कहीं भी
 प्रतीकोपासको की गति का उल्लेख नहीं है ।

तमिमं विशेषं श्रुति रेव दर्शयतीत्याह ।

उसके विषय में विशेष श्रुति का प्रदर्शन करते हैं—

विशेषं च दर्शयति ।१।३।१५॥—

"यावन्नान्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति" इत्यादिका
 श्रुतिः नामादिप्राणपर्यन्त प्रतीकमुपासीनानां गत्यनपेक्षं परिमित
 फलविशेषं च दर्शयति, तस्मादचिन्मिश्रं केवलं वाचिद्वस्तु ब्रह्म

दृष्ट्या तद्वियोगेन च य उपासते, न तान् नयति, अपितु परं
ब्रह्मोपासीनानात्मानं च प्रकृतवियुक्तं ब्रह्मात्मकमुपासीनानाति-
वाहको गणो नयतीति सिद्धम् ।

"जो नामोपासना करते हैं, वे मरने के बाद यथेच्छ विचरण करने
इत्यादि श्रुति नाम स लेकर प्राण तक प्रतीकोपासना करने वालों की
गति होने पर परिमित फलविशेष का उल्लेख करती है । इससे यह
निश्चित होता है कि-जो लोग अचिद् वस्तु या अचिद्विश्रित वस्तु में
ब्रह्म दृष्टि से उपासना करते हैं उनको अक्षिरादिगण नहीं ले जाते, अपितु
ब्रह्मोपासकों और प्रकृतवियुक्त में ब्रह्मात्मकभाव के उपासकों को
ही ले जाते हैं ।

तृतीय पाद समाप्त

चतुर्थ अध्याय

चतुर्थ पाद

१ संपद्याविर्भावाधिकरण :—

संपद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् ।४।४।१॥

परंब्रह्मोपासीनानामात्मानं च प्रकृतिवियुक्तं ब्रह्मात्मक-
मुपासीनानामर्चिरादिना मार्गेण पुनरावृत्तिलक्षणा गतिरुक्ता,
इदानीं मुक्तानामैश्वर्यप्रकारं चिन्तयितुमारभते ।

परंब्रह्म के उपासकों और प्रकृति वियुक्त ब्रह्मात्म भाव के
उपासकों को अर्चिरादि मार्ग से जाने पर पुनः लौटकर नहीं जाना पड़ता
यह बतलाया गया । अब मुक्त जीवों के ऐश्वर्य के प्रकार पर विचार प्रारंभ
करते हैं ।

इदमाम्नायते--“एवमेवैष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय
परं ज्योतिरूपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते” इति । किम-
स्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरूपसंपन्नस्य देवादि रूपवत्साध्येन
रूपेण संबंधोऽनेन वाक्येन प्रतिपद्यते, उत स्वाभाविकस्य स्वरूपस्या-
विर्भावः ? इति संशये, साध्येन रूपेण संबंध इति युक्तम् । अन्यथा
हि अपुरुषार्थावबोधित्वं मोक्षशास्त्रस्य स्यात् । स्वरूपस्य स्व-
तोऽपुरुषार्थत्वदर्शनात् । न हि सुषुप्तौ देहेन्द्रियव्यापारेषूपरेतषु केवल
स्यात्मस्वरूपस्य पुरुषार्थसंबंधो दृश्यते, न च दुःखनिवृत्तिमात्रं
परंज्योतिरूपसंपन्नस्य पुरुषार्थः, येन स्वरूपाविर्भाव एव मोक्षः,
इत्युच्येत । “स एको ब्रह्मण आनंदः, श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य”

रसं ह्येवायंलब्ध्वाऽनंदीभवति" इत्यादिभ्यो मुक्तस्यसुखानंत्याश्रवणात् ।

ऐसी श्रुति है—“यह जीव इस शरीर से उठकर परंज्योति को प्राप्त कर अपने रूप से आविर्भूत होता है ।” संशय यह होता है कि—क्या इस शरीर से उठकर परंज्योति को प्राप्त जीव को देवादि की तरह साध्य रूप से अपने रूप की प्राप्ति होनी है अथवा स्वाभाविक रूप का आविर्भाव होता है? विचारने पर तो साध्यरूप संबंध ही युक्तियुक्त प्रतीत होता है? यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो शास्त्र, अपुरुषार्थ का बोधक सिद्ध हो जायेगा । अपने स्वरूप को तो अपुरुषार्थ ही बतलाया गया है । सुप्तावस्था में जब देह इन्द्रिय आदि की चेष्टायें लुप्त हो जाती हैं केवल आत्मस्वरूप की ही स्थिति रहती है, उसे तो कहीं भी पुरुषार्थ नहीं कहा गया है और न दुःख निवृत्ति मात्र को परंज्योति प्राप्त रूप पुरुषार्थ माना गया है, जिससे कि—स्वरूपाविर्भाव को ही मोक्ष माना जा सके । “निष्काम श्रोत्रिय का वह एक ब्रह्मानंद है” इस रस को प्राप्त कर वह आनंद प्राप्त करता है” इत्यादि से मुक्त जीव के अनंत सुख प्राप्ति की बात ज्ञात होती है उससे भी स्वरूपाविर्भाव की बात समझ में नहीं आती ।

न चापरिच्छिन्नानंदरूपचैतन्यमेवास्य स्वरूपम्, तच्चसंसार-दशायामविद्या तिरोहितं परंज्योतिरूपसंपन्नस्याविर्भवतीति शक्यम् वक्तुम्, ज्ञानस्वरूपस्य तिरोधानासंभवात् । प्रकाशपर्यायस्य ज्ञानस्य तिरोधानं तद्विनाश एवेति हि पूर्वमेवोक्तम् ।

यह भी नहीं कह सकते कि—अखंड आनंद स्वरूप चैतन्य ही, स्वरूप है जो कि संसार दशा में अविद्या से तिरोहित रहता है, परंज्योति को प्राप्त कर आविर्भूत हो जाता है; ज्ञान स्वरूप का तिरोधान नहीं हो सकता । ज्ञान, प्रकाश का ही दूसरा नाम है, प्रकाश के तिरोधान का तात्पर्य है प्रकाश या ज्ञान का नाश, जो वस्तु अविद्या से नष्ट हो चुकी उसके पुनराविर्भाव का प्रश्न ही नहीं उठता, यह हम पहिले भी कह चुके हैं ।

न च प्रकाशमात्रस्यानंदता संभवति, सुखस्वरूपता हि आनंदस्वरूपता, सुखस्वरूपत्वं चात्मनोऽनुकूलत्वं, प्रकाशमात्रात्मवादिनः कस्यप्रकाशोऽनुकूलवेदनीयो भवेदिति प्रकाशमात्रात्मवादिनः कथं त्रिदध्यानंदस्वरूपता दुरुपपादा । स्वरूपापत्तिमात्रे च साध्ये स्वरूपस्य नित्यनिष्पन्नत्वादुपसंपन्नस्य "स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इति वचनमनर्थकं स्यात् । अतो अपूर्वेण साध्येन रूपेण संपद्यते । एवं च "अभिनिष्पद्यते" इति वचनं मुख्यार्थमेव भवति । "स्वेन रूपेण" इत्यध्यानन्दैकातेन स्वासाधारणेनाभिनिष्पद्यत इति संगच्छत इति ।

प्रकाश मात्र वस्तु में आनंदता संभव भी नहीं है सुखस्वरूपता ही तो आनंद स्वरूपता है, अपनी अनुकूल अनुभूति को ही सुखरूपता कहा गया है, प्रकाशमात्र को आत्मा मानने वालों के प्रकाश की कौसी अनुकूल अनुभूति होती है ? क्या वे बतला सकते हैं ? वे लोग कभी भी, आनंद-स्वरूपता का विवेचन नहीं कर सकते हैं । स्वरूप तो नित्यनिष्पन्न वस्तु है, उसकी निष्पन्नता को बतलाने वाला वाक्य "स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" तो अनर्थक ही हो जावेगा, यदि केवल स्वरूपापत्ति को ही मुक्ति मानेंगे । इसलिए अपूर्व साध्य स्वरूप की निष्पन्नता होती है यही मानना चाहिए ऐसा मानने से ही "अभिनिष्पद्यते" वचन की मुख्यार्थता होती है । "स्वेन रूपेण" से भी अपने स्वरूप से भिन्न अखंड आनंदमयता का भाव प्रकट होता है ।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्ते प्रचक्षमहे—“संपद्याविर्भावः” इति । अयं प्रत्यगात्माऽचिरादिना परंज्योतिरुपसंपद्य यंदशाविशेषमापद्यते स स्वरूपाविर्भावरूपः, नापूर्वाकारोत्पत्तिरूपः । कुतः ? स्वेन शब्दात् “स्वेन रूपेण” इति विशेषणोपादानादित्यर्थः । आगंतुक विशेष परिग्रहे हि “स्वेन रूपेण” इति विशेषणमनर्थकं स्यात्, अविशेषणेऽपि तस्य स्वकीयरूपत्वसिद्धः ।

उक्त मत पर सिद्धान्त बतलाते हैं कि—यह जीवात्मा अचिरादिकों द्वारा परमात्म ज्योति को प्राप्त कर जिस दशा विशेष को प्राप्त करना है वह स्वरूपाविर्भाव रूप ही है, अपूर्व आकारोत्पत्तिरूप नहीं है। श्रुति में स्पष्ट रूप से स्व शब्द का प्रयोग किया गया है “स्वेन रूपेण” इत्यादि। विशेषोत्पत्तिरूप से हमारा मत ही सिद्ध होता है। यदि, विशेष अपूर्व रूप प्राप्ति की बात मानेंगे तो, “स्वेन रूपेण” में कहा गया विशेषण अनर्थक हो जायगा यदि उसे विशेषण न भी मानें तो भी, स्वकीय रूपता तो उसकी सिद्ध ही है।

यत्कृतं स्वरूपस्य नित्यप्राप्तत्वात् “संपद्याभिनिष्पद्यते इति वचनमनर्थकम्—तत्रोत्तरम्—

जो यह कहा कि स्वरूप तो नित्य प्राप्त वस्तु है इसलिए “संपद्याभिनिष्पद्यते” वचन अनर्थक हो जायगा—उसका उत्तर देते हैं—

मुक्तः प्रतिज्ञानात् ।४।४।२।।

कर्मसंबन्धतत्कृतदेहादिविनिर्मुक्तः स्वाभाविकरूपेणावस्थितोऽत्र “स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते” इत्युच्यते। अतो नित्यप्राप्तस्यापि स्वरूपस्य कर्मरूपाविद्यातिरोहिनस्य तिरोधाननिवृत्तिरशाभिनिष्पत्तिरुच्यते। कुतः? प्रतिज्ञानात्—सा हि प्रतिपाद्यतया प्रतिज्ञाता। कुतः इदमवगम्यते? “य आत्मा” इति प्रकृतं प्रत्यगात्मानं जागरिताद्यवस्थात्रितयविनिर्मुक्तं, प्रियाप्रियहेतुभूत कर्मरिब्ध शरीरविनिर्मुक्तं च प्रतिपादयितुं—“एवं त्वेव ते भूमोऽनुब्याख्यास्यामि” इति पुनः पुनरुक्त्वा “एवमेवैपसंप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परंज्योतिरूपसंपद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते” इत्यभिधानात् अतः कर्मणा संबद्धस्य परंज्योतिरूपसंपद्य बन्धनिवृत्तिरूपामुक्ति स्वेनरूपेणाभि निष्पत्तिरुच्यते। स्वरूपाविर्भावोऽप्यभिनिष्पत्तिराब्दो दूश्यते—“युक्त्यायमर्थो निष्पद्यते” इत्यादिषु।

कर्म संबंधी देह आदि से विमुक्त स्वाभाविक रूप से अवस्थित जीव को ही उक्त प्रसंग में "स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते" पद से कहा गया है। स्वरूप के नित्य होते हुए भी, कर्म रूपा अविद्या से वह तिरोहित रहता है, उस तिरोधान की निवृत्ति होने को ही यहाँ निष्पत्ति कहा गया है। ऐसा प्रतिपादन की शैली से ही ज्ञात हो जाता है। "य आत्मा" से, जागरित आदि तीनों अवस्थाओं से रहित प्रकृत जीवात्मा का निर्देश करके पाप पुण्य के हेतु भूत कर्मरन्ध्र शरीर से रहित स्वरूप का प्रतिपादन करने के लिए "इसकी मैं तुझे पुनः व्याख्या करता हूँ" इत्यादि पुनःपुनः व्याख्या करते हुए "इस प्रकार यह जीव इस शरीर में उठकर परंज्योति को प्राप्त कर स्वरूप सपन्न होता है" इत्यादि विवेचन किया। इससे ज्ञात हुआ कि-कर्म से संबद्ध इस जीवात्मा को जब परंज्योति की प्राप्ति होती है तब वह, बंधनिवृत्तिरूपा मुक्ति प्राप्त कर अपने स्वाभाविक निष्पन्न रूप को प्राप्त करता है स्वरूपाविर्भाव के अर्थ में अभिनिष्पन्न शब्द का प्रयोग होता है जैसे कि— "युक्ति से यह अर्थ निष्पन्न हुआ" इत्यादि।

यच्चोक्तम्—आत्मस्वरूपस्य सुपुस्तावपुरुषार्थत्वदर्शनात्, स्वरूपा-
विर्भावे मोक्षशास्त्रस्यापुरुषार्थबोधित्वंस्यादिति कृद्वादेवाधव-
स्थावत् सुखसंबन्धवस्थांतरप्राप्तिरभिनिष्पत्तिः-इति तत्रोत्तरम्-

जो यह कहा कि- सुपुस्तावस्था में भी तो देह इन्द्रियाँ आदि के निश्चेष्ट होने पर स्वरूप स्थिति रहती है उसे तो कोई मुक्ति नहीं कहता तथा स्वरूपाविर्भाव में—मोक्ष शास्त्र की अपुरुषार्थता होती है, इसलिये देवादि अवस्था की तरह सुख संबंधी दूसरी अवस्था की प्राप्ति को ही निष्पत्ति मानना चाहिए। इसका उत्तर देते हैं—

आत्माप्ररफणात् ।४।४।३॥

स्वरूपैषैवायमात्मा अपहृतपाप्मात्वादि सत्यसंकल्पत्वपर्यन्त
गुणकः प्रकरणादवगम्यते—“य आत्माऽपहृतपाप्माविजरोविमृत्युवि-
शोकोविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः” इति हि
प्रजापति वाक्यप्रक्रमः, इदं च प्रकरणं प्रत्यगात्मविषयमिति—

“उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु” इत्यत्र प्रतिपादितम् । अतो अपहृत पाप्मत्वादिस्वरूप एवायमात्मा संसारदशायां कर्माख्याविद्यया तिरोहितः स्वरूपः परंज्योतिरूपसंपद्याविर्भूतस्वरूपो भवति । अतः प्रत्यगात्मनो अपहृतपाप्मत्वादयः स्वाभाविक गुणाः परंज्योतिरसंपन्नस्याविर्भवन्ति, नोत्पद्यन्ते । यद्योक्तं भगवताशौनकेनापि-“यथा न क्रियते ज्योत्स्ना मलप्रक्षालनान्मणेः, दोषप्रहाणान्न ज्ञानमात्मनः क्रियते तथा । यथोदपानकरणात् क्रियते न जलांबरम्, सदेव नीयते व्यक्तिमसतः संभवः कुतः । तथा हेमगुणध्वंसात् अबबोधादयोगुणाः प्रकाशन्ते न जन्यन्ते नित्या एव आत्मनो हि ते । “अतो ज्ञानानंदादिगुणानां कर्मणा आत्मनि संकुचितानां परंज्योतिरूपसंपद्य कर्मरूपवन्ध क्षये विकाशरूपाविर्भावो नानुपपन्न इति सुष्टूकं-“संपद्याविर्भावः” इति ।

मुक्तावस्था में यह आत्मा स्वरूप प्राप्ति ही करता है, निष्पापता से लेकर सत्यसंकल्पत्व तक इसके स्वरूप गत स्वाभाविक गुणों का उल्लेख प्रकरण में मिलता है—“जो निष्पाप,, अजर, अमर विशोक भूज प्यास रहित सत्यकाम और सत्य संकल्प है” यह प्रजापति वाक्य का प्रसंग है, यह प्रकरण जीवात्मा संबंधी है, इसका प्रतिपादन “उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु” में किया गया है । निष्पापता आदि गुणों वाला यह आत्मा, संसार दशा में कर्म नामक अविद्या से तिरोहित हो जाता है परमात्म ज्योति को प्राप्त कर आविर्भूत स्वरूप होता है । जीवात्मा के, अपहृत पाप्मता आदि स्वाभाविक गुण परमात्म ज्योति को प्राप्त कर आविर्भूत होते हैं, उत्पन्न नहीं होते । जैसा कि भगवान शौनक ने भी कहा है—“जैसे कि ज्योत्स्ना, मणि का मल प्रक्षालन नहीं करती अपितु अपने प्रकाश से मणि को प्रकाशित करती है, वैसे ही ज्ञान, आत्मा का प्रक्षालन नहीं करता अपितु उसे प्रकाशित मात्र करना है । जैसे कि—जल स्नान से व्यक्ति, शरीर से स्वच्छ ही जाता है, उसको आत्म शुद्धि नहीं होती, वैसे ही, हेय गुणों के नष्ट होने से ज्ञान आदि गुणों का प्रकाश हो जाता है, उत्पन्न नहीं होते, वे तो आत्मा के स्वाभाविक नित्य गुण हैं ।” अतः

गही मानना होगा कि जीवात्मा के ज्ञान आनंद आदि गुणों का कम को आसक्ति से संकुचन हो जाता है, परमात्मज्योति को प्राप्त कर, धर्मरूप बंधन का क्षय हो जाने पर, विकास रूप आविर्भाव नहीं होता, अपितु वे गुण प्रवाशित हो जाते हैं। "संप्रत्याविर्भावः" यह कथन बिलकुल ठीक है।

२ अविभागेनदृष्टत्वाधिकरणः—

अविभागेन दृष्टत्वात् ।४।४।४॥

किमयं परंज्योतिरूपसंपन्नः सर्वबंधविनिर्मुक्तः प्रत्यगात्मा, स्वात्मानं परमात्मानं पृथग्भूतमनुभवति, उत्तत्प्रकारतया तदविभक्तम् ? इति विशये—“सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपरिचिता” “यदा पश्यः पश्यते ह्यववर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्, तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैति “इदं ज्ञानमपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः, सर्गेऽपि नोपजायंते प्रलये न व्यथंति च” इत्यादि श्रुतिस्मृतिभ्यां मुक्तस्यपरेण साहित्य-साम्यसाधर्म्यावगमात् पृथग्भूतमनुभवति ।

क्या यह-परमात्म ज्योति संपन्न बंधन विमुक्त जीवात्मा, अपने को परमात्मा से पृथक् अनुभव करता है, अथवा अपने को उसी का प्रकार मानकर अविभक्त समझता है ? इस संशय पर, इस संबंध की श्रुतियाँ सामने आती हैं—“वह ब्रह्म के साथ सभी कामनाओं को प्राप्त करता है” अपने कर्त्ता स्वर्णभ परम पुरुष परमात्मा को देखकर उपासक, पुण्य पापों को त्याग कर परं निरंजन की समता प्राप्त करता है “मेरे इस ज्ञान का आश्रय लेकर मेरे साधर्म्य को प्राप्त कर न सृष्टि में जन्मते हैं न प्रलय में नष्ट होते हैं” इत्यादि श्रुति स्मृतियों से, मुक्त जीवात्मा की परमात्मा के साथ, समता और साधर्म्यता ज्ञात होती है जिससे पता लगता है कि वह अपने से पृथक् अनुभव करता है ।

सिद्धान्तः—इति प्राप्त उच्यते—अविभागेन—इति । परस्माद् ब्रह्मणः स्वात्मानमविभागेनानुभवति मुक्तः । कुतः ? दृष्टत्वात्

परब्रह्मोपसंपत्त्या निवृत्ताविद्यातिरोधानस्य याथातथ्येन स्वात्मनो
 दृष्टत्वात् । स्वात्मनः स्वरूपं हि—“तत्त्वमसि” अयमात्मा ब्रह्म”
 ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् “सर्वं खल्विदं ब्रह्म” इत्यादि सामानाधिकरण्य
 निर्देशैः “य आत्मनि, तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरोयमात्मा न वेद यस्यात्मा
 शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः” अन्तः
 प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा” इत्यादिभिश्च परमात्मात्मकं
 तच्छरीरतया तत्प्रकारभूतमिति प्रतिपादितम् “अवस्थितेरिति
 काशकृत्स्नः” इत्यत्र अतो अविभागेन “अहं ब्रह्मास्मि” इत्येवानु
 भवति । साम्यसाधर्म्यं व्यपदेशो ब्रह्मप्रकारभूतस्यैव प्रत्यगात्मनः
 स्वरूपं तत्सममिति देवादि प्राकृतरूप प्रहाणेन ब्रह्मसमान शुद्धिं
 प्रतिपादयति । सहश्रुति स्त्वेवंभूतस्य प्रत्यगात्मनः प्रकारिणा ब्रह्मणा
 सह तद्गुणानुभवं प्रतिपादयतीति न कश्चिद् विरोधः । ब्रह्म
 प्रकारतया तदविभागोक्तेर्हि “संकलादेव तच्छुनेः” इत्यादि न
 विरुध्यते” अधिकन्तु भेदनिर्देशात् “अधिकोपदेशात्” इत्यादि च ।

उक्त मत पर “अविभागेन” इत्यादि सूत्र सिद्धान्त रूप से प्रस्तुत
 करते हैं । कहते हैं कि—मुक्तात्मा, अपने को ब्रह्म से अभिन्न अनुभव करता
 है । ब्रह्मोपसंपत्ति से अविद्या के तिरोहित होने पर उसे अपने यथार्थ
 रूप का परिज्ञान होता है तब वह अपने को, उनके समान पाकर अभिन्न
 ही मानता है । उसकी अभिन्नता “तत्त्वमसि” अयमात्मा ब्रह्म” ऐतदा-
 र्थ्यमिदं सर्वम् “सर्वं खल्विदं ब्रह्म” इत्यादि सामानाधिकरण निर्देशों से
 दिखलाई गई है । “य आत्मनि तिष्ठन्” इत्यादि “अन्तः प्रविष्टः शास्ता-
 जनानाम्” इत्यादि से ब्रह्मात्मक जीवात्मा को, उसका शरीर होने से,
 उस परमात्मा का प्रकार रूप बतलाया गया है—इसको “अवस्थितेरिति-
 काशकृत्स्नः” सूत्र में निश्चित कर चुके । अतः वह जीवात्मा, अभिन्न
 रूप से “मैं ब्रह्म हूँ” ऐसा अनुभव करना है । जीवात्मा के लिए जो
 समता और साधर्म्य का निर्देश किया गया है, वह, ब्रह्म के प्रकार भूत
 जीवात्मा के स्वरूप का, देवादि रूप को छोड़कर, उसके समान शुद्ध होना
 सिद्ध करता है । जीव ब्रह्म के सादृश्य को बतलाने वाली श्रुति तो ऐसे

शुद्ध जीवात्मा का, प्रकारी ब्रह्म के साथ उसके गुणानुभवों का प्रतिपादन करती है, इसलिए वह अभिन्नता के विरुद्ध नहीं है। ब्रह्म का प्रकार जीव अभिन्नता प्रतिपादक श्रुतियों में प्रतिपाद्य है, ऐसा—“संकल्पादेवतच्छ्रुतेः” अधिकतुभेद निर्देशात् । “अधिकोपदेशात्” इत्यादि सूत्रों में दिखला चुके हैं।

३. ब्राह्माधिकरणः—

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ।४।४।५॥

प्रत्यगात्मनः परंज्योतिरुपसंपद्य निवृत्ततिरोधानस्य स्वरूपा-
विभवि एवेत्युक्तम् । तत्र येन स्वरूपेणायमाविर्भवति तत्स्वरूपं
श्रुति वैविध्याद् विचर्यते-। किमपहतपाप्मत्वादिकमेवास्य स्वरूपा-
मिति तेन रूपेणायमाविर्भवति, उत विज्ञानमात्रमेवेति तेनरूपेण,
अयोभयोरविरोध इत्युभयरूपेणेति ? किं तावत् प्राप्तम् ? ब्राह्मेणेति
जैमिनिराचार्यो मन्यते । ब्राह्मेण अपहतपाप्मत्वादिनेत्यर्थः ।
अपहतपाप्मत्वादयो हि दहरवाक्ये ब्रह्म संबन्धितया श्रुताः ।
ब्राह्मेणेति कुतोऽवगम्यते? उपन्यासादिभ्यः उपन्यस्यते हि ब्रह्म
गुणाः, अपहतपाप्मत्वादयः प्रत्यगात्मनो हि प्रजापतिवाक्ये
“य आत्माऽपहतपाप्मा” इत्यादिना” सत्यसंकल्पः” इत्यंतेन ।
आदिराब्देन सत्यसंकल्पत्वादिगुणायत्ता जक्षणायदयः “जक्षत्क्रीडन्
रममाणः” इत्यादि वाक्यावगता व्यवहारा गृह्यन्ते । अतएभ्य
उपन्यासादिभ्यः प्रत्यगात्मनो विज्ञानमात्र स्वरूपत्वं न संभवतीति
जैमिनेर्मतम् ।

जीवात्मा का, परंज्योति से संपन्न होकर, तिरोधान के निवृत्त
हो जाने पर, स्वरूपाविभवि होता है, यह निश्चित हुआ। वह जिस
स्वरूप से आविर्भूत होता है, उसका स्वरूप श्रुतियों में कई प्रकार का
वर्णित है, अब उस पर विचार करते हैं कि—क्या अपहतपाप्मता आदि ही
इसका आविर्भूत स्वरूप है, अथवा विज्ञान मात्र ही है, अथवा दोनों रूप

एक ही हैं इसलिए दोनों ही उसके आविर्भूत स्वरूप हैं ? इस पर जैमिनि आचार्य का मत है कि-ब्रह्म रूप, उसका स्वरूप है। अपहृत पाप्मता इत्यादि ब्राह्म रूप है। अपहृत पाप्मता इत्यादि को दहर वाक्य में ब्रह्म संबन्धी बतलाया गया है और इन्ही का प्रतापति वाक्य में, जीवात्मा के लिए उपन्यास किया गया है, सत्य संकल्पता आदि गुणों से संबद्ध जक्षण आदि भी हैं ऐसा "जक्षणकीडन् रममाणः" इत्यादि वाक्य से अवगत व्यवहार से ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार के उपन्यास से निश्चित होता है कि जीवात्मा का स्वरूप विज्ञान मात्र ही नहीं हो सकता, यह जैमिनि का मत है।

चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ॥४॥४॥३॥

चैतन्यमात्रमेवास्य स्वरूपमिति तेनरूपेणाविर्भवतीत्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते। कुतः ? तदात्मकत्वात्-तावन्मात्रात्मकत्वादस्य प्रत्यगात्मनः। "स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एव एवं वा अरेऽप्यमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव" "विज्ञानघन एव" इत्यवधारणात् विज्ञानमात्रमेवास्य स्वरूपमित्यवगम्यते। प्रतोऽस्यगुणान्तराभावात् 'अपहृतपाप्मा' इत्यादयः शब्दाः विकार सुखदुःखाद्यविद्यात्मकधर्मव्यावृत्तिपरा इति चितितन्मात्ररूपेणाविर्भावइत्यौडुलोमेमंतम्।

जीव का स्वरूप चैतन्य मात्र ही है वह उसी रूप से आविर्भूत होता है, ऐसी आचार्य ओडुलोमि की मान्यता है। इस जीवात्मा का वैसा स्वरूप ही बतलाया गया है— "जैसे कि नमक का डला भीतर बाहर से संपूर्ण रसघन ही है, वैसे ही यह आत्मा अंतर बाह्य भेद से रहित संपूर्ण प्रज्ञान घन है "विज्ञानघन ही है" इत्यादि से, यह जीवात्मा विज्ञान घन स्वरूप वाला ही ज्ञात होता है। इसमें कोई भी दूसरे गुण नहीं हैं। "अपहृत पाप्मा" इत्यादि शब्द तो सुख दुःख आदि अविद्यात्मक विकारों का राहित्य बतलाते हैं। जीवात्मा चैतन्य मात्र स्वरूप से आविर्भूत होता है ऐसा ओडुलोमि आचार्य का मत है।

संप्रति भगवान् वादरायणः स्वमतेन सिद्धान्तमाह—

अब भगवान् वादरायण अपने मत से सिद्धान्त कहते हैं—

एवमप्युपगमात्पूर्वभावादविरोधं वादरायणः ।४।४।७॥

एवमपि—विज्ञानमात्रस्वरूपत्व प्रतिपादनेन सत्यपि सत्यकाम-
त्वादीनां गुणानामविरोधं वादरायण आचार्यो मन्यते । कुतः ?
उपन्यासात् पूर्वभावात्—अपनिषदात्—“य आत्माग्रपहतपाप्मा”
इत्याद्युपन्यासात् प्रमाणात् पूर्वेषां, अग्रपहनकामत्व सत्यकामत्वादीना-
मपि भावात्—विद्यमानत्वात् । तुल्यप्रमाणकानां इतरेतरबाधो न
युज्यत इत्यर्थः ।

आचार्य वादरायण के मत से, मुक्तात्मा के विज्ञान मात्र स्वरूप
मानने से, सत्यकामत्व आदि गुणों का कोई विरोध नहीं होता । अपहत
पाप्मता आदि गुण उपनिषद् में प्रथम से ही उपन्यस्त हैं, विज्ञान मात्रत्व
का भी मुक्त रूप से ही उल्लेख है, दोनों ही तुल्य हैं, बराबर के दो
प्रमाणों में बाध नहीं होता ।

न च वस्तुविरोधादग्रपहतपापमत्वादीमविद्यापरिकल्पितत्वं
न्याय्यम्, विरोधाभावात्—“विपरोतं कस्मान्न भवति” इति न्याय्यात् ।
तुल्यबलत्वे हि अशक्यस्यावधारणस्यान्यपरत्वमेव न्याय्यम् ।
एवमप्यविरोध इत्यभ्युपगम्य वदन ज्ञानमात्रमेवास्य स्वरूपं
नान्यार्त्किंचिदस्तीत्ययमर्थः “विज्ञानघन एव” इत्यादिभिर्न प्रतिपाद्यत
इति मन्यते । कस्तर्हि—“विज्ञानघन एव” इत्यवधारणस्यार्थः ?
कृत्स्नोऽप्यात्मा जडव्यावृतस्वप्रकाशः नान्यायत्तप्रकाशः स्वल्पोऽपि
प्रदेशोऽस्तीत्ययमर्थो वाक्यादेव सुव्यक्तः “स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरो-
ऽवाह्यः कृत्स्नो रसघन एव एवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽवाह्यः
कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव” इति ।

विज्ञानमात्र और अपहृतपाप्मना आदि में नितान्त वस्तु विरुद्धता है अतः अपहृत पाप्मता आदि को अविद्या परिकल्पित मान लिया जाय, यह न्याय्य न होगा, क्योंकि दोनों ही स्वरूप समान रूप से बतलाये गए हैं किसी का विशेषोल्लेख नहीं है, अतः इन दोनों में से किसी एक को, किसी भी आधार के बिना अविद्या परिकल्पित नहीं कहा जा सकता। जब समान बल वाले प्रमाण हों उनमें किसी को श्रेष्ठता का अवधारण न हो सके तो, दोनों की विभिन्नरूपता न्याय्य होती है। इसी भाव के आधार पर अविरोध मानकर ज्ञानमात्र ही इसका स्वरूप है। इससे कुछ नहीं इस अर्थ का प्रतिपादक "प्रज्ञानधन एव" वाक्य कहा गया, ऐसा मानना चाहिए। "विज्ञानधन एव" इस अवधारणापूर्क वाक्य का तात्पर्य है कि यह अखंड आत्मा चैतन्य और स्वप्रकाश है, इसका प्रकाश किसी अन्य से आयत्त नहीं है, स्वल्प होना ही इसका स्वतंत्र अस्तित्व है यही बात 'स यथा सैन्धव' ... 'प्रज्ञानधन एव' इत्यादि में कही गई है।

न चैवं प्रत्यगात्मनो धर्मिस्वरूपस्यकृत्स्नस्य विज्ञानधनत्वेऽप्यपहृतपाप्मत्वसत्यसंकल्त्वादिधर्मसंबंधो वाक्यान्तराद्यगते विरुध्यते, यथा सैन्धवधनस्यकृत्स्नस्य रसधनत्वे रसनेन्द्रियाद्यगते चक्षुराद्यगताः रूपकाठिन्यादयो न विरुध्यन्ते। इदमत्रवाक्य तात्पर्यम्—यथा रसवत्स्वाप्नफलादिषु त्वगादिप्रदेशभेदेन रसभेदे सत्यपि सैन्धवधनस्य सर्वत्रैकरसत्वम्, तथाऽत्मनोऽपि सर्वत्र विज्ञान स्वरूपत्वम्, स्वप्रकारास्वरूपत्वमित्यर्थः।

धर्मों जीवात्मा के, अखंड विज्ञानधनस्वरूप से अन्यवाक्य में कहे गए अपहृत पाप्मता आदि धर्मों से विरुद्धता भी नहीं माननी चाहिए, जैसे कि अखंड रस स्वरूप सेंधा नमक को रस रूपता का जिह्वेन्द्रिय से ही परिज्ञान होता है परन्तु नेत्र आदि इन्द्रियों से उसका आकार प्रकार भी जाना जाता है, उसमें कोई विरुद्धता नहीं होती। इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि जैसे आम के फल में छिलका आदि के भेद से भले ही भेद हो जाय पर, सैन्धव में तो सर्वत्र एकरसता है, वैसे ही जीवात्मा सर्वत्र विज्ञान स्वरूप अर्थात् स्व-प्रकाश स्वरूप ही है।

४. संकल्पाधिकरणः—

संकल्पादेव तच्छ्रुतेः ।४।४ ८॥

मुक्तः परं ब्रह्मोपसंपद्य ज्ञानस्वरूपोऽपहतपाप्मत्वादि सत्यसंकल्पत्व पर्यन्तगुणक आविर्भवतीत्युक्तम्, तमधिकृत्य सत्यसंकल्पत्व प्रयुक्ता व्यवहाराः श्रूयन्ते —“स तत्र पर्येति जक्षन्क्रोडन्रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा” इति । किमस्य ज्ञात्यादि प्राप्तिः प्रयत्नान्तर सापेक्षा, उत परमपुरुषस्येव संकल्पमात्रादेव भवति ? इति विशये लोके राजादीनां सत्यसंकल्पत्वेन व्यवहियमाणानां कार्यं निष्पादने प्रयत्नान्तरसापेक्षत्वदर्शनादस्यापि तत्सापेक्षा ।

ज्ञान स्वरूपं मुक्त जीवात्मा में, परब्रह्म के तेज से सपन्न होकर, निष्पापता सत्य संकल्पता आदि गुणों का आविर्भाव होता है यह बतला दिया गया । उसी से संबद्ध सतत्र पर्येति जक्षन् क्रोडन्’ इत्यादि में सत्य संकल्पता आदि के व्यवहार का भी वर्णन मिलता है इस पर संशय होता है कि—यह व्यवहार प्रयत्नान्तर सापेक्ष है, अथवा परमात्मा के संकल्प से ही होता है ? इस पर विचारने पर मत होता है, कि जैसे लोक में, राजा आदि के सत्य संकल्पता आदि व्यावहारिक कार्य प्रयत्नान्तर सापेक्ष होते हैं, वैसे ही मुक्त जीव के ये व्यवहार भी हैं ।

सिद्धांतः—इति प्राप्त उच्यते—संकल्पादेव—इति । कुतः ? तच्छ्रुतेः “स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठति” इति हि संकल्पादेव पित्रादीनां समुत्थानं श्रूयते । न च प्रयत्नान्तर सापेक्षत्वाभिधायिश्रुत्यन्तरं दृश्यते, येनास्य “संकल्पादेव” इत्यवधारणस्य “विज्ञानधन एव” इति वदव्यवस्थापनं क्रियते ।

उक्त मत पर सिद्धांत मूल प्रस्तुत करते हैं कि संकल्प से ही वे सब व्यवहार होते हैं, उसका श्रुति प्रमाण भी है “वह यदि पितृलोक की कामना करता है तो उसके संकल्प से ही पितर उपस्थित हो जाते हैं” इत्यादि में संकल्प मात्र से पितर आदि की उपस्थिति दिखलाई गई है ।

प्रयत्नान्तर सापेक्षता का किसी श्रुति में उदाहरण नहीं मिलता, जिससे कि "संकल्पादेव" इस अवधारण वाक्य की "विज्ञानघन एव" की तरह व्यवस्था करनी पड़े।

अतएव चानन्याधिपतिः ।४।४।६॥

यतो मुक्तः सत्यसंकल्पः अतएवानन्याधिपतिश्च । अन्याधिप-
तित्वं हि विधिनिषेधयोग्यत्वं, विधिनिषेधयोग्यत्वं हि प्रतिहत
संकल्पत्वं भवेत् । अतः सत्यसंकल्पत्वश्रुत्यैवानन्याधिपतित्वं च
सिद्धम् । अतएव "स स्वराड् भवति" इत्युच्यते ।

मुक्तात्मा सत्य संकल्प होने से ही अनन्याधिपति भी है । अन्या-
धिपतित्व का अर्थ होता है विधि निषेध योग्यता, विधि निषेध की
योग्यता में सत्य संकल्पता समाप्त हो जाती है [अर्थात् विधि निषेध
के बंधन को मानना ही पराधीनता है, जिस अवस्था में यह बंधन
समाप्त हो जाता है वही अनन्याधिपतित्व अर्थात् स्वतंत्रता या मुक्ति की
अवस्था होती है] इसलिए सत्य संकल्पता को बतलाने वाली श्रुति से ही,
मुक्तात्मा का अनन्याधिपतित्व ही निश्चित होता है । इसीलिए उमके
लिए कहा भी गया है कि "वह स्वतंत्र होता है" इत्यादि ।

५ अभावाधिकरणः—

अभावं वादरिराह हि एवम् ।४।४।१०॥

किं मुक्तस्य देहेन्द्रियाणि न संति, उत सन्ति ? अथवा यथा
संकल्पं संति न संति च ? इति विशये, शरीरेन्द्रियाणामभावं वादरि-
-राचार्यो मन्यते, कुतः ? आह ह्येवं—"न ह वै स शरीरस्य सतः
प्रियाप्रिययोरपहृतिरस्ति, अशरीरं वा सन्नं न प्रियाप्रिये स्पृशात्"।
इति शरीरसंबंधे दुःखस्यावर्जनीयत्वमभिधाय "अस्माच्छरीरात्
समुत्थाय परंज्योतिरुपसंपद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यते" इति
मुक्तस्याशरीरत्वं ह्याह श्रुतिः ।

मुक्त जीव के शरीर इन्द्रियादि होते हैं या नहीं अथवा मंकलः मे होते भी हैं नहीं भी होते ? इत्यादि संशय होता है। आचार्य बादरि के अनुसार तो शरीर इन्द्रियादि नहीं होते उस पर वे श्रुति प्रस्तुत करते हैं—“सशरीर व्यक्ति के पाप पुण्यों का नाश नहीं होता, अशरीरी को पाप पुण्य स्पर्श नहीं कर सकते” इत्यादि में शरीर संबंध में दुःख की अनिवार्यता बनलाकर “इस शरीर से उठकर” इत्यादि में मुक्त जीव का अशरीरत्व दिखलाया गया है।

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ।४।४।११॥

मुक्तस्य शरीरेन्द्रियभावं जैमिनिराचार्यो मन्यते कुतः? विकल्पा-
मननात्—विविधः कल्पो विकल्पः, वैविध्यमित्यर्थः—“स एकधा
भवति, त्रिधा भवति, पंचधा, सप्तधा” इत्यादि श्रुतेः। आत्मन
एकस्यानेकधाभावासंभवात् त्रिधाभावादयः शरीरनिबंधन
इत्यवगम्यते। अशरीरत्व वचनं तु कर्मनिमित्त शरीराभाव परम्,
तदेव हि शरीरंप्रियाप्रिय हेतुः।

जैमिनि आचार्य, मुक्त जीव के शरीर इन्द्रिय आदि मानते हैं और अपने मत की पुष्टि में श्रुति प्रस्तुत करते हैं “वह एक होता है, तीन होता है, पांच, सात होता है” इत्यादि। वे कहते हैं कि इस श्रुति से, जीव के अनेक होने की बात कही गई है जिससे शरीर का अस्तित्व ज्ञात होता है। जो अशरीरत्व की बात है वह तो कर्मनिमित्तक शरीर के लिए है, वही शरीर पाप पुण्य का कारण होता है।

भगवांस्तु वादरायणः स्वमतेन सिद्धान्त माह—

भगवान् वादरायण अपने मन से सिद्धान्त कहते हैं—

द्वादशाह्वदुभयविधं वादरायणोऽतः ।४।४।१२॥

“संकल्पादेव” इत्येतदत.शब्देन परामृश्यते, अतएव संकल्पात्, उभयविधंसशरीरमशरीरं च मुक्तं भगवान् वादरायणो मन्यते, एवं चोभयो श्रुतिरूपपद्यते—द्वादशाह्वद-यथा—“द्वादशाह्वद-

द्विकामा उपेयुः" द्वादशाहेन प्रजाकामं याजयेत्" इत्युपैति यजति चोदनाभ्यां संकल्पभेदेन सत्त्वमहीनं च भवति ।

सूत्रस्थ अतः शब्द 'सकल्पादेव' अर्थ का द्योतन करता है भगवान् वादरायण का मत है कि मुक्तात्मा संकल्प से ही मशरीर और अशरीर होता है, दोनों को प्रमाणित करने वाली श्रुतियाँ मिलती हैं जैसे कि— "द्वादशाह अनुष्ठान समृद्धि कामना से कर्त्तव्य है" सन्तान कामना से द्वादशाह यजन करना चाहिए" इत्यादि में एक ही नियम से, द्विविध प्रकारों का विधान संकल्प भेद से बतलाया गया है, वैसे ही मशरीर अशरीर दोनों संकल्प से ही संभव है ।

यदा शरीराद्युपकरणत्वं, तदातानि शरीराद्युपकरणानि स्वेनैव सृष्टानीति नास्ति नियम, इत्याह—

जब मुक्तात्मा शरीरादि उपकरणों से संपन्न होना है, तब उसके वे शरीरादि उपकरण, स्वतः ही सृष्ट होते हैं, ऐसा नियम नहीं है, यही बतलाते हैं ।

तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः । १।४।१३।।

स्वेनैव सृष्टतनुप्रभृत्युपकरणाभावे परमपुरुषसृष्टैरुपकरणैर्भोगोपपत्तेः सत्संकल्पोऽपि स्वयं न सृजति । यथा स्वप्ने— "अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते" इत्यारभ्य "अथ वेशं तान् पुष्करिण्यः सुवन्त्यः सृजते स हि कर्त्ता" इति "य एषु सुप्तेषु जागति कामं कामं पुरुषो निर्दिमाणः तदेव शुकं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते तस्मिन् लोकाश्रिताः सर्वे तदुनात्येति करचन्" इति ईश्वरसृष्टेः रथाद्युपकरणैः जीवो भुंक्ते, तथा मुक्तोऽपि लीलाप्रवृत्तेर्नेरवरेण सृष्टेः पितृलोकादिभिर्लोलारसं भुंक्ते ।

स्वयं अपने ही सृष्ट शरीर आदि उपकरणों के अभाव में, परमात्मा द्वारा सृष्ट उपकरणों के भोगों का सृष्टि करना सत्य संकल्प होते हुए भी, इस मुक्तात्मा में संभव नहीं है । जैसे कि स्वप्नावस्था में

“रथ रथ के योग्य मार्ग, वागवावही झरने आदि का वही कर्ता है” इत्यादि से ज्ञात होता है कि ईश्वर सृष्ट रथ आदि का जीव भोग करता है, वैसे ही मुक्तात्मा भी लीला प्रवृत्त ईश्वर द्वारा सृष्ट पितृलोक आदि लीला रस को भोगता है।

भावे जाग्रत्त्वत् ॥४१॥१४॥

स्वसंकल्पादेव सृष्टतनु प्रभृतिपितृ लोकाद्युपकरणभावे जाग्रत पुरुष भोगवन्मुक्तोऽपि लीलारसं भुंक्ते, परंपुरुषोऽपि लीलार्यं दशरथवसुदेवादि पितृलोकादिकमात्मनः सृष्ट्वा तैर्मनुष्यधर्म-लीलारसं यथाभुंक्ते तथा मुक्तानामपि स्वलीलायै पितृलोकादिकं स्वयमेव सृजति कदाचित्, कदाचिच्च मुक्ताः सत्यसंकल्पत्वात् परं पुरुष लीलान्तर्गतस्वपितृलोकादि स्वयमेवसृजन्तीति सर्वमुपपन्नम्।

मुक्तात्मा, अपने संकल्प से ही सृष्ट शरीर से पितृलोक आदि उपकरणों का जाग्रत पुरुषों की तरह लीला रस का भोग करता है, जैसे कि परंपुरुष लीला के लिए दशरथ वसुदेव आदि पितरों की स्वयं सृष्टि करके मनुष्यों की तरह लीला रस का भोग करते हैं, वैसे ही मुक्तात्मा भी अपनी लीला करने के लिए पितर आदि की सृष्टि करता है और कभी सत्य संकल्प होने के कारण वह मुक्तात्मा परमात्मा की लीला में अपने पितर आदि को स्वयं ही सृजन करते हैं।

नन्यास्माऽणुपरिमाण इत्युक्तम् कथमनेकशरीरेष्वेकस्याणो-
रात्माभिमानसंभव इत्यत्राह—

आत्मा को अणु परिमाण का बतलाया गया है संशय होता है कि—वह एक अणु अनेक शरीरों में कैसे व्यापक हो सकता है? इस पर कहते हैं—

प्रदीपवदावेशस्तथाहि दर्शयति ॥४१॥१५॥

यथा प्रदीपस्यैकस्यैकस्मिन्देशे वत्तमानस्य स्वप्रभया
देशांतरावेशः तथात्मनोऽप्येकदेहस्थितस्यैव स्वप्रभारूपेण चैतन्येन

सर्वशरीरावेशो नानुपपन्नः, तथा चैकस्मिन्नपि देहेहृदयाद्येकप्रदेश
वर्तिनोऽपि चैतन्यव्याप्त्या सर्वस्मिन्देह आत्माभिमानः तद्वत् ।

इयान्विशेषः, अ क्तस्य कर्मणा संकुचितज्ञानस्य देहान्तरेषु
आत्माभिमानानुगुणाव्याप्तः “इदम्” ग्रहणानुगुणा च नानुपपन्ना ।
तथाहि दर्शयति—“वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च, भागो
जीवः स विज्ञेयः चानन्याय कल्पते” इति । अमुक्तस्य कर्मनियामकम्,
मुक्तस्य स्वेच्छेति विशेषः ।

जैसे एक स्थान पर रक्ता हुआ दीपक, अपने प्रकाश से अन्य स्थानों
का प्रकाशित करता है, वैसे ही एक देह स्थित आत्मा अपने चैतन्य प्रकाश
से सभी शरीरों में आविष्ट नहीं हो सकता । एक ही शरीर में हृदय आदि
एक स्थान पर स्थित जीवात्मा, अपनी चैतन्य व्याप्ति से संपूर्ण देह में
आत्माभिमान कर सकता है, अन्य देहों में वंसा करना संभव नहीं है ।

कर्म से संकुचित ज्ञान वाले बद्ध जीव की अन्य देशों में जाने पर
आत्माभिमान के अनुरूप व्याप्ति होती है इसलिये उसे “इदम्” ऐसा
कहना कठिन है—जैसा कि श्रुति कहती भी है—“बाल के सौवें हिस्से के
भी सौवें हिस्से की कल्पना की जाये तो उसे जीव कहा जा सकता है,
वह जीव अनन्त है ।” बद्ध जीव कर्म से भावद्ध है जबकि मुक्त स्वेच्छा-
चारी होता है ।

ननु परब्रह्म प्राप्तस्यान्तरबाह्य ज्ञानलोपं दर्शयति श्रुतिः
“प्राज्ञेनात्मा संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेदान्तरम्” इति,
तत्कथं मुक्तस्य सार्वज्ञमुच्यते ? तत्रोत्तरम्—

परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त जीवात्मा को तो बाह्यान्तर का कुछ
भी ज्ञान नहीं होता ऐसा श्रुति का मत है—“परमात्मा से संसक्त आत्मा
को न कुछ बाह्य ज्ञान रहता है न आन्तरिक” इत्यादि, फिर मुक्त को
सार्वज्ञ कैसे कहा ? इसका उत्तर देते हैं—

स्वाप्ययसंपत्प्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि । ४।४।१६॥

नेदं वचनं मुक्तविषयम्, अपितु स्वाप्ययसंपत्प्योरन्यतरापेक्षम् ।

स्वाप्ययः सुषुप्तिः, संपत्तिश्चमरणम्, “वाङ्मनसि संपद्यते” इत्यारभ्य “तेजः परस्यां देवतायाम्” इति वचनात् । तयोश्चावस्थयोः प्राज्ञ प्राप्तिनिस्संबोधत्वं च विद्येते । अतस्तयोरन्यतरापेक्षमिदं वचनं सुषुप्तिमरणयोर्निस्संबोधत्वं, मुक्तस्य च सर्वज्ञत्वं आविष्कृतं हि श्रुत्या “नाहं खल्वयमेवं संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामि” इति सुषुप्तिवेलायां निस्संबोधत्वमुक्त्वा तस्मिन्नेव वाक्ये मुक्तमधिकृत्य—“स वा एष दिव्येन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते य एते ब्रह्मलोप” इति सर्वज्ञत्वमुच्यते । तथा मरणे च निस्संबोधत्वम्—“एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति” इति । अतः “प्राज्ञेनात्मना” इति वचनं स्वाप्ययसंपत्त्य, रन्यतरापेक्षम् ।

“प्राज्ञेनात्मना” इत्यादि वचन मुक्तात्मा विषयक नहीं है अपितु सुषुप्ति या मृत्यु से संबद्ध है । “वाङ्मनसि संपद्यते” से लेकर “तेजः परस्यां देवतायाम्” तक मरण का उल्लेख किया गया है, उन दो अवस्थाओं को प्राप्त जीव में ही अज्ञान रहता है । उन्हीं से संबद्ध यह वचन है । सुषुप्ति और मरण की अज्ञानता तथा मुक्त की सर्वज्ञता श्रुति में दिखलाई गई है । जैसे “इस अवस्था में तो निश्चय ही इसे यह भी ज्ञान नहीं होता कि” यह मैं हूँ “और न यह इन अन्य भूतों को ही जानता है, यह, मानों विनाश को प्राप्त हो जाता है, इसमें मुझे इष्ट फल नहीं दीखता” इत्यादि में सुषुप्तावस्था की अज्ञानता दिखलाकर उसी वाक्य में मुक्त के लिए—“वह आत्मा इस दिव्य चक्षु के द्वारा भोगों को देखता हुआ रमण करता है जो कि इस ब्रह्म लोकमें है” इत्यादि से सर्वज्ञता दिखलाई गई है । इसी प्रकार मरणावस्था की अज्ञानता “एतेभ्यो भूतेभ्यः” इत्यादि में दिखलाई गई है । इसलिए “प्राज्ञेनात्मना” इत्यादिवचन इन्हीं दो में से किसी एक के विषय में है ।

१६-जगद्व्यापारवर्जनिर्वाहः—

जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्नित्वाच्च ।४।४।१७॥

किमुक्तैश्वर्यं जगत्सृष्ट्यादि परंपुरुषासाधारणं सर्वेश्वरत्वमपि, उत तदरहितं केवल परमपुरुषानुभवविषयमिति संशयः किम् युक्तम् ? जगदीश्वरत्वमपीति, कुतः ? “निरंजनः परमसाम्यपैति” इति परंपुरुषेण परमसाम्यापत्तिः श्रुतेः, सत्यसंकल्पत्वश्रुतेश्च । नहि परमसाम्यं सत्यसंकल्पत्वे सर्वेश्वरासाधारणं जगन्नियमनेन विनोपपद्येते । अतः सत्यसंकल्पत्वपरमसाम्योपपत्तये समस्तजगन्नियमनरूपमपि मुक्तैश्वर्यमिति ।

मुक्त को क्या जगत की सृष्टि आदि का परमात्मा की तरह सर्वेश्वरत्व का असाधारण सामर्थ्य भी प्राप्त हो जाता है अथवा केवल परमात्मा की तरह आनंदानुभव मात्र ही प्राप्त होता है ? इस संशय पर मत होता है कि—जगदीश्वरत्व भी प्राप्त हो जाता है “परम निरंजन की समता प्राप्त करता है” इत्यादि से ज्ञात होता है कि उसे परम पुरुष की समता प्राप्त हो जाती है, उसकी सत्य संकल्पता बतलाने वाली श्रुति से भी उक्त तथ्य की पुष्टि होती है । सर्वेश्वर के असाधारण जगन्नियमन के बिना, परमसाम्य और सत्यसंकल्पत्व धर्म ही नहीं सकते । परम साम्य और सत्य संकल्पत्व के आधार पर समस्त जगन्नियमन रूप ऐश्वर्य भी मुक्तात्मा में विद्यमान है, ऐसा मानना चाहिए ।

सिद्धान्तः—एवं प्राप्ते प्रचक्ष्महे—जगद्व्यापारवर्जमिति । जगद्व्यापारः निखिलचेतनाचेतनस्वरूपस्थितिप्रवृत्तिभेदनियमनं तद्वर्जं निरस्तनिखिलतिरोधानस्य निर्व्याजिद्रह्यानुभव रूपं मुक्तैश्वर्यम् कुतः ? प्रकरणात् । निखिल जगन्नियमनं हि परं ब्रह्म प्रकृत्याम्नायते—“यतो वा इमानि भूतानि जायते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयंत्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञास्व तद्ब्रह्म” इति । यद्येतन्निखिलजगन्नियमनं मुक्तानामपि साधारणं स्यात्, तत्तद्वेदं

जगदीश्वरत्वरूपं ब्रह्मलक्षणं न संगच्छते, असाधारणस्य हि लक्षणात्वम् ।

तथा—“सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम् तदैक्षत् बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत्”—ब्रह्म वा इदमेकमेवाग्र आसीत् तदेकं सन्न व्यभजत तुच्छे योरूपमत्यसृजत क्षत्रं यान्येतानि देवक्षत्राणि इन्द्रोवरुणः सोमोऽद्रः पर्जन्योयमो मृत्युरीशान इति” “आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत्किञ्चन् मिषत् स ईक्षत् लोकान्नु सृजा इति स इमान् लोकानसृजत्”—“एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्म नेशानो नेमे द्यावापृथिवी न नक्षत्राणि नापो नाग्निर्न सोमो न सूर्यः स एकाकी न रमते तस्य ध्यानान्तरस्थस्यैका कन्यादशेन्द्रियाणि’ इत्यादिषु । “यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरः” इत्यारभ्य—“य आत्मनि तिष्ठन्” इत्यादिषु च निखिलजगन्नियमनं परमपुरुषं प्रकृत्यैव श्रूयते । असन्निहितत्वाच्च—न चैतेषु निखिलजगन्नियमनप्रसंगेषु मुक्तस्यसंनिधानमस्ति, येन जगद्व्यापारः तस्यापि स्यात् ।

उक्त मत पर सिद्धान्त कहते हैं कि—जागतिक व्यापार से रहित मुक्त का, ऐश्वर्य होता है । समस्त जड़ चेतन की सृष्टि स्थिति और नियमन आदि को जगद् व्यापार कहते हैं, उससे रहित केवल ब्रह्मानुस्वरूप ही, मुक्तात्मा का ऐश्वर्य होता है । समस्त जगत् के नियमन की प्रकृति, केवल परब्रह्म की ही बतलाई गई है—“जिससे ये सारे पदार्थ उत्पन्न होते हैं, जिससे स्थित और जिसमें विलीन हैं, उसे ही जानो वही ब्रह्म है” इत्यादि । यदि यह जगत् का नियमन कार्य, मुक्तात्माओं से भी साधारण रूप से साध्य हो जाय तो, यह जगदीश्वरत्व रूप से ब्रह्म के लिए नहीं कहा जा सकता, यह तो परमात्मा का असाधारण लक्षण है ।

तथा सदेव सोम्येदमग्र ब्रह्म वा इदमेवाग्र” आत्मा वा इदमेक एवाग्र “एकोहवैनारायण आसीत्” इत्यादि एवं “यः पृथिव्यां तिष्ठन्” य आत्मनि तिष्ठन्” इत्यादि में, निखिल जगन्नियमन रूप प्रकृति परमपुरुष

को ही बतलाई गई है ! ये सारा निश्चिन जगन्नियमन का प्रसंग मुक्तात्मा के लिए कहा गया है, जिसके आधार पर जागतिक व्यापार उसका भी माना जा सके ।

प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमंडलस्योक्तेः । १।४।१८॥

“स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति”
 “इमान् लोकान् कामान्नी कामरूप्यनुसंचरन्” इति प्रत्यक्षेण
 श्रुत्या मुक्तस्य जगद्व्यापार उपदिश्यते, अतो न जगद्व्यापार
 वजंमिति चेत् तन्न, आधिकारिकमंडलस्योक्तेः; आधिकारिकाः,
 अधिकारेषु नियुक्ता हिरण्यगर्भदियः, मंडलानि तेषां लोकाः, तस्याः
 भोगाः मुक्तस्याकर्मवश्यस्य भवतीत्यमर्थः “तस्य सर्वेषु लोकेषु
 कामचारो भवति” इत्यादिनोच्यते । अकर्मप्रतिहतज्ञानो मुक्तो
 विकारलोकान् ब्रह्मविभूति भूताननुभूय पथाकामं तृप्यतीत्यर्थः ।
 तदेवं विकारान्तरवर्तिनः, आधिकारिकमंडलस्थान् सर्वान्भोगान्
 ब्रह्मविभूति भूताननुभवतीत्यनेन वाक्येनोच्यते, न जगद्व्यापारः ।

यदि कहो कि—“वह स्वतंत्र हो जाता है उसकी सभी लोकों में
 स्वच्छंद गति हो जाती है” इत्यादि में, स्पष्ट रूप से मुक्तात्मा का जगद्व्यापार
 दिखलाया गया है, इसलिए उसके ऐश्वर्य को जगद्व्यापार
 रहित नहीं कह सकते । यह कथन भी ठीक नहीं है, यह तो आधिकारिक
 अर्थात् हिरण्यगर्भ आदिमंडलों के लोकों के जाने की बात है । जहाँ कर्म-
 वशता नहीं होती “तस्यकामचारो भवति” में यही बतलाया गया है ।
 अर्थात् निष्काम भाव का त्याग कर, मुक्तात्मा, ब्रह्म के विभूति स्वरूप
 विकृत लोकों का यथेच्छ उपभोग कर तृप्त हो जाता है । उन्हीं विकारा-
 न्तरवर्ती आधिकारिक मंडलों के समस्त भोगों का जो कि ब्रह्म के विभूति
 स्वरूप हैं, अनुभव करता है, यही उक्त वाक्य का कथन है, जगद्व्यापार
 की चर्चा नहीं है ।

यदि संसारिवन्मुक्तोऽपि विकारान्तरवर्तिनो भोगान् भुंक्ते,
 तर्हि वदस्येव मुक्तस्यापि अन्तवदेव भोग्यजातं अल्पं च स्यात्
 तत्राह—

यदि संसारी लोगों की तरह, मुक्त भी, विकारान्तरवर्ती भोगों का भोग करता है तो यही मानना चाहिए कि—मुक्तात्मा की सारी भोग्य वस्तुएं, बद्ध की तरह अन्तवान् और अल्प हैं। इसका उत्तर—

विकारावर्ति च तथा हि स्थितिमाह ।१।४।१६॥

विकारे-जन्मादिके न वर्तते इति विकारावर्ति, निघंत-निखिलविकारं, निखिलहेयप्रत्यनीककल्याणैकतानं, निरतिशयानंदंपरंब्रह्म, सविभूतिकं, सकलकल्याणगुणामनु भवति मुक्तः । तद्विभूत्यन्तर्गतत्वेन विकारवर्तिनां लोकानामपि भुक्तभोग्यत्वम् । तथाहि परस्मिन्ब्रह्माणि निर्विकारेऽनवाधिकातिशयानंदे मुक्तस्यानुभवितृत्वेन स्थितिमाह श्रुतिः—“यदा हि एवैष एतस्मिन्, दृश्ये-ज्जात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते अथ सोऽभयं गतो भवति” “रसो वैसः रसं ह्येवायं लब्ध्वानंदो भवति” इत्यादिका । तद्विभूतिभूतं च जगत्त्रैव वर्तते “तस्मिल्लोकाश्रिताः सर्वे तदुना-त्येति करचन्” इति श्रुतेः । अतः सविभूतिकं ब्रह्मानुभवन् विकारा-न्तरवर्तिनः, आधिकारिमकमंडलस्थानपि भोगान्भुक्त इति, “सर्वेषु लोकेषु कामचारः” इत्यादिनोच्यते, न मुक्तस्य जगदव्यापारः ।

जन्मादि विकार उसमें नहीं होते। सारे ही विकारों से रहित समस्त हीनताओं से रहित, कल्याणैकतान, अत्यानंदमय परब्रह्म के विभूति सहित सभी कल्याणमय गुणों का, मुक्तात्मा अनुभव करता है उनकी विभूति के अन्तर्गत होने से उन विकारवर्ती लोकों के भोगों का भी भोग करता है। निर्विकार अत्यानंदमय परब्रह्म में, मुक्तात्मा की अनुभविता के रूप से स्थिति श्रुति में दिखलाई गई है—“जब यह, इस अदृश्य, अनात्म्य, अनिरुक्त, अनिलयन, अभय में प्रतिष्ठित होता है, तब वह अभय हो जाता है” वह रस स्वरूप है उस रस को प्राप्त कर आनंदी होता है इत्यादि। उसका विभूति स्वरूप जगत वही रहता है “तस्मिल्लोकाश्रिताः सर्वे” इत्यादि में दिखलाया गया है। अतः यही मानना चाहिए कि—सार्वभूतिक ब्रह्मानुभव के लिए विकारान्तरवर्ती आधिका-

रिक मंडलों के भोगों को भोगता है यही "सर्वेषु लोकेषु कामधारो-
इत्यादि का तात्पर्य है, मुक्तात्मा के जगद् व्यापार की चर्चा नहीं है ।

दर्शयतिश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ।४।४।२०॥

अस्य प्रत्यागात्मनोमुक्तस्य नियाम्यभूतस्य नियतमृतपरम-
पुरुषासाधारणंजगद्व्यापारूपंनियमनं न संभवतीत्युक्तम्,
निखिलजगन्निग्रहमनरूपेःव्यापारः परमपुरुषासाधारण इति
दर्शयतः श्रुतिस्मृती—“भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः
भीषाऽस्मादग्निश्चन्द्रश्चमृत्युर्घाविति पंचमः” इति “एतस्य वा
अक्षरस्य प्रशासने गागि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः” इत्यादि
तथा “एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुविधरण
एष लोकानामसंभेदाय” इति च श्रुतिः । स्मृतिरपि “मयाऽव्यक्षेण
प्रकृतिः सूयते सचराचरम्, हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते”
इति “विष्टम्याहमिदं कृत्स्नमेकाशेन स्थितो जगत्” इति च ।
तथा मुक्तस्य सत्यसंकल्पत्वादिपूर्वकस्याप्यानन्दस्य परमपुरुष एव
हेतुरिति श्रुतिस्मृती दर्शयतः “एष ह्येवानन्दयाति” मां च
योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते, स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्म
भूयाय कल्पते । ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याव्ययस्य च,
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकांतिकस्य च” इति ।

नियम्य इत मुक्त जीवात्मा में, नियंता परमपुरुष की असा-
धारण जगद्व्यापार रूप नियमन आदि विशेषतायें नहीं हो सकतीं ।
निखिलजगन्निग्रहमन रूप असाधारण विशेषतायें परमपुरुष परमात्मा की
ही बतलाई गई है—“इनके मय से ही वायु चलता है, सूर्य उदय होता है,
अग्नि, इन्द्र और पांचवां यम दौड़ता है”—हे गागि इस अक्षर के प्रशासन
में सूर्य और चंद्र टिके हुए हैं—“यही सर्वेश्वर है “यही भूताधिपति
भूतपाल हैं और यही, प्राणियों की मर्यादा की रखने वाले सेतु हैं—”
इत्यादि श्रुति तथा “मेरी ही अभ्यक्षता में यह प्रकृति चर अक्षर का

प्रसव करती है, मैं इसी के हेतु से जगत का विस्तार करता हूँ—” मैं अकेला विस्तृतरूप से जगत में स्थित हूँ” इत्यादि स्मृति इसकी प्रमाण हैं। इस मुक्तात्मा की सत्यसंकल्पता और आनंद के हेतु भी परमात्मा ही हैं, ऐसा श्रुति स्मृति का मत है।” यही आनंदित करता है—“मुझे जो भ्रम्यभिचारि भाव से भजते हैं, वे सांसारिक बंधनों से मुक्त होकर ब्रह्म के समान हो जाते हैं, अव्यय अमृत मैं ब्रह्म हीं शाश्वत धर्म और सुख का एकमात्र आश्रय हूँ” इत्यादि।

यद्यप्यपहृतपाप्मत्वादिः सत्यसंकल्प पर्यन्तो गुणगणः प्रत्यगात्मनः स्वाभाविक एवाविर्भूतः, तथाऽपि तस्य तथाविधत्वमेव परमपुरुषायत्तम्, तस्य नित्यस्थितिश्च तदायत्ता, परमपुरुषस्यैतन्नित्यतायाः नित्येष्टत्वान्नित्यतया वर्तते इति न कश्चिद् विरोधः। एवमेव परमपुरुष भोगोपकरणस्य लीलोपकरणस्य च नित्यतया शास्त्रावगतस्य परमपुरुषस्य नित्येष्टत्वादेव तथावस्थानमस्तीति शास्त्रादवगम्यते। अतो मुक्तस्य सत्यसंकल्पत्वं परमपुरुष साम्यं च जगद्व्यापारवर्जम्।

यद्यपि निष्पापता से लेकर सत्यसंकल्पता आदि गुण जीवात्मा के स्वाभाविक रूप से आविर्भूत होते हैं, पर वे उन गुणों वाले परमात्मा से ही आयत्त होते हैं, उन गुणों की नित्य स्थिति भी परमात्मा के ही अधीन होती है। परमपुरुष में इनकी नित्यता, नित्य इष्ट होने से नित्यरूप से स्थित रहती है। इसीप्रकार परमपुरुष के भोगोपकरण लीलोपकरणों की नित्यता भी शास्त्रों से ज्ञात होती है तथा परमपुरुष के लिए वह नित्य इष्ट होने से सदा उनमें स्थित रहते हैं ऐसा भी शास्त्र से ज्ञात होता है। इससे निश्चित होता है कि—मुक्तात्मा की सत्यसंकल्पता और परमपुरुष की समता, जगद्व्यापार से रहित है।

भोगमात्र साम्यलिगाच्च ।४।४।२१॥

ब्रह्म याथात्म्यानुभवरूप भोगमात्रे मुक्तस्य ब्रह्मसाम्यप्रतिपादनाच्च लिगाज्जगद्व्यापारवर्जमित्यवगम्यते “सोऽश्नुते सर्वान्

कामान् सह ब्रह्मणा विपारिचिता" इति । अतो मुक्तस्य परमपुरुष साम्यं सत्यसंकल्पत्वं च परमपुरुषासाधारणनिखिलजगन्नियमन श्रुत्यानुगुण्येन वर्णनीयमिति जगदव्यापारवर्जमेव मुक्तैश्वर्यम् ।

मुक्तात्मा के ब्रह्म के यथार्थ अनुमधरूप भोगमात्र तथा ब्रह्मसाम्य के प्रतिपादन से, जगद् व्यापार वर्जन ज्ञात होता है—“वह समस्त कामनाओं को ब्रह्म के साथ भोगता है” इत्यादि । मुक्तात्मा की परमपुरुष समता, सत्यसंकल्पता और परमपुरुष के असाधारण जगन्नियमन आदि, शास्त्र के अनुसार ही मानना चाहिये । मुक्तात्मा का ऐश्वर्य जगद् व्यापार से रहित है ।

यदि परमपुरुषायत्तं मुक्तैश्वर्यम्, तर्हि तस्य स्वतंत्रत्वेन सत्यसंकल्पान्मुक्तस्य पुनरावृत्तिः स भवांशक्येत्याह—

यदि मुक्त का ऐश्वर्य परमपुरुष के अधीन है तो, सत्य संकल्प होने से मुक्त की पुनरावृत्ति तो संभव है ? उत्तर—

अनावृत्तिशब्दादनावृत्तिशब्दात् १४।४।२२॥

यथा निखिलहेयप्रत्यनीककल्याणैकतानो जगज्जन्मादि कारणं समस्तवस्तुखिलक्षणः सर्वज्ञः सत्यसंकल्पः, आश्रितवात्सल्यैकजलधिः, परमकारुणिको निरस्तसमाश्रयिणस्तंभावतः परब्रह्माभिधानः परमपुरुषोऽस्तीति, शब्दादवगम्यते । एवमहरहरनुष्ठीयमानवर्णाश्रमधर्मानुगृहीततदुपासनरूपतत्समाराधनप्रोतः उपासीनानादिकालप्रवृत्तानंतदुस्तरकर्मसंचयरूपाविद्यां विनिवर्त्य स्वयाथात्म्यानुभवरूपानवधिकातिशयानन्दप्राप्य पुनरावर्तयतीत्यपि शब्दादेवावगम्यते । शब्दश्च—“स खल्वेवं वर्तयन्पावदायुषं ब्रह्मज्ञोकमभिसंपद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते” इत्यादिकः तथा च भगवता स्वयमेवोक्तम्—“मामृषेः पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्, नाप्रवृत्तिं महारगानः संसिद्धिपरमागताः । आ १५५

भुवनांल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन, मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते" । इति

जैसा कि—समस्त हीनताओं से रहित, कल्याणकर्मूर्ति जगत् जन्मादि के कारण, समस्त वस्तुओं से विलक्षण, सर्वज्ञ, सत्य संकल्प शरणागतवत्सल, परमदयालु, न्यूनाधिकता रहित सदा एकरस, परब्रह्म परमपुरुष का अरितत्व शास्त्र से ज्ञात होता है वैसे ही अहनिश वर्णाश्रम धर्मानुसार अनुष्ठायमान, उपासना रूप समाधान से प्रसन्न वे परमात्मा जीवात्मा के अनादिकाल संचित दुस्तर कर्मरूप अविद्या का निवारण करके उसे अपने यथार्थ आत्म्यानुभव रूप अत्यानंदमयता को प्राप्ति कराते हैं और पुनः संसार में नहीं जाने देते, यह भी शास्त्र से ही ज्ञात होता है । जैसे कि—“आजीवन वह इस प्रकार आचरण करते हुए ब्रह्म-लोक की प्राप्ति करता है पुनः लौटकर नहीं आता लौटकर नहीं आता” इत्यादि । भगवान ने स्वयं भी कहा है—“मुझे प्राप्त करके उपासक, इस दुःखालय अशाश्वत संसार को नहीं प्राप्त करता, परम सिद्धि को प्राप्त कर लेता है । हे अर्जुन ! ब्रह्म सहित ये सारे लोक पुनः नष्ट हो जाते हैं पर मुझे प्राप्त करने वालों का पुनर्जन्म नहीं होता” इत्यादि ।

न चोच्छिन्नकर्मबंधस्यासंकुचितज्ञानस्य परब्रह्मानुभवैकस्व भावस्य तदेकप्रियस्यानवधिकातिशयानन्दं ब्रह्माऽनुभवतोऽन्यापेक्षा- तदर्थारम्भाद्यसंभवात् पुनरावृत्ति शंका ।

न च परमपुरुषः सत्यसंकल्पोऽयर्थं प्रियं ज्ञानिनं लब्ध्वा कदाचिदावर्त्तयिष्यति, य एवमाह—“प्रियो हि ज्ञानिनोऽयर्थं महं स च ममप्रियः, उदाराः सर्वे एवैते ज्ञानोत्वात्मैव मे मतम् । आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्, बहूनां जन्मनामंते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते । वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः” इति । सूत्रा-भ्यासः शास्त्र परिममाप्तिं द्योतयति । इति सर्वं समंजसम् ।

कर्मबन्धनों से मुक्त, विकसित ज्ञान, परंब्रह्मानुभव स्वभाव, एक-यात्र परमात्मा से ही प्रेम करने वाले, अत्यधिक आनंद में मग्न, एक-

मात्र ब्रह्मानुभव में ही रत, जीव को पुनरावृत्ति की शंका को भी नहीं जा सकती ।

और न अत्यंत प्रिय सरय संकल्प परमपुरुष को प्राप्त कर कभी लौट ही सकता है, जैसा कि कहा गया है—“मुझे ज्ञानी भक्त अत्यंत प्रिय है, और मैं उसे प्रिय हूँ, जैसे सारे ही उपासक उदार हैं, पर ज्ञानी उपासक तो मेरी आत्मा ही है । वह सही मार्ग में स्थित महात्मा मेरी ही गति को प्राप्त करता है, अनेकों जन्मों में ज्ञानी भक्त मुझे प्राप्त करते हैं, जो कि सब कुछ वासुदेव है ऐसा मानते हैं, ऐसे महात्मा बड़े सुदुर्लभ हैं ।” इत्यादि । सूत्र में जो दो बार शब्द का अभ्यास किया गया है वह परि-समाप्ति का द्योतक है । सारे समाधान हो गए अस्तु ।

चतुर्थ अध्याय चतुर्थ पाद समाप्त

ग्रन्थ पूर्ण

विशिष्ट परिशिष्ट

(श्री रामानुजाचार्य कृत प्रवृत्ति चिन्तन)

सत्यकाम सत्यसंकल्प परब्रह्मभूत पुरुषोत्तम महाविभूते,
 श्रीमन्नारायण वैकुण्ठनाथ अपारकारुण्यशौशील्यवात्सल्यौदार्यैश्वर्य-
 सौन्दर्यहोदधे, अनलोचितविशेषाविशेषलोकशरण्य प्रणतातिहर
 आश्रितवात्सल्यजलधे, अनवरतविदितनिखिलभूतजातयाथात्म्य
 अशेषचराचरभूत निखिलनियमाशेषचिदचिद्वस्तुशेषिभूत निखिल-
 जगदाघाराखिलजगत्स्वामिन्, अस्मत्स्वामिन् सत्यकाम सत्य-
 संकल्प सक्तेतरविलक्षण अथिवत्पक आपत्सख, श्रीमन्नारायण
 अशरणशरण्य, अनन्यशरणं स्वत्पादारविन्दयुगलं शरणमहं
 प्रपद्ये ।

हे पूर्णकाम, सत्यसंकल्प, परब्रह्मस्वरूप पुरुषोत्तम ! हे महान्
 ऐश्वर्ययुक्त श्रीमन्नारायण ! हे वैकुण्ठनाथ ! आप अपार करुणा, सुशीलता,
 वात्सलता, उदारता, ऐश्वर्य और सौन्दर्य आदि गुणों के महासागर हैं ।
 छोटे-बड़े का विचार न करके सामान्यतः सभी लोगों को आप शरण देते
 हैं, प्रणत जीवों की पीड़ा हर लेते हैं । शरणागत के लिए तो आप वात्स-
 लता के समुद्र ही हैं । आप सदा ही समस्त भूतों की यथार्थता का ज्ञान
 रखते हैं । सम्पूर्ण चराचरभूतों, और समस्त जड़-चेतन वस्तुओं
 के आप अवयवी हैं (ये सब आपके अवयव हैं) आप समस्त
 संसार के आधार और समस्त जगत तथा हम सभी लोगों के स्वामी हैं ।
 आपकी कामनायें पूर्ण और आपका सङ्कल्प सच्चा है । आप समस्त
 प्रपञ्च से इतर और विलक्षण हैं । पाचकों के तो आप कल्पवृक्ष हैं,
 विपत्तिग्रस्त जीवों के सहायक हैं । ऐसी महिमा वाले तथा आश्रयहीनों
 को आश्रय देने वाले प्रभु श्रीमन्नारायण । मैं आपके चरणारविन्द युगल
 की शरण में आता हूँ, क्योंकि—उनके सिवा मेरे लिए कहीं भी शरण
 नहीं है ।

पितरं भातरं दारान् पुत्रान् बन्धून् सखीन् गुरून् ।
रत्नानि धनधान्यानि क्षेत्राणि च गृहाणि च ॥
सर्वधर्माश्च सन्त्यज्य सर्वकामाश्च साक्षरान् ।
लोकविक्रान्त चरणौ शरणं तेऽव्रजं विभो ॥

हे प्रभो ! मैं माता, पिता, स्त्री, पुत्र, बन्धु, मित्र, गुरु, समस्त रत्न, धनधान्य, खेत, घर, सारे धर्म और अक्षर सहित सम्पूर्ण कामनाओं को त्यागकर, समस्त ब्रह्माण्ड को आक्रान्त करने वाले आपके युगल चरणों की शरण में आया हूँ ।

मनोवाक्कायैरनादिकाल प्रवृत्तानन्ताकृत्यकरणकृत्याकरण-
भगवदपचारभागवतापचारासह्यापचाररूपनानाविधानन्तापचाराना-
रब्धकार्यान् कृतान् क्रियमाणान् करिष्यमाणान् च सर्वान् अशेषतः
क्षमस्व ।

अनादिकालप्रवृत्तविपरीतज्ञानमात्मविषयं कृत्स्न जगद्विषयं
च विपरीतवृत्तं चाशेषविषयमद्यापि वृत्तमानं वर्तिष्यमाणं च सर्वं
क्षमस्व ।

हे भगवन् ! मन, वाणी और शरीर के द्वारा अनादिकाल से
अनेकों न करने योग्य कर्मों का करना, करने योग्य कर्मों का न करना,
भगवान् का अपराध, भगवद् भक्तों का अपराध तथा और भी जो अक्षम्य
अनाचार रूप अनेक प्रकार के अनन्त अपराध मुझसे हुए हैं, उनमें जो
प्रारब्ध बन चुके हैं, अथवा जो प्रारब्ध नहीं बने हैं, उन सभी पापों को
तथा जिन्हे मैं कर चुका हूँ, कर रहा हूँ और करने वाला हूँ उन सबको
आप क्षमा कर दें ।

आत्मा और सारे संसार के विषय में जो मुझे अनादि काल से
विपरीत ज्ञान होता चला आ रहा है, तथा सभी विषयों में जो मेरा विप-
रीत आचरण आज भी है, और आगे भी रहने वाला है वह सबका सब
आप क्षमा कर दें ।

मदीयानादिकमंप्रवाहप्रवृत्तां भगवत्स्वरूपतिरोधानकरीं विप-
रीतज्ञानजननीं स्वविषयायाश्च भोग्यबुद्धेर्जननीं देहेन्द्रियत्वेन भोग्य-
त्वेन सूक्ष्मरूपेण चावास्थितां दैवीं गुणमयीं मायां दासभूतः शरणा-
गतोऽस्मि तवास्मि दास इति वक्तारं मां तारय ।

मेरे अनादि कर्मों के प्रवाह में जो चली आ रही है, जो मुझसे
भगवान के स्वरूप को छिपा लेती है, जो विपरीत ज्ञान की जननी, अपने
विषय में भोग्य बुद्धि को उत्पन्न करने वाली और देह, इन्द्रिय, भोग्य
तथा सूक्ष्म रूप से स्थित रहने वाली है, उस देवी त्रिगुणमयी माया से
“हैं आपका दास हूँ, किङ्कर हूँ, आपकी शरण में आया हूँ” इस प्रकार
रट लगाने वाले मुझ दीन का आप उद्धार कर दीजिए ।

बालक जो स्वाभाविक अनाविष्कृत कर्म है, वही साधक के लिए उपादेय है। उसी की वाक्य के साथ संगति बैठ सकती है। "बाल्यं तिष्ठासेत्" में उक्त तात्पर्य ही निहित है, अन्य जो स्वेच्छाचारिता आदि हैं, उन सब को तो विद्या विरोधी कहा गया है "जो दुश्चरितों से अशांत नहीं होते, असमाहित नहीं होते, अशांत चित्त नहीं होते, वे ही प्रकृष्ट ज्ञान द्वारा परम पुरुष को प्राप्त करते हैं" आहार शुद्धि से अन्तःकरण को शुद्धि होती है" इत्यादि वाक्य में भी बालकोचित स्वेच्छाचारिता आदि कर्मों को विरोधी कहा गया है।

१४ ऐहिकाधिकरणः—

ऐहिकम्प्रस्तुत प्रतिबंधे तद्दर्शनात् । ३।४।५०॥

द्विविधा विद्या अभ्युदयफला, मुक्ति फला च। तत्राभ्युदयफला स्वसाधनभूतैः पुण्यकर्मानन्तरमेव उत्पद्यते, उत अनन्तरं कालान्तरे वेत्यनियमः ? इति संशयः। पूर्वकृतैः पुण्यकर्मभिः विद्वान् जायते, यथोक्तं भगवता "चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन" इति। साधने निवृत्ते विलम्बहेत्वभावात् अनन्तरमेव।

विद्या दो प्रकार की है, एक अभ्युदय फल वाली दूसरी मुक्तिफल वाली। जो अभ्युदय फल वाली विद्या है, वह अपने साधन रूप पुण्य कर्मों द्वारा तत्काल ही फल प्रदान करती है, अथवा कालान्तर में ? इस पर विचारने से मत होता है कि—पूर्वकृत पुण्य कर्मों के प्रभाव से ही लोग विद्वान् होते हैं जैसा कि—भगवान् ने कहा भी है—“अर्जुन ! सुकृत लोग मुझे चार प्रकार से भजते हैं” इत्यादि। कारण के रहते हुए कार्यास्पति में विलम्ब हो यह वेतुकी सी बात है। इसलिए साधना के बाद ही फल मिलता है ऐसा ही मानना चाहिए।

सिद्धान्तः—इति प्राप्त उच्यते—ऐहिकम्प्रस्तुत प्रतिबंधे—इति ऐहिकमभ्युदयफलमुपासनम्, अप्रस्तुत प्रतिबंधे—अप्रस्तुते प्रबलकर्मा-न्तरा प्रतिबंधे सत्यनन्तरं, प्रतिबंधे सति तदुत्तरकालमित्यनियमः

कुतः ? तद्दर्शनात्-दृश्यते हि प्रबलकर्मान्तरेण कर्मफल प्रतिबंधाभ्युपगमः श्रुतौ “यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरम्” इत्युद्गीथविद्यायुक्तस्य कर्मणः फला प्रतिबंध श्रवणात् ।

उक्त संशय पर सिद्धांत रूप से “ऐहिकम्प्रस्तुत प्रतिबंधे” सूत्र प्रस्तुत करते हैं । अर्थात् अन्य प्रबल प्रतिबन्धक कर्मों के न होने पर ही अभ्युदयजनक विद्या का फल इस शरीर से प्राप्त हो सकता है, प्रतिबंधक कर्मों के क्षय होने पर फलावाप्ति होती है, इस विषय में कोई निश्चित नियम है भी नहीं । देखा जाता है कि-अन्य प्रबल कर्म ही, फलावाप्ति में बाधक हो जाते हैं, तथा प्रबलतर साधन से प्रतिबन्धक कर्मों का नाश भी हो जाता है जैसा कि-“विद्या श्रद्धा और उपनिषद् द्वारा जो किया जाता है वही प्रबलतर होता है” इत्यादि श्रुति से सिद्ध है । इस वाक्य में उद्गीथ विद्यायुक्त कर्म को फल का अप्रतिबन्धी कहा गया है ।

१५ मुक्तिफलाधिकरणः-

एवं मुक्तिफलानियमस्तवयस्यावधूतेस्तदवस्थावधूतेः । ३।४।५१॥

मुक्तिफलस्याप्युपासनस्य स्वसाधन भूतैरतिशयित कर्मभिरुत्पत्तावेवमेव फलानियमः, तस्यापि पूर्ववत् प्रतिबंधाभाव प्रतिबंध समाप्तिरूपावस्थावगतेः, अत्रापितस्य हेतोः समानत्वादित्यर्थः ।

सर्वेभ्यः कर्मभ्यो मुक्तिफलविद्या साधनस्य कर्मणः प्रबलत्वात् प्रतिबंधासंभव इत्याधिका शंका ।

अत्रापि ब्रह्मविदपचाराणां पूर्वकृतानां प्रबलानां संभवात् प्रतिबंध संभव इति परिहारः, द्विरुक्तिरध्याय परिसमाप्तिं द्योतयति ।